संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० १६

लघु अनंतवीर्य विरचित

प्रमेयरत्नमाला

अनुवादक

पं० हीरालाल जैन

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

प्रमेयरत्नमाला

कृतिकार	:	लघु अनंतवीर्य
अनुवादक	:	पं० हीरालाल जैन, साढूमल
प्रस्तावना	:	पं० उदयचन्द्र जैन, वाराणसी
संस्करण	:	२८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)
आवृत्ति	:	११००
वेबसाइट	:	www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वासें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

न्याय के ऊपर उपलब्ध प्रथम सूत्र ग्रन्थ परीक्षामुख सूत्र है, इस ग्रन्थ की प्रथम टीका आचार्य लघु अनन्तकीर्ति कृत प्रमेयरत्नमाला के नाम से है। इस ग्रन्थ का अनुवाद एवं सम्पादन पं० हीरालाल शास्त्री ने किया था। पूर्व में यह ग्रन्थ चौखम्भा-संस्कृत सीरीज बनारस से प्रकाशित हुआ था। सम्प्रति यह ग्रन्थ ज्यों का त्यों आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज के ५० वें संयम स्वर्ण महोत्सव पर प्रकाशित हो रहा है। एतदर्थ पूर्व प्रकाशक संस्था एवं अनुवादक-सम्पादक महोदय का हम आभार व्यक्त करते हैं।

उक्त समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

प्रस्तावना

दर्शन का अर्थ

मनुष्य विचारशील प्राणी है (Man is rational animal)। वह प्रत्येक कार्य के समय अपनी विचारशक्ति का उपयोग करता है। इसी विचारशक्ति को विवेक कहते हैं। मनुष्य और पशुओं में भेद यही है कि पशुओं की प्रवृत्ति अविवेकपूर्वक होती है और मनुष्य की प्रवृत्ति विवेकपूर्वक होती है। यदि कोई मनुष्य अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति करता है तो उसे केवल नाम से ही मनुष्य कहा जा सकता है, वास्तव में नहीं। अतः मनुष्य में जो स्वाभाविक विचारशक्ति है उसी का नाम दर्शन है।

जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाये वह दर्शन[१] है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार–यह संसार नित्य है या अनित्य? इसकी सृष्टि करने वाला कोई है या नहीं? आत्मा का स्वरूप क्या है? इसका पुनर्जन्म होता है या यह इसी शरीर के साथ समाप्त हो जाती है? ईश्वर की सत्ता है या नहीं? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शनशास्त्र का काम है। शास्त्र[२] शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओं से हुई है–शास् (आज्ञा करना) तथा शंस् (वर्णन करना)। शासन अर्थ में शास्त्र शब्द का प्रयोग धर्मशास्त्र के लिए किया जाता है। शंसक शास्त्र (बोधक शास्त्र) वह है जिसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया जाये। धर्मशास्त्र कर्तव्य और अकर्तव्य का प्रतिपादन करने के कारण पुरुष–परतन्त्र है किन्तु दर्शनशास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने से वस्तु–परतन्त्र है।

सत् की व्याख्या करने में भारतीय दार्शनिकों ने विषय की ओर उतना ध्यान नहीं दिया है जितना विषयी (आत्मा) की ओर। आत्मा को अनात्मा से पृथक् करना दार्शनिकों का प्रधान कार्य था। इसीलिए 'आत्मा को जानो' (आत्मानं विद्धि) यह भारतीय दर्शन का मूलमन्त्र रहा है। यही कारण है कि प्रायः समस्त भारतीय दर्शन आत्मा की सत्ता पर प्रतिष्ठित हैं और धर्म तथा दर्शन में घनिष्ठ सम्बन्ध भी प्रारम्भ से ही चला आ रहा है। दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ऋषि–महर्षियों ने अपनी तात्त्विक दृष्टि से जिन जिन तथ्यों का साक्षात्कार किया उनको दर्शन शब्द के द्वारा कहा गया। यहाँ यह प्रश्न हो

१. दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्।

२. शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।

सकता है कि यदि दर्शन का अर्थ साक्षात्कार है तो फिर विभिन्न दर्शनों में पारस्परिक भेद का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को विभिन्न ऋषियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से देखने का प्रयत्न किया और तदनुसार ही उसका प्रतिपादन किया है। अतः यदि हम दर्शन शब्द के अर्थ को भावनात्मक साक्षात्कार के रूप में ग्रहण करें तो उपर्युक्त प्रश्न का समाधान हो सकता है क्योंकि विभिन्न ऋषियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से वस्तु के स्वरूप को जानकर उसी का बार-बार चिन्तन और मनन किया, तथा इसके फलस्वरूप उन्हें अपनी-अपनी भावना के अनुसार वस्तु के स्वरूप का दर्शन हुआ।

दर्शन का प्रयोजन

समस्त भारतीय दर्शनों का लक्ष्य इस संसार के दुःखों से छुटकारा पाना अर्थात् मुक्ति या मोक्ष पाना है। इस संसार में प्रत्येक प्राणी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित है। अतः उक्त दुःखों से निवृत्ति का उपाय बतलाना दर्शनशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है। अतः दुःख, दुःख के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणों को खोजकर साधारणजन के लिए उनका प्रतिपादन करना दर्शनशास्त्र का उद्देश्य है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोग निदान, आरोग्य और औषधि इन चार तत्त्वों का प्रतिपादन आवश्यक है, उसी प्रकार दर्शनशास्त्र में भी दुःख के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणों का प्रतिपादन करना आवश्यक है[१]।

भारतीय दर्शनों का श्रेणी-विभाग

भारतीय दर्शन को आस्तिक और नास्तिक के भेद से दो भागों में विभक्त किया जाता है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त इन छह दर्शनों को आस्तिक और जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन को नास्तिक कहा जाता है लेकिन भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक इन दो विभागों में विभक्त करने वाला कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है। अतः यदि हम भारतीय दर्शनों का विभाग वैदिक और अवैदिक दर्शनों के रूप में करें तो अधिक उपयुक्त होगा। वेद की परम्परा में विश्वास रखनेवाले न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, और वेदान्त ये छह वैदिक दर्शन हैं तथा वेद को प्रमाण न मानने के कारण चार्वाक, बौद्ध और जैन ये तीन अवैदिक दर्शन हैं।

---

१. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।-सांख्यकारिका, का. १ यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्-रोगो रोगहेतुः आरोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्। तद् यथा-संसारः संसारहेतुः मोक्षः मोक्षोपाय इति। -व्यासभाष्य २/१५

भारतीय दर्शनों का क्रमिक विकास

भारतीय दर्शन काल को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं– सूत्रकाल और वृत्तिकाल। सूत्रकाल में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त दर्शनों के सूत्रों की रचना हुई। सूत्रों की रचना से यह तात्पर्य नहीं है कि उसी समय से उस दर्शन का आरम्भ होता है, अपितु ये सूत्र अनेक शताब्दियों के चिन्तन और मनन के फलस्वरूप निष्पन्न हुए हैं। ये सूत्र परस्पर में परिचित हैं। वेदान्त सूत्रों में मीमांसा का उल्लेख है। न्यायसूत्र वैशेषिक सूत्रों से परिचित हैं। सांख्यसूत्र में अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। इन सूत्रों का रचनाकाल ४०० विक्रम पूर्व से २०० विक्रम पूर्व तक स्वीकार किया जाता है। सूत्र संक्षिप्त एवं गूढ़ार्थ होते हैं, अतः उनके अर्थ को सरल करने के लिए भाष्य, वार्तिक तथा टीका ग्रन्थों की रचना हुई। यह काल वृत्तिकाल कहलाता है। शबर, कुमारिल, वात्स्यायन, प्रशस्तपाद, शंकर, रामानुज, वाचस्पति और उदयन आदि आचार्य इसी युग में हुए हैं। वृत्तिकाल ३०० विक्रम से १५०० विक्रम तक माना जाता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि उपनिषदों में समग्र भारतीय दर्शन के बीज पाये जाते हैं और उपनिषदों के अनन्तर भारतीय दर्शनों का क्रमिक विकास हुआ है। उपनिषदों का प्रधान मन्त्र था तत्त्वमसि। उस समय सबके सामने यह प्रश्न था कि इस तत्त्व का साक्षात्कार किस प्रकार किया जाये। कुछ लोगों ने कहा कि प्रकृति और पुरुष (भौतिक जगत् तथा जीव) के विभिन्न गुणों को न जानने के कारण ही यह संसार है और उनके यथार्थ स्वरूप को जान लेने पर त्वं (जीव) तत् (ब्रह्म) स्वरूप हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस ज्ञान का नाम सांख्य हुआ किन्तु केवल बौद्धिक साक्षात्कार से काम नहीं चल सकता था, अतः उस तत्त्व को व्यावहारिक रूप से प्रत्यक्ष करने के लिए ध्यान, धारणा आदि अष्टांग योग की उत्पत्ति हुई। बाद में प्रकृति और पुरुष (आत्मा और अनात्मा) के विभिन्न गुणों के निर्धारण एवं विवेचन के लिए वैशेषिक दर्शन की उत्पत्ति हुई और इस विवेचन की शास्त्रीय पद्धति के निरूपण के लिए न्याय का आविर्भाव हुआ। न्याय के शुष्क तर्क के द्वारा आत्मतत्त्व का यथार्थ साक्षात्कार न देखकर दार्शनिकों ने पुनः वेद के कर्मकाण्ड की मीमांसा (विवेचना) का प्रारम्भ कर दिया। यह मीमांसा दर्शन कहलाया। अन्त में कर्मकाण्ड से आध्यात्मिक तृप्ति प्राप्त न होने के कारण पुनः ज्ञानकाण्ड की मीमांसा होने लगी, जिसका फल वेदान्त निकला। इस प्रकार वैदिक–दर्शनों में सांख्य दर्शन सबसे प्राचीन हैं और उसके बाद अन्य दर्शनों की क्रमशः उत्पत्ति और विकास हुआ है।

अवैदिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन ही सबसे प्राचीन माना जाता है। उपनिषद् काल में भी चार्वाकों के सिद्धान्तों का प्रचार दृष्टिगोचर होता है। उस समय कुछ लोग मरण के अनन्तर आत्मा

का अभाव मानते थे[१]। चार्वाक-मत के संस्थापक बृहस्पति नामक आचार्य के सूत्रों का उल्लेख ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य, गीता की नीलकण्ठी, श्रीधरी तथा मधुसूदनी, अद्वैत ब्रह्म सिद्धि, बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में मिलता है।

वैदिक दर्शन की परम्परा में परिस्थितिवश उत्पन्न होने वाली बुराइयों तथा त्रुटियों को दूर करने के लिए सुधारक के रूप में महात्मा बुद्ध के बाद बौद्धदर्शन का आविर्भाव हुआ। अध्यात्मशास्त्र की गुत्थियों को तर्क की सहायता से सुलझाना बुद्ध का उद्देश्य न था किन्तु दुःखमय संसार से प्राणियों का उद्धार करना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। बुद्ध ने देखा कि लोग पारलौकिक जीवन की समस्याओं में उलझकर ऐहिक जीवन की समस्याओं को भूलते जा रहे हैं। इसीलिए बुद्ध ने सरल आचार मार्ग का प्रतिपादन करने के लिए अष्टांग मार्ग (मध्यम मार्ग) का उपदेश दिया और आत्मा तथा शरीर भिन्न हैं या अभिन्न? लोक शाश्वत है या अशाश्वत? इत्यादि प्रश्नों को अव्याकृत (अकथनीय)बतलाया। इस प्रकार बुद्ध ने जिन बातों को अव्याकृत कहकर टाल दिया था, बाद में बौद्ध दार्शनिकों ने उन्हीं बातों पर विशेष ऊहापोह कर के बौद्ध दर्शन को प्रतिष्ठित किया। बौद्ध दर्शन के विकास में वसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति, नागार्जुन आदि आचार्यों का प्रमुख स्थान है। इन आचार्यों ने इतर दर्शनों के सिद्धान्तों के निराकरण पूर्वक स्वसिद्धान्तों का व्यापक रूप से समर्थन किया है।

जैनदर्शन की मान्यतानुसार जैनदर्शन की परम्परा अनादिकाल से प्रवाहित होते चली आ रही है। इस युग में आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर पर्यन्त २४ तीर्थंकरों ने कालक्रम से जैन धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जो लोग जैनदर्शन को अनादि नहीं मानना चाहते हैं उन्हें कम से कम जैनदर्शन को उतना प्राचीन तो मानना ही पड़ेगा कि जितना प्राचीन और कोई दूसरा दर्शन है। आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्दी, माणिकनन्दि, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि और हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने जैनदर्शन के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। कुछ लोग जैनदर्शन और बौद्धदर्शन को वैदिकदर्शन की शाखा के रूप में ही स्वीकार करते हैं। उनकी ऐसी मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि ऐतिहासिक खोजों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि श्रमण परम्परा के अनुयायी उक्त दोनों धर्मों और दर्शनों का स्वतन्त्र अस्तित्व हैं।

उक्त दर्शनों के जिन विशेष सिद्धान्तों का परीक्षामुख और प्रमेयरत्नमाला में प्रतिपादन किया गया है, पाठकों की और विशेष रूप से विद्यार्थियों की जानकारी के लिए उनका यहाँ संक्षेप में दिग्दर्शन कराया जाता है।

---

१. न प्रेत्य संज्ञास्ति। –बृहदारण्यक उपनिषद् ४/५/१३

चार्वाक दर्शन

वैदिककाल में यज्ञानुष्ठान तथा तपस्या के आचरण पर विशेष बल दिया जाता था। ऐहिक बातों की अपेक्षा पारलौकिक बातों की चिन्ता मनुष्यों को विशेष थी। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप चार्वाक दर्शन का उदय हुआ। इस दर्शन का सब से प्राचीन नाम लोकायत है। साधारण लोगों की तरह आचरण करने के कारण इन लोगों का 'लोकायत' यह नाम पड़ा। चारु (सुन्दर)वाक् (बातों) को अर्थात् लोगों को प्रिय लगने वाली बातों को कहने के कारण, अथवा आत्मा, परलोक आदि को चर्वण (भक्षण) कर जाने के कारण इनका नाम चार्वाक हुआ। बृहस्पति चार्वाक दर्शन के संस्थापक माने जाते हैं। अतः इस दर्शन का नाम बार्हस्पत्य दर्शन भी है।

चार्वाक, लोगों को प्रिय लगने वाली बातें इस प्रकार कहते थे—जब तक जियो सुख से जियो, ऋण लेकर घृत, दूध आदि पियो। ऋण चुकाने की चिन्ता भी मत करो, क्योंकि शरीर के नष्ट हो जाने पर पुनः आगमन (जन्म) नहीं होता है।[१]

चार्वाकों का सिद्धान्त है कि पृथ्वी, अप्, तेज और वायु इन चार भूतों का संघात ही आत्मा है, मरण ही मुक्ति है, परलोक नहीं है, इत्यादि। बाह्य दृष्टि प्रधान होने से चार्वाक ने केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है, अनुमान आदि को नहीं। अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियों से जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वही सत्य है, अन्य कुछ नहीं। चार्वाकों का प्रमुख सिद्धान्त है देहात्मवाद। उनका कहना है कि जिस प्रकार महुआ आदि पदार्थों के गलन और अन्य वस्तुओं के सम्मिश्रण से मदिरा बनती है और उसमें मादक शक्ति स्वयं आ जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों के विशिष्ट संयोग से शरीर की उत्पत्ति के साथ चैतन्य शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है, अतः चैतन्य आत्मा का धर्म न होकर शरीर का ही धर्म है। चार्वाकों का यह देहात्मवाद का सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि संसार में सजातीय कारण से सजातीय कार्य की ही उत्पत्ति देखी जाती है, विजातीय की नहीं। जब भूत चतुष्टय स्वयं अचेतन है तो वह चैतन्य की उत्पत्ति में कारण कैसे हो सकता है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि चैतन्य शक्ति शरीर के नाश के साथ ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि पूर्वभव की स्मृति, तत्कालजात बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति, भूत-प्रेत आदि के दर्शन और जातिस्मरण आदि से पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

इसी प्रकार चार्वाक का केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना उचित नहीं है क्योंकि केवल प्रत्यक्ष से परोक्ष अर्थों का ज्ञान सम्भव नहीं और अनुमान के माने बिना स्वयं चार्वाक का भी काम नहीं चलता, क्योंकि अनुमान के अभाव में वह प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था, दूसरे पुरुष की

---

१. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ —सर्वदर्शनसंग्रह

बुद्धि का ज्ञान और परलोक आदि का निषेध कैसे कर सकेगा।

बौद्धदर्शन

महात्मा बुद्ध ने विशेषरूप से धर्म का ही उपदेश दिया है, दर्शन का नहीं। फिर भी बुद्ध के बाद बौद्ध दार्शनिकों ने बुद्ध के वचनों के आधार से दार्शनिक तत्त्वों को खोज निकाला। बौद्धधर्म के तीन मौलिक सिद्धान्त हैं–१. सर्वमनित्यम्–सब कुछ अनित्य है। २. सर्वमनात्मम्–सब पदार्थ आत्मा (स्वभाव) से रहित हैं और ३. निर्वाणं शान्तम्–निर्वाण ही शान्त है। बौद्ध दर्शन के कुछ प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं–अनात्मवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणभंगवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, अन्यापोह आदि। बौद्ध दर्शन में आत्मा का स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों के समुदाय को ही आत्मा माना गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा से पदार्थों की उत्पत्ति। इसी को सापेक्ष कारणतावाद भी कहते हैं[१]।

बौद्ध दर्शन के चार प्रमुख सम्प्रदाय है, जिनके अपने-अपने विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त हैं[२]– १. वैभाषिक–बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद, २. सौत्रान्तिक–बाह्यार्थानुमेयवाद, ३. योगाचार–विज्ञानवाद और ४. माध्यमिक–शून्यवाद।

प्रस्तुत ग्रन्थ में बौद्ध दर्शन के कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का वर्णन देखने को मिलता है। बौद्धों ने अविसंवादि तथा अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करने वाले ज्ञान को प्रमाण माना है और कल्पना तथा भ्रान्ति से रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है[३]। वस्तु में नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि की योजना करना कल्पना है[४]। दूसरे शब्दों में शब्द संसर्ग के योग्य प्रतिभास वाली प्रतीति को कल्पना कहते हैं[५]। पूर्वापर के अनुसन्धान (एकत्व) पूर्वक शब्दसंयुक्ताकार अथवा अन्तर्जल्पाकार प्रतीति को भी कल्पना माना गया है[६]। प्रत्यक्ष ज्ञान कल्पना से रहित अर्थात् कल्पना निर्विकल्पक होता है। तिमिर (आँख का रोग) आशुभ्रमण आदि के द्वारा ज्ञान में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। प्रत्यक्ष को भ्रम से भी

---

१. हेतुप्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः। –माध्यमिककारिकावृत्ति पृ. ७

२. मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगद्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥–मानमेयोदय पृ. ३००

३. कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।–न्यायबिन्दु

४. नामजात्यादियोजना कल्पना। ५. अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना। –न्यायबिन्दु।

६. पूर्वापरमनुसन्धाय शब्दसंयुक्ताकारा प्रतीतिरन्तर्जल्पाकारा वा कल्पना–तर्कभाषा

रहित होना चाहिए[१]।

प्रत्यक्ष के चार भेद हैं–इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष। स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह इन्द्रियप्रत्यक्ष है। मनोविज्ञान[२] (मानसप्रत्यक्ष) की उत्पत्ति इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियज्ञान के अनन्तर (द्वितीयक्षणवर्ती) विषय के द्वारा होती है। मानसप्रत्यक्ष की उत्पत्ति में इन्द्रियज्ञान उपादान कारण होता है और इन्द्रियज्ञान का अनन्तर विषय सहकारी कारण होता है। सब चित्त और चैत्तों का जो आत्मसंवेदन होता है वह स्वसंवेदन[३] है। सामान्यज्ञान को चित्त कहते हैं और विशेष ज्ञान को चैत्त कहते हैं[४]। भूतार्थ (प्रमाणप्रतिपन्न अर्थ) की भावना के प्रकर्ष के पर्यन्त से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह योगिप्रत्यक्ष[५] कहलाता है। दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्य सत्य भूतार्थ हैं। उनकी भावना (बार-बार चिन्तन) करते-करते एक समय ऐसा आता है जब भावना अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है और तब भाव्यमान अर्थ का साक्षात्कारी ज्ञान उत्पन्न होता है। यही योगिप्रत्यक्ष है। यह चारों प्रकार का प्रत्यक्ष निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) है। सूत्रकार (माणिक्यनन्दी) ने प्रमाण के लक्षण में जो व्यवसायात्मक पद दिया है वह बौद्धों के द्वारा माने गए इन प्रत्यक्षों में प्रमाणता के निराकरण के लिए है, क्योंकि जो अनिश्चयात्मक है वह प्रमाण नहीं हो सकता है। प्रमाण को व्यवसायात्मक होना आवश्यक है।

चार प्रकार के दार्शनिकों में से वैभाषिक और सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थ की सत्ता मानते हैं। दोनों में भेद इतना ही है कि वैभाषिक बाह्य अर्थ का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं और सौत्रान्तिक उसको अनुमेय (अनुमानगम्य) मानते हैं। योगाचार का दूसरा नाम विज्ञानाद्वैतवादी है, क्योंकि इनके मत में विज्ञानमात्र ही तत्त्व है, अर्थ की सत्ता बिलकुल भी नहीं है। इसी प्रकार माध्यमिकों को शून्यैकान्तवादी या शून्यवादी कहते हैं, क्योंकि इनके यहाँ शून्य ही तत्त्व है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि माध्यमिकों का शून्य तत्त्व वैसा नहीं है जैसा इतर मत वालों ने समझ रखा है। प्रत्येक पदार्थ के विषय में चार कोटियों से विचार किया जा सकता है, जैसे सत्, असत्, उभय और अनुभय। माध्यमिकों का कहना है कि तत्त्व चतुष्कोटि से रहित है[६] और ऐसे तत्त्व को शून्य शब्द से कहा

---

१. तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। –न्यायबिन्दु

२. स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्। –न्यायबिन्दु

३. सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्। –न्यायबिन्दु

४. चित्तं वस्तुमात्रग्राहकं ज्ञानम्। चित्तेभवाश्चैत्ताः वस्तुनो विशेषरूपग्राहकाः सुखदुःखोपेक्षालक्षणाः। –तर्कभाषा

५. भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति।

६. न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥–माध्यमिककारिका १/७

गया है। दूसरे प्रकार से उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद को ही शून्य कहा है[१]।

इन विज्ञानाद्वैतवादियों और शून्यैकान्तवादियों के मत का निराकरण करने के लिए प्रमाण के लक्षण में अर्थ पद दिया गया है। प्रमाण को अर्थ का ग्राहक होना चाहिए, न कि ज्ञान का अथवा शून्य का।

बौद्धों ने ज्ञान की उत्पत्ति में अर्थ को कारण माना है तथा ज्ञान में अर्थाकारता भी मानी है। इस अर्थाकारता के द्वारा ही वे ज्ञान के प्रतिनियत विषय की व्यवस्था करते हैं। सूत्रकार ने उनकी इस मान्यता का खण्डन किया है। अर्थ ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि अर्थ के अभाव में भी ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे केशोण्डुकज्ञान। केशोण्डुकज्ञान क्या है इस विषय में किसी भी टीकाकार ने कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। कुछ विद्वान् इसका अर्थ केशों में उण्डुक (कीड़ों अथवा मच्छरों) का ज्ञान करते हैं। किन्तु मेरी समझ से केशोण्डुकज्ञान केशरूप अर्थ के सद्भाव में नहीं होता है। अपितु अर्थाभाव में ही होता है। सूत्रकार ने अर्थ के साथ ज्ञान के अन्वय-व्यतिरेक का अभाव बतलाया है। यदि केशों के सद्भाव में केशोण्डुक ज्ञान माना जायेगा तब तो अर्थ के साथ ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध ही हो जायगा। यहाँ कोई कह सकता है कि केशोण्डुकज्ञान में केश मिथ्याज्ञान के कारण होते हैं न कि सम्यग्ज्ञान के। इसका उत्तर यह है कि यदि केशरूप अर्थ कहीं मिथ्याज्ञान का कारण हो सकता हैं तो अन्यत्र सम्यग्ज्ञान का भी कारण हो सकता है। सूत्रकार का भी अभिप्राय यही है कि अर्थ ज्ञानमात्र का कारण नहीं है, न कि सम्यग्ज्ञान का। सूत्रकार ने तदुत्पत्ति और तदाकारता के द्वारा प्रतिनियत अर्थ की व्यवस्था का भी खण्डन किया है, क्योंकि ज्ञान में तदुत्पत्ति और तदाकारता के मानने पर भी विषय के प्रतिनियम में व्यभिचार आता है। अतः ज्ञान अपने अपने ज्ञानावरण की क्षयोपशमरूप योग्यता के द्वारा ही प्रतिनियत अर्थ की व्यवस्था करता है।

बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने हैं। अनुमान तीन रूप (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति) वाले हेतु से उत्पन्न होता है। हेतु तीन हैं-स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि। और ये तीनों ही हेतु तीन रूपवाले हैं। उन्होंने हेतु का लक्षण त्रैरूप्य माना है। वृत्तिकार (अनन्तवीर्य) ने त्रैरूप्य का निरास करके अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण सिद्ध किया है। बौद्धों के यहाँ हेतु और दृष्टान्त ये दो ही अनुमान के अवयव हैं। वे पक्ष आदि के प्रयोग को अनावश्यक मानते हैं किन्तु हेतु के समर्थन को आवश्यक मानते हैं। सूत्रकार ने उनकी इस मान्यता का भी खण्डन किया है। जब बौद्ध त्रिरूप हेतु के कथन के बाद उसका समर्थन आवश्यक मानते हैं तो फिर पक्ष का प्रयोग भी क्यों आवश्यक नहीं है। अन्यथा समर्थन को ही अनुमान का एक मात्र अवयव मान

१. यश्च प्रतीत्यभावो भावानां शून्यतेति सा ह्युक्ता।
प्रतीत्य यश्च भावो भवति हि तस्यास्वभावत्वम्॥ विग्रहव्यावर्तिनी श्लो० २२

लेना चाहिए, हेतु को नहीं।

अर्थ की सत्ता मानने वाले वैभाषिक और सौत्रान्तिकों के अनुसार अर्थ दो प्रकार का है–स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। इनमें से स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्यलक्षण अनुमान का। प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के तत्त्व होते हैं–एक असाधारण और दूसरा साधारण। वस्तु का जो असाधारण तत्त्व है वही स्वलक्षण[1] है। स्वलक्षण को हम विशेष भी कह सकते हैं। स्वलक्षण सन्निधान (सामीप्य) और असन्निधान (दूरी) के द्वारा ज्ञान में प्रतिभास भेद कराता है अर्थात् पास से उसका स्पष्ट ज्ञान होता है और दूर से अस्पष्ट[2]।

यह स्वलक्षण सजातीय और विजातीय दोनों से व्यावृत्त होता है। और जो स्वलक्षण से भिन्न है वह सामान्यलक्षण[3] है। प्रत्येक गोव्यक्ति गोस्वलक्षण है और अनेक गायों में जो गोत्वरूप एक सामान्य की प्रतीति होती है वह सामान्यलक्षण है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्धों ने सामान्य को मिथ्या माना है और उसको विषय करने वाले अनुमान को प्रमाण माना है। किन्तु मिथ्या सामान्य को विषय करने के कारण अनुमान भी भ्रान्त होना चाहिए, फिर उसमें प्रमाणता कैसे ? बौद्धों ने इसका उत्तर यह दिया है कि अनुमान परम्परा से वस्तु (स्वलक्षण) की प्राप्ति में कारण होने से प्रमाण है। जैसे एक व्यक्ति को मणिप्रभा में मणिबुद्धि हुई और दूसरे पुरुष को प्रदीपप्रभा में मणिबुद्धि हुई। ये दोनों ज्ञान मिथ्या हैं, फिर भी मणिप्रभा में होने वाली मणिबुद्धि को मणि की प्राप्ति में कारण होने से प्रमाण ही मानना चाहिए। उसी प्रकार अनुमान–बुद्धि भी वस्तु की प्राप्ति में परम्परा से कारण होने से प्रमाण है। मणिप्रभा में मणिबुद्धि इस प्रकार होती हैं–[4]एक कमरे के अन्दर आले में एक मणि रखा हुआ है। रात्रि का समय है। कमरे का दरवाजा बन्द है। दरवाजे में एक छिद्र है और मणि की प्रभा उस छिद्र में व्याप्त हो रही है। दरवाजे के सामने कुछ दूर पर खड़ा हुआ व्यक्ति उस छिद्र में व्याप्त मणिप्रभा को ही मणि समझ लेता है। किन्तु जब वह मणि को उठाने के लिए जाता है तब वहाँ मणि को न पाकर दरवाजा खोलकर अन्दर चला जाता है, और इस प्रकार मिथ्याज्ञान से भी वस्तु (मणि) को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार अनुमान के द्वारा

---

१. स्वमसाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम्। –न्यायबिन्दु पृ० १५

२. यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्। –न्यायबिन्दु पृ० १६
स्वलक्षणमित्यसाधारणं वस्तुरूपं देशकालाकारनियतम्। घटादिरुदकाद्याहरणसमर्थोऽर्थो देशकालाकारनियतः पुरा प्रकाशमानोऽनित्यत्वाद्यनेकधर्मोदासीनः प्रवृत्तिविषयो विजातीयसजातीयव्यावृत्तः स्वलक्षणमित्यर्थः। –तर्कभाषा पृ० ११

३. अन्यत् सामान्यलक्षणम्। –न्यायबिन्दु पृ० १७

४. मणिप्रदीपप्रभयोः मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥ –प्रमाणवार्तिक २/५७

सामान्य को जानकर व्यक्ति सामान्य ज्ञान के अनन्तर स्वलक्षण को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अनुमानबुद्धि परम्परा से स्वलक्षण की प्राप्ति में कारण होती है। वृत्तिकार ने बौद्धों की उक्त मान्यता का खण्डन किया है। जब सामान्य कोई वस्तु ही नहीं है तब उसको विषय करने वाला अनुमान परम्परा से भी वस्तु की प्राप्ति नहीं करा सकता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय विशेष (स्वलक्षण) ही है, सामान्य नहीं, उनकी ऐसी मान्यता भी ठीक नहीं है क्योंकि बौद्धों ने जिस प्रकार के विनाशशील, अनित्य, परस्पर में असम्बद्ध और निरंश परमाणुरूप विशेषों की कल्पना की है उनकी सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं होती है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सामान्य और विशेषरूप अर्थ की ही प्रतीति होती है, न कि केवल विशेषरूप अथवा सामान्यरूप की।

बौद्धों ने अवयवों से भिन्न अवयवी नहीं माना है किन्तु अवयवों के समुदाय का नाम ही अवयवी है। आतान-वितान-विशिष्ट तन्तुओं के समुदाय का नाम ही पट है। तन्तु समुदाय को छोड़कर पट कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यदि पट की तन्तुओं से पृथक् सत्ता है तो एक सेर सूत से बने हुए वस्त्र का भार सवा सेर होना चाहिए, क्योंकि उसमें अवयवी का भार भी सम्मिलित है। इसी प्रकार परमाणुओं को परस्पर में असम्बद्ध माना है, क्योंकि निरंश होने से एक परमाणु का दूसरे परमाणुओं से सम्बन्ध न तो एकदेश से बनता है और न सर्वदेश से।

बौद्धों के यहाँ विनाश को पदार्थ का स्वभाव माना गया है अर्थात् पदार्थ प्रतिक्षण स्वभाव से ही विनष्ट होता रहता है। घट उत्पत्ति के समय से ही विनाश स्वभाव वाला है, अतएव वह अपने विनाश के लिए मुद्गरादि कारणों की अपेक्षा नहीं रखता है किन्तु स्वतः एवं प्रतिक्षण विनष्ट होता रहता है। दूसरी बात यह है कि बौद्धों के यहाँ विनाश निरन्वयमाना गया है, अर्थात् विनष्ट क्षण का उत्पन्न क्षण से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। प्रथम क्षणवर्ती घट का सर्वथा विनाश हो जाने पर द्वितीय क्षण में एक नवीन ही घट उत्पन्न होता है और सदृश अपर अपर क्षणों की उत्पत्ति होने से तथा उनमें काल का व्यवधान न होने से भ्रमवश 'यह वही घट है' ऐसी एकत्व की प्रतीति हो जाती है। विनाश को पदार्थ का स्वभाव मानने के कारण बौद्धों ने प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक माना है और 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इस अनुमान से सब पदार्थों में क्षणिकत्व की सिद्धि की है। अर्थक्रियाकारिता का नाम सत् है। जो पदार्थ कोई अर्थक्रिया करे वही सत्[१] कहलाता है। यह अर्थक्रिया नित्य पदार्थ में नहीं बनती है, क्योंकि वहन तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत्। इस प्रकार अर्थक्रिया के अभाव में नित्य पदार्थ असत् सिद्ध होता है। वृत्तिकार ने बौद्धों की उक्त मान्यताओं का विस्तार से खण्डन किया है।

---

१. अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः। तदेव च परमार्थसत्। -न्यायबिन्दु

बौद्धों की एक मान्यता यह भी है कि शब्द का वाच्य अर्थ नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके अनुसार शब्द का वाच्य अपोह या अन्यापोह है। अन्यापोह का अर्थ है विवक्षित वस्तु से अन्य का अपोह (निषेध)। जैसे गोशब्द का वाच्य गोव्यक्ति न होकर अगो व्यावृत्ति है। गौ से भिन्न अन्य समस्त पदार्थ अगौ हैं। गो शब्द गाय में अगो की व्यावृत्ति करता है, अर्थात् यह हाथी नहीं है, घोड़ा नहीं है, मनुष्य नहीं है, इत्यादि प्रकार से अगो का निषेध करता है और अगो का निषेध होने पर जो शेष बचता है उसका ज्ञान स्वतः (शब्द के बिना) ही हो जाता है। इसी प्रकार बौद्ध शब्द को वक्ता के अभिप्राय का सूचक भी मानते हैं, क्योंकि घट शब्द में ऐसी कोई स्वाभाविक योग्यता नहीं है जिससे वह जलधारण समर्थ घटरूप अर्थ को ही कहे। वह (घट शब्द) वक्ता की इच्छानुसार अश्व में घट शब्द का संकेत करके अश्व को भी कह सकता है। यदि कोई व्यक्ति घट शब्द के द्वारा अश्व को कहना चाहता है तो वह वैसा संकेत करके वैसा कह सकता है। इसमें कोई भी बाधा नहीं है[१]।

सूत्रकार ने आगम प्रमाण के लक्षण में जो अर्थज्ञान पद दिया है उसके द्वारा अन्यापोह और अभिप्रायसूचन का निरास किया गया है। शब्द का वाच्य अन्यापोह या अभिप्रायसूचन नहीं है किन्तु अर्थ है। अन्यापोह को शब्द का वाच्य मानने पर अनेक विप्रतिपत्तियाँ आती हैं। जो इस प्रकार हैं–

गो शब्द के सुनने पर उसी समय सामने स्थित गायरूप अर्थ में प्रवृत्ति होती है। यदि गो शब्द का वाच्य गाय न होकर अगो व्यावृत्ति हो तब तो गो शब्द के सुनने पर कुछ देर बाद गाय का ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि अगो व्यावृत्ति करने में कुछ समय तो लगेगा ही। दूसरी बात यह है कि अगो व्यावृत्ति करते समय भी गो का ज्ञान आवश्यक है। गौ के ज्ञान के बिना अगो का ज्ञान कैसे होगा और अगो का ज्ञान होने पर उसकी व्यावृत्ति भी कैसे होगी। अतः द्रविड प्राणायाम को छोड़कर गो शब्द का वाच्य सीधा गायरूप अर्थ ही मानना युक्तिसंगत है। इसी प्रकार अभिप्रायसूचन को भी शब्द का वाच्य मानना ठीक नहीं है। यदि किसी शब्द से किसी के अभिप्राय का पता चल भी गया तो उससे क्या लाभ होगा और अभिप्राय को जानने के बाद भी तो अर्थ का ज्ञान मानना ही पड़ेगा, अतः प्रारंभ में ही शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान मानना अनुभवसिद्ध है।

सूत्रकार ने 'भाव्यतीतयोः मरणजागृदबोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम्' (परीक्षामुख ३/

---

१. यदि घट इत्ययं शब्दः स्वभावादेव कम्बुग्रीवाकारं जलधारणसमर्थं पदार्थमभिदधाति तत्कथं संकेतान्तरमपेक्ष्य पुरुषेच्छया तुरगादिकमभिदध्यात्।...वक्तुरभिप्रायं सूचयेयुः शब्दाः। –तर्कभाषा

नान्तरीयकताऽभावाच्छब्दानां वस्तुभिः सह।

नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचकाः–प्रमाणवार्तिक १/२१५

६२) इस सूत्र के द्वारा बौद्ध दार्शनिक प्रज्ञाकर गुप्त के भावी कारणवाद और अतीत कारणवाद की समालोचना की है। प्रज्ञाकर गुप्त ने भावी मरण को अरिष्ट का और अतीत जागृत्‌बोध को उद्‌बोध का कारण माना है किन्तु काल के व्यवधान में कार्य-कारणभाव संभव नहीं है तथा यह तो और भी विचित्र बात है कि कार्य आज हो चुका है और उसका कारण छह महीने बाद हो।[१]

बौद्ध प्रमाण और फल में अभेद मानते हैं। उनके यहाँ वही ज्ञान प्रमाण है और वही फल। प्रत्येक ज्ञान में दो बातें पाई जाती हैं-विषयाकारता और विषयबोध। विषयाकारता का नाम प्रमाण है और विषयबोध का नाम फल है। एक ही ज्ञान में इन दो बातों की व्यवस्था भी वे व्यावृत्ति के द्वारा करते हैं। घटज्ञान घटाकार और घट बोधरूप है। वह अघटाकार से व्यावृत्त होने के कारण प्रमाण तथा अघटबोध से व्यावृत्त होने के कारण फल माना गया है। सूत्रकार ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है कि बौद्ध जिस प्रकार अफल (अघटबोध) की व्यावृत्ति से फल की कल्पना करते हैं उसी प्रकार अन्य सजातीय फल की व्यावृत्ति से उसे अफल क्यों न माना जाये। एक घटज्ञान में दूसरे घटज्ञान की व्यावृत्ति भी तो है, अतः उसे अफल भी मानना चाहिए। इसी प्रकार अप्रमाण की व्यावृत्ति से किसी ज्ञान को प्रमाण मानने पर उसमें दूसरे प्रमाण की व्यावृत्ति होने से अप्रमाण का प्रसंग भी प्राप्त होता है। यदि अप्रमाण की व्यावृत्ति होने से प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जाये तो उसमें अनुमान प्रमाण की व्यावृत्ति होने से अप्रमाण भी मानना चाहिए[२]।

---
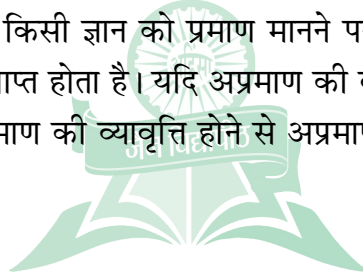
१. अविद्यमानस्य कारणमिति कोऽर्थः? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदान्तर्यमुभयापेक्षयापि समानम्। यथैव भूतापेक्षया तथैव भाव्यपेक्षयापि। न चानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनम्, व्यवहितस्य कारणत्वात्।

गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात्।
जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम्॥
तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम्।
कार्यकारणभावस्य तद् भाविन्यपि विद्यते॥
भावेन च भावो भाविनापि लक्ष्यत एव।

मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहारः, यदि मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति।

-प्रमाणवार्तिकालङ्कार, पृ. १७६

२. इहनीलादेरर्थात् ज्ञानं द्विरूपमुपपद्यते-नीलाकारं नीलाबोधस्वरूपं च। तत्रानीलाकार व्यावृत्त्या नीलाकारं ज्ञानं प्रमाणम्। अनीलबोधव्यावृत्त्या नीलबोधस्वरूपं प्रमितिः। सैव फलम्-तर्कभाषा

सांख्यदर्शन

सांख्यदर्शन वैदिक दर्शनों में अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। तत्त्वों की संख्या (गिनती) के कारण इसका नाम सांख्य पड़ा ऐसा कहा जाता है किन्तु संख्या का एक दूसरा भी अर्थ है–विवेक ज्ञान। इस दर्शन में प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान पर बल दिया गया है, इसलिए इसे सांख्य कहते हैं, इस अर्थ में सांख्य शब्द का प्रयोग अधिक युक्तिसंगत है। सांख्य द्वैतवादी दर्शन है, क्योंकि यह प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों को मौलिक मानता है। प्रकृति से महान् आदि २३ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है, अतः सांख्यदर्शन में सब मिलाकर २५ तत्त्व माने गए हैं। सांख्यों ने प्रत्यक्ष, अनुमान आप्तवचन (आगम) इन तीन प्रमाणों को माना है। आप्तवचन का तात्पर्य आप्त (विश्वस्त) पुरुष और श्रुति (वेद) दोनों से है, अतः आगम में पौरुषेय और अपौरुषेय दोनों प्रकार के ग्रन्थों का समावेश किया गया है। यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि प्राचीन सांख्यों ने ईश्वर को नहीं माना है इसलिए उसके मत से वेद ईश्वर की रचना न होने से अपौरुषेय हैं किन्तु कालान्तर में ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार कर ली गई। अतः सांख्य के निरीश्वर सांख्य और सेश्वर सांख्य ऐसे दो भेद हो गए। सेश्वर सांख्य को ही योगदर्शन के नाम से कहते हैं। ईश्वर की सत्ता मानकर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के इन आठ अंगों के प्रतिपादन करने में ही योगदर्शन की विशेषता है[1]।

वृत्तिकार ने सांख्य के सामान्य रूप तत्त्व प्रधान या प्रकृति की विस्तार से विवेचना की है। प्रधान से २३ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। कारणरूप प्रधान 'अव्यक्त' कहलाता है और कार्यरूप 'व्यक्त'। इनमें से व्यक्त हेतुमान्, अनेक, अव्यापक, सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिंग (प्रलयकाल में लीन होने वाला) सावयव और परतन्त्र है[2] लेकिन अव्यक्त में उक्त बातों का विपर्यय पाया जाता है। अर्थात् वह अहेतुमान्, एक, व्यापक, निष्क्रिय, अनाश्रित, अलिंग, निरवयव और स्वतन्त्र है। ऊपर व्यक्त और अव्यक्त में वैधर्म्य बतलाया गया है किन्तु व्यक्त और अव्यक्त में कुछ बातों की अपेक्षा साधर्म्य भी है। ये दोनों ही त्रिगुण (सत्त्व, रज और तम गुण वाले), अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी (उत्पत्ति करने रूप धर्म वाले) हैं परन्तु पुरुष में त्रिगुण आदि का विपर्यय पाया जाता है। अर्थात् वह त्रिगुणातीत, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन और अप्रसवधर्मी है। यद्यपि पुरुष प्रधान से इन बातों में असमान है किन्तु अहेतुमान, व्यापक, निष्क्रिय आदि बातों

---

१. आप्तश्रुतिराप्त वचनं तु। –सांख्यकारिका

२. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्। –सांख्यकारिका

में प्रधान के समान भी है[१]। जिस प्रकार कुछ बातों की अपेक्षा से व्यक्त और अव्यक्त में साधर्म्य है तथा दूसरी बातों की अपेक्षा से उनमें वैधर्म्य है, उसी प्रकार कुछ बातों की अपेक्षा से प्रधान और पुरुष में साधर्म्य तथा दूसरी बातों की अपेक्षा से उनमें वैधर्म्य है।

प्रकृति से पहले बुद्धि उत्पन्न होती है, इसे महान् कहते हैं। महान् से मैं सुन्दर हूँ, मैं सुखी हूँ इत्यादि अहंकार की उत्पत्ति होती है, अहंकार से चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् और श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, तथा मन और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ, इस प्रकार कुल सोलह तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। पुनः पाँच तन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है[२]। इस प्रकार प्रकृति से सब मिलाकर २३ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। इनमें से प्रकृति कारण ही है, कार्य नहीं। महान् अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ कार्य और कारण दोनों हैं, शेष सोलह (ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत) केवल कार्य हैं, कारण नहीं। पुरुष न किसी का कारण है और न कार्य।[३]

सांख्यों का मत है कि प्रकृति त्रिगुणात्मक है तथा सब पदार्थों में सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों का अन्वय देखा जाता है, इसलिए सब पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। सब पदार्थों में परिमाण भी देखा जाता है। उत्पन्न होने वाले सब पदार्थ परिमित हैं, अतः उनका एक अपरिमित कारण मानना आवश्यक है और जो अपरिमित कारण है वही प्रकृति है। इत्यादि हेतुओं से जो प्रकृति की सिद्धि करते हैं।[४]

सांख्य किसी पदार्थ की उत्पत्ति और नाश नहीं मानते हैं किन्तु आविर्भाव तिरोभाव मानते हैं। उत्पन्न पदार्थ उत्पत्ति के पहले ही कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है और कारण उसे केवल व्यक्त कर देते हैं। जैसे अंधकार में पहले से स्थित घटादि पदार्थों को दीपक व्यक्त कर देता है। इसी का नाम आविर्भाव है। इसी प्रकार घट के नाश का अभिप्राय यह है कि वह अपने कारण में मिट्टी छिप गया, न कि सर्वथा नष्ट हो गया, इसका नाम तिरोभाव है। अतः कारण में कार्य की सत्ता

---

१. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥ –सांख्यकारिका

२. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥ –सांख्यकारिका

३. मूलप्रकृतिविकृतिर्महदाद्या. प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष॥ –सांख्यकारिका

४. भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितप्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य॥ कारणमस्त्यव्यक्तम्॥ –सांख्यकारिका

मानने के कारण सांख्य को सत्कार्यवादी कहा जाता है।

सत्कार्यवाद की सिद्धि उन्होंने निम्न पाँच हेतुओं से की है–१. असत् की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है, २. प्रतिनियत कार्य के लिए प्रतिनियत कारण का ग्रहण किया जाता है, ३. सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। ४. समर्थ कारण ही शक्य कार्य को करता है, अशक्य को नहीं और ५. पदार्थों में कार्य कारण भाव देखा जाता है।[१]

सांख्यों के अनुसार प्रकृति केवल कर्त्री है और पुरुष केवल भोक्ता है। प्रकृति के समस्त कार्य पुरुष के लिए होते है, पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता है, इत्यादि कारणों से पुरुष की सिद्धि की गई है। जन्म, मरण और इन्द्रियों का प्रतिनियम देखा जाता है और सबकी एक कार्य में एक साथ प्रवृत्ति नहीं होती है, अतः पुरुष अनेक हैं[२]।

यद्यपि अचेतन होने से प्रकृति अन्धी है और निष्क्रिय होने से पुरुष लँगड़ा है, फिर भी अन्धे और लँगड़े पुरुषों के संयोग की भाँति प्रकृति और पुरुष के संयोग से प्रकृति कार्य करने में समर्थ हो जाती है।

वृत्तिकार ने सांख्य की उक्त मान्यताओं में से कुछ का प्रत्यक्ष रूप से और कुछ का अप्रत्यक्ष रूप से खण्डन किया है। पहली बात तो यही है कि उक्त प्रकार के प्रधान की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती है। घटादि पदार्थों में सत्त्व, रज और तम इन गुणों का अन्वय भी नहीं पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि अमूर्त आकाश और मूर्त पृथ्वी आदि की उत्पत्ति एक कारण से कैसे हो सकती है। यदि किसी कारण से विजातीय कार्य की भी उत्पत्ति मानी जाये तो अचेतन भूतों से चेतन की उत्पत्ति भी मानना चाहिए[३]।

सांख्यों का ज्ञान प्रकृति का परिणाम होने से अचेतन है और अचेतन होने के कारण अस्वसंवेदी है। सूत्रकार ने प्रमाण के लक्षण में जो 'स्व' पद दिया है उससे सांख्यों के अस्वसंवेदी ज्ञान में प्रमाणता का निरास हो जाता है।

---

१. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ –सांख्यकारिका
सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्कैवल्यार्थप्रवृत्तेश्च ॥ –सांख्यकारिका

२. जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ –सांख्यकारिका

३. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः। –सांख्यकारिका

यौग (न्याय-वैशेषिक) दर्शन

न्याय और वैशेषिक इन दोनों दर्शनों का यौग नाम से उल्लेख किया गया है। सूत्रकार या वृत्तिकार ने कहीं भी न्याय या वैशेषिक का उल्लेख नहीं किया है। संभव है कि यौगों का कोई पृथक् ग्रन्थ रहा हो किन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। यौग के नाम से जो कुछ कहा गया है वह सब न्याय और वैशेषिक दर्शनों में मिलता है। कुछ बातों को छोड़कर न्याय और वैशेषिक दर्शनों में समानता भी पाई जाती है। शिवादित्य (११ वीं शताब्दी) के 'सप्तपदार्थी' में उक्त दोनों दर्शनों का समन्वय किया गया है। मालूम पड़ता है कि दोनों के योग (जोड़ी) को यौग नाम दे दिया गया और इसीलिए सूत्रकार और वृत्तिकार ने दोनों का 'यौग' इस नाम से उल्लेख किया है।

न्यायदर्शन का विषय न्याय का प्रतिपादन करना है। न्याय का अर्थ है विभिन्न प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना[१]। इन प्रमाणों के स्वरूप का वर्णन करने से इस दर्शन को न्यायदर्शन कहते हैं। इसका नाम वादविद्या भी है, क्योंकि इसमें वाद में प्रयुक्त हेतु, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि का वर्णन किया गया है। न्यायसूत्र के रचयिता गौतम ऋषि हैं, इन्हीं का नाम अक्षपाद है। वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद हैं। विशेष नामक पदार्थ की विशिष्ट कल्पना के कारण इस दर्शन का नाम वैशेषिक हुआ, ऐसा माना जाता है।

नैयायिकों ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान ये सोलह पदार्थ माने हैं। वैशेषिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ माने हैं तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य माने हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान ये चार प्रमाण मानते हैं किन्तु वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण मानते हैं। नैयायिकों ने आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) फल, दुःख और अपवर्ग (मुक्ति) ये बारह प्रमेय माने हैं।

न्याय और वैशेषिक दोनों ने ही सन्निकर्ष को प्रमाण माना है, इसलिए सूत्रकार ने प्रमाण के लक्षण में अज्ञानरूप सन्निकर्ष में प्रमाणता के निराकरण के लिए 'ज्ञान' पद दिया है, इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहते हैं। इन्द्रिय और अर्थ दोनों ही अचेतन हैं, अतः उनका सम्बन्ध सन्निकर्ष भी अचेतन और अज्ञान रूप ही होगा। फिर वह प्रमाण कैसे हो सकता है। सन्निकर्ष के संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेतसमवाय आदि छह भेद माने हैं। सूत्रकार ने बतलाया है कि जिस प्रकार चक्षु और रस में संयुक्त-समवायरूप सन्निकर्ष होने पर भी वह प्रमा

---

१. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। -वात्स्यायन न्यायभाष्य १/१/१

को उत्पन्न नहीं करता है, उसी प्रकार चक्षु और रूप का संयुक्त समवायरूप सन्निकर्ष भी प्रमा की उत्पत्ति का कारण नहीं है, अतः सन्निकर्ष को प्रमाण मानना ठीक नहीं है।

न्याय और वैशेषिक दोनों ही ईश्वर की सत्ता मानकर उसके द्वारा संसार की सृष्टि मानते हैं। पृथ्वी, पर्वत आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान पुरुष (ईश्वर) के द्वारा उत्पन्न किए गए हैं, क्योंकि वे कार्य हैं। इस अनुमान के द्वारा वे पृथ्वी आदि कार्यों का एक ऐसा कर्ता सिद्ध करते हैं जो व्यापक, सर्वज्ञ और समर्थ है। ऐसा जो कर्ता है वही ईश्वर है। कारण को समवायि, असमवायि और निमित्त के भेद से तीन प्रकार का माना गया है। कार्य जिसमें समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न हो वह समवायि कारण है। पट तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, अतः तन्तु पट के समवायि कारण हैं। समवायि कारण को हम उपादान कारण भी कह सकते हैं। समवायि कारण द्रव्य ही होता है। तन्तु संयोग पट का असमवायि कारण है। असमवायि कारण संयोगरूप गुण ही होता है। इनकी असमवायि कारण की कल्पना एक विशिष्ट कल्पना है। इन दोनों कारणों के अतिरिक्त जुलाहा, तुरी, वेम, शलाका आदि पट के निमित्त कारण हैं। ईश्वर भी पृथ्वी आदि कार्यों की उत्पत्ति में निमित्त कारण होता है। वृत्तिकार ने कार्यत्व हेतु में अनेक प्रकार से दूषण देकर न्याय-वैशेषिकाभिमत सृष्टि कर्तृत्व का विशेषरूप से खण्डन किया है।

न्याय-वैशेषिक दोनों ही आत्मा को व्यापक मानते हैं। कुछ लोग आत्मा को अणु परिमाण (वट कणिका मात्र) मानते हैं। वृत्तिकार ने उक्त दोनों मान्यताओं का युक्तिपूर्वक निराकरण करके आत्मा को स्वदेहपरिमाण सिद्ध किया है। वैशेषिकों ने द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों को स्वयं असत् मानकर भी सत्ता नामक सामान्य के सम्बन्ध से सत् माना है। वृत्तिकार ने उनकी इस मान्यता का निराकरण करते हुए कहा है कि जब द्रव्यादि स्वयं असत् हैं तो सत्ता के सम्बन्ध से भी सत् नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य, गुणत्व के सम्बन्ध से गुण और कर्मत्व के सम्बन्ध से कर्म की मान्यता भी नहीं बनती है। इस प्रकार वैशेषिकों का विशेष (द्रव्य, गुण और कर्म) तथा सामान्य को परस्पर में स्वतंत्र मानना ठीक नहीं है। विशेष और सामान्य स्वतंत्र रूप से प्रमाण के विषय नहीं हैं किन्तु उभयात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय है।

वैशेषिकों का विशेष पदार्थ एक सरीखे पदार्थों में भेद कराता है। यह विशेष नित्य द्रव्यों-पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं में तथा आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन में रहता है। अयुतसिद्ध (अपृथक् सिद्ध) पदार्थों में अर्थात् अवयव-अवयवी में, गुण-गुणी में, क्रिया-क्रियावान में, सामान्य-सामान्यवान में और विशेष-विशेषवान में जो सम्बन्ध है उसे समवाय कहते हैं।

न्याय और वैशेषिक दोनों ने ही हेतु के पाँच रूप (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्ष व्यावृत्ति, अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व) माने हैं तथा अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव माने हैं। वृत्तिकार ने हेतु के पाञ्चरूप्य का निराकरण करके साध्य के साथ अविनाभाव को ही हेतु का लक्षण सिद्ध किया है और सूत्रकार ने पाँच अवयवों की मान्यता का खण्डन करके बाद में प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमान के अवयवसिद्ध किये हैं किन्तु अल्पज्ञों को बोध कराने के लिए यथावश्यक उदाहरणादिक के प्रयोग को भी स्वीकार किया है।

न्याय और वैशेषिक दोनों ने ही प्रमाण को अस्वसंवेदी माना है। उनकी मान्यता है कि ज्ञान स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं करता है किन्तु दूसरे ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। ये दोनों ही गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। सूत्रकार ने प्रमाण के लक्षण में 'स्व' पद के द्वारा अस्वसंवेदी ज्ञान में प्रमाणता का निराकरण किया है। जो ज्ञान स्वयं अपने को नहीं जानता है वह अर्थ को कैसे जान सकता है। गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान में प्रमाणता के निराकरण के लिए प्रमाण के लक्षण में 'अपूर्व' विशेषण दिया गया है। सूत्रकार ने अस्वसंवेदी और गृहीतार्थ इन दोनों ज्ञानों को प्रमाणाभास बतलाया है।

न्याय और वैशेषिक दोनों ने ही अर्थ और आलोक को ज्ञान का कारण माना है। सूत्रकार ने उनकी इस मान्यता का निराकरण करते हुए बतलाया है कि ज्ञान का अर्थ और प्रकाश के साथ अन्वय-व्यतिरेक न होने से वे ज्ञान के कारण नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रमाण से फल को सर्वथा भिन्न मानकर समवाय सम्बन्ध से 'इस प्रमाण का यह फल है' ऐसी प्रमाण और फल की जो व्यवस्था की गई है उसका निराकरण करके सूत्रकार ने सिद्ध किया है कि प्रमाण से फल कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न, न कि सर्वथा भिन्न।

मीमांसादर्शन

मीमांसा शब्द का अर्थ है किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ विवेचन। मीमांसा के दो भेद हैं– कर्म मीमांसा और ज्ञान मीमांसा। यज्ञों की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन कर्म मीमांसा का विषय है। जीव, जगत् और ईश्वर के स्वरूप तथा सम्बन्ध का निरूपण ज्ञान मीमांसा का विषय है। कर्म मीमांसा को पूर्वमीमांसा तथा ज्ञान मीमांसा को उत्तर मीमांसा भी कहते हैं किन्तु वर्तमान में कर्म मीमांसा के लिए केवल मीमांसा शब्द का प्रयोग किया जाता है और ज्ञान मीमांसा को 'वेदान्त' शब्द से कहा जाता है।

महर्षि जैमिनि मीमांसादर्शन के सूत्रकार हैं। मीमांसादर्शन के इतिहास में कुमारिल भट्ट का युग सुवर्ण युग के नाम से कहा जाता है। भट्ट के अनुयायी भाट्ट कहलाते हैं। मीमांसा के आचार्यों

में प्रभाकर मिश्र की भी बड़ी प्रसिद्धि है। प्रभाकर के अनुयायी प्राभाकर कहे जाते हैं। इस प्रकार मीमांसा में भाट्ट और प्राभाकर ये दो पृथक् सम्प्रदाय हुए हैं। सूत्रकार ने मीमांसक, प्राभाकर और जैमिनीय इन तीन नामों से इस दर्शन का उल्लेख किया है।

प्राभाकर पदार्थों की संख्या ८ मानते हैं–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। भाट्टों के अनुसार पदार्थ ५ हैं–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव। वैशेषिक द्रव्य नौ ही मानते हैं किन्तु भाट्ट अन्धकार और शब्द ये दो द्रव्य अधिक मानते हैं। प्राभाकर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण मानते हैं और भाट्ट अभाव सहित छह प्रमाण मानते हैं।

मीमांसकों के अनुसार ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है। ज्ञान न तो स्वयं वेद्य है और न ज्ञानान्तर से वेद्य है। अतएव वह परोक्ष है। मीमांसकों के इस परोक्ष ज्ञान में प्रमाणता का निराकरण करने के लिए सूत्रकार ने प्रमाण के लक्षण में 'स्व' पद किया है।

ज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता कैसे आती है इस विषय में विवाद है। न्याय-वैशेषिक दोनों को परतः, सांख्य दोनों को स्वतः तथा मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः मानते हैं। वृत्तिकार ने 'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च' इस सूत्र की व्याख्या में विशेषरूप से मीमांसकों की मान्यता का निराकरण किया है।

मीमांसकों का कहना है कि जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है उनके अतिरिक्त अन्य किसी कारण की प्रमाणता की उत्पत्ति में अपेक्षा नहीं होती है। उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान पहले प्रमाण ही उत्पन्न होता है। बाद में यदि कारणों में दोषज्ञान अथवा बाधक प्रत्यय के द्वारा उसकी प्रमाणता हटा दी जाये तो वह अप्रमाण कहलाने लगता है। अतः जब तक कारणदोषज्ञान अथवा बाधक प्रत्यय का उदय न हो तब तक सब ज्ञान प्रमाण ही हैं। इसलिए ज्ञान में प्रमाणता स्वतः ही आती है किन्तु अप्रामाण्य में ऐसी बात नहीं है। अप्रामाण्य की उत्पत्ति तो परतः ही होती है। क्योंकि उसमें ज्ञान के कारणों के अतिरिक्त दोषरूप सामग्री की अपेक्षा होती है। वृत्तिकार ने मीमांसकों की उक्त मान्यता का सप्रमाण खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि प्रामाण्य अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः गृहीत होता है, अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति के विषय में सर्वथा एकान्त पक्ष का आश्रय लेना ठीक नहीं है किन्तु अनेकान्त पक्ष ही श्रेयान् है।

मीमांसक कहते हैं कि कोई पुरुष सर्वज्ञ या अतीन्द्रियदर्शी नहीं हो सकता है, क्योंकि किसी भी पुरुष में ज्ञान और वीतरागता का पूर्ण विकास संभव नहीं है। इसलिए उन्होंने प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों के द्वारा सर्वज्ञ की असिद्धि बतलाकर अभाव प्रमाण के द्वारा उसके अभाव को सिद्ध

किया है। वृत्तिकार ने उक्त मान्यता का निराकरण करते हुए 'सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसंभवात्' इस सूत्र की व्याख्या में प्रबल एवं निर्दोष अनुमान प्रमाण से विस्तारपूर्वक सिद्ध किया है कि कोई पुरुष सकल पदार्थ साक्षात्कारी है, क्योंकि उसका स्वभाव उनको जानने का है तथा उसमें प्रतिबन्ध के कारण नष्ट हो गए हैं।

मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं, क्योंकि वेद मुख्य रूप से अतीन्द्रिय धर्म का प्रतिपादक है और अतीन्द्रियदर्शी कोई पुरुष संभव नहीं है। अतः धर्म में वेद ही प्रमाण है। मीमांसकों ने वेद को दोषों से मुक्त रखने के लिए एक नये ही उपाय का आविष्कार किया है कि जब वक्ता ही न माना जाये तब दोषों की संभावना रह ही नहीं सकती, क्योंकि वक्ता के अभाव में दोष निराश्रय रह नहीं सकते। इस प्रकार वेद को स्वतः प्रमाण माना गया है और वेद को अपौरुषेय मानने के कारण मीमांसकों को शब्द मात्र को नित्य मानना पड़ा, क्योंकि यदि शब्द को अनित्य मानते तो शब्दात्मक वेद को भी अनित्य और पौरुषेय मानना पड़ता, जो कि अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार मीमांसकों ने गकारादि प्रत्येक शब्द को नित्य, एक और व्यापक मानकर वेद को अपौरुषेय सिद्ध किया है।

वृत्तिकार ने 'आप्तवचनादिनिबन्धमर्थज्ञानमागमः' इस सूत्र की व्याख्या में मीमांसकों की उक्त मान्यता का खण्डन करते हुए विस्तार से यह सिद्ध किया है कि शब्द अनित्य, अनेक और अव्यापक है तथा महाभारत आदि की भाँति पुरुष कर्तृक होने से वेद पौरुषेय है।

वेदान्त दर्शन

उपनिषदों के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित होने के कारण इस दर्शन का नाम वेदान्त (वेद का अन्त-उपनिषद्) प्रसिद्ध हुआ है। ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र) के रचयिता महर्षि बादरायण व्यास हैं। शंकर, रामानुज और मध्व ये ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार हैं। मीमांसकों की भाँति वेदान्ती भी छह प्रमाण मानते हैं।

वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। इस संसार में जो नानात्मकता दृष्टिगोचर होती है वह सब मायिक (माया-अविद्या-जनित) है। एक ही तत्त्व की सत्ता स्वीकार करने के कारण यह दर्शन अद्वैतवादी है।

वेदान्तियों ने मुख्य रूप से यह सब ब्रह्म है, इस जगत् में नाना कुछ भी नहीं है, सब उसी के पर्यायों को देखते हैं, उसको कोई भी नहीं देखता'; ऐसी श्रुति (वेद) के आधार से ब्रह्म की सिद्धि की है तथा उक्त श्रुति के समर्थन में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की दुहाई भी दी है किन्तु वृत्तिकार ने अनेक युक्तियों के आधार से विस्तारपूर्वक अद्वैत ब्रह्म का निराकरण करके सप्रमाण द्वैत अथवा

अनेकत्व की सिद्धि की है।

जैनदर्शन का महत्त्व

भारतीय दर्शन के इतिहास में जैनदर्शन का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति या भावना से वस्तु तत्त्व को जैसा देखा, उसी को दर्शन के नाम से कहा किन्तु किसी भी तत्त्व के विषय में कोई भी तात्त्विक दृष्टि ऐकान्तिक नहीं हो सकती। सर्वथा भेदवाद या अभेदवाद, नित्यैकान्त या क्षणिकैकान्त एकान्त दृष्टि है। प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है और कोई भी दृष्टि उन अनेक धर्मों का एक साथ प्रतिपादन नहीं कर सकती है। इस सिद्धान्त को जैनदर्शन ने अनेकान्त दर्शन के नाम से कहा है। जैनदर्शन का मुख्य उद्देश्य अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न मतों का समन्वय करना है। विचार जगत् का अनेकान्त सिद्धान्त ही नैतिक जगत् में अहिंसा का रूप धारण कर लेता है। अतः भारतीय दर्शन के विकास को समझने के लिये जैनदर्शन का विशेष महत्त्व है।

जैन न्याय का क्रमिक विकास

आचार्य उमास्वामी का 'तत्त्वार्थसूत्र' जैनदर्शन का प्रमुख सूत्रग्रन्थ है। उमास्वामी ने सम्यग्ज्ञान के भेदों को बतलाकर 'तत्प्रमाणे' (त. सू. १/११) सूत्र द्वारा सम्यग्ज्ञान में प्रमाणता का उल्लेख किया है। तदनन्तर आचार्य समन्तभद्र के द्वारा जैन न्याय का वास्तविक प्रारम्भ होता है। समन्तभद्र के समय में भावैकान्त, अभावैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, दैववाद, पुरुषार्थवाद आदि अनेक एकान्तों का प्राबल्य था। समन्तभद्र ने इन समस्त एकान्तों का स्याद्वाद दृष्टि से समन्वय किया है।[१] साथ ही उन्होंने प्रमाण और स्याद्वाद का लक्षण; सप्तभंगी, सुनय और दुर्नय की व्याख्या; अनेकान्त में भी अनेकान्त की प्रक्रिया; तथा अज्ञान निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा को फल बतलाया है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने नय और अनेकान्त का विशद विवेचन करने के साथ ही प्रमाण के लक्षण में बाधवर्जित विशेषण देकर उसे समृद्ध किया है तथा प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन भेद किए हैं।[२] अनुमान और हेतु का लक्षण बतलाकर प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के स्वार्थ और परार्थ भेद बतलाए हैं। जब दिग्नाग ने हेतु का लक्षण त्रिरूप सिद्ध किया तब पात्रकेसरी स्वामी ने हेतु का अन्यथानुपपत्तिरूप एक लक्षण स्थापित किया।

आचार्य जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण (ई० ७ वीं सदी) ने सर्वप्रथम लौकिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को जो अभी तक परोक्ष कहा जाता था, व्यवहार प्रत्यक्ष के नाम के कहा है।[३] इसके बाद अकलंक ने प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो भेद करके पुनः प्रत्यक्ष के मुख्य प्रत्यक्ष (अतीन्द्रिय

---

१. देखो आप्तमीमांसा। २. देखो न्यायावतार। ३. देखो विशेषावश्यक भाष्य।

प्रत्यक्ष) और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (इन्द्रिय प्रत्यक्ष) ये दो भेद किए हैं तथा परोक्ष प्रमाण के भेदों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम का स्पष्ट उल्लेख किया है। इस प्रकार न्यायशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा अकलंक से प्रारम्भ होती है। वास्तव में अकलंक जैन न्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं।

आगम में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष बतलाया गया है तथा मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) को मतिज्ञान का पर्याय कहा है किन्तु लोकव्यवहार में इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। अतः लोकव्यवहार में सामंजस्य सिद्ध करने के लिए मतिज्ञान के एक अंश मति (इन्द्रियजन्य ज्ञान) को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बतलाकर शेष स्मृति आदि को परोक्ष कहा गया है, क्योंकि स्मृति आदि ज्ञान अपनी उत्पत्ति में ज्ञानान्तर की अपेक्षा रखते हैं। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये ज्ञान भी ज्ञानान्तर से व्यवहित न होने के कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ही हैं। अतः स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से परोक्ष ज्ञान के पाँच भेद हैं। इस प्रकार सर्वप्रथम अकलंक ने ही परोक्ष प्रमाण की एक सुनिश्चित सीमा निश्चित की है। अकलंक ने ही अनुमान, साध्य, साधन आदि के लक्षणों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है। अकलंक के न्याय विनिश्चय में एक श्लोक मिलता है जिसके द्वारा अविनाभाव को हेतु का एकमात्र लक्षण बतलाया गया है। तत्त्वसंग्रहपञ्जिका[१] के अनुसार वह श्लोक पात्रकेसरी स्वामी का है।

अकलंक के बाद विद्यानन्दी ने जैनन्याय के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया है। आचार्य माणिक्यनन्दी ने परीक्षामुख की रचना करके जैन न्याय के सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध किया है। बौद्ध हेतु के तीन ही भेद मानते हैं–स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि किन्तु माणिक्यनन्दी ने हेतु के सर्वप्रथम उपलब्धि और अनुपलब्धि के भेद से दो भेद करके पुनः दोनों के अविरुद्ध और विरुद्ध के भेद से दो–दो भेद किए हैं। इन दोनों के भी कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि के भेद से कई भेद किए हैं। ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ बौद्धों ने अनुपलब्धि को ही प्रतिषेध साधक माना है वहाँ माणिक्यनन्दी ने उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनों को ही विधि और प्रतिषेध साधक बतलाया है।

अनुपलब्धि दो प्रकार की होती है–दृश्यानुपलब्धि और अदृश्यानुपलब्धि। घट की अनुपलब्धि दृश्यानुपलब्धि है, क्योंकि घट दृश्य है। परमाणु की अनुपलब्धि अदृश्यानुपलब्धि है, क्योंकि परमाणु अदृश्य है। बौद्धों ने दृश्यानुपलब्धि को ही अभाव साधक माना है, अदृश्यानुपलब्धि को

१. अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्रत्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥–न्यायविनिश्चय, श्लो. ३२३

नहीं किन्तु अकलंक ने बतलाया है कि अदृश्यानुपलब्धि से भी अभाव की सिद्धि होती है। क्योंकि दृश्यत्व का अर्थ प्रत्यक्ष विषयत्व नहीं है, अपितु उसका अर्थ है प्रमाणविषयत्व। हम मृत प्राणी में चैतन्य के अभाव की सिद्धि अदृश्यानुपलब्धि से ही करते हैं, क्योंकि चैतन्य अदृश्य है[१]।

माणिक्यनन्दी के बाद प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने भी पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए न्याय के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन एवं प्रतिष्ठापन किया है।

इस प्रकार जैन न्याय में उपमान का प्रत्यभिज्ञान में, अर्थापत्ति का अनुमान में, और अभाव का प्रत्यक्ष आदि में अन्तर्भाव करके प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण की द्वित्व संख्या का समर्थन किया गया है। साथ ही व्याप्ति को ग्रहण करने वाले 'तर्क' नामक एक ऐसे प्रमाण को प्रतिष्ठित किया गया है जिसको अन्य किसी दर्शन ने प्रमाण नहीं माना है।

प्रमाण मीमांसा

[२]प्रमाण शब्द की निरुक्ति के अनुसार–जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो, उसे प्रमाण कहते हैं। कुछ दार्शनिकों ने इसी निरुक्ति का आश्रय लेकर प्रमा के करण[३] अर्थात् साधकतम कारण को प्रमाण कहा है। प्रमा नाम वस्तु के यथार्थ ज्ञान का है[४], उसकी उत्पत्ति में जो विशिष्ट कारण होता है, वह करण कहलाता है।[५] प्रमाण के इस सामान्य लक्षण में विवाद न होने पर भी प्रमा के करण के विषय में विवाद है।

बौद्ध सारूप्य (तदाकारता) और योग्यता को प्रमिति का करण मानते हैं। सांख्य इन्द्रिय वृत्ति को, यौग (नैयायिक-वैशेषिक) इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और ज्ञान को, प्रभाकर ज्ञाता के व्यापार को और मीमांसक इन्द्रिय को प्रमा का करण मानते हैं किन्तु जैन लोग ज्ञान को ही प्रमा का करण कहते हैं।

बौद्धदर्शन में अज्ञात अर्थ के प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण माना गया है।[६] दिग्नाग ने विषयाकार को प्रमाण, तथा विषयाकार अर्थनिश्चय को और स्वसंवित्ति को प्रमाण का फल माना है।[७]

धर्मकीर्ति ने प्रमाण के लक्षण में 'अविसंवादि' पद को जोड़कर दिग्नाग प्रतिपादित लक्षण

---

१. अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्ययुक्तं परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्तेः। –अष्टशती-अष्टसहस्री, पृ.५२

२. प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्।

३. प्रमाकरणं प्रमाणम्।

४. यथार्थानुभवः प्रमा। –तर्कभाषा केशवमि.

५. साधकतमं कारणं करणम्।

६. अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्। –प्रमाणसमुच्चय टीका पृ. ११

७. स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपार्थ निश्चयः।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥ –प्रमाणसमुच्चय. २.१०

का ही समर्थन किया है।[१] तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित ने सारुप्य ओर योग्यता को प्रमाण माना है तथा विषयाधिगति और स्वसंविति को फल माना है।[२] मोक्षाकार गुप्त ने अपनी तर्कभाषा में भी अपूर्व अर्थ के विषय करने वाले सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा है।[३] इस प्रकार बौद्धों ने अज्ञातार्थ प्रकाशक अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण माना है।

बौद्धों के यहाँ प्रमाण और फल में अभेद होने से यद्यपि प्रमाण ज्ञानरूप ही है, तथापि विषयाकारता को ही उन्होंने प्रमाण माना है। यद्यपि ज्ञानगत सारूप्य ज्ञानस्वरूप ही है, फिर भी ज्ञान का विषयाकार होना एक जटिल समस्या है, क्योंकि अमूर्तिक ज्ञान का मूर्तिक पदार्थ के आकार होना सम्भव नहीं है। विषयाकारता को प्रमाण मानने से संशय और विपर्यय ज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा; क्योंकि वे ज्ञान भी तो विषयाकार होते हैं।

सांख्यों ने श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति (व्यापार) को प्रमाण माना है[४] किन्तु इन्द्रिय वृत्ति को प्रमाण मानना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि इन्द्रियों के समान उनका व्यापार भी अचेतन और अज्ञानरूप ही होगा। अतः अज्ञानरूप व्यापार प्रमा का साधकतम कारण नहीं हो सकता।

न्यायदर्शन में न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने उपलब्धि-साधन को प्रमाण माना है।[५] उद्योतकर ने भी उपलब्धि के साधन को ही प्रमाण स्वीकार किया है।[६] जयन्तभट्ट ने प्रमा के करण को प्रमाण कहा है।[७] उदयन ने यथार्थानुभव को प्रमाण माना है।[८] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उदयन के पहले न्याय-वैशेषिक दर्शन में अनुभव पद दृष्टिगोचर नहीं होता।

वैशेषिक-दर्शन में सर्वप्रथम कणाद ने प्रमाण के सामान्य लक्षण का निर्देश किया है। उन्होंने दोषरहित ज्ञान को विद्या (प्रमाण) कहा है।[९] कणाद के बाद वैशेषिक दर्शन के अनुयायियों ने प्रमा के करण को ही प्रमाण माना है।

---

१. प्रमाणमविसंवादिज्ञानमज्ञातार्थप्रकाशो वा। -प्रमाणवार्तिक

२. विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यताऽपि वा॥ -तत्त्वसंग्रहकारिका १३४४

३. प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्। -तर्कभाषा मोक्षाकरगुप्त पृ. १।

४. इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्। -योगदर्शन व्यासभाष्य पृ. २७

५. उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि -न्यायभाष्य. पृ. १८

६. उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्। -न्यायवार्तिक, पृ. ५

७. प्रमाकरणं प्रमाणम्। -१ न्यायमञ्जरी पृ. २५

८. यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते। -न्यायकुसुमा. ४,१

९. अदुष्टं विद्या। -वैशेषिक सूत्र ९, २, १२

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्रमा के करण को प्रमाण माना गया है। उन्होंने प्रत्यक्ष प्रमा के तीन करण माने हैं—इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष और ज्ञान।[१]

किन्तु इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमा का करण मानना उचित नहीं है; क्योंकि इन्द्रिय और सन्निकर्ष अज्ञानरूप हैं, अतः वे अज्ञान की निवृत्तिरूप प्रमा के करण कैसे हो सकते हैं? अज्ञान-निवृत्ति में अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही करण हो सकता है। जैसे कि अन्धकार की निवृति में उसका विरोधी प्रकाश ही करण होता है। सन्निकर्ष को प्रमाण मानने में एक दोष यह भी है कि क्वचित् सन्निकर्ष के रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है और क्वचित् सन्निकर्ष के नहीं रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

वृद्ध नैयायिकों ने ज्ञानात्मक तथा अज्ञानात्मक दोनों ही प्रकार की सामग्री को प्रमा का करण माना है[२]। अतः वे कारक-साकल्य अर्थात् इन्द्रिय, मन, पदार्थ, प्रकाश आदि कारणों की समग्रता को प्रमाण मानते हैं। इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि अर्थ की उपलब्धि में साधकतम कारण तो ज्ञान ही है और कारक-साकल्य की सार्थकता उस ज्ञान को उत्पन्न करने में है, क्योंकि ज्ञान की उत्पन्न किये बिना कारक-साकल्य अर्थ की उपलब्धि नहीं करा सकता है। इसलिए प्रमा का करण ज्ञान ही हो सकता है; अज्ञानरूप सन्निकर्षादि नहीं। यतः प्रमाण हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ होता है, अतः वह प्रमाण ज्ञान ही हो सकता है।

मीमांसा दर्शन में प्राभाकर और भाट्ट दो सम्प्रदाय हैं। उनमें से प्राभाकरों ने अनुभूति को प्रमाण का लक्षण माना है[३] और ज्ञातृ-व्यापार को भी[४] किन्तु एक ही अर्थ की अनुभूति विभिन्न व्यक्तियों को अपनी-अपनी भावना के अनुसार विभिन्न प्रकार की होती है, इसलिए केवल अनुभूति को प्रमाण नहीं माना जा सकता। ज्ञातृ-व्यापार को प्रमाण मानने में उनकी युक्ति यह है कि अर्थ का प्रकाशन ज्ञाता के व्यापार द्वारा होता है, अतः ज्ञाता का व्यापार प्रमाण है किन्तु ज्ञातृ-व्यापार को प्रमाण मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञाता के व्यापार को अर्थ-प्रकाशन में या उसके जानने में प्रमाण तभी माना जा सकता है, जब कि उसका व्यापार यथार्थ वस्तु-बोध में कारण हो। जहाँ पर यह यथार्थ वस्तु-बोध में कारण नहीं है, प्रत्युत विपरीत ही अर्थ-बोध करा रहा है, वहाँ उसे कैसे प्रमाण माना जा सकता है।

---

१. तस्याः करणं त्रिविधम्। कदाचिदिन्द्रियम्, कदाचिदिन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिज्ज्ञानम्।—तर्कभाषा, पृ. १३

२. अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।—न्यायमञ्जरी, पृ. १२

३. अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्।—बृहती १, १, ५

४. तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते।
तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धीः॥ व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम्। —मीमांसा श्लो. पृ. १५२

भाट्टों ने अनधिगत (अज्ञात) यथावस्थित अर्थ के जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है[१] किन्तु यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है, कारण कि उन्होंने स्वयं गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण माना है। मीमांसकों ने प्रमाण का एक और भी विस्तृत, विशद एवं व्यापक लक्षण कहा है–

जो अपूर्व अर्थ को जानने वाला हो, निश्चित हो, बाधाओं से रहित हो, निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ हो और लोक-सम्मत हो, वह प्रमाण कहलाता है[२]।

उक्त प्रमाण लक्षण में यद्यपि आपत्तिजनक कोई बात प्रतीत नहीं होती है, फिर भी अन्य दार्शनिकों ने इस लक्षण की आलोचना की है। मेरे विचार से प्रमाण का उक्त लक्षण उचित प्रतीत होता है किन्तु मीमांसकों ने ज्ञान को जो परोक्ष माना है, वही सबसे बड़ी आपत्ति की बात है। उनकी मान्यता है कि ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है किन्तु ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति से जनित अर्थापत्ति से ज्ञान गृहीत होता है[३]। उनकी यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जो स्वयं परोक्ष है, वह प्रमाण कैसे हो सकता है? अतः मीमांसक का प्रमाणरूप ज्ञान को परोक्ष मानना प्रतीति-विरुद्ध है।

जैनदर्शन में सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र ने स्वपरावभासक ज्ञान को प्रमाण बतलाया है[४]। आचार्य सिद्धसेन ने स्वपरावभासक तथा बाधवर्जित ज्ञान को प्रमाण माना है[५]। इसके अनन्तर अकलंक ने प्रमाण के लक्षण में व्यवसायात्मक पद जोड़कर अपने और अर्थ को ग्रहण करने वाले व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है[६]। पुनः अकलंक ने ही प्रमाण के लक्षण में अविसंवादी और अनधिगत विशेषणों को जोड़ा है[७]।

विद्यानन्दी ने पहले सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण का लक्षण बतलाकर पुनः उसे स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है[८]। इन्होंने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत या अपूर्व विशेषण नहीं दिया है क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान चाहे अपूर्व अर्थ को जाने या गृहीत अर्थ को, वह

---

१. अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम्। –शास्त्रदी. पृ. १२३

२. तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥ –उद्धृत प्रमाणवार्तिकालंकार. पृ. २१

३. ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्यां ज्ञानं गृह्यते। –तर्कभाषा केशवमिश्र, पृ. ४२।

४. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्। –स्वयम्भू. श्लो. ६३

५. प्रमाणं स्वपराभासिं ज्ञानं बाधविवर्जितम्। –न्यायावतार श्लो. १

६. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्। –लघीयस्त्रय का. ६०

७. प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्। –अष्टशती का. ३६

८. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। –प्रमाणपरीक्षा, पृ. ५१
स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्। –प्रमाणपरीक्षा

स्वार्थव्यवसायात्मक होने से ही प्रमाण है[१] किन्तु माणिक्यनन्दी ने स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण का लक्षण सिद्ध किया है[२]।

परीक्षामुख

यह जैन न्याय का आद्य सूत्रग्रन्थ है। आचार्य उमास्वामी (वि० सं० की पहली श.) का 'तत्त्वार्थसूत्र' जैनदर्शन का आद्य सूत्रग्रन्थ है। सांख्यसूत्र, योगसूत्र, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, मीमांसासूत्र, ब्रह्मसूत्र आदि इतर दर्शनों के सूत्रग्रन्थों की रचना भी विक्रम पूर्व में हो चुकी थी। फिर भी न्यायप्रवेश, न्यायमुख आदि की तरह जैन न्याय को सूत्रबद्ध करने वाला ग्रन्थ विक्रम की दसवीं शताब्दी तक नहीं बन पाया था, अतः माणिक्यनन्दी ने इस ग्रन्थ को लिखकर एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति ही नहीं की किन्तु आगे के सूत्रग्रन्थों के लिए एक आदर्श भी उपस्थित किया है। बौद्धदर्शन में हेतुमुख, न्यायमुख जैसे ग्रन्थ पाये जाते थे। माणिक्यनन्दी ने भी अपने सूत्रग्रन्थ का नाम मुखान्त रखकर पूर्व ग्रन्थों के नामों का अनुकरण किया है।

परीक्षामुख में प्रमाण और प्रमाणाभास की परीक्षा की गई है। किसी विषय में विरुद्ध नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निश्चय करने के लिए जो विचार किया जाता है वह परीक्षा कहलाता है[३]। जिस प्रकार हम दर्पण में अपने मुख को स्पष्ट देखते हैं उसी प्रकार परीक्षामुखरूपी दर्पण में प्रमाण और प्रमाणाभास को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यह छह समुद्देशों में विभक्त है तथा इसकी सूत्र संख्या २०८ (?) है।

परीक्षामुख का उद्‍गम अकलंक के लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह आदि ग्रन्थों के आधार से हुआ है। इस विषय में वृत्तिकार आचार्य अनन्तवीर्य ने लिखा है–

''जिस बुद्धिमान ने अकलंक के वचनरूपी सागर का मन्थन करके न्यायविद्यारूपी अमृत को निकाला उस माणिक्यनन्दी को नमस्कार हो[४]।''

परीक्षामुख पर अकलंक के ग्रन्थों का प्रभाव तो है ही, साथ ही दिग्नाग के न्यायप्रवेश और

---

१. तत्स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ॥ –तत्त्वार्थ श्लो.
गृहीतमगृहीतं वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति।
तन्न लोकेन शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥ तत्त्वार्थश्लो. ११०/७८

२. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। –परीक्षामु. १/१

३. विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा। –न्यायदीपिका
लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा। –तर्कसंग्रह पदकृ.

४. अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुदध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने। –प्रमेयरत्नमाला, पृ. ४

धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उत्तरकालवर्ती आचार्यों में वादिदेव सूर के प्रमाणनय तत्त्वालोक और हेमचन्द्र की प्रमाण मीमांसा पर परीक्षामुख अपना अमिट प्रभाव रखता है।

भाषा और शैली

इस ग्रन्थ की शैली न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र आदि की तरह सूत्रात्मक है। सूत्र वह है जो अल्प अक्षरों वाला, असंदिग्ध, सारवान, गूढ़ निर्णय वाला, निर्दोष, युक्तिमान और तथ्य स्वरूप वाला हो।[१] सूत्र का यह लक्षण परीक्षामुख में पूर्ण रूप से पाया जाता है। इसकी भाषा प्रांजल एवं सुबोध है। इसके सूत्र सरल, सरस तथा गंभीर अर्थ वाले हैं। सरल संस्कृत में प्रत्येक बात को संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप से समझाया गया है। यद्यपि न्याय-ग्रन्थों की भाषा दुर्बोध, जटिल एवं गंभीर होती है किन्तु माणिक्यनन्दी ने सरस, सरल एवं प्रांजल भाषा को अपनाया है, क्योंकि उनका उद्देश्य न्यायशास्त्र में मन्दबुद्धि वाले बालकों के लिए न्यायशास्त्र का ज्ञान कराना था।

प्रतिपाद्य विषय

परीक्षामुख का मुख्य विषय प्रमाण और प्रमाणाभास का प्रतिपादन करना है।

प्रथम समुद्देश—इसमें प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण के विशेषणों की सार्थकता, दीपक के दृष्टान्त से ज्ञान में स्व और पर की व्यवसायात्मकता की सिद्धि तथा प्रमाण की प्रमाणता को कथंचित् स्वतः और कथंचित् परतः सिद्ध किया गया है।

द्वितीय समुद्देश—इसमें प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद, प्रत्यक्ष का लक्षण, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का वर्णन, अर्थ और आलोक में ज्ञान के प्रति कारणता का निरास, ज्ञान में तदुत्पत्ति (पदार्थ से उत्पत्ति) का खण्डन, स्वावरण क्षयोपशमरूप योग्यता से ज्ञान के द्वारा प्रतिनियत विषय की व्यवस्था, ज्ञान के कारण को ज्ञान का विषय मानने में व्यभिचार का प्रतिपादन और निरावरण एवं अतीन्द्रिय स्वरूप मुख्य प्रत्यक्ष का लक्षण बतलाया गया है।

तृतीय समुद्देश—इसमें परोक्ष का लक्षण, परोक्ष के पाँच भेद, उदाहरण पूर्वक स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान का लक्षण, हेतु और अविनाभाव का स्वरूप, साध्य का लक्षण, साध्य के विशेषणों की सार्थकता, धर्मी (पक्ष) का प्रतिपादन, धर्मी की सिद्धि के प्रकार, पक्ष प्रयोग की आवश्यकता, अनुमान के दो अंगों का प्रतिपादन, उदाहरण, उपनय और निगमन को अनुमान के अंग मानने में दोषोद्भावन, शास्त्र में उदाहरणादि के भी अनुमान के अवयव होने की

१. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रं सूत्रविदो विदुः। –प्रमेयरत्नमाला टि. पृ. ५

स्वीकृति, अनुमान के दो भेद, उनका लक्षण, सोदाहरण हेतु के २२ भेदों का विशद वर्णन, बौद्धों के प्रति कारणहेतु की सिद्धि, आगम प्रमाण का लक्षण और शब्द में वस्तु प्रतिपादन की शक्ति का वर्णन है।

चतुर्थ समुद्देश—इसमें प्रमाण के सामान्य-विशेष उभयरूप विषय की सिद्धि करते हुए सामान्य और विशेष के दो दो भेदों का उदाहरण सहित प्रतिपादन किया गया है।

पञ्चम समुद्देश—इसमें प्रमाण के फल को बतलाकर प्रमाण से फल में कथंचित् अभिन्नता और कथंचित् भिन्नता सिद्ध की गई है।

षष्ठ समुद्देश—इसमें प्रमाणाभासों का विशद वर्णन है। स्वरूपाभास, प्रत्यक्षाभास, परोक्षाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास, अनुमानाभास, पक्षाभास, हेत्वाभास, हेत्वाभास के असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर भेदों का उदाहरण सहित वर्णन, दृष्टान्ताभास, दृष्टान्ताभास के भेद, बालप्रयोगाभास, आगमाभास, संख्याभास, विषयाभास, फलाभास तथा वादी और प्रतिवादी की जय-पराजय की कसौटी का प्रतिपादन किया गया है।

परीक्षामुख की टीकाएँ

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड

आचार्य प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख पर १२ हजार श्लोक प्रमाण प्रमेयकमलमार्तण्ड नाम की बृहत् टीका लिखी है। यह जैन न्यायशास्त्र का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका नाम ही इस बात को ख्यापित करता है कि यह ग्रन्थ प्रमेयरूपी कमलों के लिए मार्तण्ड (सूर्य) के समान है। इसे लघु अनन्तवीर्य ने उदार चन्द्रिका (चाँदनी) की उपमा दी है और अपनी रचना प्रमेयरत्नमाला को प्रमेयकमलमार्तण्ड के सामने खद्योत (जुगनू) के समान बतलाया है[१]। इससे ज्ञात होता है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड कितना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अकेले प्रमेयकमलमार्तण्ड के अध्ययन से समस्त भारतीय दर्शनों का विशद ज्ञान हो सकता है।

२. प्रमेयरत्नमाला

लघु अनन्तवीर्य ने परीक्षामुख पर प्रसन्न रचना-शैली में प्रमेयरत्नमाला नाम की लघु टीका लिखी है। अनन्तवीर्य के सामने यद्यपि प्रभाचन्द्र की विशाल रचना (प्रमेयकमलमार्तण्ड) विद्यमान थी, फिर भी इस न्याय के अथाह सागर में से, नदी में से एक घट में भरे हुए जल की तरह, उन्हीं के वचनों को संक्षेप में अपूर्व रचना से अलंकृत करके इस ढंग से रखा है कि वे न्याय जिज्ञासुओं के चित्त को आकर्षित करने लगे हैं। संभवतः इसका नाम पहले लघुवृत्ति रहा है, बाद में इसके महत्त्व

---

१. प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति।
मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभा ॥ -प्रमेयरत्नमाला

के कारण इसका नाम प्रमेयरत्नमाला हो गया हो। वास्तव में यह प्रमेयरूपी रत्नों की माला ही है। स्वयं अनन्तवीर्य ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपनी लिखी जाने वाली टीका को 'परीक्षामुखपञ्जिका' के नाम से निर्देश किया है[१] और प्रत्येक समुद्देश के अन्त में जो ऐसे पुष्पिका-वाक्य मिलते हैं जिनके अनन्तवीर्य-लिखित होने की ही अधिक सम्भावना है उनमें उन्होंने अपनी टीका को परीक्षामुख लघुवृत्ति कहा है[२]।

इसमें समस्त दर्शनों के विशिष्ट प्रमेयों का सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि परीक्षामुख की तरह प्रमेयरत्नमाला का विषय भी प्रमाण और प्रमाणाभास का प्रतिपादन ही है किन्तु प्रमेयों के प्रतिपादन के बिना प्रमाण की चर्चा अधूरी ही रह जाती है। अतः प्रमाण के विभिन्न अंगों की चर्चा के समय प्रकरण प्राप्त विभिन्न प्रमेयों का वर्णन उचित ही है। प्रमेयकमलमार्तण्ड में जिन विषयों का विस्तार से वर्णन है उन्हीं का संक्षेप में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करना प्रमेयरत्नमाला की विशेषता है।

३. प्रमेयरत्नालंकार

यह टीका भट्टारक चारुकीर्ति द्वारा परीक्षामुख के सूत्रों पर लिखी गई है।[३] परीक्षामुख के समान इसके भी छह परिच्छेद हैं। यह आकार में प्रमेयरत्नमाला से भी बड़ी है और इसमें कुछ ऐसे विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है जो प्रमेयरत्नमाला में उपलब्ध नहीं है। यह रचना प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नमाला के मध्य का एक ऐसा सोपान है जिसके द्वारा न्यायशास्त्र के भवन पर आसानी से चढ़ा जा सकता है। इसकी हस्तलिखित प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरा में उपलब्ध है।

४. प्रमेयकण्ठिका

इसकी हस्तलिखित प्रति भी उक्त भवन में ही पाई जाती है। इसे परीक्षामुख की टीका तो नहीं कहा जा सकता किन्तु यह परीक्षामुख के प्रथम सूत्र ''स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'' पर श्री शान्ति वर्णी द्वारा लिखी गई एक 'स्वतंत्र कृति'[४] है। यह ग्रन्थ पाँच स्तवकों में विभक्त है और इसमें प्रमेयरत्नमालान्तर्गत कुछ विशिष्ट विषयों का प्रतिपादन किया गया है। यह अप्रकाशित है।

---

१. देखो प्रस्तुत संस्करण का पृ. ५

२. देखो प्रमेयरत्नमाला के प्रत्येक समुद्देश की अन्तिम पुष्पिकाएँ।

३. श्रीचारुकीर्तिधुर्यस्सन्तनुते पण्डितार्यमुनिवर्यः।
व्याख्यां प्रमेयरत्नालङ्काराख्यां मुनीन्द्रसूत्राणाम्॥

४. परीक्षामुखसूत्रस्याद्यस्यार्थं विवृण्महे।
इति श्रीशान्तिवर्णिविरचितायां प्रमेयकण्ठिकाया...स्तबकः।

प्रमेयरत्नमाला का प्रतिपाद्य विषय—

प्रथम समुद्देश—सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन का प्रतिपादन, इष्टदेव को नमस्कार की सिद्धि, प्रमाण के लक्षण में प्रदत्त प्रत्येक विशेषण की सार्थकता बतलाकर ''प्रमाण में प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्यपरतः होता है'' मीमांसकों की ऐसी मान्यता का निराकरण करके अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः प्रामाण्य सिद्ध किया गया है।

द्वितीय समुद्देश—चार्वाकाभिमत प्रत्यक्षैक प्रमाणता का निरास करके अनुमान में प्रामाण्य बतलाते हुए, ''प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं'' बौद्धों की ऐसी मान्यता का निराकरण पूर्वक स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क की प्रामाणिकता का विस्तार से विवेचन किया गया है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के वर्णन में मतिज्ञान के ३३६ भेदों का प्रतिपादन किया गया है। कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। इस विषय में मीमांसकों के पूर्व पक्ष का विवेचन करते हुए युक्ति और प्रमाण पूर्वक सर्वज्ञ की सिद्धि की गई है। ''ईश्वर सृष्टिकर्ता है'' नैयायिक-वैशेषिक के इस सिद्धान्त का पूर्व पक्ष बतलाकर उनके द्वारा प्रयुक्त कार्यत्व हेतु में अनेक विकल्पों का उद्भावन और उनमें दोषोद्भावन करके सप्रमाण सृष्टि कर्तृत्व का निराकरण किया गया है और अन्त में ''एकमात्र ब्रह्म ही तत्त्व है'' इस विषय में मीमांसकों के पूर्व पक्ष का प्रदर्शन पूर्वक उनकी उक्त मान्यता का सप्रमाण निरास किया गया है।

तृतीय समुद्देश—परोक्ष प्रमाण के स्मृति आदि भेदों का स्वरूप बतलाते हुए, नैयायिकादि के द्वारा माने गए उपमान का प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव करके हेतु लक्षण के प्रकरण में बौद्धाभिमत त्रैरूप्य और नैयायिकाभिमत पाञ्चरूप्य का निराकरण किया गया है। आगम प्रमाण के लक्षण के प्रकरण में ''प्रत्येक गकारादि वर्ण नित्य, एक और व्यापक हैं तथा वेद अपौरुषेय है'' मीमांसकों की इस मान्यता के सम्बन्ध में पूर्व पक्ष का विवेचन करते हुए उत्तर पक्ष में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि गकारादि वर्ण अनित्य, अनेक और अव्यापक हैं तथा आगम या वेद पौरुषेय है और अन्त में बौद्धाभिमत अन्यापोह का निराकरण करते हुए शब्द में अर्थ की वाचकता को सिद्ध किया गया है।

चतुर्थ समुद्देश—सांख्यों ने प्रधान को सामान्यरूप मानकर इससे सृष्टि का क्रम माना है। वृत्तिकार ने सांख्यों की इस मान्यता का निराकरण करके सिद्ध किया है कि प्रधान से सृष्टि की उत्पत्ति संभव नहीं है। बौद्धों का सिद्धान्त है कि विशेष (स्वलक्षण) ही तत्त्व हैं। ये विशेष परस्पर असम्बद्ध, क्षणिक एवं निरन्वय हैं। बौद्धों की इस मान्यता का निराकरण करते हुए अवयवी की सिद्धि तथा क्षणिकत्व के निराकरण पूर्वक निरन्वय विनाश का खण्डन किया गया है। वैशेषिकों ने माना है कि सामान्य और विशेष दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है। इस मान्यता का निराकरण करके जीवादि पदार्थों को सामान्य विशेषात्मक सिद्ध किया गया है। वस्तु को सामान्य-विशेषात्मक

मानने में नैयायिक-वैशेषिक द्वारा दिए गए विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, सङ्कर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव इन आठ दोषों का निराकरण किया गया है तथा समवाय नामक पृथक् पदार्थ का खण्डन किया गया है। पर्याय नामक विशेष के निरूपण में ''आत्मा व्यापक है अथवा अणु परिमाण है'' इन दोनों मान्यताओं का निराकरण करके आत्मा को स्वदेह परिमाण सिद्ध किया गया है और अन्त में ''पृथ्वी आदि चार भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति होती है'' चार्वाक की इस मान्यता का निराकरण करके आत्मा को अनादि सिद्ध किया गया है।

षष्ठ समुद्देश—सूत्रोक्त प्रमाणाभासों का यथास्थान आवश्यक विवेचन करते हुए अन्त में संक्षेप से सात नयों का स्वरूप बतलाकर वाद लक्षण और पत्र लक्षण के स्वरूप की भी चर्चा की गई है।

सूत्रकार माणिक्यनन्दी

व्यक्तित्व और कार्य

आचार्य माणिक्यनन्दी जैन न्याय के आद्य सूत्रकार हैं। ये नंदिसंघ के प्रमुख आचार्य थे। धारा नगरी इनका निवास स्थल रही है ऐसा टिप्पणकार ने अपनी उत्थानिका में स्पष्ट उल्लेख किया है। माणिक्यनंदी ने अकलंक के ग्रन्थरूपी समुद्र का मंथन तो किया ही था और इसी का फल न्यायविद्यारूपी अमृत (परीक्षामुख) है। साथ ही परीक्षामुख सूत्रों में लौकायतिक (चार्वाक), बौद्ध, सांख्य, यौग (न्याय-वैशेषिक), प्राभाकर, जैमिनीय, और मीमांसकों के नामोल्लेख पूर्वक उनके सिद्धान्तों के प्रतिपादन से इतर दर्शनों के विशिष्ट ज्ञान का भी पता चलता है।

शिमोगा जिले के नगर ताल्लु के के शिलालेख नं. ६४ के एक श्लोक में माणिक्यनन्दी को जिनराज लिखा है[१]।

न्याय दीपिका में इनका भगवान् के रूप में उल्लेख किया गया है[२]। प्रभाचन्द्र ने इनको गुरु के रूप में स्मरण किया है तथा इनके पद पंकज के प्रसाद से ही प्रमेयकमलमार्तण्ड की रचना करने का संकेत दिया है। इससे उनके असाधारण व्यक्तित्व का आभास मिलता है। वास्तव में माणिक्यनन्दी जैन न्याय के भण्डार में अपने परीक्षामुखरूपी माणिक्य को जमा करके सदा के लिए अमर हो गए हैं।

इनकी एकमात्र कृति परीक्षामुख है किन्तु यह एक असाधारण और अपूर्व कृति है। माणिक्यनन्दी की यह एक मात्र रचना न्याय के सूत्र ग्रन्थों में अपना असाधारण स्थान एवं महत्त्व रखती है। यह

१. माणिक्यनन्दीजिनराजवाणीप्राणाधिनाथः परवादिमर्दी।
चित्रं प्रभाचन्द्र इह क्षमायां मार्तण्डवृद्धौ नितरां व्यदीपि ॥

२. तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दिभट्टारकः। –न्यायदीपिका

अकलंक के वचनरूपी समुद्र से निकला हुआ न्यायविद्यामृत है।

समय

प्रमेयरत्नमालाकार के उल्लेखानुसार माणिक्यनन्दी अकलंक के उत्तरवर्ती हैं। अकलंक का समय ७२० से ७८० ई० सिद्ध किया गया है तथा प्रज्ञाकर गुप्त (७२० ई०), प्रभाकर (८ वीं श.) आदि के सिद्धान्तों का खण्डन परीक्षामुख में है। अतः माणिक्यनन्दी की पूर्वावधि ८०० ई० निर्बाध सिद्ध होती है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख पर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक टीका लिखी है। प्रभाचन्द्र का समय ईसा की दसवीं शताब्दी का अन्तिम चरण है। अतः माणिक्यनन्दी की उत्तरावधि ईसा की दसवीं शताब्दी सिद्ध होती है।

आचार्य माणिक्यनन्दी के समय-निर्धारण में सहायक उक्त सर्व अनुमानों के पश्चात् उनके समय का जो सब से अधिक निश्चित आधार मिला है, उसके अनुसार उनका समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

आचार्य नयनन्दी ने अपने सुदर्शन चरित को वि० सं० ११०० में धारानरेश भोजदेव के समय में पूर्ण किया है। उन्होंने अपने को आचार्य माणिक्यनन्दी का जग विख्यात प्रथम शिष्य बतलाया है। आचार्य नयनन्दी की उक्त प्रशस्ति का वह अंश इस प्रकार है–

जिणिंदागमब्भासणे एयचित्तो तवायारणिट्ठाइ लद्धाइजुत्तो।
णरिंदामरिंदाहिवाणंदवंदी हुओ तस्स सीसो गणी रामणंदी॥
असेसाण गंथंमि पारंमि पत्तो तवे अंगवी भव्वराईवमित्तो।
गुणायासभूवो सुल्लोक्कणंदी महापंडिओ तस्स माणिक्कणंदी॥
पढम सीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणि णयणंदी अणिंदियउ।
चरिउं सुदंसणणाहहो तेण अबाहहो विरइउं बुह अहिणंदिउ॥

× × ×

णिव विक्कमकालहो ववगएसु एयारह संवच्छरसएसु।
तहिं केवलिचरिउं अमरच्छरेण णयणंदी विरयउ वित्थरेण॥

उक्त प्रशस्ति का भाव यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द की सन्तान में जिनेन्द्र आगम के विशिष्ट अभ्यासी, तपस्वी गणी रामनन्दी हुए। उनके शिष्य महापण्डित माणिक्यनन्दी हुए, जो कि सर्व ग्रन्थों के पारगामी थे। उनके प्रथम शिष्य नयनन्दी ने वि० सं० ११०० में सुदर्शन चरित को रचा।

आचार्य माणिक्यनन्दी के प्रथम शिष्य ने जब अपनी रचना वि० सं० ११०० में पूर्ण की, तब उनसे उनके गुरु को कम से कम २५ वर्ष वय में अधिक होना ही चाहिए। इस प्रकार उनका

समय निर्बाधरूप से विक्रम की ११ वीं शती का अन्तिम चरण सिद्ध होता है। प्रमेयकमलमार्तण्डकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने को जो 'माणिक्यनन्दी के पद में रत'[१] कहा है, वह उनके साक्षात् शिष्यत्व को प्रकट करता है। साथ ही उससे यह भी ज्ञात होता है कि आ. प्रभाचन्द्र अपनी प्रमुख रचनाएँ अपने गुरु श्रीमाणिक्यनन्दी के सामने ही कर चुके थे।

परीक्षामुख के सूत्रों की तुलना

सूत्रकार आचार्य माणिक्यनन्दी के सम्मुख जो विशाल दार्शनिक सूत्र-साहित्य उपलब्ध था, उसे देखते हुए उनके हृदय में भी जैन न्याय पर इसी प्रकार के एक सूत्र-ग्रन्थ की रचना का भाव उदित हुआ और उन्होंने आ. अकलंकदेव के दार्शनिक प्रकरणों का मन्थन कर अपने सूत्रग्रन्थ परीक्षामुख की रचना की। यद्यपि उसकी रचना का प्रधान आधार समन्तभद्र, सिद्धसेन और अकलंक के ही ग्रन्थ हैं, तथापि सूत्र-रचना में, खास कर हेतु के भेद-प्रभेदों के बतलाने में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती बौद्ध ग्रन्थ न्याय-बिन्दु का भी भरपूर उपयोग किया है। यह बात नीचे की गई तुलना से पाठक स्वयं अनुभव करेंगे।

	न्यायबिन्दु	परीक्षामुख
१.	नात्र शीतस्पर्शो धूमात् (द्वि. प.)	नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ३/७३
२.	नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेः (द्वि. प.)	नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ३/७२
३.	नात्र शिंशपा वृक्षाभावात् (द्वि. प.)	नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ३/८०
४.	नात्र धूमोऽग्नभावात् (द्वि. प.)	नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ३/८२
५.	नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति धूमाभावात्। (द्वि. प)	नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः। २/८१
६.	स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति (तृ. प.)	इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ३/२०
७.	यथा वाष्पादिभावेन संदिह्यमानो भूतसंघातोऽग्निसिद्धावुपदिश्यमानः संदिग्धासिद्धः (तृ. प.)	तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाते संदेहात् ६/२६
८.	यथाऽसर्वज्ञः कश्चिद् विवक्षितः पुरुषो	शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृवादिति ६/

१. गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः।
नन्दितादुदुरितैकान्तरजा जैनमतार्णवः ॥३॥
श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः।
प्रभाचन्द्रश्चिरोजीयाद् रत्ननन्दिपदेरतः ॥४॥ –प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रशस्ति

	३३ रागादिमान्वेति साध्ये वक्तृत्वादिको धर्मः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः (तृ. प.)	
९.	नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् कर्मवत् परमाणुवद् घटवदिति (तृ. प.)	अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणु- घटवत् ६/४१
१०.	वैधर्म्येणापि परमाणुवत् कर्मवदा- काशवदिति साध्याद्यव्यतिरेकिणः (तृ. प.)	व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रिसुखा- काशवत् ६/४४

इसी प्रकार आचार्य माणिक्यनन्दी से पीछे होने वाले श्वेताम्बर आचार्य देवसूरि ने अपने प्रमाणनयतत्त्वालोक की रचना परीक्षामुख को सामने रखकर की है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के अधिकांश सूत्रों का अनुवाद पर्यायवाची शब्दों के द्वारा ही किया है और परीक्षामुख के अन्तिम सूत्र से जिस नय, वाद आदि के जानने की सूचना आ. माणिक्यनन्दी ने की थी, उसके लिए दो स्वतन्त्र परिच्छेद बनाकर अपने ग्रन्थ का विस्तार किया है।

आचार्य हेमचन्द्र तो देवसूरि के भी पीछे हुए हैं। उन्होंने प्रमाण मीमांसा के सूत्रों की रचना भी परीक्षामुख के सूत्रों को लक्ष्य में रखकर की है। यद्यपि आज वह पूरी उपलब्ध नहीं है फिर भी जितना अंश प्राप्त है उससे मिलान करने पर परीक्षामुख के अनुकरण की बात हृदय पर अंकित होती ही है। यहाँ पर परीक्षामुख के सूत्रों के साथ उक्त दोनों ग्रन्थों के कुछ सूत्रों की तुलना की जा रही है। पूरे ग्रन्थ के सूत्रों की तुलना के लिए पाठक परिशिष्ट देखें।

	परीक्षामुखसूत्राणि	**विभिन्नग्रन्थसूत्राणि**
१.	स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं	प्रमाणम् (१/१) स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् (प्र. न. त. १/२) सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् (प्रमा. मी. १/१/२)
२.	तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च (१/१३)	तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्च (प्र. न. त. १/१९) प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा (प्रमा मी. १/१/८)
३.	विशदं प्रत्यक्षम्। (२/३)	स्पष्टं प्रत्यक्षम् (प्र. न. त. २/३) विशदः प्रत्यक्षम् (प्रमा. मी. १/१/१३)

४.	सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरण मतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् (२/११)	सकलं तु सामग्रीविशेषतः समुद्भूतं समस्तावरणक्षयापेक्षं निखिल-द्रव्यपर्याय-साक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानम्। (प्र न त. २/२३) तत्सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् (प्रमा. मी. १/१/१५)
५.	संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः (३/३)	तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतं अनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मरणम् (प्र. न. त. ३/३) वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः (प्रमा. मी. १/२/३)
६.	इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् (३/२०)	अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम्। (प्र. न. त. ३/१४) सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः (प्रमा. मी. १/२/१३)
७.	एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् (३/३७)	पक्षहेतुवचनमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम् (प्र. न. त. ३/२८) न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम् (प्रमा. मी. १/२/१८)
८.	हेतोरुपसंहार उपनयः (३/५०)	हेतो साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः (प्र. न. त. ३/४९) धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः (प्रमा. मी. २/१/१४)
९.	अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् (५/१२)	तत्रानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम्। पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमौदासीन्यम्। शेषप्रमाणानां पुनरुपादानहानोपेक्षाबुद्धयः (प्र. न. त. ६/३, ४, ५) अज्ञाननिवृत्तिर्वा। हानादिबुद्धयो वा (प्रमा. मी. १/१/३८, ४०)

१०. अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रिय सुखपरमाणुघटवत् (६/४१)	तत्रापौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वात् दुःखवदिति साध्यधर्मविकलः। तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुवदिति साधनधर्मविकलः। कलश-वदित्युभयधर्मविकलः। (प्र. न. त. ६/६०, ६१, ६२) अमूर्तत्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कर्मपरमाणुघटाः साध्यसाधनोभय विकलाः। (प्रमा. मी. २/१/२३)

वृत्तिकार अनन्तवीर्य

व्यक्तित्व और कार्य

जैन न्याय के साहित्य में दो अनन्तवीर्य का नाम मिलता है। इनमें से एक अनन्तवीर्य ने अकलंक के 'सिद्धिविनिश्चय' की टीका लिखी है। प्रभाचन्द्र ने 'न्यायकुमुदचन्द्र' में इनका स्मरण किया है और 'प्रमेयरत्नमाला' में अनन्तवीर्य ने प्रभाचन्द्र का स्मरण किया है। इससे सिद्ध है कि दोनों अनन्तवीर्य भिन्न हैं। उत्तरकालवर्ती होने से प्रमेयरत्नमाला के रचयिता अनन्तवीर्य को लघु अनन्तवीर्य के नाम से भी कहा जाता है। अपने टिप्पण के प्रारम्भ में टिप्पणकार ने इनका लघु अनन्तवीर्यदेव के नाम से ही उल्लेख किया है। इन्होंने परीक्षामुख के सूत्रों की संक्षिप्त किन्तु विशद व्याख्या की है। साथ ही चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्तदर्शन के कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन एवं निराकरण किया है। इससे इनके गम्भीर पाण्डित्य का पता चलता है।

इनकी एक मात्र कृति प्रमेयरत्नमाला है किन्तु यह एक ऐसी माला है जो कभी टूटने वाली नहीं है। यद्यपि इसकी रचना व्यक्ति विशेष के निमित्त से की गई है, तथापि यह ग्रन्थ न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं को सर्वदा न्यायशास्त्र का बोध कराता रहेगा। इन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपनी टीका को 'परीक्षामुख-पञ्जिका' कहा है और प्रत्येक समुद्देश के अन्त में दी गई पुष्पिकाओं में इसे 'परीक्षामुख लघुवृत्ति' कहा है।

प्रमेयरत्नमाला की रचना में निमित्त

आचार्य अनन्तवीर्य ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में तथा अन्तिम प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि इन्होंने इस टीका की रचना वैजेय के प्रिय पुत्र हीरप के अनुरोध से शान्तिषेण के पठनार्थ की है। प्रशस्ति में वैजेय के ग्रामादि का कोई निर्देश नहीं है, पर उन्हें बदरीपाल वंश या जाति का

ओजस्वी सूर्य कहा है। उनकी पत्नी का नाणाम्बा था, जो अपने विशिष्ट गुणों के कारण रेवती, प्रभावती आदि नामों से उस समय संसार में प्रसिद्ध थीं। उनके दानवीर हीरप नामक पुत्र हुआ, जो सम्यक्त्वरूप आभरण से भूषित था और जो लोक-हितकारी कार्यों को करने के लिए प्रसिद्ध था। उनके आग्रह से संभवतः उन्हीं के पुत्र शान्तिषेण के पढ़ने के लिए इस लघुवृत्ति की रचना की गई है और उनके निमित्त से की गई यह रचना आज जैन न्याय का अध्ययन करने के लिए सर्व-साधारण की पाठ्यपुस्तक के रूप में आदरणीय एवं पठनीय हो रही है।

समय—

यह निश्चित है कि प्रमेयरत्नमाला की रचना प्रमेयकमलमार्तण्ड के बाद हुई है। इसका उल्लेख स्वयं अनन्तवीर्य ने किया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड के रचयिता प्रभाचन्द्र का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है। इधर आचार्य हेमचन्द्र (वि० ११४५ से १२३०) की प्रमाण मीमांसा पर शब्द और अर्थ दोनों की दृष्टि से प्रमेयरत्नमाला का पूरा-पूरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है तथा प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र का प्रभाव प्रमेयरत्नमाला पर है।[१] अतः अनन्तवीर्य का समय प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्र के बीच का सिद्ध होता है। इस प्रकार अनंतवीर्य का समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध मानना चाहिए। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने भी प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य के समय का यही अनुमान किया है जो उचित प्रतीत होता है। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने भी प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य के समय का यही अनुमान किया है।

प्रमेयरत्नमाला का टिप्पण

परीक्षामुख की इस लघुवृत्ति की रचना संक्षिप्त होने के कारण अनेक स्थलों पर दुरूह है और कितने ही विषयों का तो केवल नाम-निर्देश ही किया गया है। उन सब स्थलों के स्पष्टीकरण के लिए एक टिप्पण ग्रन्थ की आवश्यकता थी। संभवतः इसीलिए टिप्पणकार ने प्रत्येक कठिन और संक्षिप्त स्थल पर सरल और विस्तृत टिप्पण देकर इस वृत्ति को सर्व प्रकार से सुबोध बनाने का प्रयास किया है। यही कारण है कि प्रमेयरत्नमाला के परिमाण के बराबर ही इस टिप्पण का भी परिमाण हो गया है। यदि यह टिप्पण न रचा गया होता तो प्रमेयरत्नमाला के कितने ही स्थलों का अर्थ समझने में बड़ी कठिनाई होती।

प्रमेयरत्नमाला की विभिन्न प्रतियों में अनेक प्रकार के टिप्पण पाये जाते हैं। पर प्रस्तुत संस्करण में जो टिप्पण मुद्रित है वह सबसे प्राचीन, विस्तृत एवं स्पष्ट है। परिमाण में भी यह अन्य टिप्पणों से अधिक है अतः इसे ही प्रस्तुत संस्करण में दिया गया है।

१. प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति।
मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः ॥३॥ –प्रमेयरत्नमाला पृ. ४

टिप्पणकार

यद्यपि इस टिप्पण के रचयिता ने इसके आदि या अन्त में कहीं पर भी अपने नाम आदि का कोई संकेत नहीं दिया है पर जब हम अष्टसहस्री के टिप्पण के साथ इस टिप्पण की तुलना करते हैं तो इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि जो लघु समन्तभद्र अष्टसहस्री के टिप्पणकार हैं वे ही इस प्रमेयरत्नमाला के भी टिप्पणकार हैं। अपने कथन की पुष्टि में हम नीचे कुछ अवतरण दे रहे हैं जिससे कि पाठक स्वयं ही दोनों के एक कर्तृत्व को स्वीकार करने में सहमत हो सकेंगे।

(१) अष्टसहस्री में टिप्पण प्रारंभ करते हुए जो उत्थानिका दी गई है वह इस प्रकार है–

इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवलिदशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिरुमास्वामीपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नतः स्याद्वादविद्यागुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यास्तत्र मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयाञ्चक्रिरे। तदनु सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवस्तस्याष्टशत्याख्येन भाष्येणोन्मेषमकार्षीत्। तदेवं महाभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसामलंचिकीर्षवः स्याद्वादभासितसत्यवाक्यगिरां चातुरीमाविर्भावयन्तः प्रतिज्ञाश्लोकमाहुः 'श्रीवर्धमानमित्यादि' (अष्टसहस्री. पृ. १ टि.)

अब ऊपर के संदर्भ का प्रमेयरत्नमाला के इस निम्न संदर्भ से मिलान कीजिए–

इह हि पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवलिसूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वन्तोऽमन्दतो निरवद्यस्याद्वादविद्यानर्त्तकी नाट्याचार्यैकप्रवीणाः सकलतार्किक-चक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणाः कविगमकवादिवाग्मित्वलक्षणचतुर्विधपाण्डित्य-जिज्ञासापिपासाजिहासया विनयविनतविनेयजनसहितनिजानुभवाः श्रीमदकलङ्कदेवाः प्रादुरासन्। तैश्च सप्त प्रकरणानि विरचितानि। × × × तेषामतिविषमत्वान्मन्दधियामवगन्तुमशक्यत्वात् तद्-बुद्ध्युत्पादनार्थं तदर्थमुद्धृत्य धारानगरीवासनिवासवासिनः श्रीमन्माणिक्यनन्दिभट्टारकदेवाः परीक्षा-मुखाख्यं प्रकरणमारचयाम्बभूवुः। –प्रमेयरत्नमाला पृ. १ टि.

दोनों सन्दर्भों के रेखांकित वाक्य शब्दशः समान हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य समताएँ भी द्रष्टव्य हैं–

(२) 'विवर्त' शब्द की परिभाषा देते हुए अष्टसहस्री पृ. ११ टिप्पणांक ४२ पर यह श्लोक पाया जाता है–

पूर्वाकारापरित्यागादुत्तरः प्रतिभाति चेत्।
विवर्तः स परिज्ञेयो दर्पणे प्रतिबिम्बवत्॥

ठीक यही श्लोक प्रमेयरत्नमाला के पृ. १२३ के टिप्पणांक ११ में दिया हुआ है।

(३) अष्टसहस्त्री पृ. १९ टिप्पणांक १६ पर 'भावना' की परिभाषा में यह श्लोक कोष्ठकादि पाठ के साथ पाया जाता है–तेन (वाक्येन) भूतिषु (यागक्रियासु) कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः (द्रष्टव्यादेः)। प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनां भावनाविदः॥

ठीक इसी प्रकार से यही श्लोक प्रमेयरत्नमाला पृ. २२३ के टिप्पणांक २ में भी पाया जाता है।

(४) जिस प्रकार से अष्टसहस्त्री के टिप्पण में 'सौगतमतमाशङ्क्य' इत्यादि उत्थानिका वाक्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार से प्रमेयरत्नमाला के टिप्पणों में भी इस प्रकार के वाक्य स्थल-स्थल पर देखने में आते हैं।

(५) जिस प्रकार से अष्टसहस्त्री के टिप्पण के आदि या अन्त में कहीं भी टिप्पणकार ने अपने नाम आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है, उसी प्रकार से प्रमेयरत्नमाला के इस प्रस्तुत टिप्पण में नाम आदि का कहीं कोई संकेत नहीं मिलता।

इन सब कारणों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों के टिप्पणकार एक ही व्यक्ति हैं। प्रमेयरत्नमाला के टिप्पणकार 'अष्टसहस्त्री' से भलीभाँति परिचित थे, यह उनके पृ. १२७ पर आये हुए 'देवागमालङ्कारे' पद पर टिप्पणी में 'अष्टसहस्त्री' के नामोल्लेख से ही सिद्ध है।

प्रमेयरत्नमाला के प्रस्तुत टिप्पण पर आद्योपान्त एक दृष्टि डालने पर टिप्पणकार की जो विशेषताएँ विशेष रूप से चित्त पर अंकित होती हैं, उनसे उनके अगाध पाण्डित्य का परिचय मिलता है। वे विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

१. प्रमेयरत्नमाला में आये हुए प्रायः सभी अनुमान प्रयोगों या लक्षणों के प्रत्येक पद की सार्थकता को बतलाना।

२. प्रायः नाम मात्र से सूचित पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएँ देना।

३. सूत्र या वृत्तिगत प्रत्येक वस्तु तत्त्व का अर्थ प्रकट करना।

४. अपने कथन की पुष्टि में शास्त्रीय प्रमाणों का उल्लेख करना।

टिप्पणकार कौन?

टिप्पण-सम्बन्धी उक्त विशेषताओं के जान लेने के पश्चात् स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इसके रचयिता कौन आचार्य हैं? प्रयत्न करने पर भी इसका कोई लिखित प्रमाण हमें नहीं मिल सका किन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया गया है–यतः अष्टसहस्त्री के टिप्पण के साथ प्रस्तुत टिप्पण का अतीव साम्य दृष्टिगोचर होता है, अतः यही अनुमान होता है कि अष्टसहस्त्री के टिप्पणकार लघु समन्तभद्र ही इसके भी रचयिता हैं। पूना के गवर्नमेंट पुस्तकालय में अष्टसहस्त्री की

जो प्राचीन प्रति उपलब्ध है उसमें टिप्पणकार के रूप में 'लघु समन्तभद्र' का नाम दिया हुआ है। ये कर्णाटक प्रांत के निवासी थे, यह बात प्रमेयरत्नमाला के पृ. ९४ के टिप्पणांक १० में दिये गये 'कर्णाटक भाषायां मारि' वाक्य से सिद्ध है। इनके टिप्पण को देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि टिप्पणकार सभी मत-मतान्तरों के विशिष्ट अभ्यासी थे।

हिन्दी वचनिका

प्रमेयरत्नमाला की हिन्दी वचनिका ढूँढारी (राजस्थानी) भाषा में आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व श्रीमान् पं० जयचन्द्र जी छाबड़ा ने की थी जो कि आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व श्री अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई की ओर से मुद्रित हो चुकी है। पं० जी की उक्त वचनिका को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनके सामने भी यही टिप्पण था जो कि प्रस्तुत संस्करण में मुद्रित है। इसका प्रमाण यह है कि जो उत्थानिका इस टिप्पण के प्रारंभ में दी गई है उसी के अनुवाद रूप में उन्होंने भी अपनी वचनिका प्रारम्भ की है तथा स्थान-स्थान पर जो उन्होंने भावार्थ दिये हैं उससे भी उक्त बात की पुष्टि होती है। पं० जी जैन सिद्धान्त और न्याय के मर्मज्ञों में थे। अन्य वचनिकाओं के समान उनकी यह वचनिका भी ग्रन्थ के मर्म को प्रकट करती है। इसकी रचना उन्होंने वि० सं० १८६३ के आषाढ़ सुदी चतुर्थी को पूर्ण की है यह बात उनकी अन्तिम प्रशस्ति से प्रकट है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
दीपावली-श्री वीर निर्वाण सम्वत् २४९०

उदयचन्द्र जैन
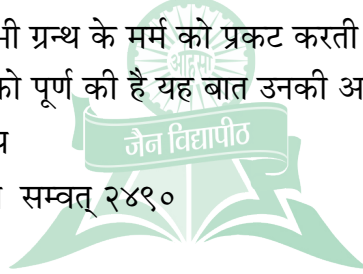
सम्पादकीय

आज से ४५ वर्ष पूर्व जब मैं पढ़ रहा था, उसी समय मेरे पूज्य गुरुवर श्री पं० घनश्यामदास जी न्यायतीर्थ को दिग० जैन बड़ा मन्दिर, ललितपुर से १५ वीं शताब्दी की अत्यन्त प्राचीन हस्तलिखित 'प्रमेयरत्नमाला' की शुद्ध प्रति प्राप्त हुई थी, जिस पर अज्ञातनामा विद्वान् की एक सुविस्तृत टिप्पणी भी लिखी थी। पूज्य गुरुवर उसी शुद्ध प्रति से हम लोगों को प्रमेयरत्नमाला पढ़ाते थे। अध्ययन काल में ही मैंने अपनी मुद्रित पुस्तक को हस्तलिखित प्रति से शुद्ध कर लिया था और उसकी टिप्पणी को भी यथावत् प्रतिलिपि करके रख लिया था, जो आज पाठक के समक्ष छपकर प्रस्तुत है।

आर्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन तथा उनके संकलन, संवर्धन, संपादन, अनुवाद आदि करने में पूज्य गुरुजी विशेष रुचि रखते थे। उस समय गुरुजी के 'पद्मपुराण' का अनुवाद समाप्त हो रहा था। तदनु वे 'अष्टसहस्त्री[१]' का अनुवाद करने का विचार कर रहे थे। गुरुजी की कृपा विशेष मेरे ऊपर रहती थी। 'प्रमेयरत्नमाला' के कथा-प्रसंग में एक दिन गुरुजी ने कहा-देखो हीरा, 'अष्टसहस्त्री' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अनुवाद में अधिक समय लग सकता है, मैं स्थविर हो चुका हूँ, अतः इस अनुवाद की चर्चा अभी लोगों में मत करना? यह सुनकर मैंने कहा-''तो गुरुजी प्रमेयरत्नमाला का ही अनुवाद कर दीजिए। इससे तो हम लोगों को भी पठन-पाठन में सुविधा होगी।'' यह सुनते ही गुरुजी बोल उठे-''अरे, इसका अनुवाद हम क्या करें-इसे तो अब तू ही पूरा करेगा।''

मैं नजर नीची करके आनन्द से गद्गद होकर चुप रह गया और मन में कहा-'सत्यं भवतु त्वद्वचः।'

यहाँ यह लिखते हुए नेत्र अश्रुसिक्त हो रहे हैं कि-मेरे पठन-काल के समाप्त होने के कुछ समय बाद ही पूज्य गुरुजी का स्वर्गवास हो गया और उनका प्रारम्भ किया हुआ अष्टसहस्त्री का

१. 'अष्टसहस्त्री' आचार्य विद्यानन्दि रचित जैन न्याय का महत्त्वपूर्ण क्लिष्ट ग्रन्थ है।
राष्ट्रपति डॉ० सर राधाकृष्णन महोदय ने इस ग्रन्थ को दार्शनिक ग्रन्थों में मूर्धन्य माना है। कहा भी है-
''श्रोतव्याऽष्टसहस्त्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्त्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत यथैव ससमय-परसमयसद्भावः॥''

अनुवाद पूरा नहीं हो सका।

सन् १९२४ में जब मैं श्री स्याद्वाद महाविद्यालय काशी का धर्माध्यापक था, तो मैंने दीपावली के शुभ अवसर पर प्रमेयरत्नमाला को टिप्पणी-सहित प्रकाशित करने का विचार किया था किन्तु उसी समय १३ नवम्बर को मेरे ज्येष्ठ मझले भाई का अचानक स्वर्गवास हो गया और मेरे सभी अरमानों पर पानी पड़ गया। प्रमेयरत्नमाला का कार्य जहाँ का तहाँ रह गया।

सन् १९२९ में जब मैं भा. व. दि. जैन महाविद्यालय ब्यावर में धर्माध्यापक और श्वे० जैन संस्था में न्यायाध्यापक नियुक्त हुआ तब मुझे आचार्य हेमचन्द्र रचित प्रमाण मीमांसा को पढ़ाते हुए प्रमेयरत्नमाला के अनुवाद करने का भाव उदित हुआ। इसका कारण यह था कि प्रमाण मीमांसा के मूल सूत्रों की रचना परीक्षामुख के सूत्रों को[1] सामने रखकर और उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना प्रमेयरत्नमाला को पल्लवित करते हुए शब्द-परिवर्तन के द्वारा की गई है फिर भी उस ग्रन्थ को आचार्य हेमचन्द्र पूरा नहीं कर सके या किया भी होगा तो वह आज कहीं भी पूरा उपलब्ध नहीं है। प्रारम्भ का डेढ़ अध्याय मात्र ही उपलब्ध मात्र एवं मुद्रित है। यतः अभ्यासियों को संक्षेप रूप में अधिक परिचय प्रमेयरत्नमाला से ही प्राप्त होता है, अतः मैंने भी श्वे. संस्था में इसकी उपयोगिता बतलाई वहाँ के अधिकारी श्री पूनमचन्द्रजी ने कहा-पहले आप न्याय के प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिए प्रमाणनयतत्त्वालोक[2] का अनुवाद कर दीजिए। मैंने तभी उसका अनुवाद करके संस्था को दे दिया और वर्षों तक उस संस्था में उसी हस्तलिखित कापी से पठन-पाठन होता रहा।

उसके कुछ दिनों पश्चात् दिग. जैन महाविद्यालय में न्याय का एक पाठ पढ़ाने को मुझे दिया गया और तब मैंने प्रमेयरत्नमाला के अनुवाद का कार्य प्रारंभ कर दिया। परन्तु शायद यह कार्य तब दैव को स्वीकार नहीं था और अकस्मात् ही मैंने स्थान-परिवर्तन कर लिया और वह कार्य तथैव रह गया।

इसके पश्चात् सिद्धान्त के महान् ग्रन्थराज धवल-जयधवल के सम्पादन, प्रकाशन आदि कार्यों में मैं इतना व्यस्त हो गया और गार्हस्थिक विकट संकटों से ऐसा जूझ गया कि पूरे ३० वर्ष तक मैं प्रमेयरत्नमाला के अनुवाद को आगे बढ़ा नहीं सका-वह ज्यों का त्यों पड़ा रह गया।

वीर-सेवा मन्दिर में रहते समय जब उसके संस्थापक ने मेरे अन्यतम प्रिय शिष्य श्री दरबारीलाल जी कोठिया, न्यायाचार्य को उत्तराधिकारी बनाया तब मैंने उनका अभिनन्दन करते हुए कहा-लोग श्री कोठियाजी का स्वागत पुष्पमालाओं से कर रहे हैं पर मैं उन्हें 'प्रमेयरत्नमाला'

---

१. इन दोनों ग्रन्थों के कुछ सूत्रों की तुलना प्रस्तावना में की गई है और विस्तृत तुलना परिशिष्ट में की गई है।

२. इसकी रचना भी परीक्षामुख के सूत्रों का शब्द-परिवर्तन के साथ श्वे. आ. वादिदेव सूरि ने की है। इसकी भी तुलना प्रस्तावना और परिशिष्ट में की गई है।

से सम्मानित करता हूँ और आशा करता हूँ कि मेरी चिर-अभिलषित वस्तु उनके द्वारा शीघ्र प्रकाश में आएगी। मेरी हार्दिक भावना थी कि यह कार्य उनके ही द्वारा सम्पन्न हो, पर योगायोग से वैसा नहीं हो सका इसका मुझे खेद है।

इस बीच प्रमेयरत्नमाला अप्राप्य हो गई और परीक्षा के पाठ्यक्रम में निहित होने के कारण उसकी चारों ओर से माँग होने लगी। मेरे जिन परम स्नेही अन्तरंग मित्रों को मेरे पास टिप्पण होने आदि की बात ज्ञात थी और जब मैं अध्यापनादि कार्यों से विमुक्त होकर अपनी जन्मभूमि में रहते हुए भविष्य के निर्माण में संलग्न था बार-बार प्रेरणा के पत्र पहुँचने लगे कि आप सानुवाद प्रमेयरत्नमाला को प्रकाशित कर दीजिए, तब मैं प्रमेयरत्नमाला की पाण्डुलिपि लेकर काशी आया और चौखम्भा-संस्कृत सीरीज के अधिकारियों से मिला और यह लिखते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि उन्होंने बड़े हर्ष और उल्लास के साथ अपने चौखम्भा विद्या भवन में संस्कृत ग्रन्थमाला से प्रकाशन की स्वीकृति दे दी और फलस्वरूप यह ग्रन्थ पाठकों के हाथों में है।

जब ग्रन्थ छपकर समाप्ति पर आया तो प्रस्तावना लिखाने की चिन्ता हुई। एक दिन मैंने श्री उदयचन्द्रजी जैन के पास पहुँचकर प्रस्तावना लिखने का निवेदन किया। उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। आप इतने सरल और मिलनसार हैं कि मेरी अस्वस्थता में भी चारपाई के पास बैठकर प्रमेयरत्नमाला के कई स्थलों के संशोधन और परिशिष्ट-निर्माण का कार्य कराते रहे हैं। आपके विषय में और कुछ न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आप सर्व दर्शनों के विशाल गगन में अपने नाम के अनुरूप उदीयमान चन्द्र ही हैं और एक दिन आयेगा जब दार्शनिक जगत् को आपकी अनुपम कृतियों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होगा।

इस प्रमेयरत्नमाला को प्रकाश में लाने के लिए जिन अन्तरंग मित्रों की वर्षों से प्रेरणा रही है, वे मुझे कृतज्ञता ज्ञापनार्थ अपना नाम भी देने का प्रबल विरोध कर रहे हैं। अतः मैं नामोल्लेख के बिना ही उन सभी बन्धुओं का हार्दिक आभार मानता हूँ।

श्री पं० अमृतलाल जी जैन प्राध्यापक वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में आवश्यक सभी ग्रन्थों का समायोग जोड़ा, समय-समय पर आवश्यक सुझाव दिये, हर प्रकार से मेरी सहायता करते रहे और अपनी अमृतमयी वाणी से सदा सन्तुष्ट करते रहे, उनका तथा श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री, आचार्य-स्याद्वाद महाविद्यालय और उनके परिकर के सभी विद्वानों से समय-समय पर सुझाव मिलते रहे और वहाँ के सरस्वती भवन का भी भरपूर उपयोग किया गया है। इसलिए में उक्त सभी विद्वानों का बहुत-बहुत आभारी हूँ।

अपने अनुवाद के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक है-दार्शनिक ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करना कितना कठिन होता है यह सभी जानते हैं, फिर भी मैंने अनुवाद को सरल भाषा में

लिखने का भरसक प्रयत्न किया है। मूल का वृत्तिगत सभी संक्षिप्त विषयों को विशेषार्थों के द्वारा स्पष्ट कर दिया है। यद्यपि प्रस्तुत टिप्पण की महत्ता पर प्रस्तावना में प्रकाश डाला गया है, तथापि इतना और बताना उचित समझता हूँ कि यदि यह विस्तृत टिप्पण सामने न होता, तो अधिकांश विशेषार्थों का लिखा जाना सम्भव भी न होता। मैं अपने कार्य में कितना सफल हुआ हूँ यह बताना मेरा काम नहीं है। फिर भी विविध दर्शनों की चर्चा से भरपूर इस संक्षिप्त और अति गूढ़ ग्रन्थ के हार्द स्पष्टीकरण में दृष्टिदोष से यदि कुछ अन्यथा लिखा गया हो तो मैं विद्वानों से प्रार्थना करूँगा कि वे समुचित संशोधन सुझाएँ–जिन्हें कि आगामी संस्करण में सुधारा जा सके। यदि दर्शनशास्त्र के अभ्यासियों को इससे कुछ साहाय्य प्राप्त होगा तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व स्व० स्वनामधन्य पं० जयचन्द्र जी छाबड़ा (जयपुर) ने प्रमेयरत्नमाला की एक हिन्दी वचनिका ढूँढारी भाषा में लिखी थी जो मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला (बम्बई) से प्रकाशित हुई थी और आज वह अप्राप्य है। उनकी उस वचनिका से ग्रन्थ के कितने ही मार्मिक स्थलों को समझने में मुझे बहुत सहायता मिली है, इसलिए मैं उन स्वर्गीय आत्मा के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ। सारा ही जैन समाज उनके द्वारा किये गये जैन सिद्धान्त के महान ग्रन्थों की भाषा टीका के लिए 'यावच्चन्द्र–दिवाकरौ' ऋणी रहेगा।

यहाँ एक बात मूल ग्रन्थ की सूत्र–संख्या के लिए कह देना आवश्यक है–अभी तक जो परीक्षामुख और उसकी संस्कृत टीकाएँ छपी हैं, उन सब में तीसरे समुद्देश की सूत्र–संख्या १०१ है। पर मुझे सूत्रकार की पूर्वापर रचना शैली से वह कुछ कम जँचती थी। सूत्रकार ने प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप और भेद एक ही सूत्रांक ५ में कहे–पर उनके उदाहरण उससे आगे ४ सूत्रों में मुद्रित मिलते हैं। जो सूत्रांक ५ की रचना को देखते हुए उनके भेदों के उदाहरण उसके आगे के एक ही छठे सूत्र में होना चाहिए। उसकी पुष्टि भी पं० जयचन्द्रजी की हिन्दी वचनिका से ही हुई है।

अन्त में मैं चौखम्भा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्भा विद्या भवन के उदीयमान संचालक, बन्धुद्वय श्री मोहनदासजी गुप्त तथा श्री विट्ठलदासजी गुप्त का बहुत–बहुत आभारी हूँ कि जिनके असीम सौजन्य से वर्षों से पड़ा हुआ यह ग्रन्थ कुछ दिनों में ही प्रकाश में आ गया है और आज ४५ वर्ष पूर्व में दिया गया गुरु का आशीर्वाद मूर्तरूप धारण करके पाठकों के सम्मुख उपस्थित है। श्रीमान् पं० रामचन्द्रजी झा व्याकरणाचार्य और उनके सहयोगी सभी विद्वानों का ग्रन्थ के प्रकाशन काल में मेरे साथ बहुत ही प्रेममय व्यवहार रहा है और समय–समय पर उनके आवश्यक संशोधन और सुझाव मिलते रहे हैं, इसके लिए मैं उन सब विद्वानों का बहुत आभारी हूँ।

कार्तिक कृष्ण १२, वि० सं० २०२०

हीरालाल शास्त्री

अनुक्रमणिका

प्रथम समुद्देश

द्वितीय समुद्देश

तृतीय समुद्देश

चतुर्थ समुद्देश

पंचम समुद्देश

षष्ठ समुद्देश

परिशिष्टम्

लघु अनन्तवीर्य विरचित

प्रमेयरत्नमाला

'चिन्तामणि' हिन्दीव्याख्योपेता

प्रथमः समुद्देशः

[1]नतामरशिरोरत्न प्रभाप्रोतनखत्विषे।[2]
नमो जिनाय[3] दुर्वारमारवीरमदच्छिदे[4]॥१॥

श्लोकार्थ-नम्रीभूत चतुर्निकाय देवों के मुकुटों में लगे हुए मणियों की प्रभा से जिनके चरण-कमलों के नखों की कान्ति देदीप्यमान हो रही है और जो दुर्निवार पराक्रम वाले कामदेव के मद को छेदने वाले हैं; ऐसे श्री जिनदेव को हमारा नमस्कार हो ॥१॥

---

१. इह हि पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवलिसूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्म-सात्कुर्वन्तोऽमन्दतो निरवद्यस्याद्वादविद्यानर्त्तकीनाट्याचार्यैक प्रवीणाः सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकित-चरणनखकिरणाः, कविगमकवादिवाग्मित्त्व लक्षण चतुर्विधपाण्डित्य-जिज्ञासापिपासाजिहासया, विनयविनतविनेय-जनसहितनिजानुभवाः श्रीमदकलङ्कदेवाः प्रादुरासन्। तैश्च सप्तप्रकरणानि विरचितानि। कानि तानीति चेदुच्यते। बृहन्त्रयं लघुत्रयं चूलिकाप्रकरणं चेति। तेषामतिविषमत्वान्मन्दधियामवगन्तुमशक्यत्वात् तद्-बुद्ध्युत्पादनार्थे तदर्थमुद्धृत्य धारानगरीवासनिवासवासिनः श्रीमन्माणिक्यनन्दिभट्टारक देवाः परीक्षामुखाख्यं प्रकरणमारचयाम्बभूवुः। तद्विवरीतु-मिच्छवः श्रीमल्लध्वनन्तवीर्य देवाः तदादौ नास्तिकतापरिहार-शिष्टाचारपरिपालनपुण्यावाप्ति-निष्प्रत्यूहशास्त्र-व्युत्पत्त्यादिलक्षणं चतुर्विधफलमभिलषन्तो नतामरेत्यादि-श्लोकमेकं रचयन्ति स्म। तत्रैव प्रत्यवयवार्थप्रतिपत्तिपूर्विका समुदायार्थप्रतिपत्तिरिति मनसि कृत्वा तदवयवार्थघटना प्रथमं प्रतिपत्तव्या। अनन्तरं समुदायार्थप्रवृत्तिर्विधातव्या। ततश्च तात्पर्यार्थः परामर्शनीयः। तत्कथमिति चेदुच्यते-नमस्कारानमस्काराभ्यां विप्रतिपन्नो जिनो धर्मी, स एव नमस्कारार्हो भवति-इति साध्यो धर्मः, दुर्वारमारवीरमदच्छित्त्वे सति नतामरशिरोरत्न-प्रभाप्रोतनखत्विट्त्वात्। यो नमस्कारार्हो न भवति स दुर्वारमारवीरमदच्छित्त्वे सति नतामरशिरोरत्नप्रभा-प्रोतनखत्विडपि न भवति, यथा रथ्यापुरुषः। दुर्वारमारवीरमदच्छित्त्वे सति नतामरशिरोरत्नप्रभाप्रोतनखत्विट् चायम्, तस्मात् स एवायं नमस्कारार्हो भवतीति निश्चितं नश्चेतः।

मङ्गलं द्विविधं मुख्यममुख्यं चेति। मुख्यमङ्गलं जिनेन्द्रगुणस्तोत्रम्, अमुख्यमङ्गलं दध्यक्षतादि। तत्र मुख्यमङ्गलंद्वेधा-निबद्धमनिबद्धं चेति, तत्र निबद्धं स्वेन कृतं, परकृतं त्वनिबद्धम्। तदपि द्विविधं-परापरभेदात्। आप्तनमस्कारः परमङ्गलम्, गुरुपरम्परा-नमस्कारोऽपरमङ्गलम्।

२. प्रणतचतुर्णिकायदेवमानवपरिवृढचटुलमुकुटघटितमणिगणकिर्मीरितपदनखमरीचये। ३. जिनाय समस्त-भगवदर्हत्परमेश्वरनिकु रम्बाय नमो भूयात्। बहुविधविषमभवगहनभ्रमणकारणं दुष्कृतगणं जयतीति जिनः, त्रिकालगोचरपरमजिन इत्यर्थस्तस्मै। ४. दुर्वारमारवीरमदच्छिदे-मां लक्ष्मीं रातीति मारः-लक्ष्मीदायकः, मोक्षमार्गस्य नेतेति यावत्। विशेषेण ईर्ते सकलपदार्थजातं प्रत्यक्षीकरोतीति वीरः, विश्वतत्त्वानां ज्ञातेति यावत्। मारश्चासौ वीरश्च

उत्थानिका-इसी भारतवर्ष में सैकड़ों वर्ष पूर्व श्रीमदकलंकदेव पैदा हुए हैं, जो अपने निर्दोष ज्ञान और संयमरूप सम्पदा से प्रत्येक बुद्ध, श्रुत-केवली और सूत्रकार महर्षियों की महिमा को धारण करने वाले थे; निरवद्य स्याद्वाद विद्यारूप नर्तकी के नर्तन कराने में प्रवीण आचार्यों में अद्वितीय थे; बड़े-बड़े तार्किक चक्रचूड़ामणि भी जिनके चरणों की सेवा में निरन्तर उपस्थित रहते थे; कवित्व (कविता करना), गमकत्व (सूत्र के रहस्य का उद्घाटन करना), वादित्व (शास्त्रार्थ में वादियों को पराजित करना) और वाग्मित्व (वक्तृत्व कला की कुशलता) रूप चार प्रकार के पाण्डित्य को प्राप्त करने के इच्छुक विनयावनत शिष्यों की जिज्ञासारूप पिपासा के शान्त करने वाले थे। उन्होंने न्याय शास्त्र के परम गम्भीर बृहत्त्रय, लघुत्रय और चूलिका नामक सात प्रकरण रचे। वे अति विषम एवं गहन थे, सर्वसाधारण एवं मन्द-बुद्धिजनों के लिए उनमें प्रवेश पाना कठिन था, अतएव उनके गम्भीर अर्थ का उद्धार करके न्याय शास्त्र में सर्वसाधारण के व्युत्पादनार्थ धारा नगरी-निवासी श्रीमाणिक्यनन्दिदेव ने 'परीक्षामुख' नामक एक सूत्रग्रन्थ रचा। उसे सुगम शब्दों में विवरण करने के इच्छुक श्रीमान् लघुअनन्तवीर्यदेव ने नास्तिकता-परिहार, शिष्टाचार-परिपालन, पुण्य-सम्प्राप्ति और निर्विघ्न शास्त्र-व्युत्पत्ति, परिसमाप्ति आदिरूप चतुर्विघ फल की अभिलाषा से मंगलाचरण करते हुए 'नतामर'-इत्यादि श्लोक की रचना की।

विशेषार्थ—इस मंगलश्लोक में पठित 'नतामरशिरोरत्न'-इत्यादि प्रथम पद के द्वारा भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी इन चार प्रकार के देवों से सतत वन्दित त्रिकालवर्ती अरिहन्तों की सूचना की गई है। 'जिन' इस द्वितीय पद से तीनों कालों में होने वाले जिन-समुदाय का अभिप्राय है। 'दुर्निवार' इत्यादि अन्तिम पद के द्वारा वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी या मोक्षमार्ग के नेतारूप आप्त के तीन विशेषणों को सूचित किया गया है। जिसका खुलासा इस प्रकार है-'मां लक्ष्मीं राति ददातीति मारः' इस प्रकार की निरुक्ति के अनुसार मार पद से मुक्तिरूप लक्ष्मी के प्रदाता या मोक्ष मार्ग के प्रणेता नामक प्रथम आप्त गुण को प्रकट किया गया है। ''विशेषेण ईर्ते सकलपदार्थजातं प्रत्यक्षीकरोतीति वीरः'' इस प्रकार को निरुक्ति के द्वारा सर्व पदार्थों के प्रत्यक्ष करने या साक्षात् जाननेरूप सर्वज्ञता को वीर पद से ध्वनित किया गया है। 'मद' यह पद मान कषाय के अविनाभावी सभी कषायों और विकार भावों का सूचक है। उसके छेत्ता या भेत्ता होने

मारवीरः। मदं मानकषायं छिनत्ति विदारयति-इति मदच्छित्। उपलक्षणमिदं कर्मभूभृतां भेत्तेति यावत्। मारवीरश्चासौ मदच्छिच्च, मारवीरमदच्छित्। दुर्वारो वादिभिरजय्योऽप्रतिहतशक्तिरिति यावत्। दुर्वारश्चासौ मारवीरमदच्छिच्च दुर्वारमारवीरमदच्छित्तस्मै। अथवा-मा प्रमेयपरिच्छेदकं केवलज्ञानमेव रविः, अशेषप्रकाशकत्वात्। इरा मृदुमधुरगम्भीरनिरुपमहितदिव्यध्वनिः, मारविश्च इरा च मारवीरे, दुर्वारे, कुहेतुदृष्टान्तैर्निवारयितुमशक्ये मारवीरे यस्य स तथोक्तः। मदेनोपलक्षिता रागादयः, तेन मदच्छिद् रागाद्यशेषदोषच्छिदिति निश्चीयते। उक्तार्थस्यैव विवर्णनम्- मदच्छिदे कर्मभूभृतां भेत्रे दुर्वारमारवये विश्वतत्त्वानां ज्ञात्रे दुर्वारेराय मोक्षमार्गस्य प्रणेत्रे जिनाय नमः।

[१]अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे[२] येन[३] धीमता[४]।
[५]न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥२॥
प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति।
मादृशाः[६] क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः[७]॥३॥
तथापि तद्वचोऽपूर्वरचनारुचिरं सताम्।
चेतोहरं भृतं यद्वन्नद्या नवघटे जलम्॥४॥

से कर्मभूभृत्-भेतृत्वरूप वीतरागता की सूचना की गई है। इस प्रकार से पूरे श्लोक का समुदायार्थ यह हुआ कि जो सर्व सुर-असुर देवों से वन्दित हैं, अविनाशी मोक्षलक्ष्मी के प्रदर्शक या प्रणेता हैं; अप्रतिहत ज्ञान के धारक अर्थात् सर्वज्ञ हैं, और सर्व प्रकार के राग, द्वेष, मदादि विकारी भावों के भेत्ता होने से वीतराग है, ऐसे उन समस्त भूत-भविष्यत् और वर्तमानकालवर्ती जिनेन्द्रों को हमारा नमस्कार हो।

अब टीकाकार मूलग्रन्थ के कर्ता को नमस्कार करते हैं–

जिस बुद्धिमान् ने अकलंकदेव के वचनरूप समुद्र से न्यायविद्यारूप अमृत का उद्धार किया, उस माणिक्यनन्दी नामक आचार्य के लिए हमारा नमस्कार हो ॥२॥

विशेषार्थ–लोक में ऐसी प्रसिद्धी है कि विष्णु ने क्षीरसागर को मथकर अमृत को निकाला था। इसी लोकोक्ति को दृष्टि में रखकर टीकाकार अलंकार-रूप से वर्णन करते हैं कि माणिक्यनन्दी आचार्य ने भी अकलंक अर्थात् कर्म-मल रूप कलंक से रहित ऐसे वीतराग सर्वज्ञ के दिव्यध्वनिरूप वचन-समुद्र को मथ कर न्यायविद्यारूप अमृत को निकाला। अथवा प्रसिद्ध तार्किक अकलंकदेव नाम के आचार्य के विशाल एवं गहन तर्क शास्त्र के ग्रन्थों का अवगाहन करके परीक्षामुख नामक न्याय शास्त्र के ग्रन्थरूप अमृत का जिसने उद्धार किया, उस माणिक्यनन्दी को हमारा नमस्कार हो।

सब टीकाकार मूलग्रन्थ को प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक बड़ी टीका के रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र की महिमा और और अपनी लघुता का वर्णन करते हुए अपनी नवीन रचना की सार्थकता दो श्लोकों द्वारा दिखलाते हैं–

प्रभाचन्द्र नामक आचार्य के वचनरूप उदार चन्द्रिका के प्रसार होते हुए खद्योतसदृश हम सरीखे मन्द बुद्धिरूप ज्योति के धारक लोगों की क्या गणना संभव है ? अर्थात् नहीं। तथापि जिस

---

१. अकलङ्को भट्टाकलङ्कस्वामी। अथवा न विद्यते अज्ञानादि कलङ्को यस्यासौ अकलङ्को जिनदेवः। अथवा अकलङ्कश्च तद्वचश्च इति अकलङ्कवचो-दिव्यध्वनिरित्यर्थः। २. प्रकटीकृतम्। ३. माणिक्यनन्दिना कर्त्रा। ४. प्रशस्तविशालातिशयितज्ञानवता। ५. प्रत्यक्षादिप्रमाणं न्यायः। अथवा नय-प्रमाणात्मिका युक्तिर्न्यायः। निपूर्वादिण् गतावित्यस्माद्धातोः करणे घञ्प्रत्ययः, तेन न्यायशब्दसिद्धिः। नितराम्-ईयते। ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः। ६. अहमिव दृश्यन्ते-इति मादृशाः। ७. खद्योतसदृशाः।

वैजेयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधतः।
[1]शान्तिषेणार्थमारब्धा [2]परीक्षामुखपञ्जिका[3]॥५॥

[4]श्रीमन्या[5]यावारपारस्यामेयप्रमेयरत्नसारस्या[6]वगाहनमव्युत्पन्नैः[7] कर्तुं न पार्यत इति तदवगाहनाय

प्रकार नदी का नवीन घट में भरा हुआ मधुर जल सज्जनों के चित्त का हरण करने वाला होता है, उसी प्रकार प्रभाचन्द्र के वचन ही इस मेरी कृतिरूप नवीन रचना में भरे जाने पर सज्जनों के मन को हरण करेंगे ॥३-४॥

अब टीकाकार अपनी टीका बनने के निमित्तरूप व्यक्ति का उल्लेख करते हैं–वैजेय के प्रिय पुत्र हीरप के अनुरोध से शान्तिषेण नामक शिष्य के लिए यह परीक्षामुख-पञ्जिका प्रारम्भ की गई है ॥५॥

विशेषार्थ–मूल सूत्रात्मक ग्रन्थ का नाम परीक्षामुख है। परीक्षा नाम वस्तु स्वरूप के विचार करने का है। विवक्षित वस्तु का स्वरूप इस प्रकार है कि नहीं, अथवा अन्य प्रकार है; इस प्रकार से निर्णय करने को परीक्षा कहते हैं। इस प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रमाण के स्वरूप आदि की परीक्षा की गई है; और इसके द्वारा ही समस्त वस्तुओं की परीक्षा की जाती है, इसलिए इस ग्रन्थ का नाम 'परीक्षामुख' रखा गया है। श्रीलघु अनन्तवीर्य आचार्य ने अपनी इस टीका का नाम 'परीक्षामुख-पञ्जिका' रखा है; क्योंकि इसमें सूत्र के भिन्न-भिन्न पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ किया गया है। इसी का दूसरा नाम प्रमेयरत्न माला है। प्रमाण के विषयभूत पदार्थ को प्रमेय कहते हैं। इसमें विभिन्न प्रमेयरूप रत्न एक सूत्र (सूत-धागा) में पिरोये गये हैं, अर्थात् ग्रथित या निबद्ध किये गये हैं इसलिए इसका प्रमेयरत्नमाला नाम भी सार्थक है।

अब आगे पञ्जिकाकार मूलग्रन्थ के आदि सूत्र की उत्थानिका कहते है–

पूर्वापर विरोध से रहित अतएव अबाधित और श्रद्धानादि गुणों को उत्पन्न करना ही है

---

१. शान्तिषेणपठनार्थम्। २. लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते। न वेति विचारः परीक्षा। अथवा स्वरूपं तदाभासः; संख्या तदाभासः, विषयस्तदाभासः, फलं तदाभासः; एतेषां विचारः परीक्षा। अथवा विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्य-दौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारःपरीक्षा। ३.कारिका स्वल्पवृत्तिस्तु सूत्रं सूचनकं स्मृतम्। टीका निरन्तरं व्याख्या पञ्जिका पदभञ्जिका ॥१॥ अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्गूढनिर्णयम्। निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ २॥ सूत्रं द्विविधम्–आगमप्रमाणं, अनुमानप्रमाणञ्च। तदुक्तं श्लोकवार्तिकालङ्कारे–प्रमाणमागमः सूत्रमाप्तमूलत्वसिद्धितः। लौकिकं चाविनाभाविलिङ्गात्साध्यस्य निर्णयात्॥१॥ ४. निर्बाधकत्वलक्षणा श्रद्धानादिगुणोत्पन्नलक्षणा वा श्रीः। पूर्वापर-विरोधरहितत्वलक्षणा श्रीः। ५. प्रमाणनयात्मिका युक्तिर्न्यायः। प्रमाणशास्त्रक्षीरसमुद्रस्य श्रीमदित्यादिनियमेन कथञ्चित्सावधारणत्वेन प्रमेयस्वरूपमीयते गम्यते येन स न्यायः। नयप्रमाणरूपा युक्तिः तत्प्रतिपादकत्वात् युक्तिशास्त्रमपि न्यायः। श्रीमांश्चासौ न्यायश्चेति श्रीमन्न्यायः। ६.प्रमाणगोचराः जीवादिपदार्थाः प्रमेयानि, प्रमेयान्येवरत्नानि प्रमेयरत्नानि। प्रमेयरत्नैः सार उत्कृष्ट इति तत्पुरुषो वा ७. युक्तिशास्त्रसंस्काररहितैः पुरुषैः।

पोतप्रा[१]यमिदं प्रकरणमाचार्यः[२] प्राह। तत्प्रकरणस्य[३] च [४]सम्बन्धादित्रयापरिज्ञाने सति प्रेक्षावतां[५] प्रवृत्तिर्न स्यादिति तत्त्रयानुवादपुरस्सरं[६] वस्तुनिर्देशपरं[७] प्रतिज्ञाश्लोकमाह[८]–

[९]प्रमाणादर्थ [१०]संसिद्धिस्तदाभासा [११]द्विपर्ययः।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म [१२]सिद्धमल्पं[१३] लघीयसः[१४]॥१॥

अस्यार्थः–अहं वक्ष्ये प्रतिपादयिष्ये। किं तत्? लक्ष्म लक्षणम्[१५]। किंविशिष्टं लक्ष्म? सिद्धम्,

---

लक्षण जिसका ऐसी श्री (लक्ष्मी) से युक्त ऐसा जो प्रमाण-नयात्मक न्यायशास्त्ररूप अपार पारावार (समुद्र) है और जिसमें अप्रमेय (अगणित) रत्नों का सार या समुदाय भरा हुआ है, उसके अवगाहन करने के लिए न्याय शास्त्र के अभ्यास से रहित जो अव्युत्पन्न पुरुष हैं, वे असमर्थ हैं, ऐसा विचार करके श्री माणिक्यनन्दी आचार्य ने इस न्यायरूप समुद्र में अवगाहन करने के लिए पोत (जहाज) के तुल्य इस परीक्षामुख नाम के प्रकरणग्रन्थ की रचना की है। इस परीक्षामुख प्रकरण के सम्बन्ध, अभिधेय और शक्यानुष्ठान इष्ट प्रयोजन इन तीन के जाने विना विचारशील पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतएव आचार्य उन तीनों के अनुवाद-पूर्वक प्रमाण और प्रमाणाभासरूप वस्तु का निर्देश करने वाले प्रतिज्ञा श्लोक को कहते हैं–

श्लोकार्थ–प्रमाण से अर्थात् सम्यग्ज्ञान से अभीष्ट अर्थ की सम्यक् प्रकार सिद्धि होती है और प्रमाणाभास अर्थात् मिथ्याज्ञान से इष्ट वस्तु की संसिद्धि नहीं होती है, इसलिए मैं प्रमाण और प्रमाणाभास का पूर्वाचार्य प्रसिद्ध एवं पूर्वापर-दोष से रहित संक्षिप्त लक्षण लघुजनों (मन्द-बुद्धियों) के हितार्थ कहूँगा ॥१॥

मैं ग्रन्थकार माणिक्यनन्दी प्रमाण और प्रमाणाभास के लक्षण को कहूँगा। वह लक्षण कैसा है? सिद्ध है अर्थात् पूर्वाचार्यों से प्रसिद्ध है, स्वरुचि-विरचित नहीं है। पुनः कैसा है वह लक्षण ? अल्प है, अर्थात् संक्षिप्त शब्दों से रचे गये ग्रन्थ के द्वारा कहा गया है। यद्यपि वह लक्षण ग्रन्थ की

---

१. प्रायो भूमोपमातर्क्यप्रभृत्यन्ननिवृत्तिषु। २. माणिक्यनन्दिदेवः ३. परीक्षामुखस्य। ४. आदिशब्देनाभिधेयं शक्यानुष्ठानमिष्टप्रयोजनं च।५. विचारचतुरचेतसाम्। ६. उक्तस्यार्थस्य पुनर्वचनमनुवादः। ७. प्रमाणतदाभास-लक्षणाभिधेयकथनपरम् ८. वर्तमानस्याङ्गीकारः प्रतिज्ञा। ९.सम्यग्ज्ञानात् अत्र प्रमाणशब्दः कर्तृकरणभावसाधनः। तत्र प्रतिबन्धविगमविशेषवशात् स्वपरप्रमेयस्वरूपं प्रमीयते यथा-वज्जानातीतिप्रमाणमात्मा। साधकतमत्वादिति विवक्षायां तु प्रमीयते येन तत्प्रमाणं प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्। प्रतिबन्धापाये प्रादुर्भूतज्ञानपर्यायस्य प्राधान्येना-श्रयणात्प्रदीपादेः प्रभाभारात्मकप्रकाशवत्। १०. अर्थः स्याद्विषये मोक्षे शब्दवाच्ये प्रयोजने। व्यवहारे धने शास्त्रे वस्तुहेतुनिवृत्तिषु ॥१॥ अर्यते गम्यते ज्ञायते यः सोऽर्थः। ११. तन्न भवति-इति तथापि तदिवाभासते प्रतिभातीति तदाभासः। १२.स्वरुचिविरचितत्वदूषणपरिहारार्थं सिद्धमित्युच्यते। १३. पिष्टपेषण-परिहारार्थमल्प-मित्युच्यते। १४. कनिष्ठान्मन्दमतीनिति यावत्। १५. व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्।

पूर्वाचार्यप्रसिद्धत्वात्। पुनरपि कथम्भूतम्? अल्पम्, अल्पग्रन्थवाच्यत्वात्। ग्रन्थतोऽल्पमर्थतस्तु महदित्यर्थः। कान्? लघीयसो [१]विनेयानुद्दिश्य[२]। लाघवं[३] मतिकृतमिह गृह्यते, न परिमाणकृतं नापि कालकृतम्, तस्य [४]प्रतिपाद्यत्वव्यभिचारात्[५]। कयोस्तल्लक्ष्म? तयोः प्रमाण-तदाभासयोः। कुतः? यतोऽर्थस्य परिच्छेद्यस्य संसिद्धिः सम्प्राप्तिर्ज्ञप्तिर्वा भवति। कस्मात्? प्रमाणात्। न केवलं प्रमाणादर्थसंसिद्धिर्भवति, विपर्ययो भवति-अर्थसंसिद्ध्यभावो भवति। कस्मात्। तदाभासात् प्रमाणाभासात्। [६]इतिशब्दो हेत्वर्थे, इति हेतोः। अयमत्र समुदायार्थः[७]-यतः कारणात्प्रमाणादर्थसंसिद्धिर्भवति, यस्माच्च तदाभासाद्विपर्ययो भवति; इति हेतोस्तयोः प्रमाण-तदाभासयोर्लक्ष्म लक्षणमहं वक्ष्ये इति।

ननु [८]सम्बन्धाभिधेयशक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनवन्ति हि शास्त्राणि भवन्ति। [९]तत्रास्य प्रकरणस्य यावदभिधेयं

अपेक्षा अल्प (संक्षिप्त) है, तथापि वह अर्थ की दृष्टि से महान् है। यह लक्षण किसके उद्देश्य से कहा जा रहा है ? लघीयस शिष्यों के उद्देश्य से कहा जा रहा है। लाघव तीन प्रकार का होता है- बुद्धिकृत, कालकृत और शरीर-परिमाणकृत। इनमें-से यहाँ पर बुद्धिकृत लाघव ग्रहण करना चाहिए, शरीर-परिमाणकृत और कालकृत लाघव नहीं; क्योंकि उन दोनों का प्रतिपाद्य जो शिष्य उनके साथ व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात् कितने ही अल्प वय के धारक बालक भी विशाल ज्ञान के धारक दृष्टिगोचर होते हैं, अतः यहाँ पर कालकृत लाघव अभीष्ट नहीं तथा कितने ही बौने व्यक्ति भी महान् ज्ञानी दिखाई देते हैं, अतः शरीरकृत लाघव भी अभीष्ट नहीं है किन्तु जो बुद्धि से लघु हैं-मन्दबुद्धि हैं, वे ही प्रकृत में विवक्षित हैं, भले ही वे वय में वृद्ध हों और शरीर में लम्बे-चौड़े हों।

यहाँ पर प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण कहा जायेगा; क्योंकि प्रमाण से जानने योग्य पदार्थ को संसिद्धि अथात् संप्राप्ति या ज्ञप्ति होती है और प्रमाणाभास से पदार्थ की संसिद्धि नहीं होती है। श्लोक-पठित इति शब्द हेतु के अर्थ में है। इस प्रकार श्लोक का यह समुदायार्थ है-यतः प्रमाण से अर्थ की संसिद्धि होती है और प्रमाणाभास से नहीं, अतः दोनों का मैं आचार्य-परम्परागत संक्षिप्त लक्षण कहूँगा।

शंका-सम्बन्ध, अभिधेय और शक्यानुष्ठान-इष्टप्रयोजन वाले शास्त्र होते हैं। जब तक इस

---

१. शिष्यान्। २. अनुलक्ष्यीकृत्य। ३. लाघवं त्रिविधम्-मतिकृतं कालकृतं कायपरिमाणकृतं चेति। तत्रान्त्यद्वयमत्र न ग्राह्यं व्यभिचारात्। तथाहि-वीतः व्युत्पाद्यः, कालकृतलाघवात्, इत्यत्र गर्भाष्टमवर्षजात ज्ञानसम्पन्नेन, संयतेन व्यभिचारात्। विमतः प्रतिपाद्यः, कायकृतलाघवात् इत्युक्ते विदितशास्त्रेण कुब्जादिनाऽनेकान्तात्, तयोः व्युत्पादकत्वाभावात्। ४. शिष्यत्व। ५.साध्याभावे प्रवर्तमानो हेतुर्व्यभिचारी भवति। ६. इति हेतुप्रकरणप्रकर्षादि-समाप्तिषु। ७. अवयवार्थमुक्त्वा समुदायार्थः प्रतिपाद्यतेः अवयवार्थप्रति-पत्तिपूर्विका समुदायार्थप्रतिपत्तिरिति न्यायात्। ८. सम्बन्धशब्दस्या-ल्पाच्त्वात्पूर्वनिपातोऽन्यथाऽभिधेयपूर्वकत्वात्सम्बन्ध शब्दस्य पूर्वनिपातत्वं नोपपद्यते। प्रकृतस्यार्थस्यानुरोधेनोत्तरोत्तरस्य विधानं सम्बन्धः। सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥१॥

सम्बन्धो वा नाभिधीयते, न तावदस्योपादेयत्वं भवितुमर्हति; [१]एष बन्ध्यासुतो यातीत्यादिवाक्यवत्, [२]दश दाडिमादिवाक्यवच्च। तथा शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनमपि शास्त्रादाववश्यं वक्तव्यमेव, [३]अशक्यानुष्ठानेष्ट-प्रयोजनस्य सर्वज्वरहरतक्षक[४] चूडारत्नालङ्कारोपदेशस्येव प्रेक्षावद्भिरनादरणीत्वात्। तथा शक्यानुष्ठानस्याप्य-निष्टप्रयोजनस्य विद्वद्भिरवधीरणा[५]न्मातृविवाहादिप्रदर्शक[६] वाक्यवदिति। सत्यम्[७], प्रमाणतदाभास-पदोपादानादभिधेयमभिहित[८]मेव, प्रमाणतदाभासयोरनेन प्रकरणेनाभिधानात्। सम्बन्धश्चार्थायातः प्रकरण-

---

प्रकरण का पूर्वापर सम्बन्ध और अभिधेय (वाच्य अर्थ) नहीं कहा जायेगा, तब तक यह बुद्धिमानों के लिए उपादेय (ग्राह्य) नहीं होगा। जैसे–''यह आकाश-कुसुमों की माला को धारण किये हुए तथा मृग-मरीचिकारूप जल में स्नान करके शश-शृङ्ग के धनुष को लिए हुए वन्ध्या स्त्री का पुत्र जा रहा है...'' यह वाक्य उपादेय नहीं है। इस वाक्य में पूर्वापरसम्बन्ध तो है, परन्तु अभिधेय (वाच्य) रूप पदार्थ कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार यदि कोई कहे ...''दश दाडिम (अनार), हैं, छह पूवा हैं, यह बकरे का चमड़ा है'' इन वाक्यों में अभिधेयपना होते हुए भी पूर्वापर-सम्बन्ध कुछ भी नहीं है, प्रत्युत उन्मत्त के प्रलाप जैसे वचन हैं, अतः वे भी उपादेय नहीं हैं। इसी प्रकार शास्त्र के आदि में शक्यानुष्ठान-इष्ट प्रयोजन भी अवश्य ही कहना चाहिए।

क्योंकि जो बात इष्ट प्रयोजन वाली होते हुए भी अशक्यानुष्ठान हो अर्थात् जिसका करना शक्य या सम्भव न हो, वह भी बुद्धिमानों के द्वारा आदरणीय नहीं होती है। जैसे किसी जीर्णज्वर वाले पुरुष के लिए कहना कि–मणिहारे सर्प के मस्तक के मणि से सर्व प्रकार का ज्वर दूर हो जाता है। उसका यह उपदेश इष्ट प्रयोजन वाला होते हुए भी शक्यानुष्ठान नहीं है अर्थात् सर्प के मस्तक पर से मणि का लाना शक्य (सम्भव) नहीं, किन्तु अशक्य है। इसी प्रकार जो बात शक्यानुष्ठान होते हुए भी अनिष्ट प्रयोजन वाली होती है, वह भी विद्वज्जनों के द्वारा अनादरणीय होती है। जैसे किसी पुत्राभिलाषी पुरुष को अपनी माता के साथ विवाह करने का उपदेश देना। माता के साथ विवाह करना शक्य कार्य तो है, किन्तु वह किसी भी बुद्धिमान् के लिए अभीष्ट

व्याख्याशुद्धिस्त्रिधा शास्त्रे स्थानमार्गप्रमेयतः। स्थानं त्रिधा द्विधा मार्गः प्रमेयं च त्रिधा विदुः॥२॥ श्लोकस्यास्य व्याख्यानं-तत्र पातनिकस्थानं समर्थनस्थानं विवरणस्थानं चेति त्रिधा स्थानम्। पातनिकस्थानं द्विविध-सूत्रपातनिका ग्रन्थपातनिकेति। अन्वयमार्गो व्यक्तिरेकमार्ग इति मार्गो द्विधा। प्रकृतप्रमेयं प्रासङ्गिकप्रमेयं आनुषङ्गिकप्रमेयमिति त्रिधा प्रमेयम्। ९. एवं सति त्रिषु।

१. एष वन्ध्यासुतोयाति खपुष्पकृतशेखरः। मृगतृष्णाम्भसि स्नात्वा शशशृङ्गधनुर्धरः॥१॥ अत्र सम्बन्धो वर्तते परन्त्वभिधेयत्वं नास्ति। २. दशदाडिमानि, षड्-अपूपाः कुण्डकृव्यमजाजिनम्, पलिलपिण्डः। अथ गैरुकमेतदहो स्फायीकृतस्यापि तां प्रति शीशः। इत्यमुना सूचितोऽसम्बन्धः। ३. शास्त्रादौ शक्यानुष्ठानं मास्तु, इष्टप्रयोजनमस्त्येिति शङ्कानिवारणार्थम्। ४. तक्षको नागभेदे स्याद्वर्धकिद्रुम-भेदयोरित्यनेकार्थः। तत्र पन्नगार्थोऽत्र ग्राह्यः। ५. अनादरणीयत्वात्। ६. यजुर्वेदप्रवृत्तिलक्षणे मातरमपि विवृणीयात्-पुत्रकाम इति श्रुतिः। ७. अर्धाङ्गीकारे। ८. कथितमेव।

तदभिधेययोर्वाच्य[१]-वाचक[२] भावलक्षण: प्रतीयत एव। तथा प्रयोजनं चोक्त-

लक्षणमादिश्लोकेनैव संलक्ष्यते। प्रयोजनं हि द्विधा भिद्यते-साक्षात्परम्परयेति। तत्र [३]साक्षात्प्रयोजनं 'वक्ष्ये' इत्यनेनाभिधीयते, प्रथमं शास्त्र[४] व्युत्पत्तेरेव विनेयैरन्वेषणात्[५]। पारम्पर्येण तु प्रयोजनमर्थ-संसिद्धिरित्यनेनोच्यते, शास्त्रव्युत्पत्त्यनन्तरभावित्वादर्थसंसिद्धेरिति। ननु नि:शेषविघ्नोपशमनायेष्ट-देवता-नमस्कार: शास्त्रकृता[६] कथं न कृत इति न वाच्यम्; तस्य[७] मन:कायाभ्यामपि सम्भवात्। अथवा वाचनिकोऽपि नमस्कारोऽनेनैवादि[८] वाक्येनाभिहितो वेदितव्य:; केषाञ्चिद्वाक्यानामुभयार्थप्रतिपादन-परत्वेनापि दृश्यमानत्वात्। यथा श्वेतो धावतीत्युक्ते-श्वा इतो धावति, श्वेतगुणयुक्तो धावति इत्यर्थद्वय-प्रतीति:। तत्रादिवाक्यस्य

नहीं है। अत: वही उपदेशग्राह्य होता है, जो शक्यानुष्ठान-इष्टप्रयोजन हो।

समाधान-आपका कथन सत्य है, श्लोक-पठित 'प्रमाण-तदाभास' इन दो पदों के देने से अभिधेय का कथन किया ही गया है, क्योंकि इस प्रकरण-ग्रन्थ के द्वारा प्रमाण और प्रमाणाभास का स्वरूप कहा गया है। सम्बन्ध स्वयं ही अर्थ-प्राप्त है, क्योंकि इस प्रकरण-ग्रन्थ में और उसके द्वारा प्रतिपादन किये जाने वाले प्रमाण-प्रमाणाभास में वाच्य-वाचक भावस्वरूप लक्षण वाला सम्बन्ध स्पष्टत: प्रतीत हो ही रहा है। इसी प्रकार शक्यानुष्ठान लक्षण वाला इष्ट प्रयोजन भी। इसी आदिम श्लोक से संलक्षित हो रहा है। प्रयोजन दो प्रकार का होता है-साक्षात् प्रयोजन और परम्परा प्रयोजन। श्लोक पठित 'वक्ष्ये' इस पद के द्वारा साक्षात् प्रयोजन कहा गया है, क्योंकि जिज्ञासु शिष्यजन सर्व-प्रथम शास्त्र की व्युत्पत्ति का अन्वेषण करते हैं। अत: शास्त्र में व्युत्पन्न होना साक्षात् प्रयोजन है। तथा श्लोक में दिये गये अर्थ-संसिद्धि पद से परम्परा प्रयोजन भी कह दिया गया है; क्योंकि शास्त्र की व्युत्पत्ति हो जाने के पश्चात् ही पदार्थ की सम्यक् प्रकार से सिद्धि होती है।

शंका—शास्त्रकार ने सर्व प्रकार के विघ्नों को दूर करने के लिए इष्टदेवता को नमस्कार क्यों नहीं किया ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि इष्टदेवता को नमस्कार मन से और काय से भी किया जाना सम्भव है। कहने का अभिप्राय यह है कि ग्रन्थकार ने सम्भव है कि इष्टदेवता को नमस्कार वचन-निबद्ध न करके मन से ही कर लिया हो। अथवा काय से साष्टांग नमस्कार कर लिया हो। अथवा वाचनिक अर्थात् वचन-द्वारा नमस्कार इसी आदि वाक्य से किया हुआ जानना चाहिए; क्योंकि कितने ही वाक्य उभयार्थक अर्थात् दो-दो अर्थ के प्रतिपादन करने वाले देखे जाते हैं। जैसे ''श्वेतो धावति'' ऐसा कहने पर श्वा (कुत्ता) इधर दौड़ता है और ''श्वेत

---

१. वाच्यमभिधेयम्। २. वाचकं प्रकरणम्। ३. शास्त्रव्युत्पत्ति: साक्षात्प्रयोजनम्। ४. मतेर्विशेषेण संशयादिव्यवच्छेदेनोत्पत्ति: व्युत्पत्तिरिति व्युत्पत्तेर्लक्षणम्। ५. शोधनात्। ६. माणिक्यनन्दिविभुना। ७. नमस्कारस्य। ८. प्रमाणादर्थसंसिद्धि-रित्यनेनैव।

नमस्कारपरताऽभिधीयते–अर्थस्य हेयोपादेयलक्षणस्य संसिद्धिर्ज्ञप्तिर्भवति। कस्मात्? प्रमाणात्। अनन्तचतुष्टय-स्वरूपान्तरङ्गलक्षणा, समवसरणादिस्वभावा बहिरङ्गलक्षणा लक्ष्मीर्मा इत्युच्यते। अणनमाणः[२] शब्दः, मा च आणश्च माणौ। प्रकृष्टौ माणौ यस्यासौ प्रमाणः। हरिहराद्य-सम्भविविभूतियुक्तो दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्[३] च भगवान्नर्हन्नेवाभिधीयत इत्यसाधारणगुणोपदर्शनमेव भगवतः संस्तवनमभिधीयते। तस्मात्[४] प्रमाणा-दवधिभूता[५]दर्थसंसिद्धिर्भवति, तदाभासाच्च हरिहरादेरर्थसंसिद्धिर्न भवति; इति हेतोः सर्वज्ञ तदा-भासयोर्लक्ष्म लक्षणमहं वक्ष्ये–'सामग्रीविशेषेत्यादिना'।

गुण-युक्त व्यक्ति दौड़ता है'', इन दो अर्थों की प्रतीति होती है। सो इस आदि वाक्य में इष्टदेवता को नमस्कार रूप अर्थ भी निहित है, वही कहते हैं–हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) रूप पदार्थ की संसिद्धि कहिए ज्ञान प्रमाण से होता है। 'प्रमाण' इस पद में तीन शब्द हैं–प्र+मा+आण= प्रमाण। मा नाम लक्ष्मी का है। वह दो प्रकार की होती है अन्तरंग लक्ष्मी और बहिरंग लक्ष्मी। इष्टदेव जो अरिहन्त परमेष्ठी है, उनके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, यह अनन्त चतुष्टयस्वरूप अन्तरंग लक्ष्मी पाई जाती है और समवसरण, अष्टप्रातिहार्य आदि स्वभाव वाली बहिरंग लक्ष्मी देखी जाती है। ''अणनं आणः'' इस निरुक्ति और ''अण्यते शब्द्यते येनासौ आणो दिव्यध्वनिः'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आण शब्द का अर्थ दिव्यध्वनि अर्थात् दिव्यवचन होता है। मा और आण का द्वन्द्व समास करने पर माण शब्द बनता है और 'प्र' कहिए प्रकृष्ट अर्थात् सर्वोत्तम, 'माण' कहिए अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मी और दिव्यध्वनि जिसके पायी जावे, ऐसा बहुब्रीहि समास करने पर 'प्रमाण' इस पद का अर्थ अरिहन्त परमेष्ठी होता है। इस प्रकार 'प्रमाण' 'पद से' हरि (विष्णु) हर (महेश) आदि में असम्भव ऐसी विभूति से युक्त, तथा प्रत्यक्ष और अनुमान से अविरुद्ध वचन वाले भगवान् अरहन्त देव ही कहे गये समझना चाहिए और भगवान् के असाधारण गुणों को प्रकट करना ही भगवान् का संस्तवन कहलाता है। इस प्रकार इस आदि श्लोक से इष्ट देवता को नमस्कार किया गया है ऐसा समझना चाहिए।

अर्थ-संसिद्धि के प्रधान कारणभूत प्रमाण से अर्थात् भगवान् अरहन्त देव से वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है और प्रमाणाभास से अर्थात् हरि-हरादि से वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, इसलिए सर्वज्ञ और सर्वज्ञाभास का लक्षण मैं 'सामग्रीविशेषविश्वलेषिताखिलावरण' इत्यादि वक्ष्यमाण सूत्र के द्वारा कहूँगा। इस प्रकार यह आदि का श्लोक द्व्यर्थक जानना चाहिए।

विशेषार्थ–विप्रतिपत्ति नाम विवाद का अर्थात् अन्यथा जानने का है। प्रायः सभी मतावलम्बी

---

२. अण्यते शब्द्यते येनासावाणः, दिव्यध्वनिरित्यर्थः। ३. प्रत्यक्षे परोक्षे च अविरुद्धवाक् यस्य सः। ४. अर्थद्वारेण साधित भगवतोऽर्हत्सकाशात् सर्वज्ञात्। ५. अर्थसंसिद्धेः प्रथमकारणभूतात्।

लोग प्रमाण का स्वरूप उसकी संख्या, प्रमाण का विषय और उसका फल भिन्न-भिन्न प्रकार से मानते हैं। न्याय शास्त्र के अभ्यासियों को उनका जानना आवश्यक है, अतः यहाँ पर उनका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है–अर्हन्मतानुयायी जैन लोग स्व और अपूर्व अर्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। कपिलमतानुसारी सांख्य लोग इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण मानते हैं। प्राभाकर प्रमाता के व्यापार को प्रमाण मानते हैं। भाट्ट नहीं जाने हुए पदार्थ के जानने को प्रमाण कहते हैं। बौद्ध अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। यौग प्रमा (प्रमिति) के करण को प्रमाण कहते हैं। वृद्ध नैयायिक कारकसाकल्य को प्रमाण कहते हैं और नवीन या लघु नैयायिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं। इस प्रकार प्रमाण के स्वरूप के विषय में विवाद है, इसी का नाम स्वरूप विप्रतिपत्ति है। इसी प्रकार प्रमाण की संख्या के विषय में भी विवाद है–चार्वाक एक प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानता है। बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमाण मानते हैं। सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम)। नैयायिक उक्त तीन के साथ उपमान को मिलाकर चार प्रमाण मानते हैं। प्राभाकर उक्त चार के साथ अर्थापत्ति को मिलाकर पाँच प्रमाण मानते हैं। भाट्ट लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण मानते हैं। पौराणिक लोग इनके अतिरिक्त सम्भव ऐतिह्य आदि को भी प्रमाण मानते हैं। जैन लोग प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही प्रमाण के भेद मानते हैं। इस प्रकार से प्रमाण की संख्या के विषय में सभी का विवाद है, इसी का नाम संख्या विप्रतिपत्ति है। प्रमाण के विषय में भी इसी प्रकार का विवाद है–कापिल और पुरुषाद्वैतवादी सामान्यतत्त्व को ही प्रमाण का विषय मानते है। बौद्ध विशेषतत्त्व को ही प्रमाण का विषय मानते हैं। यौग स्वतन्त्र सामान्य और स्वतंत्र विशेष दोनों को प्रमाण का विषय मानते हैं। मीमांसक अभेदरूप से सामान्य और विशेष को प्रमाण का विषय मानते हैं। जैन लोग कथञ्चित् सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ को प्रमाण का विषय मानते हैं। यह प्रमाण की विषय-विप्रतिपत्ति है। इसी प्रकार प्रमाण के फल के विषय में भी विवाद है–कापिल और यौग प्रमाण से प्रमाण का फल सर्वथा भिन्न ही मानते हैं। बौद्ध प्रमाण से फल को अभिन्न ही मानते हैं। जैन लोग प्रमाण से फल को कथञ्चित् भिन्न और अभिन्न मानते हैं। यह प्रमाण की फल-विप्रतिपति हैं। इनमें से ग्रन्थकार सबसे पहले प्रमाण की स्वरूप विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हैं। शेष तीनों विप्रतिपत्तियों का आगे यथास्थान निराकरण किया जायेगा।

अब आगे जिसका कथन प्रारंभ किया है, उस प्रमाणतत्त्व के विषय में विभिन्न वादियों को चार प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ हैं–स्वरूप विप्रतिपत्ति, संख्याविप्रतिपत्ति, विषयविप्रतिपत्ति और

अथेदानीमुपक्षिप्तप्रमाणतत्त्वे स्वरूपसङ्ख्याविषय-फललक्षणासु[१] चतसृषु विप्रतिपत्तिषु मध्ये स्वरूपविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमाह–

[२]स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं[३] ज्ञानं[४] प्रमाणम्[५]॥१॥

प्रकर्षेण [६]संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्। तस्य च ज्ञानमिति

फलविप्रतिपत्ति। इन चारों में से पहले ग्रन्थकार स्वरूपविप्रतिपत्ति के निराकरण करने के लिए सूत्र कहते हैं।

सूत्रार्थ—स्व अर्थात् अपने आपके और अपूर्वार्थ अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से जाना नहीं है, ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं ॥१॥

जिसके द्वारा प्रकर्ष से अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के व्यवच्छेद (निराकरण) से वस्तु-तत्त्व जाना जाये, वह प्रमाण कहलाता है। सूत्र में ऐसे प्रमाण के लिए जो ज्ञान विशेषण दिया गया है, वह नैयायिकादि मतावलम्बियों के द्वारा परिकल्पित अज्ञानरूप सन्निकर्षादिकी

---

१. स्वरूपसंख्याविषयफललक्षणाश्चतस्रो विप्रतिपत्तयः। सम्प्रति तासां मध्ये स्वरूपविप्रतिपत्तिर्यथा– स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणमित्यार्हताः। इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणमिति कापिलाः। प्रमातृव्यापारः प्रमाणमिति प्राभाकराः। अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणमिति भाट्टाः। अविसंवादिविज्ञानं प्रमाणमिति सौगताः। प्रमाकरणं प्रमाणमिति यौगाः। कारकसाकल्यं प्रमाणमिति जयन्ताः। इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः, कारकाणां समूहः कारकसाकल्यम्। लघुनैयायिकानांसन्निकर्ष प्रमाणम्। जरन्नैयायिकानां कारकसाकल्यं प्रमाणमिति। संख्याविप्रतिपत्तिर्यथा– प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कारणात्सौगताः पुनः। अनुमानं च तच्चैव सांख्याः शब्द च ते अपि॥१॥ न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानंचतेन च। अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः।२। अभावषष्ठान्येतानि भाट्टाः वेदान्तिनस्तथा। सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिकाः जगुः। ३। एतत्सर्वं युक्तं न सम्भवति। प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्विविधं प्रमाणमिति जैनाः वदन्ति। विषय-विप्रतिपत्तिर्यथा–प्रमाणतत्त्वस्य सामान्यमेव विषयो न पुनः विशेष इति कापिलाः, पुरुषाद्वैतवादिनश्च। विशेषमेव विषयो न पुनः सामान्यमिति बौद्धाः। सामान्यं विशेषश्च द्वयमपि स्वतन्त्रभावेन विषय इति यौगाः। सामान्यं विशेषश्चभेदेन विषय इति मीमांसकाः। उभाविति कथञ्चिद्भेदाभेदाभ्यां विषय इति जैनाः। फलविप्रतिपत्तिर्यथा–फलं प्रमाणाद्भिन्नमिति कापिलाः यौगाश्च। प्रमाणादभिन्नमिति सौगताः। प्रमाणात्फलं कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नं चेति जैनाः। २. सूत्रं द्विविधम्। तद्यथा– आगमप्रमाणमनुमानप्रमाणञ्च। तदुक्तं श्लोकवार्तिकालङ्कारे–प्रमाणमागमः सूत्रमाप्तमूलत्वसिद्धितः। लैङ्गिकं चाविनाभाविलिङ्गात्साध्यस्य निर्णयात्। तथेदं सूत्रमनुमानप्रमाणं भवति, अल्पाक्षरत्वे सति बह्वर्थसूचकत्वात्सूत्रत्वम्। अल्पाक्षरमसन्दिग्धं न्यायवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोममनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥१॥ ३. स्वस्यात्मनोऽपूर्वार्थ-स्यानिश्चितस्य बाह्यस्य पदार्थस्येति स्वापूर्वार्थयोर्निश्चयस्वरूपकम्। ४. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानमिति सम्यग्ज्ञानानां सामान्यज्ञानपदेन संग्रहात् हेतुहेतुमद्भावज्ञापनार्थं ज्ञानमितिपृथक् पदम्। ज्ञानं प्रमाणं भवितुमर्हति; स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकत्वात्। अत्र ज्ञानमिति विशेषणेनाव्याप्तिपरिहारः। व्यवसायात्मकमिति विशेषणेनाति-व्याप्तिपरिहारः। स्वपदेनासम्भवदोषनिराकरणम्। ५. प्रमेयप्रमितेराभिमुख्येन चेतनात्मकः। यः प्रमातुः प्रयत्नः स्यात्तत्प्रमाणं जिनैर्मतम्। ६. सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः। आदिशब्देन विपर्ययानध्यवसायौ ग्राह्यौ।

विशेषणमज्ञानरूपस्य [२]सन्निकर्षादेर्नैयायिकादिपरिकल्पितस्य प्रमाणत्वव्यवच्छेदार्थमुक्तम्। तथा ज्ञानस्यापि [३]स्वसंवेदनेन्द्रियमनोयोगिप्रत्यक्षस्य निर्विकल्पस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रामाण्यं सौगतैः परिकल्पितम्, तन्निरासार्थं [४]व्यवसायत्मकग्रहणम्। तथा बहिरर्थापह्नोतृणां[५] विज्ञानाद्वैतवादिनां पुरुषाद्वैतवादिनां पश्यतोहराणां[६] शून्यैकान्तवादिनाञ्च [७]विपर्यासव्युदासार्थमर्थग्रहणम्। अस्य चापूर्वविशेषणं गृहीतग्राहिधारावाहिज्ञानस्य प्रमाणतापरिहारार्थमुक्तम्। तथा [८]परोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकानामस्वसंवेदनज्ञानवादिनां[९] सांख्यानां ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनां[१०] यौगानाञ्च[११] मतमपाकर्तुं स्वपदोपादानम्। इत्यव्या [१२]प्त्यतिव्याप्त्य[१३]सम्भव

प्रमाणता के निराकरण के लिए दिया गया है। बौद्ध लोग यद्यपि ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, तथापि वे प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष ऐसे चार भेद मान करके भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं अर्थात् उनके मतानुसार प्रत्यक्ष प्रमाण वस्तु का निश्चायक नहीं है। उनके इस सिद्धान्त के निरास के लिए सूत्र में 'व्यवसायात्मक' पद का ग्रहण किया गया है। तथा बाह्य पदार्थ का अपलाप (लोप) करने वाले विज्ञानाद्वैतवादी, पुरुषाद्वैतवादी लोगों के और प्रत्यक्ष दिखने वाले पदार्थों का भी लोप करने वाले शून्यैकान्त वादियों के विपरीत मतों के निराकरण करने के लिए सूत्र में 'अर्थ' पद का ग्रहण किया गया है। अर्थपद के साथ जो 'अपूर्व' विशेषण दिया गया है वह गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान की प्रमाणता के परिहार करने के लिए दिया है। तथा परोक्ष ज्ञानवादी मीमांसकों, अस्वसंवेदनज्ञानवादी सांख्यों और ज्ञानान्तर प्रत्यक्षज्ञानवादी यौगों के मतों का निराकरण करने के लिए सूत्र में 'स्व' पद का उपादान (ग्रहण) किया गया है। इस प्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव नामक लक्षण के जो तीन दोष न्याय शास्त्र में माने गये हैं, उनके परिहार हो जाने से प्रमाण का सूत्रोक्त लक्षण सुव्यवस्थित सिद्ध होता है।

---

२. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः। कारकाणां समूहः कारकसाकल्यम्। लघुनैयायिकानां सन्निकर्षो जरन्नैयायिकानां कारकसाकल्यम्, कापिलानामिन्द्रियवृत्तिः प्राभाकराणां ज्ञातृव्यापारोऽज्ञानरूपोऽपि। ३. सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनप्रत्यक्षम्। इन्द्रियार्थसमनन्तरभवमिन्द्रियप्रत्यक्षम्। स्वविषयानन्तर-विषयसहकारिकारणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं मनः प्रत्यक्षम्। क्षणिकभावनापरमप्रकर्षपर्यन्तजं योगिप्रत्यक्षं योगाचारवेदान्तिक-माध्यमिकानाम्। सर्वं माध्यमिके शून्यं योगाचारेऽबहिर्गतम्। सौत्रान्तिकेऽनुमेयं स्यात्सर्वे वैभाषिके स्फुटम्। ४. निश्चयात्मक-। ५. अपलापिनाम्। ६. पश्यन्तमनादृत्य हर्तृणाम्। ७. विपर्ययनिराकरणार्थम्। ८. परोक्षं जैमिनेर्ज्ञानं ज्ञानमात्मा प्रभाकृतः। ज्ञानं फलं च भट्टस्य शेषं प्रत्यक्षमिष्यते। ९. ज्ञानमस्वसंविदितम्-चेतनत्वात्, ज्ञानमचेतनं प्रधानपरिणामित्वादिति वादिनाम्। १०. एकात्मसमवेतानन्तरज्ञानवेद्यमर्थज्ञानं न स्वसंवेदित-मित्यर्थः। ११. नैयामिकवैशेषिकाणाम्। १२.लक्षणत्वेनाभिमतेषु वस्तुषु क्वचित्प्रवर्तनं क्वचिच्च्चाप्रवर्तनमव्याप्तिः। १३. लक्ष्येऽलक्ष्ये च वर्तनमतिव्याप्तिः।

[१]दोषपरिहारात् सुव्यवस्थितमेव प्रमाणलक्षणम्। अस्य च प्रमाणस्य यथोक्तलक्षणत्वे साध्ये प्रमाणत्वादिति हेतुरत्रैव द्रष्टव्यः, [२]प्रथमान्तस्यापि हेतुपरत्वेन निर्देशोपपत्तेः प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं' इत्यादिवत्।

तथाहि–प्रमाणं स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं भवति, प्रमाणत्वात्। यत्तु स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं न भवति, न तत्प्रमाणम्, यथा [३]संशयादि[४] र्घटादिश्च। प्रमाणञ्च विवादापन्नम्[५]। [६]तस्मात्स्वापूर्वार्थ-व्यवसायात्मकं ज्ञानमेव भवतीति। न च प्रमाणत्वमसिद्धम्; सर्वप्रमाणस्वरूपवादिनां प्रमाणसामान्ये[७] विप्रतिपत्त्यभावात्, [८]अन्यथा स्वेष्टानिष्टसाधनदूषणायोगात्[९]।

इस प्रमाण के यथोक्त लक्षणत्व को साध्य मानने पर प्रमाणत्व हेतु भी यहीं कहा गया जानना चाहिए।

भावार्थ–इस वाक्य में अनुमान-प्रयोग के द्वारा प्रमाण की प्रमाणता का निरूपण किया गया है। यथा-स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है, प्रमाणता होने से। इस वाक्य-प्रयोग में प्रमाण पद धर्मी (पक्ष) है, स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान साध्य है और प्रमाणत्व हेतु है।

शंका–हेतु में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है, किन्तु सूत्र में प्रमाण पद में तो प्रथमा विभक्ति का ही प्रयोग किया गया है, अतः वह प्रमाण पद हेतुरूप से कैसे समझा जाये ?

समाधान–यह कोई दोष नहीं, क्योंकि कितने ही स्थलों पर प्रथमा विभक्त्यन्त पद का भी हेतुरूप से निर्देश किया गया है। जैसे 'विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है' यहाँ पर प्रत्यक्ष धर्मी है, विशद ज्ञान साध्य है और प्रत्यक्षत्व हेतु है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना।

अब उक्त प्रयोग का खुलासा करते हैं–स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि प्रमाणता उसी में पाई जाती है। जो स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान नहीं, वह प्रमाण भी नहीं है। जैसे-संशयादिक स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान नहीं, अतः प्रमाण नहीं। तथा जैसे घट-पटादिक स्वार्थपूर्वाव्यवसायात्मक ज्ञान नहीं, अतः वे भी प्रमाण नहीं है। अतः प्रमाण स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक होता है, अतः वह ज्ञान ही हो सकता है। यहाँ प्रमाणत्वरूप हेतु का कथन असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि प्रमाण का स्वरूप मानने वाले किसी भी वादी को प्रमाण सामान्य के मानने में कोई भी विवाद नहीं है। यदि प्रमाण को न माना जाये तो अपने इष्ट तत्त्व का साधन और अनिष्ट तत्त्व का दूषण नहीं बन सकता है।

---

१. यत्र लक्ष्ये क्वाप्यवर्तनमसम्भवः। १. पञ्चम्यन्तस्यैव हेतुत्वात् प्रथमान्तस्य कथं हेतुत्वमिति शङ्कायामाह–प्रथमान्तस्येति। यथा–गुरवो राजभाषा न भक्षणीया इत्यत्र प्रथमान्तोऽपि गुरुत्वादिति हेतुः। प्रत्यक्षं धर्मीविशदं ज्ञानं भवितुमर्हति; प्रत्यक्षत्वात्। ३. बौद्धान् प्रति दृष्टान्तः। ४. नैयायिकान् प्रति दृष्टान्तः। ५. निगमनम्। ६. प्रमाणत्वात्। ७. सर्वेषु प्रमाणेषु प्रमाणत्वसम्भवात् विवादाभावात् सामान्येनैककथनात्। ८. प्रमाणाभावे। ९. शून्यवादिनाम्।

अथ धर्मिण एव हेतुत्वे [१]प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुः स्यादिति चेन्न; विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतुं ब्रुवतां दोषाभावात्।

[२]एतेनापक्षधर्मत्व[३]मपि प्रत्युक्तम्[४], सामान्यस्याशेषविशेषनिष्ठत्वात्। न च पक्ष धर्मताबलेन हेतोर्गमकत्वम्, अपि त्वन्यथानुपपत्ति[५] बलेनेति। सा चात्र नियमवती[६] विपक्षे [७]बाधकप्रमाणबलान्निश्चितैव। एतेन[८] विरुद्धत्व[९] मनैकान्तिकत्वञ्च[१०] निरस्तं बोद्धव्यम्। विरुद्धस्य व्यभिचारिणश्चाविनाभाव-नियमनिश्चय-लक्षणत्वायोगात्। अतो [११]भवत्येव साध्यसिद्धिरिति केवलव्यतिरेकिणोऽपि हेतोर्गमकत्वात्, सात्मकं जीवच्छरीरं

शंका—ऊपर अनुमान का प्रयोग करते हुए प्रमाणरूप धर्मी का ही हेतुरूप से प्रयोग किया गया है, अतः वह हेतु न रह कर प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध नाम का हेत्वाभास हो गया है और हेत्वाभास से अभीष्ट साध्य की सिद्धि होती नहीं है।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि प्रमाण विशेष को धर्मी मानकर प्रमाण सामान्य को हेतुरूप से प्रयोग करने पर कोई दोष नहीं है।

इस पूर्वोक्त कथन से अर्थात् हेतु के अन्यथानुपपत्ति नियम निश्चय के समर्थन से हेतु की अपक्षधर्मता का भी निराकरण किया गया समझना चाहिए; क्योंकि सामान्य अपने समस्त विशेषों में व्याप्त होकर रहता है। तथा पक्ष धर्मता के बल से हेतु को साध्य के प्रति गमकता नहीं है; अपितु अन्यथानुपपत्ति के बल से ही साध्य के प्रति गमकता है। साध्य के बिना साधन के नहीं होने को अन्यथानुपपत्ति कहते हैं। वह अन्यथानुपपत्ति यहाँ प्रकृत में प्रमाणत्व हेतु की-स्वपूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानरूप साध्य के साथ नियमवती है अर्थात् नियम से पाई जाती है, इसलिए वह विपक्ष जो संशयादिक उनमें बाधक प्रमाण के बल से निश्चित ही है। इसी कथन से हेतु के विरुद्धपने और अनैकान्तिकपने का भी निराकरण किया गया समझना चाहिए; क्योंकि विरुद्ध हेतु के और व्यभिचारी (अनैकान्तिक) हेतु के अविनाभावरूप नियम के निश्चय स्वरूप लक्षणपने का अभाव है। अतः प्रमाणत्व हेतु से यथोक्त साध्य की सिद्धि होती ही है; क्योंकि केवलव्यतिरेकी हेतु को भी गमकपना माना गया है। जैसे कि जीता हुआ शरीर आत्मा-सहित है; क्योंकि वह प्राणादिमान् है। जो आत्मा-सहित नहीं होता, यह प्राणादिमान् भी नहीं होता; जैसे

---

१. धर्मधर्मिसमुदायः प्रतिज्ञा तदेकदेशो धर्मो धर्मी वा हेतुश्चेत् प्रमाणत्वस्य स्वरूपासिद्धत्वं माभूत्, प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वं स्यादित्याशङ्क्यते। २. हेतोरन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयसमर्थनेन। ३. विवादाध्यासितं तथा चेदं प्रमाणं न भवतीति। ४. निरस्तम्। ५. साध्याभावे साधनाभावः। साध्यं विना हेतोरभवनमविनाभावो यतः-अतएव उदेष्यति शकटं कृतिकोदयादित्यादौ कृतिकोदयः शकटधर्मो न भवति, साध्यमन्तरेण हेतोरभवनं न विद्यते। ६. अविनाभाववती। ७. प्रमाणत्वस्य हेतोः सन्निकर्षादावप्रवर्तकत्वात्। ८. साध्यसाधनेन। ९. साध्य विपरीतव्याप्तो विरुद्धः। १०. सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। ११. हेतोरसिद्धविरुद्धानैका न्तिकदोषत्रयाभावः समर्थितो यतः।

प्राणादिमत्वादितिवत्[१]।

[२]अथेदानीं[३] स्वोक्तप्रमाणलक्षणस्य ज्ञानमिति विशेषणं समर्थयमानः प्राह–

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्॥२॥

हितं सुखं [४]तत्कारणञ्च। अहितं दुःखं तत्कारणञ्च[५]। हितं चाहितं च हिताहिते। तयोः प्राप्तिश्च परिहारश्च, तत्र समर्थम्[६]। 'हि' शब्दो यस्मादर्थे। तेनायमर्थः[७] सम्पादितो भवति–यस्माद्धिताहित-प्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रमाणम्, ततस्तत्प्रमाणत्वेनाभ्युपगतं[८] वस्तु[९] ज्ञानमेव भवितुमर्हति, नाज्ञानरूपं सन्निकर्षादिः। तथा च प्रयोगः[१०]–प्रमाणं ज्ञानमेव, हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थत्वात्। यत्तु न ज्ञानं तन्न हिताहितप्राप्ति-परिहारसमर्थम्, यथा घटादि। [११]हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थञ्च विवादापन्नम्[१२], [१३]तस्माज्ज्ञानमेव भवतीति[१४]।

श्वासोच्छ्वासादि से रहित मृतक शरीर। यहाँ पर प्राणादिमत्व यह हेतु केवलव्यतिरेकी है, क्योंकि इसके अन्वयव्याप्तिरूप दृष्टान्त का अभाव है।

अब आगे अपने कहे गये प्रमाण के लक्षण में जो ज्ञान यह विशेषण दिया है, उसका समर्थन करते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–यतः प्रमाण हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ है, अतः वह ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञानरूप सन्निकर्षादिक नहीं ॥२॥

सुख और सुख के कारण को हित कहते हैं। दुःख और दुःख के कारण को अहित कहते हैं। पहले इन दोनों का द्वन्द्वसमास करना, पुनः प्राप्ति और परिहार का द्वन्द्वसमास करना। 'हि' शब्द हेतु के अर्थ में है। तब यथाक्रम से दोनों को मिलाने पर यह अर्थ सम्पादित होता है यतः हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में समर्थ प्रमाण है, अतः वह प्रमाण स्वरूप से स्वीकृत वस्तु ज्ञान ही होने के योग्य है, अज्ञानरूप सन्निकर्षादिक नहीं। सूत्रोक्त कथन का अनुमान प्रयोग इस प्रकार है– प्रमाण ज्ञान ही है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में समर्थ है (हेतु)। जो वस्तु ज्ञानरूप नहीं है, वह हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में समर्थ भी नहीं है; जैसे घटादिक (उदाहरण)। हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में समर्थ विवादापन्न प्रमाण है (उपनय), अतः वह ज्ञान ही हो सकता है (निगमन)। इस प्रकार सूत्रोक्त अर्थ का यह पञ्च अवयवरूप अनुमान-प्रयोग है। इसमें प्रयुक्त हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि विचार पूर्वक कार्य करने वाले बुद्धिमान् लोग हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए प्रमाण का अन्वेषण करते हैं,

---

१. यन्न सात्मकं तन्न प्राणादिमद् दृष्टं यथा मृतक शरीरम्। २. असाधारणप्रमाणस्वरूपकथनानन्तरम्। ३. सूत्रसामान्यस्वरूपं प्रतिपाद्य। ४. स्रग्वस्त्रादि, सम्यग्दर्शनादि। ५. कण्टकादि, मिथ्यात्वादि। ६. शक्तियुक्तम्। ७. वक्ष्यमाणार्थः। ८. अङ्गीकृतम्। ९. प्रमाणम्। १०. अनुमानम्। ११. उपनयस्तथा चेदम्। १२. ज्ञानमज्ञानं चेति विप्रतिपन्नं प्रमाणं भवति। १३. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थत्वात्। १४. निगमनम्।

न[१] चैतदसिद्धम्, हितप्राप्तयेऽहितपरिहाराय च प्रमाणमन्वेषयन्ति[२] प्रेक्षापूर्वकारिणो न व्यसनितया[३]; सकलप्रमाणवादिभिरभिमतत्वात्।

अत्राह सौगतः–भवतु नाम सन्निकर्षादिव्यवच्छेदेन ज्ञानस्यैव प्रामाण्यम्[४], न तदस्माभिर्निषिध्यते। तत्तु व्यवसायात्मकमेवेत्यत्र न युक्तिमुत्पश्यामः। अनुमानस्यैव व्यवसायात्मनः[५] प्रामाण्याभ्युपगमात्[६]। [७]प्रत्यक्षस्य तु निर्विकल्पकत्वे[८]ऽप्यविसंवादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेरिति तत्राह–

तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत्॥३॥

तत्प्रमाणत्वेनाभ्युपगतं [९]वस्त्विति धर्मिनिर्देशः। [१०]व्यवसायात्मकमिति साध्यम्। [११]समारोप[१२]विरुद्ध-त्वादिति हेतुः। [१३]अनुमानवदिति दृष्टान्तः इति। अयमभिप्रायः–संशयविपर्यासानध्यवसायस्वभावसमारोप-

---

व्यसनरूप से नहीं; यह बात सभी प्रमाणवादियों ने स्वीकार की है।

यहाँ पर बौद्ध लोग कहते हैं कि सन्निकर्षादि की प्रमाणता का निराकरण करके ज्ञान के ही प्रमाणता भले ही रही आवे, उसका हम निषेध नहीं करते हैं। किन्तु वह ज्ञान व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ही हो, इसमें हम कोई युक्ति नहीं देखते हैं। हम लोगों ने तो व्यवसायात्मक अनुमान की ही प्रमाणता स्वीकार की है। प्रत्यक्ष तो निर्विकल्प है, अतः व्यवसायात्मक नहीं है, तथापि अविसंवादी होने से उसकी प्रमाणता बन जाती है। इस प्रकार कहने वाले बौद्धों को लक्ष्य करके आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–वह ज्ञान निश्चयात्मक है; क्योंकि वह समारोप का विरोधी है। जैसे अनुमान ॥३॥

सूत्रोक्त 'तत्' पद के द्वारा प्रमाणरूप से स्वीकृत ज्ञानरूप वस्तु विवक्षित है। इस प्रकार धर्मी का निर्देश किया। व्यवसायात्मक यह साध्य है। समारोपविरोधित्व हेतु है और अनुमान यह दृष्टान्त है। इसका यह अभिप्राय है–

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के स्वभावरूप जो समारोप है उसके विरोधी पदार्थ को ग्रहण करना अर्थात् जानना ही जिसका लक्षण है, इस प्रकार के व्यवसायात्मकपना के होने पर ही

---

१. एतत्साध्यसाधनमसिद्धमित्युक्ते नेत्याह। २. विचारयन्ति। ३. कार्यं विना प्रवृत्तिर्व्यसनम्। ४. उपादेय-भूतार्थाक्रियाप्रसाधकार्थप्रदर्शकत्वात्।५. निश्चयात्मनः।६. अङ्गीकारात्।७. कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।८. अव्यव-सायात्मकत्वेऽपि। ९. प्रमाणभूतं ज्ञानम्। १०. निश्चयात्मकम्। ११. संशयविपर्ययानध्यवसाय लक्षणसमारोपः, तत्प्रतिपक्ष-त्वात्। प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमविसंवादिकत्वेन, तदपि अर्थक्रिया स्थितत्वेन, तदप्यर्थप्रापकत्वेन, तदपि प्रवर्तकत्वेन, तदपि स्वविषयोपदर्शकत्वेन, तदपि निश्चयोत्पादकत्वेन, तदपि गृहीतार्थाव्यभिचारत्वेन। १२. अन्धकारप्रकाशयोरहिनकुलयोः, रूपरसयोः सहानवस्थानवध्यघातक परस्परपरिहारस्थितिलक्षणेषु विरोधेष्वत्र सहानवस्थान लक्षणविरोधो ग्राह्यः। १३. अनुमानप्रमाणवत्। अनुमानपुरःसरेण साधनान्तरेण व्यवस्थापयतीति जैनः।

विरोधिग्रहणलक्षणव्यवसायात्मकत्वे सत्येवाविसंवादित्व[१]मुपपद्यते। अविसंवादित्वे[२] च प्रमाणत्वमिति [३]चतुर्विधस्यापि समक्षस्य[४] प्रमाणत्वमभ्युपगच्छता[५] समारोपविरोधिग्रहणलक्षणं[६] निश्चयात्मक-मभ्युपगन्तव्यम्। ननु[७] तथापि समारोपविरोधिव्यवसायात्मकत्वयोः समानार्थकत्वात्[८] कथं साध्यसाधनभाव इति न मन्तव्यम् ज्ञानस्वभावतया[९] तयोरभेदेऽपि व्याप्य[१०] व्यापकत्व[११] धर्माधारतया भेदोपपत्तेः शिंशपात्ववृक्षत्ववत्।

अविसंवादीपना बन सकता है और अविसंवादीपना के होने पर ही ज्ञान की प्रमाणता हो सकती है। इसलिए पूर्वोक्त चारों प्रकार के प्रत्यक्षों की प्रमाणता स्वीकार करने वाले बौद्धों को चाहिए कि वे उसे (प्रत्यक्ष को) समारोप का जो विरोधी कहिए जानना है लक्षण जिसका ऐसे निश्चयात्मक ज्ञान को ही प्रमाणरूप से स्वीकार करें।

शंका—आपके कथनानुसार तो समारोप का विरोधी होना और व्यवसायात्मक होना ये दोनों समानार्थक हैं, तब उनमें साध्य-साधन-भाव कैसे बन सकता है?

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि ज्ञानस्वभावरूप से उन दोनों में अभेद होने पर भी व्याप्य-व्यापकरूप धर्मों के आधार की अपेक्षा भेद बन जाता है। जैसे शिंशपात्व और वृक्षत्व में।

विशेषार्थ—जो सब में रहे वह व्यापक और अल्प में रहे वह व्याप्य कहलाता है। जैसे वृक्षपना व्यापक है, क्योंकि वह आम, नीम, शीशम आदि सभी जाति के वृक्षों में रहता है, और शीशमपना व्याप्य है क्योंकि वह केवल शीशम जाति के वृक्षों में ही रहता है। अतः व्यापक गम्य और व्याप्य को गमक कहा जाता है। जैसे शीशम कहने से वृक्षत्व का बोध स्वयं हो जाता है, अतः व्याप्य शीशम तो गमक है और व्यापक वृक्ष गम्य है। इसी प्रकार प्रकृत में व्यवसायात्मक ज्ञान तो व्यापक है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयात्मक प्रमाणरूप ज्ञान में भी रहता है और अन्यथा-निश्चयात्मक विपर्यय ज्ञान में भी रहता है। समारोप का विरोधीपना तो यथार्थ-निश्चयात्मक ज्ञानी में ही रहता है, विपर्यय ज्ञान में नहीं, इसलिए वह व्याप्य है। इस प्रकार दोनों में भेद कहा गया है। अर्थात् समारोपविरोधीपना साधन होने से व्याप्य है और निश्चयात्मकपना साध्य है अतः व्यापक

---

१. निश्चयो ग्रहणं ह्यस्ति तच्चासत्येऽपि सत्यवत्। ज्ञाने यत्तु समारोपविरोधित्वं सत्यमेव तत्। २. इदमपि व्यापकत्वं प्रमाणत्वस्य। ३. स्वसंवेदनेन्द्रियमनोयोगिप्रत्यक्षस्य। ४. प्रत्यक्षस्य। ५. अङ्गीकुर्वता सौगतेन। ६. ज्ञानम्। ७. बौद्ध आह। ८.साध्यसमोऽयं हेतुः। ९. समारोपविरोधिव्यवसायात्मकत्वयोः। १०. तदभाववदवृत्तित्वं व्याप्यत्वम्। ११. तत्समानाधिकरणा-त्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं व्यापकत्वम्। व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च। व्याप्यं गमकमादिष्टं व्यापकं गम्यमिष्यते। अत्र व्यापकं व्यवसायात्मकं तत्तु विपर्ययज्ञानेऽपि विद्यते। समारोपविरोधित्वं व्याप्यं तत्तु व्यवसाये एव, न तु विपर्यये तस्माद्भेदः।

[१]अथेदानीं [२]सविशेषणमर्थग्रहणं समर्थयमानस्तदेव स्पष्टीकुर्वन्नाह–

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः॥४॥

यः प्रमाणान्तरेण[३] संशयादिव्य[४]वच्छेदेनानध्यवसितः[५] सोऽपूर्वार्थः। तेनेहादि[६]–ज्ञानविषयस्याव-

---

है। इस प्रकार समारोप विरोधित्व और व्यवसायात्मकत्व में साध्य–साधनभाव तथा व्याप्य–व्यापकभाव बन जाता है। बौद्ध लोग प्रमाण तो प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों ज्ञानों को मानते हैं, किन्तु व्यवसायात्मक केवल अनुमान को ही मानते हैं, प्रत्यक्ष को नहीं। इतने पर भी प्रत्यक्ष का लक्षण कल्पना से रहित, अभ्रान्त और अविसंवादी कहते हैं, इसी से उसे अर्थ क्रिया स्थित, वस्तु का प्राप्त करने वाला, प्रवर्तक, स्वविषयोपदर्शक, निश्चयोत्पादक और गृहीतार्थ–अव्यभिचारी कहते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष के ये सर्व विशेषण तो उसे व्यवसायात्मक मानने पर ही सम्भव हैं, अन्यथा नहीं। इसीलिए यह कहा गया है कि जैसे बौद्ध अनुमान–प्रमाण को अर्थ का निश्चायक मानते हैं, उसी प्रकार उन्हें प्रत्यक्ष–प्रमाण को भी निश्चयात्मक मानना चाहिए। इसी सूत्र में प्रमाण को समारोप का विरोधी कहा है! सो संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप ज्ञान को समारोप कहते हैं। संदेहात्मक ज्ञान को संशय, विपरीत ज्ञान को विपर्यय और अनिश्चयरूप ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। विरोध तीन प्रकार का माना गया है–सहानवस्थान लक्षण, परस्पर परिहार लक्षण और वध्य घातक लक्षण। अन्धकार और प्रकाश एक साथ नहीं रह सकते हैं, अतः उनमें सहानवस्थानलक्षण विरोध है। रूप और रस एक साथ रहते है, फिर भी उन दोनों का लक्षण परस्पर भिन्न है, अतः रूप–रस में परस्पर–परिहार लक्षण विरोध माना जाता है। सर्प और नकुल में वध्य घातक विरोध है क्योंकि नकुल सर्प का घातक है और सर्प नकुल का वध्य। प्रकृत में यहाँ पर समारोप और यथार्थ व्यवसात्मकपने के सहावस्थानलक्षण विरोध है; क्योंकि जहाँ वस्तु का यथार्थ निश्चय हो वहाँ संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप समारोप का रहना सम्भव नहीं है।

अब आगे प्रमाण के लक्षण में अर्थ पद को जो अपूर्व विशेषण दिया है उसका समर्थन करते हुए आचार्य उसके अर्थका स्पष्टीकरण कहते हैं–

सूत्रार्थ–जिस पदार्थ का पहले किसी प्रमाण से निश्चय नहीं किया गया है, उसे अपूर्वार्थ कहते हैं ॥४॥

जिस वस्तु का संशयादि के व्यवच्छेद करने वाले किसी अन्य प्रमाण से पहले निश्चय नहीं हुआ है, अर्थात् जो वस्तु किसी यथार्थग्राही प्रमाण से अभी तक जानी नहीं गई है, उसे अपूर्वार्थ कहते हैं। जो वस्तु किसी प्रमाण के द्वारा पहले जानी जा चुकी है, उसका पुनः किसी ज्ञान के द्वारा

---

१. प्रत्यक्षज्ञानस्य व्यसायात्मकत्वसमर्थनानन्तरम्। २. व्यवसायात्मकं भवतु, अर्थविशेषणं माऽस्तु, इति विज्ञानाद्वैतवादिनाम् 'अपूर्व' इति विशेषणेन सह वर्तमानम्। ३. प्रकृतात्प्रमाणादन्यत्प्रमाणान्तरम्, तेन येन केनचित्प्रमाणान्तरेण। ४. त्यागेन। ५. अनिश्चितः। ६.अवग्रहो विशेषाकाङ्क्षेहावायो विनिश्चयः। धारणा स्मृतिहेतुः स्यान्मतिज्ञानं चतुर्विधम्।

ग्रहादिगृहीतत्वेऽपि न पूर्वार्थत्वम्। अवग्रहादिनेहादिविषयभूतावान्तरविशेषनिश्चयाभावात्।

अथोक्तप्रकार एवापूर्वार्थः, किमन्योऽप्यस्तीत्याह–

दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्॥५॥

जानना व्यर्थ है, इस बात को दिखाने के लिए ही अपूर्व विशेषण पहले सूत्र में दिया गया है। इसलिए यहाँ पर ईहा आदि ज्ञानों का विषयभूत पदार्थ अवग्रहादि ज्ञानों के द्वारा गृहीत या ज्ञात होने पर भी पूर्वार्थ नहीं, अपितु अपूर्वार्थ ही रहता है; क्योंकि अवग्रहादि के द्वारा ईहादि ज्ञान के विषयभूत अवान्तर विशेष का निश्चय नहीं होता है।

विशेषार्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप जो मतिज्ञान के चार भेद जैन आगम में बतलाये गये हैं, उनकी व्यवस्था यह है कि जिस पदार्थ को अवग्रह विषय करता है, ईहा के द्वारा उसी के विषय में विशेष जानने की इच्छा होती है, अवाय के द्वारा उसी का निश्चय किया जाता है और धारणा के द्वारा वही वस्तु कालान्तर तक हृदय में धारण की जाती है। ये चारों ही ज्ञान उक्त व्यवस्था के अनुसार यतः गृहीत-ग्राही हैं, अतः उत्तर-उत्तर ज्ञान का विषयभूत पदार्थ अपूर्व नहीं माना जा सकता। और इसीलिए उन्हें प्रमाण भी नहीं मानना चाहिए, ऐसी आशंका किसी जिज्ञासु ने की। उसका समाधान करते हुए कहा गया है कि यद्यपि अवग्रह से जाने हुए पदार्थ को ही ईहा और ईहा से जाने हुए पदार्थ को ही अवाय विषय करता है, तथापि उनके विषयभूत पदार्थ में अपूर्वता बनी रहती है; क्योंकि उन ज्ञानों का विषय उत्तरोत्तर अवान्तर विशेषताओं को जानना है। अवग्रह जहाँ मनुष्य सामान्य को मानता है, वहाँ ईहा के द्वारा उसके दक्षिणी या उत्तरी होने के रूप में एक विशेषता की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और अवाय के द्वारा उसके रहन-सहन और बोल-चाल के द्वारा उत्तरी या दक्षिणी होने का निश्चय किया जाता है। इसलिए उन सब ज्ञानों के विषयभूत अर्थ अपूर्व ही रहते हैं।

अपूर्वार्थ क्या उक्त प्रकार का ही है, अथवा अन्य प्रकार का भी है, ऐसी शंका का समाधान करने के लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ—दृष्ट अर्थात् किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात भी पदार्थ समारोप हो जाने से तादृक् अर्थात् अपूर्वार्थ हो जाता है॥५॥

विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति। तत्पश्चादर्थरूपग्रहणमवग्रह उच्यते। यथा चक्षुषा शुक्लं रूपमिति ग्रहणमवग्रहः। अवग्रहेण गृहीतार्थस्य विशेषपरिज्ञानाकाङ्क्षणमीहा कथ्यते। यथा शुक्लं रूपं मया दृष्टं तद्बलाका आहोस्वित्पताका वेति विशेषाकाङ्क्षणमीहा। तदनन्तरमेवोत्पतति निपतति पक्षविशेषादिकं करोति, तेन ज्ञायतेऽनया बलाकया। भवितव्यम्। एवं याथात्म्यावगमनं वस्तुरूपनिर्द्धारणमवाय इति। अवायस्य सम्यक्परिज्ञानस्य यत्कालान्तराविस्मरणकारणं सा धारणा।

दृष्टोऽपि गृहीतोऽपि, न केवलमनिश्चित एवेत्यपि[१] शब्दार्थः। [२]तादृगपूर्वार्थो भवति। समारोपादिति हेतुः। एतदुक्तं भवति–गृहीतमपि ध्यामलिताकारतया[३] यन्निर्णेतुं न शक्यते, तदपि वस्त्वपूर्वमिति व्यपदिश्यते; प्रवृत्तसमारोपाव्यवच्छेदात्।

ननु[४] भवतु नामापूर्वार्थव्यवसायात्मकत्वं विज्ञानस्य; स्वव्यवसायं तु न विद्म इत्यत्राह–

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं[५] स्वस्य व्यवसायः॥६॥

स्वस्योन्मुखता स्वोन्मुखता, तया स्वोन्मुखतया स्वानुभवतया[६] प्रतिभासनं[७] स्वस्य व्यवसायः।

अत्र दृष्टान्तमाह–

अर्थस्येव तदुन्मुखतया॥७॥

तच्छब्देनार्थोऽभिधीयते। यथाऽर्थोन्मुखतया प्रतिभासनमर्थव्यवसायस्तथा स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं

सूत्र–पठित अपि शब्द का यह अर्थ है कि केवल अनिश्चित ही पदार्थ अपूर्वार्थ नहीं, अपितु प्रमाणान्तर से निश्चित या गृहीत भी पदार्थ में यदि संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय आदि हो जाये, तो वह भी अपूर्वार्थ ही जानना चाहिए। यहाँ समारोप होने से यह हेतु है। इस प्रकार सूत्र का यह अर्थ हुआ–कि किसी ज्ञान के द्वारा विषयरूप से गृहीत भी वस्तु यदि धूमिल आकार हो जाने से निर्णय न की जा सके तो वह भी अपूर्वनाम से ही कही जायेगी; क्योंकि उसके विषय में जो समारोप उत्पन्न हो गया है, उसका निराकरण नहीं हुआ अर्थात् वह बना हुआ है।

जो लोग ज्ञान को स्वव्यवसायी नहीं मानते हैं, उनका कहना है कि ज्ञान को अपूर्वार्थ का निश्चायक भले ही माना जाये। किन्तु उसको स्वव्यवसायी हम नहीं मानते हैं, आचार्य उन लोगों को लक्ष्य करके उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–स्वोन्मुखरूपसे अपने आपको जानना, यह स्वव्यवसाय है ॥६॥

अपने आपको जानने के अभिमुख होने को स्वन्मुखता कहते हैं। उस स्वन्मुखता कहिए स्वानुभवरूप से जो प्रतिभास अर्थात् आत्मप्रतीति होती है, वही स्वव्यवसाय कहलाता है।

सारांश–अपने आपको जानने का नाम स्वव्यवसाय है।

उक्त अर्थ को आचार्य दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं–

सूत्रार्थ–जैसे अर्थ के उन्मुख होकर उसे जानना अर्थव्यवसाय है ॥७॥

सूत्र में कहे गये 'तत्' शब्द से अर्थ (पदार्थ) का ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार पदार्थ के अभिमुख होकर उसके जानने को अर्थव्यवसाय कहते हैं, उसी प्रकार स्व अर्थात् अपने आपके

---

१. संशयादिव्यवच्छेदेनोत्पन्नेन प्रथमज्ञानेन गृहीतोऽर्थः द्वितीयज्ञानस्यापूर्वार्थः, मध्योत्पन्नसंशयादीनां प्रथमज्ञानेन व्यवच्छेदाभावात्। २.विस्मृतपदार्थवत्। ३. अव्यक्ताकारतया। ४. यौगः प्राह। ५. आत्माभिमुखतया प्रतीतिः प्रतिभासनम्। ६. स्वस्य परिज्ञानतया। ७. ज्ञानस्य आत्मानं स्वं जानातीति प्रतीतिः प्रतिभासनम्।

स्वस्य व्यवसायो भवति।

अत्रोल्लेख[१] माह–

[२]घटमहमात्मना[३] वेद्मि[४]॥८॥

ननु ज्ञानमर्थमेवाध्यवस्यति,[५] न[६] स्वात्मानम्[७]। आत्मानं [८]फलं वेति केचित्[९]। कर्तृ कर्मणोरेव प्रतीतिरित्यपरे[११]। कर्तृ–कर्म–क्रियाणामेव प्रतीतिरित्यन्ये[१२]। तेषां मतमखिलमपि प्रतीतिबाधितमिति दर्शयन्नाह–

कर्मवत्[१३] कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः[१४]॥९॥

ज्ञानविषयभूतं[१५] वस्तु कर्माभिधीयते, तस्यैव ज्ञप्तिक्रियया व्याप्यत्वात्, तस्येव तद्वत्। कर्त्ता आत्मा।

अभिमुख होकर जो अपने–आपका प्रतिभास होता है अर्थात् आत्म–प्रतीति या आत्म–निश्चय होता है, वह स्वव्यवसाय कहलाता है।

अब आचार्य उक्त कथन को एक उल्लेख के द्वारा स्पष्ट करते हैं–

सूत्रार्थ—मैं घटको अपने आपके द्वारा जानता हूँ ॥८॥

यहाँ पर 'अहं' पद कर्ता है, 'घट' कर्म है, 'आत्मना' पद करण है और 'वेद्मि' यह क्रिया है। जैसे जानने वाला पुरुष अपने आपके द्वारा घट को जानता है, वैसे ही अपने आपको भी जानता है।

यहाँ पर नैयायिक कहते हैं कि ज्ञान केवल पदार्थ को ही जानता है, अपने आप को नहीं जानता है। कितने ही लोग कहते हैं कि ज्ञान अपने आपको और फल को ही जानता है। भाट्ट कहते हैं कि कर्ता और कर्म की ही प्रतीति होती है, शेष की नहीं। जैमिनीय कहते हैं कि कर्ता, कर्म और क्रिया की ही प्रतीति होती है, करण की नहीं। उक्त वादियों के ये सभी मत प्रतीतिबाधित हैं, यह बात दिखलाने के लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ—कर्म के समान कर्ता, करण और क्रिया की भी प्रतीति होती है ॥९॥

ज्ञान की विषयभूत वस्तु कर्म कहलाती है; क्योंकि उस का ही ज्ञप्ति क्रिया के साथ व्याप्यपना पाया जाता है। जैसे कि ज्ञप्ति क्रिया का कर्म के साथ। जाननेरूप क्रिया को ज्ञप्ति कहते हैं; ज्ञप्तिरूप क्रिया के द्वारा जो कुछ जाना जाता है, उसे कर्म कहते हैं। किसी भी वस्तु को जानने

---

१. दृष्टान्तदार्ष्टान्तकयोरुदाहरणमुल्लेखः। २. प्रमेय–प्रमातृप्रमाण–प्रमितयो यथा संख्येन गृह्यन्ते। ३. आत्मना ज्ञानस्वरूपेण। ४. स्वपरावभासो दर्शितः। ५. प्रत्यक्षी करोति निश्चिनोति। ६. ज्ञानस्वरूपं न निश्चिनोति। ७ . स्वरूपं पुरुषकर्त्तारं न प्रत्यक्षी करोति। ८. अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। ९. नैयायिकाः। १०. कर्म क्रिययोरेव प्रतीतिरिति वृत्तावनुक्तमुपलक्षणीयमिति प्राभाकराः। ११. भाट्टाः। परोक्षं जैमिनेर्ज्ञानं ज्ञानमात्मा प्रभाकृतः। ज्ञानं फलं च भट्टस्य शेषं प्रत्यक्षमिष्यते। १२.जैमिनीयाः। १३. तस्येति सूत्रेणेवार्थे षठ्यन्तात्कर्मशब्दाद्वत्प्रत्ययः प्रकरण बलाज्ज्ञेयम्। १४. प्रमातृप्रमाणप्रमितिक्रियाणां। प्रतिभासनात्। १५. ज्ञानविषयभूतं कर्म कथं भवति ?'क्रियाव्याप्यं कर्म, इति सूत्रसद्भावाद् दूषणं न भवत्येकार्थत्वात्।

करणं प्रमाणम्। क्रिया प्रमितिः। कर्त्ता[१] च करणं[२] च क्रिया[३] च तासां प्रतीतिः[४] तस्याः। इति हेतौ[५] का[६]। प्रागुक्तानुभवोल्लेखे यथाक्रमं तत्प्रतीतिर्द्रष्टव्या।

ननु[७] शब्दपरामर्शसचिवेयं प्रतीतिर्न[८] वस्तुबलोपजातेत्यत्राह–

शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्॥१०॥

यथाः घटादिशब्दानुच्चारणेऽपि घटाद्यनुभवस्तथाऽहमहमिकया योऽयमन्तर्मुखाकारतया[९]ऽवभासः

वाला आत्मा कर्ता कहलाता है। जिसके द्वारा वह जानता है, ऐसा प्रमाणरूप ज्ञान करण कहलाता है और प्रमिति क्रिया है। प्रमाण के फल को प्रमिति कहते हैं। इस प्रकार कर्ता, करण और क्रिया का पहले द्वन्द्व समास करके पीछे प्रतीति शब्द के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास करना चाहिए। प्रतीति पद के अन्त में पञ्चमी विभक्ति का निर्देश हेतु के अर्थ में किया गया है। जैनेन्द्र व्याकरण में पञ्चमी विभक्ति की संज्ञा 'का' है। इस प्रकार पहले कहे गये अनुभव के उल्लेख में कर्म-कर्तादिक की यथा क्रम से प्रतीति जाननी चाहिए। अर्थात् पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट 'घट' कर्म है, 'अहं' कर्ता है, 'आत्मना' करण है और 'वेद्मि' क्रिया है।

भावार्थ—जैसे ज्ञान अपने विषयभूत पदार्थ को जानता है, उसी प्रकार वह कर्ता, करण और क्रिया को भी जानता है। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि एक ही ज्ञान में कर्ता, करणादि अनेक कारकरूप प्रवृत्ति कैसे सम्भव है, क्योंकि अवस्था-भेद की विवक्षा से एक में भी अनेक कारकों की प्रवृत्ति कैसे संभव है, क्योंकि अवस्था-भेद की विवक्षा से एक में भी अनेक कारकों की प्रवृत्ति होने में कोई विरोध अनेकान्तवादियों के नहीं आता। वह तो सर्वथा एकान्तवादियों के ही मत में सम्भव है।

यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि यह कर्ता-कर्मादिक की प्रतीति तो शब्द का उच्चारण मात्र ही है, वस्तु के स्वरूप बल से उत्पन्न नहीं हुई है अर्थात् वास्तविक नहीं है। उसका आचार्य उत्तर देते हैं–

सूत्रार्थ—पदार्थ के समान शब्द का उच्चारण नहीं करने पर भी अपने आपका अनुभव होता है ॥१०॥

जैसे घट आदि शब्द के उच्चारण नहीं करने पर भी घट आदि का अनुभव होता है, उसी प्रकार बाहर में शब्द का उच्चारण नहीं करने पर भी 'अहं' अहं इस प्रकार के अन्तर्मुखाकाररूप से अपने आपका स्वयं अनुभव होता ही रहता है। कहने का भाव यह है कि जैसे घटादि को देखने

---

१. प्रमाता। २. प्रमाणम्। ३. प्रमितिः। ४. फलज्ञानम्। ५. हेतौ गुणे स्त्रियामिति निषेधात्कथं पञ्चमीति नाशङ्कनीयम्; 'स्थाने कर्माधारे' इति सूत्रेण पञ्चमी भवति, इत्युक्तत्वात् अप्रयुक्तेऽपि यस्यार्थः प्रतीयते स स्थानी स्यादिति। प्रतीतिमवलम्ब्येत्यर्थः। ६. पञ्चमी। ७. शब्दविकल्पप्रधानानां तेषां कर्मादीनाम्। ८. शब्दविकल्पप्रधानो विचारः। ९. अन्तर्जल्पाकारतया, अन्तःपरिच्छेद्यतया।

स शब्दानुच्चारणेऽपि स्वयमनुभूयत इत्यर्थः।

अमुमेवार्थमुपपत्तिपूर्वकं परं प्रति[1] सोल्लुण्ठमाचष्टे–

को वा तत्प्रतिभासिन[2]मर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत्॥११॥

को वा लौकिकः परीक्षको वा। तेन ज्ञानेन[3] प्रतिभासितुं शीलं यस्य स तथोक्तस्तं प्रत्यक्षविषय[4]मिच्छन् विषयिधर्मस्य विषये उपचारात्[5] तदेव ज्ञानमेव तथा प्रत्यक्षत्वेन नेच्छेत्? अपि त्विच्छेदेव। अन्यथा अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गः स्यादित्यर्थः।

अत्रोदाहरणमाह–

प्रदीपवत्[6]॥१२॥

पर घट आदि शब्द के बोले बिना ही उसका बोध होता है, उसी प्रकार 'अहं' इत्यादि शब्द के बिना कहे ही अपने आपका भी बोध होता है, अतः कर्ता-कर्मादिक की प्रतीति को केवल शाब्दिक नहीं, किन्तु वास्तविक मानना चाहिए।

आगे आचार्य इसी ही अर्थ को युक्तिपूर्वक पर का उपहास करते हुए कहते हैं

सूत्रार्थ—कौन ऐसा पुरुष है जो ज्ञान से प्रतिभासित हुए पदार्थ को प्रत्यक्ष मानता हुआ भी स्वयं ज्ञान को ही प्रत्यक्ष न माने ॥११॥

कौन ऐसा लौकिक या परीक्षक पुरुष है, जो उस ज्ञान से प्रतिभासनशील पदार्थ को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय मानते हुए भी उसी ज्ञान को प्रत्यक्षरूप से स्वीकार न करे, अपितु वह करेगा ही। यहाँ पर विषयी ज्ञान के प्रत्यक्षपनेरूप धर्म का विषयभूत पदार्थ में उपचार करके उक्त प्रकार का निर्देश किया गया है, अन्यथा अप्रामाणिकपने का प्रसंग प्राप्त होगा।

भावार्थ—मुख्य वस्तु के अभाव में प्रयोजन और निमित्त के होने पर उपचार की प्रवृत्ति होती है। प्रकृत में प्रत्यक्षपना तो ज्ञान का मुख्य धर्म है, पदार्थ का नहीं। किन्तु पदार्थ ज्ञान का विषय है, अतः उसमें व्यवहार के प्रयोजन से प्रत्यक्षपने का उपचार किया गया है। यहाँ निमित्त ज्ञान और पदार्थ में विषयी-विषय-भावरूप सम्बन्ध का उपचार है। यदि ऐसा न माना जाये, तो लोक का व्यवहार अप्रामाणिक हो जायेगा।

अब आगे उक्त अर्थ के दृढ़ करने के लिए आचार्य उदाहरण कहते हैं–

सूत्रार्थ—दीपक के समान ॥१२॥

---

१. उपहास-सहितम्। २. अन्तर्मुखाकारतया प्रतिभासिनं ज्ञानमेव। ३. ज्ञानस्य ग्राहकशक्तिशीलत्वमर्थस्य ज्ञेयशक्ति शीलत्वम्। ४. मुख्यतयार्थः प्रत्यक्षरूपो नास्ति, किन्तूपचारात्प्रत्यक्ष व्यवहारः। तत्र निमित्तं विषयविषयिसन्निपातः। ५. ज्ञानधर्मः प्रत्यक्षत्वं घटाद्यर्थ उपचारः, 'मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते' इति वचनात्। ६. यथैव हि प्रदीपस्य स्वप्रकाशतां प्रत्यक्षतां वा विना तत्प्रतिभासिनोऽर्थस्य प्रकाशता प्रत्यक्षता वा नोपपद्यते, तथा प्रमाणस्यापि प्रत्यक्षतामन्तरेण तत्प्रतिभासिनोऽर्थस्य प्रत्यक्षता न स्यात्।

इदमत्र तात्पर्यम्–ज्ञानं स्वावभासने स्वातिरिक्तसजातीयार्थान्तरानपेक्षं प्रत्यक्षार्थ–गुणत्वे सति अदृष्टानुयायिकरणत्वात्[१], प्रदीपभासुराकारवत्[२]।

अथ भवतु नामोक्तलक्षणलक्षितं प्रमाणम्, तथापि तत्प्रामाण्यं[३] स्वतः परतो वा? न तावत्स्वतः,

---

जिस प्रकार दीपक की प्रकाशता और प्रत्यक्षता को स्वीकार किये बिना उससे प्रतिभासित हुए घटादिक पदार्थ की प्रकाशता और प्रत्यक्षता सम्भव नहीं है उसी प्रकार यदि प्रमाणस्वरूप ज्ञान की भी प्रत्यक्षता न मानी जाये, तो उसके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ की भी प्रत्यक्षता माननी सम्भव नहीं है। अतः दीपक के समान ज्ञान की भी स्वयंप्रकाशता और प्रत्यक्षता माननी चाहिए। यहाँ यह तात्पर्य है–ज्ञान अपने आपके प्रतिभास करने अर्थात् जानने में अपने से अतिरिक्त (भिन्न) सजातीय अन्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित है; क्योंकि पदार्थ को प्रत्यक्ष करने के गुण से युक्त होकर अदृष्ट–अनुयायी करणवाला है, जैसे कि दीपक का भासुराकार।

भावार्थ—ज्ञान अपने आपके जानने में अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु स्वयं ही अपने आपको जानता है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का ही गुण है। जब वह जानने की शक्तिरूप अदृष्ट के बिना व्यक्तिरूप अनुयायी करणपने की अवस्था को प्राप्त होता है, तब वह किसी अन्य की अपेक्षा के बिना ही अपने विषयभूत पदार्थ को जानता है। जैसे दीपक की प्रकाशरूप लौ अपने आपको प्रकाशित करने में किसी दूसरी प्रकाशमान वस्तु की अपेक्षा नहीं करती, स्वयं ही अपने आपको प्रकाशित करती है।

यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि प्रमाण का जो लक्षण पहले कह आये हैं, वही रहा आवे। तथापि प्रमाण की प्रमाणता 'स्वतः' अर्थात् अपने आप ही होती है, अथवा 'परतः' अर्थात् अन्य से होती है। स्वतः तो मानी नहीं जा सकती; क्योंकि यदि प्रमाण की प्रमाणता स्वतः हो, तो फिर

---

२. अर्थान्तरानपेक्षमित्येतावति साध्ये घटादिभिः सिद्धसाध्यता स्यात्, तत उक्तम्–सजातीयेति। तस्मिन्नप्युच्यमाने पुरुषान्तरविज्ञानेन सिद्धसाध्यता स्यात्, तन्निषेधार्थं स्वातिरिक्तग्रहणम्। तथापि परार्थानुभवनेन सिद्धसाध्यता स्यात्, अतस्तत्परिहारार्थं स्वावभासन–ग्रहणम्। साध्यं प्रति करणत्वादित्येतावति साधनेऽदृष्टेन व्यभिचारः, अत उक्तम्–अदृष्टानुयायीति। तथापि कुठारादिना व्यभिचारः अत उक्तम्–गुणत्वे सतीति। तथापि सन्निकर्षेण व्यभिचारः, अत उक्तम्–प्रत्यक्षार्थेति। पुनरपि प्रकारान्तरेण व्यभिचारवारणायोच्यते–करणत्वादिति साधने सति कुठारादि–भिर्व्यभिचारस्तत्परिहारार्थं प्रत्यक्षार्थगुणत्वे सतीत्युच्यते। तावत्युच्यमानेऽदृष्टेन शक्तिना व्यभिचारः, अतस्तत्परिहारार्थम् अदृष्टानुयायिकरत्वादित्युच्यते। अस्मिन्नप्युच्यमाने चक्षुरादिना व्यभिचारः अतस्तत्परिहारार्थं प्रत्यक्षार्थगुणत्वे सतीत्युच्यते। ३. प्रदीपवदित्युक्ते प्रदीपस्य द्रव्यत्वेना–गुणत्वात्साधनविकलोऽयं दृष्टान्तः, अत उक्तम्–भासुराकारवत्। १. किन्नाम प्रमाणस्य प्रामाण्यम्? प्रतिभातविषयाऽव्यभिचारित्वम्। तत्प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं परतः, इति मीमांसकाः सङ्गिरन्ते। अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं तु परत इति ताथागताः कथयन्ति। उभयं स्वत इति सांख्याः। उभयमपि परत इति नैयायिकाः। उभयमपि कथञ्चित्स्वतः कथञ्चित्परत इति स्याद्वादिनो जैनाः प्रथयन्ति।

अविप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्[१]। नापि परतः, अनवस्थाप्रसङ्गात्[२] इति मतद्वयमाशङ्क्य तन्निराकरणेन स्वमतम-वस्थापयन्नाह–

तत्प्रामाण्यं[३] स्वतः परतश्च॥१३॥

सोपस्काराणि[४] हि वाक्यानि भवन्ति। तत इदं प्रतिपत्तव्यम्–अभ्यासदशायां स्वतोऽनभ्यासदशायां च परत इति। तेन[५] प्रागुक्तैकान्तद्वयनिरासः। न चानभ्यासदशायां परतः प्रामाण्येऽप्यनवस्था समाना[६], ज्ञानान्तरस्याभ्यस्तविषयस्य[७] स्वतः[८] प्रमाणभूतस्याङ्गीकरणात्। अथवा[९] प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव,

---

उसके विषय में किसी को विवाद नहीं होना चाहिए। प्रमाण की प्रमाणता परतः भी नहीं मान सकते, क्योंकि पर से प्रमाणता मानने पर उसकी भी प्रमाणता पर से माननी पड़ेगी। इस प्रकार अनवस्थादोष का प्रसंग आता है। इन दो मतों की आशंका करके उनके निराकरण-पूर्वक अपने मत की स्थापना करते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि मीमांसक तो प्रमाण की प्रमाणता स्वतः मानते हैं और अप्रमाणता परतः। सांख्य प्रमाणता परतः और अप्रमाणता स्वतः मानते हैं। नैयायिक प्रमाणता और अप्रमाणता दोनों ही परतः मानते हैं। प्रमाणता से अभिप्राय उसकी यथार्थतारूप सत्यता से है और अप्रमाणता से अभिप्राय उसकी अयथार्थतारूप असत्यता से है। आचार्य इस विषय में अपना निर्णय देते हैं–

सूत्रार्थ–प्रमाण की वह प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होती है ॥१३॥

सूत्रवाक्य उपस्कार-सहित होते हैं अर्थात् सूत्र का ठीक अर्थ जानने के लिए तत्संबद्ध और तत्सूचित अर्थ का [परिज्ञान करने के लिए कुछ शब्दों का] ऊपर से अध्याहार करना पड़ता है, इसलिए यहाँ पर इस सूत्र का यह अर्थ जानना चाहिए कि वह प्रमाणता अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः होती है। इस कारण पूर्व में कहे गये दोनों एकान्तवादों का निराकरण हो जाता है। अनभ्यासदशा में परतः प्रामाण्य मानने पर भी एकान्तपक्ष के समान अनवस्था दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि अभ्यस्त विषयरूप अन्य ज्ञान की हमने प्रमाणता स्वतः स्वीकार की है।

इत्येवं बहुवादिविप्रतिपत्तेः सद्भावात्संशयः स्यात्। तन्निराकरणार्थं प्रामाण्यं निरूपणीयमिति।

१. प्रामाण्यं सर्वथा स्वतश्चेदविप्रतिपत्तिप्रसङ्गोऽस्तु, तथा नास्ति। २. जलज्ञानं प्रमाणं स्नानपानक्रियान्यथानुपपत्तेः। तर्ह्यनुमानस्य प्रामाण्यं कुतः? अन्यस्मात्। एवमनवस्थाचमूरिका परतः प्रामाण्यवादचमूं चञ्चमीति। किमनवस्था नाम ? अप्रामाणिकानन्त-पदार्थपरिकल्पनया विश्रान्त्यभावोऽनवस्था नाम। ३. तस्य प्रमाणस्य (ज्ञानस्य) प्रामाण्यमिति तत्प्रामाण्यं प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्वं सुनिश्चितासम्भवद्-बाधकत्वमिति। ४. शब्देन शब्दान्तरमेलनमुपस्कारः, तेन सहितानि सोपस्काराणि। ५. कारणेन। ६. जैनानां न समाना। कुतो न समाना ? इति चेदाह...। ७. अभ्यस्तविषयो येन ज्ञानान्तरेण। ८. स्वतः प्रमाणभूतस्य अन्तरङ्गात् (क्षयोपशमाद्) उत्पन्नस्य घटचेटिकापेटक-दर्दुराराव-सरोजगन्धा-द्यन्यथानुपपत्तिबलेन स्वतो निश्चितप्रामाण्य-स्यानुमानस्याभ्युपगमात्। ९. अथवा-उत्पत्तिर्ज्ञप्तिश्च द्वेधाऽत्र विशेषः।

विशिष्टकारण-प्रभवत्वाद्विशिष्टकार्यस्येति। विषयपरिच्छित्तिलक्षणे[१] प्रवृत्तिलक्षणे वा[२] स्वकार्ये अभ्यासेतरदशापेक्षया क्वचित्स्वतः परतश्चेति निश्चीयते।[३] ननूत्पत्तौ विज्ञानकारणातिरिक्तकारणान्तर[४] सव्यपेक्षत्वमसिद्धम् प्रामाण्यस्य [६]तदितरस्यैवाभावात्। [७]गुणाख्यमस्तीति वाङ्मात्रम्, विधिमुखेन[८] कार्यमुखेन[९] वा

अथवा प्रमाण की प्रमाणता प्रथम बार उत्पत्ति की अपेक्षा तो परतः ही होती है, क्योंकि विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति विशिष्ट कारण से ही होती है। किन्तु विषयपरिच्छित्तिलक्षण अर्थात् विषय के जानने रूप और प्रवृत्तिलक्षण-अर्थात् विषय में प्रवर्तन रूप जो प्रमाण का कार्य है उसमें अभ्यास दशा की अपेक्षा प्रमाणता स्वतः और अनभ्यास दशा की अपेक्षा परतः होती है, ऐसा निश्चय जानना चाहिए।

विशेषार्थ—परिचित अवस्था को अभ्यास दशा और अपरिचित अवस्था को अनभ्यास दशा कहते हैं। हमें अपने गाँव के जलाशय, नदी, वाबड़ी आदि परिचित हैं, अतः उनकी ओर जाने पर जो जलज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी प्रमाणता तो स्वतः ही होती है, किन्तु अन्य अपरिचित ग्रामादिक में जाने पर 'यहाँ जल होना चाहिए' इस प्रकार जो जलज्ञान होगा, वह शीतल वायु के स्पर्श से, कमलों की सुगन्धि से या पानी भरकर आते हुए व्यक्तियों के देखने आदि पर निमित्तों से ही होगा, अतः उस जलज्ञान की प्रमाणता अनभ्यास दशा में परतः मानी जायेगी। उत्पत्ति में परतः प्रमाणता कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तरंग कारण ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर भी बाह्य कारण इन्द्रियादिक से निर्दोष होने पर ही नवीन प्रमाणतारूप कार्य उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। अतः उत्पत्ति में परतः प्रमाणता स्वीकार की गई है। तथा विषय के जानने रूप और प्रवृत्तिरूप प्रमाण के कार्य में अभ्यास दशा की अपेक्षा तो प्रमाण की प्रमाणता स्वतः अर्थात् बाह्य कारणों के बिना अपने आप ही होती है और अनभ्यास दशा में परतः अर्थात् बाह्य कारणों के मिलने पर ही होती है।

शंका—प्रमाणता की उत्पत्ति में विज्ञान के कारण जो निर्दोष नेत्रादिक, उनसे भिन्न अन्य कारणों की अपेक्षा असिद्ध है अर्थात् अन्य कारण नहीं है। अतः प्रमाण की प्रमाणता स्वतः ही होती है; क्योंकि ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कारण का अभाव है। यदि कहा जाये कि अन्य कारण नेत्रादिक की निर्मलता आदि गुण पाये जाते हैं, सो यह कहना वचन-मात्र ही है, वास्तविक नहीं; क्योंकि विधिमुख से अर्थात् प्रत्यक्ष से और कार्यमुख से अर्थात् अनुमान से गुणों की प्रतीति नहीं

---

१. जलाज्ञाननिवृत्तिलक्षणे। २. स्वस्य ज्ञानस्य कार्यं प्रामाण्यं तस्मिन्। ३. प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञानकारणातिरिक्तकारणान्तरसव्यपेक्षत्वात्प्रदीप वदित्युच्यमाने मीमांसकः प्राह-। ४. चक्षुरादेर्नैर्मल्यं - ५. यतो ज्ञानेनैव पुरुषा अनभ्यस्तप्रमाणकार्येऽपि प्रवर्तन्ते, ततः ज्ञानातिरिक्त कारणान्तरसव्यपेक्षत्वमसिद्धमिति। ६. ज्ञानातिरिक्त कारणान्तरस्यैव। ७. नयने गुणाः सन्ति, यथार्थोपलब्धेः प्रमाण्यान्यथानुपपत्तेरिति। ८. प्रत्यक्षेण। ९. अनुमानेन।

गुणानामप्रतीतेः[१] नाप्यप्रामाण्यं स्वत एव, प्रामाण्यं तु परत एवेति विपर्ययः शक्यते कल्पयितुम्[२]; अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां हि त्रि[३]रूपाल्लिङ्गा[४]देव केवलात्[५] प्रामाण्यमुत्पद्यमानं दृष्टम्। प्रत्यक्षादिष्वपि तथैव प्रतिपत्तव्यम्[६], नान्यथेति। तत[७] एवाऽऽप्तोक्तत्वगुणसद्भावेऽपि न तत्कृतमागमस्य प्रामाण्यम्। तत्र[८] हि गुणेभ्यो दोषाणाम-भावस्तदभावाच्च संशय-विपर्यासलक्षणाप्रामाण्यद्वयासत्त्वेऽपि प्रामाण्यमौत्सर्गिकं-[९]मनपोदित [१०]मास्त एवेति। ततः [११]स्थितम्-प्रामाण्यमुत्पत्तौ न सामग्र्यन्तर[१२] सापेक्षमिति। [१३]नापि विषयपरिच्छित्तिलक्षणे[१४] स्वकार्ये[१५] स्वग्रहणसापेक्षम्[१६], अगृहीत प्रामाण्यादेव ज्ञानाद्विषयपरिच्छित्ति-

---

होती है। प्रत्यक्ष तो गुणों के जानने में समर्थ है नहीं, क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष की अतीन्द्रिय अर्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः उससे गुणों की प्रतीति मानने में विरोध आता है। और अनुमान भी गुणों के जानने में समर्थ नहीं है, क्योंकि साध्य-साधन के सम्बन्ध-बल से ही अनुमान प्रवृत्त होता है। गुणों का कोई लिंग दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे कि साध्यरूप गुणों का अनुमान किया जा सके। तथा प्रमाण में अप्रमाणता स्वतः होती है और प्रमाणता परतः होती है, ऐसी विपरीत कल्पना करना भी शक्य नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमानादिक प्रमाणों में प्रमाणता स्वतः प्रतिपादित की गई है। अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा त्रिरूप लिंग से अर्थात् पक्ष धर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षाद्व्यावृत्ति रूप केवल हेतु से प्रमाणता उत्पन्न होती हुई देखी जाती है। तथा 'यह जल है' इत्यादि प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में उसके स्वकारण से ही प्रमाणता उत्पन्न होती है, ऐसा मानना चाहिए, अन्यथा नहीं। तथा आगम से भी गुणों का सद्भाव नहीं जाना जाता। यद्यपि आगम में आप्त के द्वारा कहा जाना यह गुण विद्यमान हैं, तथापि आगम में प्रमाणता उस गुण के कारण नहीं है। किन्तु आगम में गुणों से दोषों का अभाव है और दोषों के अभाव से संशय-विपर्यय रूप जो दो अप्रमाण ज्ञान उनका अभाव है, अतएव आगम की प्रमाणता स्वाभाविकरूप से अबाधित सिद्ध हो जाती है। इसलिए यह बात स्थित हुई कि प्रमाण की प्रमाणता उत्पत्ति में अन्य सामग्री की अपेक्षा नहीं रखती है। और न विषय परिच्छित्ति लक्षण स्वकार्य में ही अपने ग्रहण की अपेक्षा

---

१. न खलु प्रत्यक्षं गुणान् प्रत्येतुं समर्थम्, तस्यातीन्द्रियार्थाप्रवृतेर्न गुणानां तेन प्रतीतिः, विरोधात्। नाप्यनुमानम्, तस्य प्रतिबन्धबलेनोत्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रतिबन्धश्चेन्द्रियगुणैः सह लिङ्गस्य, स च प्रत्यक्षेण गृह्यतेऽनुमानेन वा। न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्य तत्सम्बन्धग्रहणविरोधात्। नाप्यनुमानेन, तस्यापि गृहीतसम्बन्धलिङ्गप्रभवत्वात्। तत्राप्यनुमानान्तरेण तत्सम्बन्धग्रहणेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। २. यतः प्रत्यक्षानुमानादौ स्वतः प्रामाण्यप्रतिपादनादिति। ३. पक्षधर्मत्वसपक्ष-सत्त्वपक्षव्यावृत्तिरूपात्। ४. नयने गुणाः सन्ति, यथार्थोपलब्धेः। ५. गुणनिरपेक्षात्। ६. इदं जलमिति प्रत्यक्षज्ञाने तत्कारणादेव प्रामाण्यमुत्पद्यते, इति प्रतिपत्तव्यम्; न भिन्नकारणेन। ७. प्रत्यक्षानुमानादौ स्वतः प्रामाण्यप्रतिपादनादेव। ८. आगमे। ९. स्वाभाविकम्। १०. अबाधितमनिराकृतमिति। ११. विज्ञानकारणादेव प्रामाण्यमुत्पद्यमानं प्रतिभासते यतः १२. विज्ञानातिरिक्तकारणान्तरापेक्षम्। १३. ज्ञप्तिपक्षोऽयम् १४. अज्ञानस्य निवृत्तिलक्षणे। १५. ज्ञानकार्ये। १६. नात्मग्रहणसापेक्षम्। कोऽर्थः। पूर्वमात्मनैव ज्ञानं (कर्तृ) प्रामाण्यं गृह्णातीत्ययमभिप्रायोऽस्य।

लक्षणकार्यदर्शनात्।

[१]ननु न परिच्छित्तिमात्रं प्रमाणकार्यम्, तस्य मिथ्याज्ञानेऽपि सद्भावात्। परिच्छित्ति विशेषं तु नागृहीतप्रामाण्यं विज्ञानं जनयतीति? [२]तदपि बालविलसितम्; न [३]हि प्रामाण्यग्रहणोत्तरकालमुत्पत्त्यवस्थातः आरभ्य परिच्छित्तेर्विशेषोऽवभासते, अगृहीत प्रामाण्यादपि विज्ञानान्निर्विशेषविषयपरिच्छेदोपलब्धेः[४]। ननु[५] परिच्छित्तिमात्रस्य शुक्तिकायां रजतज्ञानेऽपि सद्भावात्तस्यापि प्रमाणकार्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्–भवेदेवम्[६], यद्यर्थान्यथात्व[७] प्रत्ययस्वहेतूत्थदोष[८]ज्ञानाभ्यां तन्नापोद्येत[९]। तस्माद्यत्र[१०] कारणदोषज्ञानं बाधकप्रत्ययो[११] वा नोदेति, तत्र स्वत[१२] एव प्रामाण्यमिति। न चैव[१३]मप्रामाण्येऽप्याशङ्कनीयम्[१४], तस्य विज्ञानकारणातिरिक्त–

रखती है; क्योंकि जिसकी प्रमाणता गृहीत नहीं है अर्थात् जानी नहीं गई है ऐसे ज्ञान से विषय की परिच्छित्ति–स्वरूप कार्य देखा जाता है।

यहाँ पर नैयायिक मीमांसकों से पूछते हैं कि प्रमाण का कार्य जानना मात्र है, या ज्ञान–विशेषरूप है? इनमें से जाननामात्र तो प्रमाण का कार्य माना नहीं जा सकता; क्योंकि वह मिथ्याज्ञान में भी पाया जाता है। यदि ज्ञान विशेष माना जाये, तो उसे अगृहीत प्रमाणता वाला विज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता है। नैयायिक के इस आक्षेप का उत्तर देते हुए मीमांसक कहते हैं कि आपका यह कथन बालक के वचन–विलास–समान है; क्योंकि प्रमाण की प्रमाणता ग्रहण करने के उत्तरकाल में उत्पत्ति–अवस्था से लेकर जाननेरूप क्रिया की कुछ भी विशेषता प्रतिभासित नहीं होती है। प्रत्युत अगृहीत प्रमाणता वाले भी विज्ञान से विशेषता–रहित सामान्य विषय का ज्ञान पाया जाता है। इसपर नैयायिक कहते हैं कि जाननामात्र सामान्य ज्ञान तो सीप में जो चाँदी का ज्ञान होता है, उसमें भी पाया जाता है, इसलिए उसे भी प्रमाण का कार्य माना जायेगा ? इसका उत्तर देते हुए मीमांसक कहते हैं कि ऐसा तब हो, जब यदि पदार्थ के अन्यथापने की प्रतीति और अपने कारणों से उत्पन्न हुए दोष का ज्ञान इन दोनों के द्वारा उसका निराकरण न किया जावे। कहने का भाव यह कि सीप में चाँदी का जो विपरीत ज्ञान होता है, वह उसके पश्चात् उक्त दोनों कारणों से दूर हो जाता है। इसलिए जहाँ पर कारण के दोष का ज्ञान और बाधक प्रत्यय का उदय नहीं होता, वहाँ पर स्वतः ही प्रमाणता होती है और अप्रामाण्य के विषय में भी ऐसी आशंका नहीं करनी

---

१. मीमासक प्रति नैयायिकः प्राह–प्रमाणकार्यं परिच्छित्तिमात्रं वा परिच्छित्तिविशेषो वेति विकल्प द्वयं कृत्वा दूषयन्ति जैनाः। २.चेष्टितम्। ३. मीमांसकः प्राह–। ४. पूर्वं यद्रजतादि वस्तु दृष्टं तद्विहायान्यत्सुवर्णादिकं न दृश्यते, इति निर्विशेषविषयपरिच्छेदोपलब्धिः। ५. मीमांसकं प्रति नैयायिकः प्राह–। ६. मीमांसकः प्राह–प्रथमं सर्वज्ञानं प्रमाणमेवोत्पद्यते, तस्माच्छुक्तिकायां रजतज्ञानमपि प्रथमं प्रमाणं भवेत्। ७.अर्थो रजतलक्षणस्तस्यान्यथात्वं नेदं रजतं शुक्तिकेयं नीलपृष्ठत्रिकोणदर्शनादित्यनेन ज्ञानेन। ८. चक्षुरादिगत–काचकामला–दिदोषज्ञानेन। ९. न निराक्रियेत। १०. वस्तुनि। ११. शुक्तिकेयमित्यादि बाधकज्ञानम्। १२.केवलं विज्ञानकारणचक्षुराद्यपेक्षयैव प्रामाण्यं परतः प्रतिपद्यते, न तु गुणापेक्षया। उक्तञ्च–स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्। न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन पार्यते ॥

दोषस्वभावसामग्रीसव्यपेक्षतयोत्पत्तेः निवृत्तिलक्षणे[1] च स्वकार्ये [2]स्वग्रहणसापेक्षत्वात्। [3]तद्धि यावन्न ज्ञातं न तावत् [4]स्वविषयात्पुरुषं निवर्तयतीति।

[5]तदेतत्सर्वमनल्पतमोविलसितम्। तथाहि–न तावत्प्रामाण्यस्योत्पत्तौ सामग्र्यन्त[6]रापेक्षत्वम सिद्धम्, आप्तप्रणीतत्वलक्षणगुणसन्निधाने सत्येवाऽऽप्तप्रणीतवचनेषु प्रामाण्य दर्शनात्। यद्भावाभ्यां[7] यस्योत्पत्त्यनुत्पत्तौ तत् तत्कारणकमिति लोकेऽपि सुप्रसिद्धत्वात्। यदुक्तं–'विधिमुखेन कार्यमुखेन वा गुणानामप्रतीतिरिति' तत्र तावदाप्तप्रणीत शब्दे न प्रतीतिर्गुणानामित्ययुक्तम्, आप्तप्रणीतत्त्वहानिप्रसङ्गात्। [8]अथ चक्षुरादौ

चाहिए अर्थात् अप्रमाणता स्वतः होती है, ऐसा नहीं मानना, क्योंकि विज्ञान के कारणों से अतिरिक्त जो दोष स्वभावरूप सामग्री है, उसकी अपेक्षा से अप्रमाणता उत्पन्न होती है। अप्रमाणता–निवृत्ति स्वरूप जो स्वकार्य है, उसमें अपने अप्रमाणतारूप स्वरूप के ग्रहण की अपेक्षा है सो वह जब तक ज्ञात नहीं है, तब तक वह अपने अन्यथा प्रतीतिरूप विषय से पुरुष को निवृत्त नहीं करती है। अर्थात् जब अप्रमाणता की प्रतीति होती है, तभी उससे निवृत्ति होती है। इस प्रकार मीमांसकों ने यह सिद्ध किया कि प्रमाण की प्रमाणता स्वतः और अप्रमाणता परतः होती है।

मीमांसकों के उक्त कथन का परिहार करते हुए आचार्य कहते हैं–आपका कहा सभी कथन महान् अज्ञानरूप अन्धकार के विलास–समान है। आगे यही स्पष्ट करते हैं–आपने जो प्रामाण्य की उत्पत्ति में अन्य सामग्री की अपेक्षा होना असिद्ध कहा, सो ठीक नहीं है; क्योंकि आगम के आप्तप्रणीतत्व–लक्षण गुण के सन्निधान (सामीप्य) होने पर ही आप्त–प्रणीत वचनों में प्रमाणता देखी जाती है। जिसके सद्भाव में जिस कार्य की उत्पत्ति हो ओर जिसके अभाव में कार्य की उत्पत्ति न हो, वह पदार्थ उस कार्य का कारण होता है यह बात लोक में भी सुप्रसिद्ध है। अतः आगम की प्रमाणता सत्यार्थ आप्त के प्रणीत होने से है, अन्यथा नहीं, ऐसा जानना चाहिए। और जो आपने कहा कि, विधिमुख (प्रत्यक्ष) से अथवा कार्यमुख (अनुमान) से गुणों की प्रतीति नहीं होती है, सो आप्त प्रणीत शब्द में गुणों की प्रतीति नहीं होती, यह कहना ही अयुक्त हैं; क्योंकि यदि ऐसा माना जावे तो आगम की आप्त–प्रणीतता की हानि का प्रसंग आता है, अर्थात् फिर आगम अनाप्त पुरुष के वचन–समान ठहरेगा। और जो आपका यह कहना है कि चक्षु आदि इन्द्रियों में गुणों की प्रतीति नहीं होती, सो आपका यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि नेत्रादिक में

---

१३. उत्पत्त्यवस्थायामिति शेषः। १४. भोः जैन, अप्रामाण्यं स्वत इति नाशङ्कनीयम्। यथा प्रमाणं प्रथममुत्पन्नं तथा सर्वेषु पदार्थेषु अप्रमाणमेव ज्ञानं जायते इति नेत्यर्थः। केवलं चक्षुराद्युत्पत्तौ प्रामाण्यं परत एवेति प्रतिपद्यते।

१. यदि शुक्तिकायां रजतज्ञानेऽपि विज्ञानकारणातिरिक्त–दोषाद्यपेक्ष्यस्तर्हि तन्निवृत्तिलक्षणे स्वग्रहणं कथमिति तन्निरूपयति। २. आत्मग्रहणमिति। ३. यदा शुक्तिकायां रजतज्ञानं भवति, तदा तन्निवृत्तिलक्षणे कार्ये न रजतम्; किन्तु शुक्तिकेयमिति ज्ञप्तिपक्षेऽप्रामाण्यं परत एवेति प्रदर्श्यते। ४. रजतात्। ५. जैनः प्राह। ६. नैर्मल्यादिगुण–। ७. यत्सदसद्भ्याम्। ८. मीमांसकः प्राह।

[१]गुणानामप्रतीतिरित्युच्यते, तदप्ययुक्तम्, नैर्मल्यादिगुणानामबलाबालादिभिरप्युपलब्धेः। अथ नैर्मल्यं स्वरूप-मेव[२], न गुणः, [३]तर्हि हेतोरविनाभाववैकल्यमपि स्वरूपविकलतैव, न दोष इति समानम्[४]। अथ तद्वैकल्यमेव दोषः तर्हि लिङ्गस्य[५] चक्षुरादेर्वा तत्स्वरूपसाकल्यमेव गुणाः कथं न भवेत्? [६]आप्तोक्तेऽपि शब्दे[७] मोहादिल[८]क्षणस्य दोषस्याभावमेव यथार्थज्ञानादि[९]लक्षणगुणसद्भावमभ्युपगच्छन्नन्यत्र[१०] तथा[११] नेच्छतीति कथमनुन्मत्तः[१२]? अथोक्त[१३]मेव-शब्दे[१४] गुणाः[१५] सन्तोऽपि[१६] न प्रामाण्योत्पत्तौ व्याप्रियन्ते, किन्तु दोषाभाव एवेति। सत्यमुक्तम्, किन्तु न युक्तमेतत्; प्रतिज्ञामात्रेण[१७] साध्यसिद्धेरयोगात्। न हि गुणेभ्यो दोषाणामभाव इत्यत्र[१८] किञ्चिन्निबन्धनमुत्पश्यामोऽन्यत्र महामोहात्[१९]। अथानुमानेऽपि त्रिरूपलिङ्गमात्रजनित-प्रामाण्योप-

---

निर्मलता आदि गुणों की उपलब्धि स्त्रियों और बालकों आदि को भी होती है। यदि आप कहें कि निर्मलता नेत्रादिक का स्वरूप ही है, गुण नहीं, तो हेतु के अविनाभाव की विकलता भी स्वरूप की विकलता ही है, दोष नहीं; यह भी समान है। सारांश यह कि इस प्रकार गुण का निषेध और दोष का निषेध दोनों समान कोटि में आते हैं। यदि कहा जाये कि स्वरूप की विकलता तो दोष है, तो फिर हेतु के और नेत्रादि के अपने स्वरूप की सकलता (सम्पन्नता) को ही गुण क्यों न माना जावे? इसी प्रकार आप्त के कहे आगम में भी मोह, राग, द्वेषादि लक्षण वाले दोष के अभाव को ही यथार्थ ज्ञान, वैराग्य, क्षमा आदि लक्षण वाले गुण के सद्भाव को स्वीकार करते हुए भी मीमांसक अन्यत्र निर्मलता आदि में गुण के सद्भाव को नहीं मानते हैं, अतः वे उन्मत्तता-रहित कैसे माने जायें ? अर्थात् उन्हें उन्मत्त ही कहना चाहिए।

और जो आपने कहा है कि आगम में पूर्वापर विरोध-रहितपना आदि गुण तो हैं, पर वे प्रमाणता की उत्पत्ति में व्यापार नहीं करते हैं, किन्तु दोष का अभाव ही प्रमाणता की उत्पत्ति में व्यापार करता है, सो आपका यह कथन यद्यपि सत्य है, किन्तु युक्ति-युक्त नहीं हैं; क्योंकि प्रतिज्ञा मात्र से अर्थात् केवल कह देने से ही साध्य की सिद्धि नहीं हो जाती है। 'गुणोंसे दोषों का अभाव होता है'। इस कथन में आपके महा मोह को छोड़कर हम अन्य कुछ भी कारण नहीं देखते हैं। यदि आप कहें कि अनुमान में भी त्रिरूप लिंगमात्र से उत्पन्न प्रमाणता की उपलब्धि ही दोष के अभाव में कारण है सो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है।

---

१. गुणानां प्रतीतिः सर्वथा नास्तीति वदति मीमांसकः। तस्मात् कुत्रचित्स्थले गुणाः सन्तीति दर्शयित्वाऽग्रे तन्मतं खण्डयति। २.गुण-गुणिनोरभेदात्। ३. अतो दोषोऽपि न भिन्नः। ४. यथा नैर्मल्यादिगुणाभावे स्वतः प्रामाण्यं जैनानां समायाति, तथा दोषाभावे स्वतोऽप्रामाण्यं मीमांसकानामपि स्वादित्यर्थः। ५. कारणस्य। ६. न केवलमपौरुषेये वेद इत्यादि शब्दार्थः। ७. आगमे। ८. आदिशब्देन रागद्वेषौ गृह्येते। ९. आदिशब्देन वैराग्यक्षमे गृह्येते। १०. प्रत्यक्षाद्युत्पत्तिसामग्रीविशेषे चक्षुरादिनैर्मल्यादौ। ११. गुणसद्भावम्। १२. काकुः। १३. तत एवाऽऽप्तोक्तत्वगुण-सद्भावेत्यादिग्रन्थेन पूर्वमुक्तमेवेति भावः। १४. आप्तोक्तगुणसद्भावेऽपि। १५ पूर्वापरविरोध-रहितत्वादयः। १६. अनुमानादपि गुणाः प्रतीयन्ते, न केवलं प्रत्यक्षादित्यपि शब्दार्थः। १७. वाङ्मात्रेण। १८. वचने। १९. महामोहं वर्जयित्वा।

लब्धिरेव तत्र[१] हेतुरिति[२] चेन्न, उक्तोत्तर[३] त्वात्। तत्र[४] हि त्रैरुप्यमेव गुणो[५] यथा तद्वैकल्यं दोष इति नासम्मतो[६] हेतुः। अपि चाप्रामाण्येऽप्येवं वक्तुं शक्यत एव। तत्र हि दोषेभ्यो गुणानामभावस्तदभावाच्च प्रामाण्या-सत्त्वेऽप्रामाण्यमौत्सर्गिकमास्त इत्यप्रामाण्यं स्वत[७] एवेति तस्य भिन्नकारणप्रभवत्ववर्णनमुन्मत्त भाषितमेव स्यात्। किञ्च[८] गुणेभ्यो दोषाणामभाव इत्यभिदधता[९] गुणेभ्यो गुणा एवेत्यभिहितं स्यात् [१०]भावान्तर-स्वभावत्वादभावस्य[११]। ततोऽप्रामाण्यासत्त्वं प्रामाण्यमेवेति नैतावता परपक्ष प्रतिक्षेपः[१२] अविरोधकत्वात्[१३]। तथा[१४] अनुमानतोऽपि[१५] गुणाः प्रतीयन्त[१६] एव। तथा हि–प्रामाण्यं विज्ञानकारणातिरिक्त–

हेतु में त्रिरूपता का होना ही गुण है, जैसे कि उसकी विकलता अर्थात् त्रिरूपता का न होना दोष है, इस प्रकार हेतु असम्मत नहीं है अर्थात् भले प्रकार से माना हुआ है। दूसरी बात यह है कि अप्रमाणता के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है कि दोषों से गुणों का अभाव होता है और उनके अभाव से प्रमाणता के अभाव में अप्रमाणता स्वभावतः सिद्ध होती है, इस प्रकार अप्रमाणता के स्वतः सिद्ध होने पर उसकी भिन्न कारणों से उत्पत्ति का वर्णन उन्मत्त-भाषिक ही सिद्ध होता है।

भावार्थ–मीमांसक ज्ञान में प्रमाणता तो स्वतः मानते हैं, किन्तु अप्रमाणता परतः मानते हैं। किन्तु ऊपर के कथनानुसार दोनों ही स्वतः सिद्ध होते हैं, अतः उनकी उक्त मान्यता खण्डित हो जाती है।

और एक बात यह भी है कि 'गुणों से दोषों का अभाव होता है' ऐसा मानने वाले मीमांसकों के द्वारा गुणों से गुण होते हैं, यही कहा गया है; क्योंकि अभाव भी भावान्तर स्वभाव वाला होता है, तुच्छाभावरूप नहीं। इसलिये अप्रामाण्य का अभाव ही प्रामाण्य है, सो इतने कहने मात्र से परपक्ष का निराकरण नहीं हो जाता है, क्योंकि यह कथन परपक्ष का विरोधी नहीं है। अतः अनुमान से भी गुण प्रतीत होते ही हैं। आचार्य स्वयं ही उसे कहते हैं–प्रामाण्य विज्ञान के कारणों से अतिरिक्त अन्य कारणों से उत्पन्न होता है, क्योंकि वह विज्ञान से भिन्न होकर कार्य है; जैसे कि अप्रामाण्य। तथा अन्य अनुमान प्रयोग करते हैं–प्रमाण और प्रामाण्य ये दोनों भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं; क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न कार्य हैं। जैसे घट और वस्त्र भिन्न-भिन्न कार्य

---

१. दोषाभावे। २. कारणम्। ३. तर्हि लिङ्गस्य चक्षुरादेर्वा तत्स्वरूपसाकल्यमेवगुण इत्यादिप्रकारेण। ४. हेतौ। २.अविनाभावित्वं गुणस्तद्वैकल्यमेव दोषः। ५. कथं न सम्मतो हेतुः, गुणयुक्तत्वात्। ६. गुणेभ्यो दोषाणामभाव इत्यादिप्रकारेण। ७. एवं च सति प्रामाण्य परत एव जायते, गुणेभ्यो दोषाणामभाव इत्यादिना। ८. प्रकारान्तरेण वदति। ९. त्वया मीमांसकेन। १०. भावान्तरस्वभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया, घटाभावस्य कपाल स्वभाववत्। ११. प्रध्वंसाभावस्य। १२. जैनपक्षनिराकरणम्। १३. अप्रतिषेधकत्वात्। १४. प्रत्यक्षप्रकारेणोक्तम्। १५. अनुमानतोऽपि गुणाः प्रतीयन्ते एव, न केवलं प्रत्यक्षादित्यपि शब्दार्थः। १६. प्रामाण्योत्पत्तौ गुणा व्याप्रियन्ते, अनुमानात् प्रतीतिविषयाः क्रियन्ते।

कारण[१]प्रभवम्, विज्ञानान्यत्वे सति[२] कार्यत्वादप्रामाण्यवत्[३]। तथा[४] प्रमाणप्रामाण्ये[५] भिन्नकारणजन्ये, भिन्नकार्यत्वात्; घटवस्त्रवदिति च ततः स्थितं प्रामाण्यमुत्पत्तौ [६]परापेक्षमिति। तथा[७] विषयपरिच्छित्तिलक्षणे वा [८]स्वकार्ये स्वग्रहणं[९] नापेक्षत इति नैकान्तः, क्वचिदभ्यस्तविषय[१०] एव परानपेक्षत्वव्यवस्थानात्[११]। अनभ्यस्ते तु जलमरीचिकासाधारणप्रदेशे जलज्ञानं [१२]परापेक्षमेव। सत्यमिदं जलम्, विशिष्टाकारधारित्वात्, घटचेटिकापेटक-दर्दुराराव-सरोजगन्धवत्त्वाच्च; परिदृष्टजलवदित्यनुमानज्ञानादर्थ[१३]-क्रियाज्ञानाच्च स्वतः [१४]सिद्धप्रामाण्यात्[१५] प्राचीनज्ञानस्य [१६]यथार्थत्वमा-[१७]कल्पमवकल्प्यत[१८] एव। यदप्यभिमतम्[१९]-'प्रामाण्यग्रहणोत्तर- कालमुत्पत्त्य-वस्थातः परिच्छित्तेर्विशेषो[२०] नावभासत इति'। तत्र[२१] यद्यभ्यस्तविषये

हैं, सो वे मिट्टी और सूत इन भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं। इसलिए यह स्थित (सिद्ध) हुआ कि प्रमाणता उत्पत्ति में पर की अपेक्षा रखती है अर्थात् परतः उत्पन्न होती है। तथा प्रमाण का कार्य जो अपने विषय को जानना और उनमें प्रवृत्ति करना है, उसमें भी वह अपने ग्रहण की अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा कोई एकान्त नहीं है; क्योंकि क्वचित् किसी अभ्यस्त (परिचित) प्रदेश में ही पर की अपेक्षा नहीं होती, ऐसी व्यवस्था है। किन्तु अनभ्यस्त (अपरिचित) ऐसे जल और मरीचिका वाले साधारण प्रदेश में जलज्ञान पर की अपेक्षा से ही उत्पन्न होता है। इसका अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है-इस स्थल पर हमें जो जलज्ञान हुआ है, वह सत्य है; क्योंकि वह विशिष्ट आकार का धारक है। तथा यहाँ पर घटचेटिकाओं (पानी भरने वाली स्त्रियों) का समूह है, मेंढकों का शब्द सुनाई दे रहा है, कमलों की सुगन्धि आ रही है, इन सब कारणों से सिद्ध है कि हमारा जलज्ञान सत्य है। जैसे कि प्रत्यक्ष देखे हुए जल का ज्ञान सत्य होता है। इस प्रकार के स्वतः सिद्ध प्रमाणता वाले अनुमान ज्ञान से और जल की स्नान-पानादिरूप अर्थ-क्रिया के ज्ञान से पूर्वमें उत्पन्न हुए जलज्ञान की सत्यतारूप यथार्थता कल्पकाल पर्यन्त निश्चित होती है।

और आपने जो यह कहा था कि प्रमाणता के ग्रहण करने के उत्तर काल में उत्पत्ति-अवस्था में लेकर परिच्छित्ति का विशेष प्रतिभासित नहीं होता; सो यदि अभ्यस्त विषय में नहीं प्रतिभासित होता, ऐसा आप कहते हैं, तो यह हम भी मानते हैं; क्योंकि वहाँ पर प्रथम ही निःसन्देह रूप से विषय की परिच्छित्ति-विशेषता स्वीकार की गई है। अनभ्यस्त विषय में तो प्रमाणता ग्रहण करने

---

१. विशदादिगुणाख्यं वा। २. कार्यत्वादित्युक्ते विज्ञानेन व्यभिचारः, यतस्तत्कार्यम्ः, परन्तु तत्र साध्यत्वं नास्ति। ततो हेतोः साध्यविरुद्धव्याप्तत्वाद् व्यभिचारित्वम्, अतो विज्ञानान्यत्वे सतीत्युक्तम्। एवं सति नित्यत्वादात्मना व्यभिचारो यतोऽसौ विज्ञानादन्यो भवति; कारणप्रभवो न भवति, तस्य नित्यत्वात्। ततः सर्वं साधनविधानम्। ३. भेदे प्रामाण्याप्रामाण्यसाधारणो प्रतीतिः। ४. अनुमानान्तरम्। ५. चक्षुरादिधर्मिणि। ६. अनुमानापेक्षम्। ७. गुणापेक्षम् यथोत्पत्तौ प्रमाणस्य परानपेक्षत्वं न घटते। ८.प्रमाणकार्ये। ९.प्रमाणग्रहणम्। १०. प्रदेशे। ११. समर्थनात्। १२. अनुमानादि। १३. स्नानपानादि। १४. प्रत्यक्षानुमान-लक्षणज्ञानात्। १५. पूर्वजलज्ञानस्य। १६. परमार्थत्वम्। अनुमान-सापेक्षं प्रामाण्यम्। १७. कल्पपर्यन्तम्। १८. निश्चीयते। १९. त्वया मीमांसकेन। २०. अनुमानसापेक्षं परिच्छित्तिविशेषः।२१. विकल्पद्वयं कृत्वोच्यते।

नावभासत इत्युच्यते, तदा तदिष्यत[१] एव। तत्र प्रथममेव निःसंशयं विषयपरिच्छित्तिविशेषाभ्युपगमात्। अनभ्यस्तविषये तु [२]तद्ग्रहणोत्तरकाल[३]मस्त्येव विषयावधारणस्वभावपरिच्छित्तिविशेषः[४], पूर्वं[५], प्रमाणाप्रमाणसाधारण्या[६] एव परिच्छित्तेरुत्पत्तेः। ननु[७] प्रामाण्य-परिच्छित्त्योरभेदात्कथं पौर्वापर्यमिति? नैवम्, न हि सर्वाऽपि परिच्छित्तिः प्रामाण्यात्मिका; प्रामाण्यं तु परिच्छित्त्यात्मकमेवेति न दोषः[८]। यदप्युक्तम्- 'बाधककारण[९]-दोषाज्ञानाभ्यां [१०]प्रामाण्यमपोद्यत[११] इति' तदपि फल्गु-भाषितमेव; अप्रामाण्येऽपि तथा वक्तुं शक्यत्वात्। तथा हि-प्रथम[१२]-मप्रमाणमेव ज्ञानमुत्पद्यते, पश्चादबाधबोध[१३]गुण[१४]ज्ञानोत्तरकालं तदपोद्यत[१५] इति। तस्मात्प्रामाण्यम-प्रामाण्यं वा [१६]स्वकार्ये क्व चिदभ्यासानभ्यासापेक्षया स्वतः परतश्चेति निर्णेतव्यमिति[१७]।

के उत्तर काल में विषय के निश्चय करने रूप स्वभाव वाली परिच्छित्ति की विशेषता प्रतिभासित होती ही है; क्योंकि अनभ्यस्त विषय में पहले प्रमाण और अप्रमाण में समानरूप से रहने वाली ही परिच्छिति उत्पन्न होती है।

शंका—प्रमाणता और परिच्छित्ति में कोई भेद नहीं है, अतः उनमें पौर्वापर्य (आगे-पीछे होना) कैसे सम्भव है?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि सभी परिच्छित्तियाँ प्रामाण्यात्मक ही नहीं होती, किन्तु प्रामाण्य परिच्छित्त्यात्मक ही होता है। इसलिए कोई दोष नहीं है।

भावार्थ—प्रमाण की प्रमाणता तो सदा ही वस्तु को यथार्थ जानने वाली होती है, किन्तु वस्तु के जानने वाली सभी क्रियाएँ प्रमाणता वाली नहीं होतीं, इनमें से कितनी ही उत्तरकाल में अप्रामाणिक सिद्ध होती हैं। अतः प्रमाणता और परिच्छित्ति में अन्तर है, इसीलिए उनमें पूर्वापरता बन जाती है। और जो आपने कहा है कि बाधक कारण और दोष-ज्ञान से प्रमाणता निराकरण कर दी जाती है। सो आप का यह कथन भी निःसार है; क्योंकि अप्रामाण्य के विषय में भी हम ऐसा ही कह सकते हैं-कि सर्वप्रथम अप्रमाण ज्ञान ही उत्पन्न होता है, पश्चात् बाधा-रहित ज्ञान और गुण का ज्ञान उत्पन्न होता है। पुनः उसके उत्तरकाल में उस अप्रमाणरूप ज्ञान का निराकरण होता है

---

१. मयापि तदिष्यते यदतीतानागत वर्तमानेषु त्रिषु कालेषु दूषणं नास्तीत्यर्थः। २. प्रमाणग्रहण-। ३. सप्तम्यर्थेऽकर्मकधातु भिरित्यादिना द्वितीया। ४. नियमेन सत्यमेव जलमित्यादिपरिच्छित्तिविशेषः। ५. अनभ्यस्तविषय एव। ६. तावदुभयत्र समानायाः। ७. मीमांसकः प्राह। ८. इति न विरोधः। ९. ज्ञानावरणादि बाधकम्, काचकामलादि दोषः। बाधकं च कारणदोषज्ञानं च ताभ्याम्। १०. परिच्छित्त्यात्मकम्। ११. निराक्रियते। १२. शुक्तिकायां रजतज्ञानम्। १३. परिच्छित्तिः। १४. वस्तुयाथात्म्यज्ञानम्। १५. निराक्रियते। अन्धकूपवत्, यथाऽन्धकूपे जलं नास्तीति निश्चितं वर्तते, तदा कश्चिदागत्य प्रतिपादयति यदन्धकूपे जलमस्तीति। तदैव स्वत एवेत्यप्रामाण्यमवधार्यतेऽनभ्यस्तत्वात्। अनभ्यस्तदशायामप्रामाण्यं परत एव। १६. अर्थपरिच्छित्तिलक्षणे। १७. स्वतो बुद्धोऽन्यतो यौगो ज्ञप्त्युत्पत्त्योर्द्वयं स्वतः प्रामाण्यं परतोऽन्यच्च जैमिनिः कपिलोऽन्यथा।

देवस्य सम्मतमपास्तसमस्तदोषं
वीक्ष्य प्रपञ्चरुचिरं रचितं समस्य।
माणिक्यनन्दिविभुना शिशुबोधहेतो-
र्मानस्वरूपममुना[१] स्फुटमभ्यधायि॥६॥

इति परीक्षामुखलघुवृत्तौ प्रमाणस्य स्वरूपोद्देशः॥१॥

इसलिये यह निश्चित हुआ कि प्रमाणता और अप्रमाणता अर्थ की परिच्छित्तिरूप स्वकार्य में क्वचित् अभ्यासदशा की अपेक्षा स्वतः उत्पन्न होती है और क्वचित् अनभ्यासदशा की अपेक्षा परतः उत्पन्न होती है। अतः यही निर्णय करना चाहिए।

उपसंहार—बौद्ध लोग प्रमाण की प्रमाणता स्वतः मानते हैं, नैयायिक प्रमाण की प्रमाणता परतः ही मानते हैं। मीमांसक उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों ही अवस्थाओं में प्रमाणता स्वतः और अप्रमाणता परतः मानते हैं। सांख्य प्रमाणता तो परतः मानते हैं किन्तु अप्रमाणता स्वतः मानते हैं। विभिन्न मतावलम्बियों के उक्त कथनों का आचार्य ने भली प्रकार निराकरण और दोषापादन करते हुए अन्त में सूत्रोक्त बात को सप्रमाण सिद्ध किया है कि परिचित अवस्था में प्रमाण की प्रमाणता स्वतः और अपरिचित दशा में परतः होती है। यही बात अप्रमाणता के विषय में भी जानना चाहिए।

अकलंकदेव के द्वारा सम्मत, समस्त दोषों से रहित, विस्तृत और सुन्दर प्रमाण के स्वरूप को माणिक्यनन्दी स्वामी ने देख करके अर्थात् स्वयं जान करके शिशुजनों के बोध के लिए उसे परीक्षामुख नामक ग्रन्थ में संक्षेप से रचा अर्थात् कहा। उसी को इस अनन्तवीर्य ने स्पष्ट रूप से यहाँ पर कहा है॥६॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में प्रमाण के स्वरूप का वर्णन करने वाला प्रथम समुद्देश समाप्त हुआ।

---

१. अदस्तु विप्रकृष्टं दूरतरं तेन, अनन्तवीर्येण मया।

द्वितीयः समुद्देशः

अथ प्रमाणस्वरूपविप्रतिपत्तिं निरस्येदानीं सङ्ख्याविप्रतिपत्तिं प्रतिक्षिपन्[१] सकलप्रमाणभेदसन्दर्भसंग्रह परं[२] प्रमाणेयत्ता[३] प्रतिपादकं वाक्य[४]माह–

[५]तद् द्वेधा॥१॥

तच्छब्देन प्रमाणं परामृश्यते। तत्प्रमाणं स्वरूपेणावगतं द्वेधा द्विप्रकारमेव[६], सकलप्रमाणभेदाना[७] मत्रै[८]वान्तर्भावात्[९]।

तद्द्वित्वमध्यक्षानुमानप्रकारेणापि सम्भवतीति तदाशङ्कानिराकरणार्थं सकलप्रमाणभेदसङ्ग्रहशालिनीं सङ्ख्यां प्रव्यक्तीकरोति–

[१०]प्रत्यक्षेतर[११]भेदात्॥२॥

प्रत्यक्षं वक्ष्यमाणलक्षणम्, इतरत्परोक्षम् ताभ्यां भेदात् प्रमाणस्येति शेषः। न हि [१२]परपरिकल्पितैक

उक्त प्रकारसे प्रमाण की स्वरूप विप्रतिपत्ति का निराकरण करके अब इस समय आचार्य प्रमाण की संख्या विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए प्रमाण के समस्त भेदों के सन्दर्भ का संग्रह करने वाले और प्रमाण की संख्या का प्रतिपादन करने वाले सूत्र को कहते हैं–

सूत्रार्थ–वह प्रमाण दो प्रकार का है ॥१॥

यहाँ पर 'तद्' शब्द से प्रमाण का परामर्श किया गया है। जिसका स्वरूप जान लिया है, ऐसा वह प्रमाण दो प्रकार का ही है; क्योंकि प्रमाण के समस्त भेदों का इन दो ही भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रमाण के ये दो भेद प्रत्यक्ष और अनुमान प्रकार से भी सम्भव हैं, इस प्रकार बौद्धों की आशंका का निराकरण करने के लिये प्रमाण के समस्त भेदों का संग्रह करने वाली संख्या को आचार्य उत्तरसूत्र के द्वारा व्यक्त करते हैं–

सूत्रार्थ–प्रत्यक्ष और इतर अर्थात् परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है ॥२॥

प्रत्यक्ष का लक्षण आगे कहा जा रहा है, उससे भिन्न ज्ञान परोक्ष है। उनके भेद से प्रमाण के

---

१. निराकुर्वन्। २.रचनासंक्षेपाचरणपरम्। ३. संख्या। ४. परस्परापेक्षाणांपदानां निरपेक्षसमुदायो वाक्यम्। ५. तच्छब्देन व्याप्तिप्रत्यासत्त्योः प्रत्यासत्तिर्गरीयसी न्यायमाश्रित्य प्रामाण्यं न परिगृह्यते, अपि तु गौणमुख्योर्मुख्ये कार्यः सम्प्रत्ययः, इति प्रमाणमेव परामृश्यते। यतः प्रमाणस्य मुख्यत्वं प्रकृतप्रमेयत्वात्; प्रामाण्यस्य गौणत्वमानुषङ्गिक–प्रमेयत्वादिति। ६. सकलं निर्धारणमेवेति न्यायादेवकारः। ७. अनुमानादीनाम्। ८. द्वित्वसंख्यायाम्। ९. व्यक्तिभेदे लक्षणैकत्वमन्तर्भावः। १०. अक्षमात्मानं प्रत्याऽऽश्रितं प्रत्यक्षमिति मुख्यप्रत्यक्षम्। अक्षमक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षं सांव्यवहारिक–प्रत्यक्षम्। ११. अक्ष्णोति व्याप्नोति तान् तान् गुणपर्यायानित्यक्ष आत्मा, तस्मात् परावृत्तं परोक्षम्। अथवा परैरिन्द्रियादिभिरुक्ष्यते सिंच्यतेऽभिवर्द्धत इति परोक्षम्। १२. चार्वाक –सौगत– सांख्य–नैयायिक–वैशेषिक–प्राभाकर–भाट्टा।

[१]द्वित्रिचतुःपञ्चषट्प्रमाणसङ्ख्यानियमे निखिलप्रमाणभेदाना[२]मन्तर्भाव-विभावना शक्या कर्तुम्। तथा हि-प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनश्चार्वाकस्य नाध्यक्षे लैङ्गिक[३]-स्यान्तर्भावो युक्तः, तस्य[४] तद्विलक्षणत्वात्[५], सामग्री-स्वरूपभेदात्[६]।

अथ[७] नाप्रत्यक्षं प्रमाणमस्ति[८], विसंवादसम्भवात्[९]। निश्चिताविनाभावाल्लिङ्गा-[१०] ल्लिङ्गिनि[११] ज्ञानमनुमानमित्यानुमानिकशासनम्, तत्र[१२] च[१३] स्वभावलिङ्गस्य[१४] बहुल[१५] मन्यथापि भावो[१६] दृश्यते। [१७]तथाहि-कषायरसोपेतानामामलकानामेतद्देशकालसम्बन्धिनां दर्शनेऽपि देशान्तरे कालान्तरे [१८]द्रव्यान्तरसम्बन्धे चान्यथापि[१९] दर्शनात्स्वभावहेतुर्व्यभिचार्येव[२०], लता[२१] चूतवल्लताशिंशपादि[२२]सम्भावनाच्च। तथा[२३]

दो भेद होते हैं। अन्य मतावलम्बियों के द्वारा परिकल्पित एक, दो, तीन, चार, पाँच और छह प्रकार की प्रमाण-संख्या के नियम में प्रमाण के समस्त भेदों का अन्तर्भाव करना शक्य नहीं है। आगे इसी को स्पष्ट करते हैं-एकमात्र प्रत्यक्षप्रमाणवादी चार्वाक के प्रत्यक्ष में अनुमान का अन्तर्भाव करना सम्भव नहीं है; क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष-प्रमाण से विलक्षण है, दोनों की सामग्री और स्वरूप में भेद है। अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान की सामग्री इन्द्रियाँ हैं और विशदता (निर्मलता) उसका स्वरूप है। अनुमान की सामग्री लिंग (साधन-हेतु) है और अविशदता उसका स्वरूप है।

यहाँ चार्वाक कहता है कि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि उनके मानने में विसंवाद सम्भव है। देखो-अनुमान को प्रमाण मानने वालों का कहना है कि निश्चित अविनाभावी लिंग से अर्थात् साध्य के बिना जिसका न होना निश्चित है, ऐसे साधन (हेतु) से लिंगी जो साध्य का ज्ञान होता है, वह अनुमान कहलाता है। ऐसा अनुमानवादियों का कथन है। हेतु (लिंग) तीन प्रकार का है- स्वभावलिंग, कार्यलिंग और अनुपलब्धिलिंग। इनमें से स्वभावलिंग के प्रायः अन्यथाभाव अर्थात् साध्य के बिना भी सद्भाव पाया जाता है। आगे इसे ही स्पष्ट करते हैं-इस देश और काल-सम्बन्धी आंवलों के कसैले रस से युक्त दिखाई देने पर भी देशान्तर में और कालान्तर में अन्य द्रव्य के सम्बन्ध मिलने पर अन्यथा भी स्वभाव देखा जाता है अर्थात् दुग्धादि के द्वारा सींचे जाने पर किसी देश में और किसी काल में आंवलों का मधुररसरूप परिणमन पाया जाता है, अतः स्वभाव हेतु व्यभिचारी है। इसी प्रकार किसी देश में आम्रवृक्षरूप

---

१. जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः। सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वेवैशेषिक बौद्धयोः॥१॥ २. स्मृत्यादीनाम्। ३. लिङ्गाज्जातस्यानुमानस्य। ४. अनुमानस्य। ५. प्रत्यक्षज्ञानविलक्षणत्वात्। ६.उत्पादकारणं प्रत्यक्षस्य इन्द्रियं सामग्री, वैशद्यं स्वरूपम्। अनुमानस्य लिङ्गं सामग्री, अवैशद्यञ्च स्वरूपम्। ७. चार्वाकः प्राह। ८. इत्यत्र चार्वाकेन साध्यसाधनभावः स्वीकृतोऽनुमानेन, तथापि नाङ्गीकरोति। ९. व्यभिचारसम्भवात्, अर्थक्रियाकारित्वा-सम्भवादित्यर्थः। १०. स्वभावलिङ्ग-कार्यलिङ्गानुपलब्धिलिङ्गभेदात्रिधा भिद्यते सौगतमते लिङ्गम्। ११. साध्ये। १२. त्रिषु लिङ्गेषु। १३. स्वभावलिङ्गकार्यत्वादिहेतोर्व्यभिचारित्वं दर्शयति। १४. सौगताभिमतस्य। १५. साध्यं विनापि। १६. सद्भावः। १७. स्वभावहेतोर्व्यभिचारित्वं दर्शयति। १८. दुग्धादिद्रव्यसेचने। १९. मधुररसोपेतत्त्वेनापि। २०. इदं फलं कषायरसोपेतम्,

कार्यलिङ्गमपि [1]गोपालघटिकादौ धूमस्य श[2]क्रमूर्ध्नि चान्यथापि[3] भावात्पावकव्यभिचार्येव। ततः[4] प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमत्यैवाविसंवादकत्वा[5] दिति।

तदेतद् बालविलसितमिवाभाति; उपपत्तिशून्यत्वात्। तथाहि–किमप्रत्यक्ष–स्योत्पादककारणा–भावादालम्ब[6]नाभावाद्वा प्रामाण्यं निषिध्यते? तत्र[7] न तावत्प्राक्तनः पक्षः; तदुत्पादकस्य सुनिश्चितान्यथानु–पत्ति[8]–नियतनिश्चयलक्षणस्य साधनस्य सद्भावात्। नो खल्वप्युदीचीनः[9] पक्षः, तदालम्बनस्य[10] पावकादेः

है, तो किसी देश में आम्र लता के आकार में पाया जाता है। कहीं शीशम वृक्षरूप है, तो कहीं लता के रूप में होने की सम्भावना है। इसलिए स्वभावहेतु के व्यभिचारी होने से उसके द्वारा होने वाला साध्य का ज्ञान रूप अनुमान भी व्यभिचारी सिद्ध होता है। तथा कार्यलिंग भी व्यभिचारी ही है। यदि धूम को अग्नि का कार्य मानकर उससे अग्नि का अनुमान करते हैं, तो इन्द्रजालिया के घट आदि में तथा बाँबी में धूम अग्नि के बिना भी निकलता हुआ देखा जाता है। अतः कार्यहेतु के व्यभिचारी होने से उसके द्वारा होने वाले साध्य का ज्ञान भी यथार्थ नहीं हो सकता है। (अनुपलब्धिरूप लिंग तो अभाव को ही सिद्ध करता है अतः उससे प्रकृत में किसी इष्ट को सिद्धि नहीं होती।) इसलिए एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानना ठीक है; क्योंकि उसके ही अविसंवादीपना पाया जाता है।

चार्वाक का यह कथन बाल–विलास के समान प्रतिभासित होता है, क्योंकि उनका कथन युक्ति–शून्य है। आगे उसी को स्पष्ट करते हैं-आचार्य उनसे पूछते हैं कि आप लोग अप्रत्यक्ष अर्थात् परोक्षरूप अनुमानज्ञान की प्रमाणता का निषेध उत्पादक कारणों के अभाव से करते हैं, अथवा विषयरूप आलम्बन के अभाव से करते हैं? इन में से प्रथम पक्ष तो माना नहीं जा सकता; क्योंकि जिसकी अन्यथानुपत्ति सुनिश्चित है, ऐसे लक्षण वाले अनुमान के उत्पादक साधन का सद्भाव पाया जाता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि; अनुमान के विषयरूप आलम्बन अग्नि आदिक सभी विचार–चतुर लोगों के चित्त में सदा प्रतीत होते हैं और जो आपने स्वभाव

आमलकफलत्वात्, परिदृष्टामलकफलवत्। इत्यत्र मधुररसोपेतामलकफलेन व्यभिचारः–देशान्तर्वर्तीनि आमलकफलानि कषायरसोपेतानि, आमलकफलत्वात्, परिदृष्टामलकीफलवत्। २१.वृक्षोऽयं चूतत्वादित्यत्र चूतो धर्मी, वृक्षो भवतीति साध्यं धर्मः, चूतत्वादिति हेतुः।'यो यश्चूतः स वृक्षः' इति नियमो न, यतोऽत्र लताचूतेन व्यभिचारः; लताकाराम्रवत्। २२. वृक्षोऽयं शिंशपात्वादित्यत्र देशान्तरसम्भवशिंशपालतया व्यभिचारः, यतो देशान्तरेऽपि लताशिंशपा भवति। तथा वेत्रबीजं दग्धं कदलीकाण्डं जनयति; न तु पणसबीजम्। अतः स्वभावहेतुर्व्यभिचारी। २३. कार्यहेतोर्व्यभिचारित्वं दर्शयति।

१. इन्द्रजालघटिकादौ। २. वल्मीकशिरसि। ३. अग्निं विनापि। ४. स्वभावकार्यहेत्वोरविनाभावित्वा–भावात्तदुद्भूतानुमानस्य प्रमाणत्वं न घटते यतः। ५. प्रत्यक्षं धर्मि प्रमाणं भवतीति साध्यो धर्मः, अविसंवादकत्वात् , अगौणत्वाच्चेति हेतुः। ६. विषयाभावात्। ७. उत्पादककारणत्वालम्बनयोर्मध्ये। ८. साध्यमन्त रेण साधनानुपपत्तिः। ९. द्वितीयः। १०. अप्रत्यक्षस्यानुमाना–लम्बनस्य।

सकरविचारचतुरचेतसि सर्वदा प्रतीयमानत्वात्। यदपि स्वभावहेतोर्व्यभिचारसम्भावनमुक्तम्, तदप्यनुचितमेव; स्वभावमात्रस्याहेतुत्वात्। व्याप्त[१]रूपस्यैव स्वभावस्य व्यापकम्प्रति[२] गमकत्वाभ्युपगमात्। न च व्याप्यस्य व्यापकव्यभिचारित्वम्; व्याप्यत्वविरोधप्रसङ्गात्।

किञ्चैवंवादिनो[३] नाध्यक्षं प्रमाण व्यवतिष्ठते; [४]तत्राप्यसंवादस्यागौणत्वस्य[५] च[६] स्वभावहेतोः प्रामाण्याविनाभावित्वेन निश्चेतुमशक्यत्वात्। यच्च कार्यहेतोरप्यन्यथापि[७] सम्भावनम्; तदप्यशिक्षितलक्षितम्; सुविवेचितस्य[८] कार्यस्य कारणाव्यभिचारित्वात्। यादृशो हि धूमो ज्वलनकार्ये भूधरनितम्बादावतिबहल-धवलतया प्रसर्पन्नुपलभ्यते, न तादृशो [९]गोपालघटिकादाविति। यदप्युक्तम्–'शक्रमूर्ध्नि[१०] धूमस्यान्यथापि भाव' इति तत्र किमयं शक्रमूर्द्धा अग्निस्वभावोऽन्यथा[११] वा? यद्यग्निस्वभावस्तदाऽग्निरेवेति कथं तदुद्‌भूत[१२] धूमस्यान्यथाभावः[१३] शक्यते कल्पयितुम्। अथानग्निस्वभाव[१४]स्तदा तदुद्भवो[१५] धूम एव न भवतीति कथं

हेतु के व्यभिचार की संभावना कही, सो वह भी अनुचित ही है, क्योंकि केवल स्वभाव को हेतुपना नहीं स्वीकार किया गया है, किन्तु व्याप्यरूप स्वभाव को ही व्यापक के प्रति गमक माना गया है अतः व्याप्य के व्यापक से व्याभिचारपना भी नहीं है; जो व्यभिचार हो तो वह व्याप्त ही न कहा जा सकेगा।

और विशेष बात यह है कि अनुमान को प्रमाण नहीं मानने वाले तथा स्वभाव हेतु को व्यभिचारी कहने वाले चार्वाक के मत में प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं ठहरता है;क्योंकि, प्रत्यक्ष में अविसंवादकता और अगौणता अर्थात् मुख्यता ये दोनों ही बातें अनुमान के माने बिना निश्चित् नहीं की जा सकतीं और इन दोनों का प्रमाणता के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है। और जो आपने कार्य हेतु के अन्यथा अर्थात् अग्नि के बिना भी होने की सम्भावना व्यक्त की है, सो आपका यह कथन भी अशिक्षित-जैसा प्रतीत होता है, क्योंकि सुनिश्चित कार्य का कारण के साथ व्यभिचार नहीं पाया जाता। जैसा अग्नि का कार्यरूप धूम पर्वत के तटभाग आदि में अति सघन और धवल आकाररूप से फैलता हुआ देखा जाता है, वैसा धूम इन्द्रजालिया के घट आदि में नहीं पाया जाता। और जो आपने कहा कि बाँबी में धूम का अन्यथा भी सद्‌भाव देखा जाता है। सो इस विषय में हम आपसे पूछते हैं कि यह बाँबी अग्निस्वभाव है या अनग्निस्वभाव ? यदि वह अग्निस्वभाव है, तो वह फिर अग्नि ही है, अतः उससे उत्पन्न हुए धूम के अन्यथाभाव की कल्पना कैसे की जा सकती है। और यदि वह बॉबी अग्निस्वभाव नहीं है, तब उससे निकलने वाला पदार्थ धूम ही

१.शिंशपात्वस्य। २. वृक्षत्वं प्रति। ३. अनुमानाप्रामाण्यवादिनस्तव स्वभावहेतुर्व्यभिचारीति वादिनः। ४. प्रत्यक्षेऽपि। ५. प्रत्यक्षं धर्मि, प्रमाणं भवतीति साध्यो धर्मः, अविसंवादकत्वादगौणत्वाच्चेत्यनुमानेन। ६. प्रत्यक्षप्रामाण्येऽप्रवर्तमान-प्रत्यक्षेण निश्चेतुमशक्यस्य। ७. अग्निं विनापि। ८. सुनिश्चितस्य। ९. इन्द्रजालघटिकादौ। १०. वल्मीके। ११. अनग्निस्वभावः। १२. अग्निस्वभाव वामलूरोत्पन्नधूमस्य। १३. अग्निव्यभिचारित्वम्। १४.शक्रमूर्द्धा। १५. वामलूरोत्पन्नः।

तत्र तस्य[१] तद्व्यभिचारित्व[२]मिति। तथा चोक्तम्–

अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्द्धा चेदग्निरेव सः।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत्॥१॥ इति।

किञ्च–प्रत्यक्षं प्रमाणमिति कथमयं[३] परं[४] प्रतिपादयेत् ? परस्य[५] प्रत्यक्षेण[६] ग्रहीतुमशक्यत्वात्। [७]व्यावहारादिकार्यप्रदर्शनात्तं[८] प्रति[९] पद्येतेति चेदायातं तर्हि कार्यात्कारणानुमानम्। अथ लोकव्यवहारापेक्षयेष्यत एवानुमानमपि, परलोकादावेवानभ्युपगमात्तदभावादिति कथं तदभावोऽनुपलब्धेरिति चेत् तदाऽनुपलब्धिलिङ्ग-जनितमनुमानमपरमापतितमिति। प्रत्यक्षप्रामाण्यमपि स्वभावहेतुजातानुमितिमन्तरेण नोपपत्तिमिय[१०]र्तीति प्रागेवोक्तमित्युपरम्यते[११]। यदप्युक्तं[१२] धर्मकीर्तिना–

नहीं है, तो फिर उसका अग्नि के साथ व्यभिचारपना कैसे सम्भव है। जैसा कि कहा है–

यदि शक्रमूर्धा (बाँबी) अग्निस्वभाव है, तो वह अग्नि ही है और यदि वह अग्निस्वभाव नहीं है, तो उससे निकलने वाला वाष्प धूम कैसे हो सकता है? ॥१॥

दूसरी बात यह है कि एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानने वाला यह चार्वाक शिष्यादि पर पुरुष को प्रत्यक्ष प्रमाण कैसे प्रतिपादन करेगा? क्योंकि परपुरुषका आत्मा प्रत्यक्षसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है। प्रत्यक्ष से तो परपुरुष का शरीर ही ग्रहण किया जाता है। यदि कहा जाये कि वचन चातुर्यादि कार्य के देखने से पर की बुद्धि आदि को जान लेगा, तब तो कार्य से कारण का अनुमान ही आ गया फिर अनुमान का निषेध कैसे करते हो। यदि कहा जाये कि लोक-व्यवहार की अपेक्षा हम अनुमान को मानते ही हैं, केवल परलोक आदि के सद्भाव के विषय में ही उसे नहीं मानते हैं, क्योंकि परलोकादि का अभाव है, तब हम पूछते हैं आप परलोकादि का अभाव कैसे कहते हो ? यदि आप कहें कि परलोकादि की उपलब्धि नहीं अर्थात् दिखाई नहीं देते, इसलिए उनका अभाव मानते हैं, तब तो अनुपलब्धिलिंग-जनित एक और तीसरा अनुमान आ गया, फिर अनुमान का निषेध कहाँ रहा? तथा प्रत्यक्ष की प्रमाणता भी स्वभावहेतु-जनित अनुमान के बिना युक्ति-संगतिता को प्राप्त नहीं होती, यह बात पहले ही कहा जा चुकी है इसलिए अब इस विषय में अधिक कथन से विराम लेते हैं। अनुमान का उपर्युक्त समर्थन बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति ने भी किया है–

---

१. धूमस्य। २.अग्निव्यभिचारित्वम्। ३. चार्वाकः। ४. शिष्यम् (शिष्यात्मानम्)। ५. चिद्रूपस्य, परोरिपरमात्मनो रिति परमात्मन इत्यर्थः। ६. प्रत्यक्षेणशरीरस्यैव ग्रहणात्। आत्मनः शरीरादभिन्नत्वाच्छरीरेण ज्ञानस्वरूपात्मनोऽपि ग्रहणमिति चेन्न; शरीरप्रत्यक्षेऽपि बुद्धिविकल्पे संशयात्। तत्कथमित्युक्ते उच्यते–परं पश्यतः पुरुषस्य शरीरमात्रं दृष्ट्वा पण्डितोऽयं मूर्खो वा साधुर्वेति निश्चयो न भवति। अन्यथा परीक्षामन्तरेणापि तस्य सन्मानावमानयोः प्रसङ्गात्। ७. वचनचातुर्यादि। ८. परबुद्ध्यादिकम्। ९. उपलभ्येत। १०. प्राप्नोति। ११. तूष्णींस्थीयते। १२. प्रमाणविनिश्चये (?)।

प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो[१] गतेः[२]
[३]प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च [४]कस्यचित्॥२॥ इति[५]।

प्रमाणसामान्य और अप्रमाणसामान्य की स्थिति होने से, शिष्यादि की बुद्धि के ज्ञान से और परलोकादि के प्रतिषेध से प्रमाणान्तर अर्थात् अन्य प्रमाणरूप अनुमान का सद्भाव सिद्ध होता है ॥२॥

विशेषार्थ—कारिका का खुलासा यह है कि अनुमान प्रमाण के माने बिना न तो प्रमाणसामान्य ही सिद्ध हो सकता है और न किसी भी सामान्य ज्ञान को अप्रमाण ही कह सकते हैं। इसका कारण यह है कि किसी भी ज्ञानसामान्य को प्रमाण सिद्ध करने के लिए उसका अविसंवादी होना आवश्यक है। क्योंकि ज्ञान का अविसंवादी होना उसका स्वभाव है। ऐसी स्थिति में अनुमान इस प्रकार होगा- 'अमुक ज्ञानसामान्य प्रमाण है, क्योंकि वह अविसंवादी है। इस प्रकार अविसंवादी हेतु के बिना प्रमाणसामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार किसी भी ज्ञान को अप्रमाण सिद्ध करने के लिए उसका विसंवादी होना भी आवश्यक है क्योंकि मिथ्याज्ञान का विसंवादके साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में अनुमान इस प्रकार होगा–''अमुक ज्ञान अप्रमाण है, क्योंकि वह विसंवादी है। अतः यह निष्कर्ष निकला कि प्रमाणसामान्य और अप्रमाणसामान्य की सिद्धि के लिये अनुमान प्रमाण का मानना आवश्यक है; क्योंकि लोक में प्रमाणसामान्य और अप्रमाणसामान्य की स्थिति है यह कारिका के प्रथम वाक्य का अर्थ है। दूसरी बात यह है कि ''प्रत्यक्षज्ञान ही एक प्रमाण है, अन्य कोई ज्ञान प्रमाण नहीं''; यह बात चार्वाक दूसरे को कैसे समझायेगा, क्योंकि परपुरुष की आत्मा या उसकी बुद्धि तो प्रत्यक्ष से दिखाई नहीं देती। यदि चार्वाक कहे कि वचन-चातुर्य आदि के देखने से हम अन्य की बुद्धि को जान लेंगे तब तो यह कार्य से कारण का अनुमान हुआ; क्योंकि वचन-चातुर्यादि बुद्धि के कार्य हैं। इस प्रकार शिष्यादि परपुरुष की बुद्धि को जानने से भी अनुमान प्रमाण का सद्भाव सिद्ध होता है। यही कारिका के दूसरे वाक्य का अर्थ है। तीसरी बात यह है कि चार्वाक परलोक, पुण्य-पाप आदि कुछ नहीं मानता। उसे अपनी बात को सिद्ध करने के लिए कम से कम इतना तो कहना ही पड़ेगा कि 'परलोकादि नहीं हैं, क्योंकि वे दिखलाई नहीं देते।' इस प्रकार परलोकादि का प्रतिषेध करने के

---

१. शिष्यस्य। २. कार्यहेतोर्व्याहारादेः ज्ञानात्। ३. अनुमानज्ञानान्तरस्य सद्भावः। ४. अनुपलब्धिहेतुतः परलोकादेः। ५. अविसंवादित्व-विसंवादित्वस्वभावलिङ्गद्वयं विना प्रमाणसामान्याप्रमाण-सामान्यद्वयं न व्यवतिष्ठते। तथा व्याहारादि-कार्यलिङ्गमन्तरेणान्यधियो गतिः परबुद्धिनिश्चयो न सम्भवति। तथाऽनुपलब्धिलिङ्गमन्तरेण परलोकादेः प्रतिषेधो न घटत इत्यनुपपद्यमानप्रमाणेतरसामान्यस्थित्यन्धीगतिपरलोकादिप्रतिषेधसाधकस्वभावादिलिङ्गत्रयं प्रमाणान्तरस्यानुमानस्य समीचीनभावं साधयतीति सर्वोऽपि कारिकार्थः।

ततः[१] प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणद्वयमेवेति सौगतः। [२]सोऽपि न युक्तवादीः स्मृतेरविसंवादिन्यास्तृतीयायाः प्रमाणभूतायाः सद्भावात्। न च तस्या विसंवादादप्रामाण्यम्; [३]दत्तग्रहादिविलोपापत्तेः।

अथानुभूयमानस्य[४] विषयस्याभावात् स्मृतेरप्रामाण्यम्? न[५], तथापि[६] अनुभूतेनार्थेन[७] सावलम्बनत्वोपपत्तेः। अन्यथा[८] प्रत्यक्षस्याप्यनुभूतार्थविषयत्वादप्रामाण्य[९]मनिवार्यं स्यात्[१०]। स्वविषयावभासनं स्मरणेऽप्य-

---

लिए उसे 'अनुपलब्धिरूप' हेतु का आश्रय लेना ही पड़ेगा और इस प्रकार उसे अनुमान का मानना आवश्यक हो जाता है। यही कारिका के उत्तरार्ध का अर्थ है।

इस प्रकार एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले चार्वाक की समीक्षा कर और उपर्युक्त युक्तियों से अनुमान प्रमाण की आवश्यकता को सिद्ध कर बौद्ध कहते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण मानना ठीक है। आचार्य कहते हैं कि यह कहने वाले बौद्ध भी युक्तिवादी नहीं हैं; क्योंकि उक्त दो प्रमाणों के अतिरिक्त अविसंवादिनी स्मृति के रूप में एक तीसरे भी प्रमाण का सद्‌भाव पाया जाता है। यदि आप (बौद्ध) कहें कि स्मृति के विसंवाद पाये जाने से अप्रमाणता है, सो आपका यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि यदि स्मृति को प्रमाण न माना जायेगा, तो देने-लेने आदि समस्त व्यवहार के विलोप की आपत्ति आती है।

भावार्थ—लोक में जितना भी देने-लेने का व्यवहार चलता है, वह स्मृति की प्रमाणता के आधार पर चलता है। किसी के यहाँ धन जमा कराकर कुछ समय के पश्चात् वापस माँगने पर धन रखने वाला भी यही जानकर उसे वापस देता है कि यह वही पुरुष है, जो पहले मेरे यहाँ धन रख गया था। यदि उसे ऐसा प्रत्यभिज्ञान न हो, तो वह कभी भी धन को वापस नहीं देगा और न माँगने वाला माँग ही सकता है। प्रत्यभिज्ञान का प्रधान कारण या आधार स्मृति ही है और उसको प्रमाण माने बिना लोक-व्यवहार चल नहीं सकता, अतः बौद्ध-सम्मत प्रमाण की दो संख्या विघटित हो जाती है।

यदि कहा जाये कि अनुभूयमान विषय (पदार्थ) के अभाव होने से स्मृति की अप्रमाणता है, अर्थात् बौद्धमतानुसार प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, स्थायी नहीं; अतः जिस पदार्थ का अनुभव किया था, वह स्मरण-काल तक विद्यमान ही नहीं रहता, तब उसकी स्मृति को प्रमाण कैसे माना जा सकता है? सो बौद्धों का ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि अनुभूयमान पदार्थ के नष्ट हो

---

१. चार्वाकं प्रति प्रमाणान्तरापादनं यतः। २. सौगतोऽपि न यथार्थवादी। ३. यस्य हस्ते मया स्वधनं दत्तं सोऽमुक इति तन्मे स्वधनमियन्मात्रमित्याद्याकारलक्षण स्मरणानुत्पादः, तदभावाच्च 'स एवायं मदीयधनहर्त्ता' इत्येवमादिरूपप्रत्यभिज्ञानाभावात्; अहमस्माच्च धनमुपाददे, असौ वा मदीयधनहर्त्ता भवतीति तत्र स्वधनं प्रार्थये, इत्यादिप्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणस्य व्यवहारस्य लोपः स्यात्। ४. स्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानमनुभवः, तेन ज्ञायमानस्य पदार्थस्य। ५. बौद्धं प्रति जैनः प्राहेति चेन्न। ६. अनुभूय-मानविषयाभावेऽपि। ७. स्वग्रामतटाकादिना। ८. उक्तविपर्ययेऽन्यथा शब्दः। अनुभूतेनार्थेन स्मृतेः सावलम्बनत्वेऽपि तदप्रामाण्ये। ९. भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः। हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम्। इति सौगतैरङ्गीकारात्। प्रत्यक्षस्यातीतार्थविषयत्वात्तस्याप्यप्रामाण्यं स्यात्। प्रत्यक्षस्यातीतार्थ-

वशिष्ट[२]मिति। किञ्च-स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानवार्तापि दुर्लभा; तया[३] [४]व्याप्तेरविषयीकरणे[५] तदुत्थानायोगादिति[६]। तत इदं वक्तव्यम्-'स्मृतिः प्रमाणम्, अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति' सैव प्रत्यक्षानुमानस्वरूपतया प्रमाणस्य द्वित्वसङ्ख्यानियमं विघटयतीति किं निश्चिन्तया।

जानेपर-भी अनुभूत पदार्थ के सावलम्बनता बन जाती है। अर्थात् स्मृतिकाल में अनुभूत वस्तु के अविद्यमान रहने पर भी यतः उस वस्तु का उसकी विद्यमानता में ही अनुभव हुआ था, अतः उसका स्मरण निरालम्ब तो नहीं है, सावलम्ब ही है। स्मरण को निरालम्ब तो तब माना जाये, जब वह बिना किसी वस्तु के पूर्व में अनुभव किये ही अकस्मात् उत्पन्न हो! सो ऐसा है नहीं। यदि उक्त प्रकार से अनुभूत वस्तु के स्मरण होने पर भी उसे निरालम्ब कहा जायेगा तो प्रत्यक्ष के भी अनुभूत अर्थ का विषय होने से अप्रमाणता अनिवार्य हो जायेगी।

भावार्थ—बौद्ध लोगों ने प्रत्यक्ष को अतीत पदार्थ का विषय करने वाला माना है। इस विषय में उनकी युक्ति यह है कि प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनष्ट होते हुए भी अपना आकार उत्तर क्षणवर्ती ज्ञान को समर्पण करता जाता है, अतः प्रत्यक्ष से अतीतकालवर्ती पदार्थ का ज्ञान होता है। यदि स्मृति को प्रमाण न माना जाये, तो पदार्थ के विनष्ट हुए पूर्व आकार का जो वर्तमान क्षण में प्रत्यक्ष से ग्रहण किया जाता है, वह ज्ञान असत्य ठहरेगा और इस प्रकार प्रत्यक्ष की अप्रमाणता रोकने पर भी नहीं रुकेगी। अथवा अनुभूत अर्थ को विषय करने मात्र से ही यदि स्मृति की अप्रमाणता मानी जायेगी, तो अनुमान से जानी हुई अग्नि में जो प्रत्यक्ष प्रवृत्ति हो रही है, वह भी अप्रमाण माननी पड़ेगी; क्योंकि वहाँ पर भी पहले अनुमान से अग्नि के निश्चय करने रूप अनुभूत अर्थ का विषय करना समान है।

यदि कहा जाये कि अपने विषय का जानना प्रमाण है, अतः प्रत्यक्ष में अप्रमाणता सम्भव नहीं है, तो अपने विषय का जानना स्मरण में भी समान है, फिर उसे आप लोग प्रमाण क्यों नहीं स्वीकार करते। दूसरी बात यह है कि स्मृति की प्रमाणता न मानने पर अनुमान के प्रमाणता की बात करना भी दुर्लभ हो जायेगी, क्योंकि उस स्मृति से ही साध्य-साधन के सम्बन्ध की व्याप्ति विषय की जाती है। जब स्मृति प्रमाण ही नहीं मानी जायेगी, तो उससे व्याप्ति का भी ग्रहण नहीं होगा और इस प्रकार व्याप्ति के अविषय रहने पर अनुमान का उत्थान भी नहीं हो सकेगा। इसलिए यह कहना चाहिए कि स्मृति प्रमाण है; अन्यथा अनुमान की प्रमाणता नहीं बन सकती।

विषयत्वं सौगतमता-पेक्षयोक्तमिति बोद्धव्यम्। अथवा अनुभूतार्थविषयमात्रेण स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानेनाधिगतेऽग्नौ यत्प्रत्यक्षं तदप्यप्रमाणं स्यादनुभूतार्थविषयत्वाविशेषादिति। १०.असत्यतीतेऽर्थे प्रवर्तमानत्वात्तदप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गः, तदर्थस्यापि तत्कालेऽसत्त्वात्।

१. साधनं समानम्। २. स्मृत्या। ३. साध्यसाधनसम्बन्धस्य। ४. अस्मरणे। ५. अनुमान-प्रामाण्याभावादिति।

तथा[७] प्रत्यभिज्ञानमपि सौगतीयप्रमाणसङ्ख्यां विघटयत्येव; तस्यापि प्रत्यक्षानुमानयोरनन्तर्भावात्। ननु[१] तदिति स्मरणमिदमिति प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न ताभ्यां[२] विभिन्नं प्रत्यभिज्ञानाख्यं वयं प्रतिपद्यमानं प्रमाणान्तरमुपलभामहे। कथं तेन[३] प्रमाणसंख्याविघटनमिति? तदप्यघटितमेव[४], यतः स्मरणप्रत्यक्षाभ्यां प्रत्यभिज्ञानविषयस्यार्थस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्। [५]पूर्वोत्तरविवर्त[६]वर्त्येकद्रव्यं हि प्रत्यभिज्ञानविषयः, न च [७]तत्स्मरणेनोपलभ्यते, [८]तस्यानुभूतविषयत्वात्। नापि प्रत्यक्षेण, तस्य वर्त्तमान[९] विवर्तवर्तित्वात्। यदप्युक्तम्–

और इस प्रकार वह स्मृति प्रमाण की बौद्धाभिमत प्रत्यक्ष-अनुमान-स्वरूप द्वित्व संख्या के नियम का विघटन कर देती है, फिर हमें चिन्ता करने से क्या लाभ है ?

तथा प्रत्यभिज्ञान प्रमाण भी सौगतीय (सौगत अर्थात् बौद्धों के द्वारा मानी गई) प्रमाण-संख्या का विघटन करता ही है, क्योंकि उसका भी बौद्धों के द्वारा माने गये प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

शंका–यहाँ पर बौद्ध कहते हैं कि 'यह वही है' इस प्रकार के ज्ञान को आप जैन लोग प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। सो 'यह' ऐसा कहना तो प्रत्यक्ष ज्ञान है और 'वही' यह स्मरणज्ञान है। इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष इन दो ज्ञानों से भिन्न प्रत्यभिज्ञान नाम का कोई अन्य प्रमाण प्रतीत होता हुआ हम नहीं देखते हैं, फिर उससे हमारी प्रमाण-संख्या का विघटन कैसे सम्भव है ?

समाधान–आप लोगों का यह कथन भी घटित नहीं होता, क्योंकि स्मरण और प्रत्यक्ष से प्रत्यभिज्ञान के विषयभूत अर्थ का ग्रहण करना शक्य नहीं है। इसका कारण यह है कि पूर्व और उत्तरकाल-वर्ती दो पर्यायों में रहने वाला एक द्रव्य ही प्रत्यभिज्ञान का विषय है, सो वह पर्यायैकत्वरूप द्रव्य न तो स्मरण से जाना जाता है, क्योंकि उसका विषय अनुभूत पदार्थ को जानना है। और न वह पर्यायैकत्वरूप द्रव्य प्रत्यक्ष से ही जाना जाता है, क्योंकि उसका विषय वर्तमान पर्याय को जानना है। और जो आपने कहा कि इस स्मरण और प्रत्यक्ष से भिन्न कोई तीसरा ज्ञान नहीं है, सो आपका यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि पूर्वोत्तर पर्यायों में रहने वाले एकत्व आदि को ग्रहण करने वाले प्रत्यभिज्ञान की स्पष्टतया भिन्नरूप से ही प्रतीति होती है। उक्त प्रकार के पूर्वोत्तर-विवर्तवर्ती एकत्वको परामर्श करना अर्थात् जानना न तो प्रत्यक्ष के लिए ही सम्भव है, न स्मरण के लिए ही; और न उन दोनों के लिए ही, क्योंकि उनका विषय भिन्न-भिन्न है। यदि

---

१. स्मृतिप्रकारेण। २. बौद्धः प्राह–भो जैन? ३. स्मरण-प्रत्यक्षाभ्याम्। ४. प्रत्यभिज्ञानेन। ५. जैनः प्राह–भो बौद्ध ! त्वदुक्तमयुक्तमेव, ततः संख्यां विघटत्येव। ६. कोऽयं प्रत्यभिज्ञानस्य विषय इति मनसि कृत्वा तमेवाह। ७. पर्याय। ८. पर्यायैकत्वम्। ९. उपलक्ष्यत इत्यपि पाठः। १०.'सम्बद्धं वर्तमानञ्च गृह्यते चक्षुरादिना' अमुना प्रमाणेन तस्य वर्तमान-विषयत्वसमर्थनादिति।

'ताभ्यां[१] भिन्नमन्यद् ज्ञानं नास्तीति' तदप्ययुक्तम्, अभेद-[२]परामर्शरूपतया भिन्नस्यैवावभासनात्। न तयोरन्यतरस्य[३] वाऽभेदपरामर्शकत्वमस्ति; विभिन्नविषयत्वात्। न चैतत्[४] प्रत्यक्षेऽन्तर्भवति, अनुमाने वा; तयोः[५] पुरोऽवस्थितार्थ[६]विषयत्वेनाविनाभूतलिङ्गसम्भावितार्थविषयत्वेन[७] च पूर्वापरविकारव्याप्येकत्वाविषयत्वात्। नापि स्मरणे, तेनापि [८]तदेकत्वस्याविषयीकरणात्।

अथ[९] संस्कार[१०]-स्मरणसहकृतमिन्द्रियमेव प्रत्यभिज्ञानं जनयति, इन्द्रियजं चाध्यक्षमेवेति न प्रमाणान्तरमित्यपरः[११]। सोऽप्यतिबालिश एव[१२], स्वविषयाभिमुख्येन[१३] प्रवर्तमानस्येन्द्रियस्य सहकारिशत-समवधाने[१४]ऽपि विषयान्तरप्रवृत्तिलक्षणातिशयायोगात्। विषयान्तरं चातीत-साम्प्रतिकावस्थाव्याप्येक-द्रव्यमिन्द्रियाणां रूपादिगोचरचारित्वेन चरितार्थत्वाच्च[१५]। नाप्यदृष्ट[१६]-सहकारिसव्यपेक्षमिन्द्रियमेकत्वविषयम्,

---

आप कहें कि हम अपने दोनों प्रमाणों में से किसी एक में उसका अन्तर्भाव कर लेंगे; सो न तो उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव किया जा सकता है, क्योंकि, वह तो सम्मुख अवस्थित अर्थ को विषय करता है और न अनुमान में ही उसका अन्तर्भाव हो सकता है, क्योंकि वह अविनाभावी लिंग से संभावित अर्थ को विषय करता है। अतः इन दोनों ही प्रमाणों के द्वारा पूर्वापर विकार अर्थात् पर्यायव्यापी एकत्वरूप द्रव्यविषय नहीं किया जा सकता। यदि आप स्मरण को भी तीसरा प्रमाण मानकर उसमें अन्तर्भाव करना चाहें, तो वह भी सम्भव नहीं; क्योंकि स्मरण के द्वारा यह पूर्वापर पर्याय-व्यापी एकत्व विषय नहीं किया जा सकता।

यहाँ पर यौग कहते हैं कि संस्कार-जो कि धारणा-ज्ञानरूप एक प्रत्यक्षविशेष है और स्मरण से सहकृत इन्द्रिय ही प्रत्यभिज्ञान को उत्पन्न करती है और जो इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ ज्ञान है वह प्रत्यक्ष ही है, इसलिए प्रत्यभिज्ञान कोई भिन्न प्रमाण नहीं है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाला व्यक्ति भी अतिमूर्ख ही है, क्योंकि अपने विषय की ओर अभिमुख होकर प्रवर्तमान इन्द्रिय के सैकड़ों सहकारी कारणों के सन्निधान होने पर भी अपने विषय को छोड़कर विषयान्तर में प्रवृत्ति करनेरूप अतिशय का होना असंभव है। नेत्रादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति अपने-अपने रुपादि विषय में ही होती है, रसादि विषयान्तर में नहीं। इन्द्रियों के लिए तो प्रत्यभिज्ञान का विषयभूत अतीत (भूत) और साम्प्रतिक (वर्तमान) कालवर्ती अवस्थाओं में रहने वाला एक द्रव्य विषयान्तर ही हैं; क्योंकि इन्द्रियाँ तो अपने रूपादि विषयों में प्रवृत्ति करके ही चरितार्थ होती हैं। यदि कहा

---

१. स्मरण-प्रत्यक्षाभ्याम्। २. पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्येकद्रव्य-परामर्शोऽभेदपरामर्शः। ३. तयोः स्मरण-प्रत्यक्षयोरेकतरस्य वा। ४. प्रत्यभिज्ञानम्। ५. प्रत्यक्षानुमानयोः। ६. प्रत्यक्षस्य विषयः प्रदर्शितः। ७. अनुमानस्य विषयः प्रदर्शितः। ८. पूर्वापरविकारव्याप्येकत्वस्य। ९. यौगः प्राह। १०. प्रत्यक्षविशेषो धारणाज्ञानं संस्कारः। स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्था-समानावस्थान्तरापादकोऽतीन्द्रियो धर्मो वा संस्कारः। ११. यौगः। १२. भो यौग ! प्रत्यक्षविषयं ब्रूषे तदयुक्तम्। किञ्च विषयान्तरमप्यस्तीत्यनूद्य प्रतिपादयति। १३. विषयवृत्तित्वेन। १४. सन्निधानेऽपि। १५. प्रवृत्तार्थत्वात्। १६. पुण्यपापलक्षण। मतान्तरे विधिनिषेध-जन्यत्वे सतीत्यतीन्द्रियत्वमित्युक्तम्।

उक्तदोषादेव। किञ्च–अदृष्टसंस्कारादिसव्यपेक्षादेवाऽऽत्मन[1]स्तद्विज्ञान[2]मिति किन्न कल्प्यते[3]? दृश्यते हि स्वप्न[4]–[5]सारस्वत[6]चाण्डालिकादिविद्यासंस्कृतादात्मनो विशिष्टज्ञानोत्पत्तिरिति।

[7]ननु अञ्जनादिसंस्कृतमपि चक्षुः[8] सातिशयमुपलभ्यत इति चेन्न, तस्य[9] स्वार्था[10] नतिक्रमेणैवातिशयोपलब्धेर्न [11]विषयान्तरग्रहण[12]लक्षणातिशयस्य। तथा चोक्तम्[13]–

[14]यत्राप्यतिशयो दृष्टः स[15]स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूर-सूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न[16]रूपे श्रोत्रवृत्तितः॥३॥

जाये कि पुण्य-पाप-स्वरूप या किसी अदृश्य शक्तिरूप अदृष्ट के सहकारीपने की अपेक्षा इन्द्रिय उस एकत्व को विषय कर लेगी तो यह भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने में भी उक्त दोष आता है अर्थात् अदृष्ट आदि सैकड़ों ही सहकारी विशिष्ट कारणों के मिल जाने पर भी इन्द्रियाँ अपने विषय को छोड़कर विषयान्तर में प्रवृत्ति नहीं कर सकती हैं। अतः आप यौग लोक अदृष्ट और संस्कारादि सहकारी कारणों की अपेक्षा से आत्मा के ही उस एकत्व को ग्रहण करने वाला विज्ञान अर्थात् प्रत्यभिज्ञानरूप विशिष्टज्ञान क्यों नहीं मान लेते हैं जिससे कि उक्त अनर्थक कल्पनाएँ करने की आवश्यकता ही न रहे। स्वप्न, सारस्वत और चाण्डालिका आदि विद्याओं से संस्कृत आत्मा के विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति देखी ही जाती है।

विशेषार्थ–भूत-भविष्यत्-वर्तमान काल सम्बन्धी हानि-लाभ आदि की सूचना जिससे मिले, वह स्वप्न विद्या है। असाधारण वादित्व, कवित्व आदि की शक्ति जिससे प्राप्त हो वह सारस्वत विद्या है। नष्ट मुष्टि आदि की करने और सूचना देने वाली विद्या को चाण्डालि का विद्या कहते हैं। इन विद्याओं की सिद्धि से आत्मा के अनेक लौकिक चमत्कार करने वाले ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

शंका–यहाँ यौग कहते हैं–कि अञ्जनादि से संस्कृत चक्षु के भी सातिशयपना देखा जाता है। अतः हमें प्रत्यभिज्ञानादि किसी विशिष्ट ज्ञान के मानने की आवश्यकता नहीं है।

समाधान–उनका यह कहना ठीक नहीं; नेत्रादि के अपने रूपादि विषय का उल्लंघन नहीं करके ही अतिशय देखा जाता है, न कि उनके स्वविषय को अतिक्रमण कर विषयान्तर को ग्रहण करने वाला अतिशय देखा जाता है जैसा कि कहा गया है–

जहाँ कहीं भी अतिशय देखा जाता है, वह अपने विषय का उल्लंघन नहीं करके देखा जाता

---

१. एकत्वग्राहकत्वमात्मनः कल्पनीयम् नत्विन्द्रियस्य। २. उत्पद्यते इति शेषः। ३. त्वया यौगेन। ४. अतीतानागत-वर्तमान-लाभालाभादिसूचनी या सा स्वप्नविद्या। ५. असाधारणवादित्व कवित्वादिविधायिनी सारस्वतविद्या। ६. नष्टमुष्ट्यादिसूचिका चाण्डालिका विद्या, मन्त्रविशेषः। ७. यौगः प्राह। ८. न केवलमात्मा। ९. चक्षुषः। १०. सन्निहितवर्तमान-रूपानतिक्रमेणैव। ११. रसादि.। १२. उपलब्धि। १३. भट्टेन मीमांसाश्लोकवार्तिके। १४. गृद्धवराहादिनेत्रादौ। यतश्चक्षुः प्राबल्यं गृद्धस्य, श्रोत्रप्राबल्यं वराहस्य। १५. स्वविषयानतिलंघनादेवातिशयो दृष्टो नाविषये। १६. रूपविषये श्रोत्रवृत्तितोऽतिशयो न दृष्टः।

[१]नन्वस्य वार्तिकस्य[२] सर्वज्ञ-[३]प्रतिषेधपरत्वाद्विषमो[४] दृष्टान्त इति चेन्न; [५]इन्द्रियाणां विषयान्तर-प्रवृत्तावतिशयाभावमात्रे सादृश्याद् दृष्टान्तत्वोपपत्तेः। न हि सर्वो दृष्टान्तधर्मो दार्ष्टान्तिके भवितुमर्हति, अन्यथा दृष्टान्त एव न स्यादिति।

ततः[६] स्थितम्—प्रत्यक्षानुमानाभ्यामर्थान्तरं प्रत्यभिज्ञानं [७]सामग्री-[८]स्वरूपभेदादिति। न[९] चैतदप्रमाणम्, [१०]ततोऽर्थं परिच्छिद्य[११] [१२]प्रवर्तमानस्यार्थक्रियायामविसंवादात् प्रत्यक्षवदिति। न चैकत्वापलापे[१३] बन्ध-

---

है। गृद्ध के दूरवर्ती पदार्थ के देखने में और शूकर के सूक्ष्म वस्तु आदि के देखने में जो विशेषता है, वह नेत्रेन्द्रिय की विषयभूत सीमा के ही भीतर है, न कि श्रोत्रेन्द्रिय से रूप के देखने में अतिशय कहीं देखा गया है ॥३॥

शंका—यौग जैनों से कहते हैं कि मीमांसाश्लोकवार्तिक में यह श्लोक सर्वज्ञता के निषेध करने के लिए दिया गया है, वह यहाँ पर प्रकरण-संगत न होने से विषम दृष्टान्त है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि वह यहाँ पर इन्द्रियों की विषयान्तर में प्रवृत्ति करने रूप अतिशय के अभाव-मात्र में सादृश्य (समानता) होने से कहा गया है, अतः उसके दृष्टान्तपना बन जाता है, क्योंकि दृष्टान्त के सभी धर्म दार्ष्टान्त में होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है; अन्यथा वह दृष्टान्त ही न रहेगा, बल्कि दार्ष्टान्त हो जायेगा।

इस प्रकार उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न एक प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, क्योंकि उसकी उत्पादक सामग्री और स्वरूप में भेद पाया जाता है। और इस प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उससे पदार्थ को जानकर प्रवृत्ति करने वाले पुरुष की अर्थक्रिया में प्रत्यक्ष के समान कोई विसंवाद नहीं पाया जाता। तथा प्रत्यभिज्ञान के विषयभूत एकत्व के अपलाप (निषेध) करने पर अर्थात् नहीं मानने पर न तो बन्ध-मोक्षादि की व्यवस्था हो सकती है और न अनुमान की ही व्यवस्था हो सकती है; क्योंकि जो पहले बंधा होगा, वही पीछे छूटेगा। बौद्ध लोग जब पूर्वापर कालव्यापी एकत्वरूप द्रव्य को ही नहीं मानते और उसका अपलाप करते हैं, तब उनके यहाँ जो पहले बंधा था, वह अब छूटा है, इस प्रकार की बन्ध और

---

१. यौगो जैनं प्रति प्राह। २. उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकम्। चालनानुपपत्त्यास्यात्तस्याः परिहृतिस्तथा। विशेषेणाभिधानं च यत्र तं वार्त्तिकं विदुः॥१॥ उक्तानुक्त दुरुक्तव्यतिकारि वार्तिकम्। उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः॥२॥ श्लोकवार्तिके वार्तिकस्येत्यनेन प्रकारेण लक्षणमुक्तम् सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानञ्च। ३. भट्टेन प्रतिपादितम्। न त्वत्रनिराकरणम्। ४. बाधकः। ५. अस्मदादि। ६. पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्त्येकत्वं प्रत्यक्षानुमानयोरविषयो यतः।७. दर्शनस्मरणे ८. स एवायमिति सङ्कलनम्। ९. प्रत्यभिज्ञानप्रमाणं रजतज्ञानवद् ब्रूषे चेन्न। १०. प्रत्यभिज्ञानात्। ११. ज्ञात्वा। १२. पुरुषस्य। १३. यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैवसः। न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह दृश्यते। इत्येकत्वालापो बौद्धानां पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्येकद्रव्यस्यापन्हवे सति क्षणिकत्वाङ्गीक्रियमाणे च सति।

मोक्षादिव्यवस्था, अनुमानव्यवस्था वा। एकत्वाभावे [१]बद्धस्यैव मोक्षादेर्गृहीत[२]सम्बन्धस्यैव [३]लिंगस्यादर्शनात्, अनुमानस्य च व्यवस्थायोगादिति। न चास्य[४] विषये[५] बाधक[६]-[७]प्रमाणसद्भावादप्रामाण्यम्, तद्विषये[८] प्रत्यक्षस्य लैङ्गिकस्य चाप्रवृत्तेः प्रवृत्तौ वा प्रत्युत[९] [१०]साधकत्वमेव, न बाधकत्वमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

तथा[११] सौगतस्य प्रमाणसङ्ख्याविरोधिविध्वस्तबाधं [१२]तर्काख्यमुपढौकत एव।' न चैतत्प्रत्यक्षेऽन्तर्भवति; साध्य-साधनयोर्व्याप्य[१३]व्यापकभावस्य [१४]साकल्येन प्रत्यक्षाविषयत्वात्। न हि [१५]तदियतो व्यापारान् कर्तुं शक्नोति; [१६]अविचारकत्वात् [१७]सन्निहितविषयत्वाच्च। [१८]नाप्यनुमाने; तस्यापि देशादि-

---

मोक्ष की व्यवस्था भी कैसे बनेगी ? इसी प्रकार एकत्व के बिना अनुमान का साधन जो लिंग उसका साध्य के साथ अविनाभावरूप सम्बन्ध का भी ग्रहण नहीं हो सकेगा, अतः अनुमान की भी व्यवस्था नहीं बनती। यदि कहा जाये कि प्रत्यभिज्ञान के विषय में बाधक प्रमाण का सद्भाव होने से अप्रमाणता है, सो भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं है। यदि किसी प्रकार प्रवृत्ति मानी भी जाये, तो वे बाधक नहीं, प्रत्युत प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता के साधक ही हैं। इसलिए इस प्रसंग में अधिक कहने से विराम लेते हैं।

तथा सौगत की प्रमाण संख्या का विरोधी और अबाधित विषय वाला ऐसा एक और निर्दोष तर्क नाम का प्रमाण आकर उपस्थित है। इसका प्रत्यक्ष में तो अन्तर्भाव किया नहीं जा सकता; क्योंकि साध्य-साधन का व्याप्य-व्यापक भावरूप सम्बन्ध देशान्तर और कालान्तर के साकल्य से प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता।

भावार्थ—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। व्याप्ति सर्व देश और सर्व काल का उपसंहार करने वाली होती है। जहाँ-जहाँ अर्थात् जिस किसी भी देश में और जब जब अर्थात् जिस किसी भी काल में जितना भी धूम है, वह सभी अग्नि से उत्पन्न हुआ है, किसी भी देश और किसी भी काल में वह अग्नि के बिना नहीं उत्पन्न हुआ और न आगे उत्पन्न हो सकेगा। सो इस प्रकार की सर्वदेश और काल की उपसंहारिणी व्याप्ति प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकती है।

और न प्रत्यक्ष इतने व्यापारों को कर ही सकता है, क्योंकि वह अविचारक है अर्थात् आप बौद्धों ने प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक माना है। दूसरे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष सन्निहित (समीपवर्ती) सम्बद्ध

---

९. पुंसः। १०. गृहीतसम्बन्धस्यादर्शनं भवत्येकत्वालापे सति। ११ महानसेऽग्नि-धूमयोर्गृहीतसम्बन्धस्य धूमलक्षणस्य लिङ्गस्य दर्शनादिति प्रतिपादनानन्तरमत्र तदर्शनादिति। १२. प्रत्यभिज्ञानस्य। १३. एकत्वे। १४. बाधकप्रमाणमेव नास्त्यस्य। १५प्रत्यभिज्ञानविषये। १६. व्यावृत्य। १७. प्रत्यभिज्ञानेन विषयीकृतं प्रत्यक्षं साधयति, अनुमानं साधयति, तदा साधकत्वम्। १.स्मृतिप्रत्यभिज्ञानप्रकारेण। २. तीर्यते संशय-विपर्ययावनेनेति तर्कः। ३. यावती शिंशपा सा वृक्षस्वभावा, वृक्षत्वाभावे तदभावादिति तर्कस्यैव विषयत्वात्। ४. देशान्तर-कालान्तरसामस्त्येन। ५. यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्मा, अनग्निजन्यो वा न भवतीति इयतो व्यापारान्, इयत्सङ्ख्यकान्। ६. निर्विकल्पकत्वात्। ७. सम्बद्धविषयत्वात्। ८. नाप्यनुमानेऽन्तर्भाव इति सम्बन्धः।

विषयविशिष्टत्वेन [९]व्याप्त्य-विषयत्वात्। तद्विषयत्वे वा प्रकृतानुमानान्तरविकल्पद्वयानतिक्रमात्। तत्र[१] प्रकृतानुमानेन व्याप्ति-प्रतिपत्तावितरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः-व्याप्तौ हि [२]प्रतिपन्नायामनुमान[३]मात्मानमासादयति, तदात्मलाभे च व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति। [४]अनुमानान्तरेणाविनाभाव[५]प्रतिपत्तावनवस्थाचमूरी[६] परपक्ष[७]चमूं चञ्चमीतीति[८] नानुमानगम्या व्याप्तिः।

नापि साङ्ख्यादि[९]परिकल्पितैरागमोप[१०]मानार्थापत्त्य[११]भावैः साकल्येनाविनाभावावगतिः तेषां[१२] समय[१३]सङ्गृहीतसादृश्यानन्यथा[१४]भूताभावविषयत्वेन व्याप्त्यविषयत्वात् परैस्तथा[१५]ऽनभ्युपगमाच्च[१६]।

और वर्तमान पदार्थ को ही विषय करता है। तथा अनुमान में भी इस तर्क प्रमाण का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है; क्योंकि अनुमान का विषय कोई एक देशादि-सम्बन्धी विशिष्ट पदार्थ है; अतः वह सर्व देश और सर्व काल का उपसंहार करने वाली व्याप्ति को विषय नहीं कर सकता है। इतने पर भी यदि आप उसे (व्याप्ति को) अनुमान का विषय मानेंगे, तो यहाँ पर दो विकल्प उठते हैं कि प्रकृत अनुमान व्याप्ति को विषय करेगा, अथवा दूसरा अनुमान? उनमें से प्रकृत अनुमान के द्वारा व्याप्ति के ग्रहण करने पर तो इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय) दोष का प्रसंग आता है-कि व्याप्ति के ग्रहण कर लेने पर अनुमान उत्पन्न हो और अनुमान के उत्पन्न होने पर व्याप्ति का ग्रहण हो। इस प्रकार दोनों में से किसी एक की भी सिद्धि नहीं होती। यदि अन्य अनुमान से अविनाभावरूप व्याप्ति का ग्रहण मानेंगे, तो उस अनुमान की व्याप्ति का ग्रहण भी अन्य अनुमान से मानना पड़ेगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर अनुमानों की कल्पना करने पर अनवस्थारूपी व्याघ्री परपक्षरूपी बौद्ध-सेना को बिल्कुल चबा डालेगी (सर्वथा खा जायेगी) इसलिए व्याप्ति अनुमानगम्य भी नहीं है, किन्तु उसको ग्रहण करने वाला एक तर्क नाम का स्वतन्त्र ही प्रमाण मानना आवश्यक है।

और न सांख्यादि विभिन्न दार्शनिकों के द्वारा परिकल्पित आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाणों के द्वारा सामस्त्यरूप से अविनाभावरूप व्याप्ति का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि इन सभी प्रमाणों का विषय भिन्न-भिन्न है व्याप्ति को ग्रहण करना किसी का भी नहीं। देखो आगम का विषय तो संकेत-द्वारा वस्तु को ग्रहण करना है, उपमान का विषय सादृश्य को ग्रहण करना है,

---

९ अनियतदिग्देशकालादिविषया व्याप्तिः। १. प्रकृतानुमानानुमानान्तरयोर्मध्ये। २. गृहीतायां सत्याम्। ३. अनुमानस्वरूपम्। ४. व्याप्तिरस्ति, अनुमानान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानान्तरात्प्रकृतानुमाने व्याप्तिसद्भावः स्यात्तर्ह्य त्रानुमानान्तरे व्याप्तिरस्ति; सा व्याप्तिः कस्मात्? अनुमानान्तरात्स्यात्तस्मिन्नप्यपरादित्यनवस्था। ५. व्याप्तिप्रतिपत्तौ। ६. व्याघ्री। ७.सौगतपक्षसेनाम्। ८. 'चमु अदने' अतिशयेन भक्षयतीति चञ्चमीति। ९. नैयायिकाक्षपादप्राभाकरजैमिनीयैः। १०. प्रसिद्धसाधर्म्याद्प्रसिद्धस्य साधनमुपमानम्। उक्तञ्च-उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनमिति। ११. प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्। अदृष्टं कल्पयेदन्यत्साऽर्थापत्तिरुदाहृता। अथवा दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथानुपपद्यत इत्यदृष्टार्थ-कल्पनाऽर्थापत्तिः। अथवाऽनन्यथाभूतस्यार्थस्य दर्शनादर्थान्तरप्रतिपत्तिः। १२. आगमादीनां। १३. सङ्केत-। १४. पीनोऽयं दिवा न भुङ्क्ते, आयातं रात्रौ भुङ्क्ते। १५. व्याप्तिग्राहकत्वेन। १६. आगमादीनाम्।

अथ प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्पात् [१]साकल्येन साध्य-साधनभाव[२]प्रतिपत्तेर्न प्रमाणान्तरं [३]तदर्थं मृग्यमित्यपरः[४]। सोऽपि न युक्तवादी; विकल्पस्याध्यक्ष[५]गृहीतविषयस्य तदगृहीतविषयस्य वा तद्[६]व्यवस्थापकत्वम्? आद्ये पक्षे [७]दर्शनस्यैव तदनन्तरभाविनिर्णयस्यापि[८] नियतविषयत्वेन[९] व्याप्त्यगोचरत्वात्। द्वितीयपक्षेऽपि विकल्पद्वयमुपढौकत एव-तद्विकल्पज्ञानं प्रमाणमन्यथा[१०] वेति? प्रथमपक्षे प्रमाणान्तरमनुमन्तव्यम्; [११]प्रमाणद्वयेऽनन्तर्भावात्। उत्तरपक्षे तु न [१२]ततोऽनुमानव्यवस्थाः न हि व्याप्तिज्ञानस्याप्रामाण्ये

अर्थापत्ति का विषय अनन्यथाभूत अर्थ को ग्रहण करना है अर्थात् वह दृष्ट वस्तु की सामर्थ्य से अदृष्ट अर्थ को अन्य ग्रहण करती है और अभाव तो वस्तु के अभाव को ही विषय करता है। इसलिए उक्त चारों प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण के द्वारा व्याप्ति को ग्रहण नहीं किया जा सकता। और न उन प्रमाणों के मानने वाले सांख्य, यौग, प्राभाकर और जैमिनीयों ने उन्हें व्याप्ति का विषय करने वाला माना ही है।

यहाँ पर बौद्ध पुनः कहते हैं कि प्रत्यक्ष के पीछे होने वाले विकल्प के द्वारा सामत्यरूप से साध्य-साधनभाव का ज्ञान हो जायेगा, अतः व्याप्ति के ग्रहण करने के लिए तर्क नामक एक अन्य प्रमाण का अन्वेषण नहीं करना चाहिए। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाले बौद्ध भी युक्तिवादी नहीं हैं, हम पूछते हैं कि प्रत्यक्ष से जिसका विषय गृहीत है ऐसे विकल्प को आप व्याप्ति का व्यवस्थापक मानते हैं, अथवा प्रत्यक्ष से जिसका विषय गृहीत नहीं है ऐसे विकल्प को व्याप्ति का व्यवस्थापक मानते हैं? आद्य पक्ष के मानने पर तो दर्शनस्वरूप निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के समान उसके पीछे होने वाले विकल्परूप निर्णय के भी विशिष्ट देश-कालरूप से नियत (सीमित) विषयपना ठहरता है, अतः उसके द्वारा अनियत देश-काल वाली व्याप्ति विषय नहीं की जा सकती है। द्वितीय पक्षके मानने पर पुनरपि दो विकल्प उपस्थित होते हैं-निर्विकल्प प्रत्यक्ष के पीछे होने वाले विकल्पज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण है ? यदि प्रमाण है, तो उसे प्रत्यक्ष-अनुमान के अतिरिक्त एक तीसरा प्रमाण मानना चाहिए; क्योंकि उसका उक्त दोनों प्रमाणों में अन्तर्भाव नहीं होता।

भावार्थ—प्रत्यक्ष के पीछे होने वाले विकल्पज्ञान का प्रत्यक्ष में तो इसलिए अन्तर्भाव नहीं हो सकता कि उसमें बौद्धों के द्वारा माना गया निर्विकल्परूप प्रत्यक्ष का लक्षण असंभव है, क्योंकि वह स्वयं विकल्परूप है। और अनुमान में इसलिए अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि उसका कोई अविनाभावी निश्चित लिंग नहीं पाया जाता।

और यदि उत्तरपक्ष मानते हैं अर्थात् प्रत्यक्षपृष्ठभावी उस विकल्पज्ञान को आप अप्रमाण

---

१. देशान्तर-कालान्तरसामस्त्येन। २. व्याप्ति-। ३. व्याप्तिग्रहणार्थम्। ४. बौद्धः। ५. अध्यक्षगृहीतमेव विषयो यस्य। ६. व्याप्तिव्यवस्थापकत्वम्। ७. प्रत्यक्षस्येव। ८.विकल्पस्यापि। ९. विशिष्टदेशकालाधार-तयाऽवधृतविषयत्वेन। १०. अप्रमाणम्। ११. विकल्पस्य प्रत्यक्षानुमानयोरन्तर्भावः सम्भवतीति नाशङ्कनीयम्; कल्पनापोढमभ्रान्तमिति प्रत्यक्ष लक्षणस्य तत्रासम्भवात्। निश्चिता-विनाभाविनियमलक्षणलिङ्गाभावान्नानुमानेऽपि। १२. अप्रमाणात्सविकल्पात्।

तत्पूर्वकमनुमानं प्रामाण्यमास्कन्दति, सन्दिग्धादिलिङ्गादप्युत्पद्यमानस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात्। ततो[१] [२]व्याप्तिज्ञानं सविकल्पमविसंवादकं च प्रमाणं प्रमाणद्वयान्य[३]दभ्युपगम्यमिति न सौगताभिमतप्रमाणसङ्ख्यानियमः।

[४]एतेनानुपलम्भात्[५] [६]कारण [७]व्यापकानुपलम्भाच्च कार्यकारण-व्याप्यव्यापकभाव-संवित्तिरिति वदन्नपि प्रत्युक्तः[८]; अनुपलम्भस्य [९]प्रत्यक्षविषयत्वेन[१०] कारणाद्यनुपलम्भस्य च लिङ्गत्वेन तज्जनितस्यानुमानत्वात् [११]प्रत्यक्षानुमानाभ्यां व्याप्तिग्रहणपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गात्[१२]।

मानते हैं, तो अप्रमाणभूत उस विकल्पज्ञान से अनुमान की भी व्यवस्था नहीं हो सकती है, क्योंकि व्याप्ति के ज्ञान को अप्रमाण मानने पर व्याप्तिपूर्वक उत्पन्न होने वाला अनुमान भी प्रमाणता को नहीं प्राप्त कर सकता है। अन्यथा सन्दिग्ध, विपर्यस्त आदि लिंग से उत्पन्न होने वाले अनुमान को भी प्रमाण मानने का प्रसंग आता है। यतः व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पज्ञान से सम्भव नहीं, अतः व्याप्तिज्ञानरूप तर्क प्रमाण को सविकल्पक, अविसंवादक और प्रत्यक्ष-अनुमान इन दोनों से भिन्न एक पृथक् ही प्रमाण मानना चाहिए। इस प्रकार से बौद्धों के द्वारा मानी गई प्रमाण की दो संख्या का नियम नहीं रहता।

इसी उपर्युक्त कथन के द्वारा अनुपलम्भ से अर्थात् किसी वस्तु के सद्भाव का निषेध करने वाले स्वभावानुपलम्भ से, कारणानुपलम्भ से और व्यापकानुपलम्भ से कार्य-कारणभाव और व्याप्य-व्यापकभाव का ज्ञान होता है, ऐसा कहने वाले बौद्धोंका भी निराकरण हो जाता है; क्योंकिस्वभावानुपलम्भ तो प्रत्यक्ष का ही विषय है और कारणानुपलम्भ तथा व्यापकानुपलम्भ लिंगरूप है, और उनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमान ही है; अतः प्रत्यक्ष और अनुमान से व्याप्ति के ग्रहण करने के पक्ष में जो दोष प्राप्त होते थे, वे ही यहाँ पर भी प्राप्त होंगे।

विशेषार्थ—बौद्धों ने अनुपलम्भरूप हेतु के तीन भेद माने हैं—स्वभावानुपलम्भ, कारणानुपलम्भ और व्यापकानुपलम्भ। इस स्थान पर घड़ा नहीं है, क्योंकि पाया नहीं जाता; यह स्वभावानुपलम्भ है। यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि धूम का कारण जो अग्नि उसका यहाँ पर अभाव है; यह कारणानुपलम्भ है। यहाँ शीशम का पेड़ नहीं है; क्योंकि उसका व्यापक वृक्ष नहीं पाया जाता; यह व्यापकानुपलम्भ है। बौद्धों का कहना है कि कार्य-कारण और व्याप्य-व्यापकभाव के सम्बन्ध ग्रहण करने को ही

---

१. प्रत्यक्षपृष्ठभाविना विकल्पेन गृहीतुमशक्या व्याप्तिर्यतः। २. तर्काख्यम्। ३. बौद्धेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नं प्रमाणमङ्गीकर्तव्यम् ; तदेतत्संज्ञान्तरं सविकल्पकं तर्काख्यमेवेत्यभिप्रायः। ४. प्रत्यक्षानुमानयोर्व्याप्तिग्रहणनिराकरणपरेण न्यायेन। ५. प्रत्यक्षेण भूतले घटोऽनुपलब्धेरिति स्वभावानुपलम्भः। ६. नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेरिति कारणानुपलम्भः। ७.नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेरिति व्यापकानुपलम्भः। ८. बौद्धो निराकृतः। ९. प्रत्यक्षविशेषत्वेन इत्यपि पाठः। १०. केवलं विधिप्रतिपत्तेरेवान्यत्र प्रतिषेधरूपत्वादिति अष्टसहस्रयाम्। ११. कथमेतावता प्रत्युक्तमित्याशङ्कायामाह—उपलम्भकारण-व्यापकानुपलम्भयोर्मध्ये संकेतप्रत्यक्ष-ज्ञानेनानुमानज्ञानेन वा भवितव्यम्। १२. आरोपितदोषसम्भवात्।

[1]एतेन प्रत्यक्ष[2]फलेनो[3]हापोह[4]विकल्पज्ञानेन व्याप्तिप्रतिपत्तिरित्यप्यपास्तम्[5]। [6]प्रत्यक्षफल-स्यापि प्रत्यक्षानुमानयोरन्यतरत्वे[7] व्याप्तेरविषयीकरणात् [8]तदन्यत्वे च प्रमाणान्तरत्वमनिवार्यमिति।

[9]अथ [10]व्याप्तिविकल्पस्य [11]फलत्वान्न प्रामाण्यमिति न युक्तम्; फलस्याप्यनुमानलक्षणफलहेतुतया

व्याप्तिज्ञान या तर्क कहते हैं। सो इसे एक पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस कार्य-कारणभाव और व्याप्य-व्यापक भावरूप सम्बन्ध का ज्ञान हमारे द्वारा माने गये अनुपलम्भहेतु के उक्त दोनों भेदों द्वारा हो ही जाता है। आचार्य ने उनके उत्तर में यह कहा है कि स्वभावानुपलम्भ तो प्रत्यक्ष का ही विषय है। अतः उससे व्याप्ति का ग्रहण हो नहीं सकता, यह बात हम पहले ही बतला आये हैं। शेष दोनों अनुपलम्भ यतः हेतु स्वरूप ही हैं, अतः उनसे साध्य का ज्ञान होगा जिसे कि अनुमान कहते हैं, किन्तु साध्य-साधन, कार्य-कारण और व्याप्य-व्यापक के सम्बन्धरूप अविनाभाव का अर्थात् सर्व देश-कालोपसंहारिणी व्याप्ति का ज्ञान कैसे होगा ? यदि आप फिर भी मानेंगे, तो वे सभी दोष आकर प्राप्त होंगे, जिन्हें हम पहले कह आये हैं।

इसी उपर्युक्त कथन से प्रत्यक्ष के फलरूप ऊहापोह विकल्पज्ञान के द्वारा व्याप्ति की प्रतिपत्ति होती है, ऐसा कहने वाले वैशेषिकों के मत का भी खण्डन कर दिया गया समझना चाहिए; क्योंकि प्रत्यक्ष के फल को प्रत्यक्ष और अनुमान में से किसी एक रूप मानने पर उसके द्वारा व्याप्ति विषय नहीं की जा सकती और उनसे भिन्न मानने पर उसको भिन्न प्रमाण मानना अनिवार्य हो जाता है।

विशेषार्थ—जाने हुए पदार्थ का अवलम्बन लेकर अन्य पदार्थों में भी व्याप्ति के बल से उसी प्रकार की तर्कणा करने को ऊह या ऊहा कहते हैं। कथन की कुशलता और युक्तियों के बल-द्वारा आने वाली आपत्तियों की सम्भावना करके उनका परिहार करने को अपोह कहते हैं। इस प्रकार के ऊह और अपोहरूप जो विकल्पात्मक ज्ञान है, वह प्रत्यक्षज्ञान का फल है, ऐसी मान्यता वैशेषिकों की है। और इसी ऊहापोह के द्वारा वे व्याप्ति का ज्ञान मानते हैं। आचार्य ने उनकी इस मान्यता का जिस प्रकार से परिहार किया है, वह बतला ही चुके हैं। जैन लोग इस ऊहापोहरूप ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान का फल न मानकर उसे तर्क नाम का स्वतन्त्र ही प्रमाण मानते हैं।

यहाँ नैयायिक कहते हैं कि व्याप्ति के विकल्परूप जो तर्क ज्ञान है वह तो प्रत्यक्षज्ञान का

---

१. अनुपलम्भादिना व्याप्तिग्रहणे प्रत्यक्षानुमान-पक्षोपक्षिप्तदोषदर्शनेन। २. पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे फलं स्यादुत्तरोत्तरमिति। ३. विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथाविध-तर्कणमूहः।४. उक्ति-युक्तिभ्यां विरुद्धादर्थात्प्रत्यवायसम्भावनमपोहः। ५. वैशेषिकमतं निराकृतम्। ६. प्रत्यक्षफलज्ञानं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नम्; ताभ्यां व्याप्तिग्रहणं नास्ति। फलज्ञानेनास्ति-चेत् फलज्ञानं प्रमाणान्तरं स्यात्। ७. प्रत्यक्षफलं प्रत्यक्षमनुमानं वेति विकल्पद्वयम्, तयोर्मध्ये एकतरत्वे सति। ८. ताभ्यां प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्यत्वे भिन्नत्वे। ९. नैयायिकः प्राह। १०. व्याप्तिग्राहकस्य तर्कस्य। ११. प्रत्यक्षफलत्वात्, प्रत्यक्षज्ञानफलं व्याप्तिविकल्पः।

प्रमाणत्वाविरोधात्। तथा [१]सन्निकर्षफलस्यापि विशेषणज्ञानस्य[२] विशेष[३]ज्ञानलक्षणफलापेक्षया प्रमाणत्वमिति न वैशेषिकाभ्युपगतोहापोहविकल्पः प्रमाणान्तर[४]त्वमतिवर्तते।[५]

एतेन[६] त्रि-चतुःपञ्च षट्प्रमाणवादिनोऽपि साङ्ख्याक्षपाद-प्रभाकर-जैमिनीयाः स्वप्रमाणसङ्ख्यां न व्यवस्थापयितुं क्षमा इति प्रतिपादितमवगन्तव्यम्। उक्तन्यायेन[७] स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काणां [८]तदभ्युपगत-प्रमाणसङ्ख्यापरिपन्थित्वादिति[९]प्रत्यक्षेतर[१०]भेदाद् द्वे एव प्रमाणे इति स्थितम्।

अथेदानीं प्रथमप्रमाणभेदस्य स्वरूपं निरूपयितुमाह–

विशदं प्रत्यक्षम्॥ ३॥

ज्ञानमित्यनुवर्तते। [११]प्रत्यक्षमिति [१२]धर्मिनिर्देशः। विशदज्ञानात्मकं साध्यम्। प्रत्यक्षत्वादिति हेतुः[१३]।

फल है, इसलिए उसकी प्रमाणता नहीं मानी जा सकती। उनका यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि फलरूप होते हुए भी वह अनुमान का कारण है और अनुमान उसका फल है, अतः उसे प्रमाण मानने में कोई विरोध नहीं है। जैसे कि सन्निकर्ष के फलरूप भी विशेषण के ज्ञान को विशेष्य ज्ञान के लक्षणरूप फल की अपेक्षा प्रमाणता आप लोग मानते हैं इस प्रकार वैशेषिकों द्वारा माना गया ऊहापोह विकल्परूप ज्ञान भी तर्क ज्ञान की प्रमाणान्तरता का उल्लंघन नहीं करता है।

इस प्रकार बौद्धों के द्वारा मानी गई प्रमाण-संख्या के निराकरण से तीन प्रमाणवादी सांख्य, चार प्रमाणवादी अक्षपाद (नैयायिक-वैशेषिक) पाँच प्रमाणवादी प्राभाकर और छह प्रमाण मानने वाले जैमिनीय भी अपनी-अपनी प्रमाण-संख्या की सयुक्तिक स्थापना करने में समर्थ नहीं हैं, यह बात प्रतिपादित जैसी ही समझना चाहिए। क्योंकि इसी उक्त न्याय से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क प्रमाण सांख्यादि के द्वारा स्वीकृत प्रमाणसंख्या के परिपन्थी हैं अर्थात् विरोध करने के कारण शत्रुभूत हैं। इसलिए प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो ही प्रमाण हैं, यह स्थित अर्थात् सिद्ध हुआ।

अब आचार्य प्रमाण का प्रथम भेद जो प्रत्यक्ष उसका स्वरूप-निरूपण करने के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–विशद अर्थात् निर्मल और स्पष्टज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं ॥३॥

इस सूत्र में ज्ञानपद की अनुवृत्ति होती है। यहाँ पर प्रत्यक्ष यह धर्मी का निर्देश है अर्थात् पक्ष है, ज्ञान की विशदता साध्य है और प्रत्यक्षपना हेतु है। आगे इसी अनुमान को स्पष्ट करते हैं–

---

१. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः। २. दण्डज्ञानस्य, विशेषणज्ञानस्य विशेष्यज्ञानं फलम्। ३. 'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये' इति न्यायात्। दण्डिज्ञानस्वरूप फलापेक्षया। ४. व्याप्तिज्ञानम्। ५. न निराकरोतीत्यर्थः। ६.बौद्धस्य प्रमाणसङ्ख्याप्रतिपादनताऽसामर्थ्यसमर्थनेन।७. व्याप्तिज्ञानस्य प्रमाणत्वव्यवस्थापनेन स्मृत्यादीनां प्रमाणताव्यवस्थाप-नेनोक्तन्यायेन च।८. सांख्यादिना।९. सांख्यादिस्वीकृतप्रमाणसङ्ख्याविपक्षित्वात् स्मृत्यादितस्करविद्यमानत्वादित्यर्थः। १०. विपक्षत्वात्। ११.विवक्षितं प्रत्यक्षं प्रमाणं धर्मी। १२. साध्यधर्माधारो धर्मीपक्षः। १३. व्यतिरेकीहेतुः।

तथाहि-प्रत्यक्षं विशदज्ञानात्मकमेव, प्रत्यक्षत्वात्। यन्न विशदज्ञानात्मकं तन्न प्रत्यक्षम्, यथा परोक्षम्[१]। प्रत्यक्षं च विवादापन्नम्[२]। तस्माद्विशदज्ञानात्मकमिति[३]। प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुरिति चेत् का पुनः प्रतिज्ञा तदेकदेशो[४] वा? धर्मि धर्मसमुदायः प्रतिज्ञा। तदेकदेशो धर्मो धर्मी वा? हेतुः प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध[५] इति चेन्न, धर्मिणो हेतुत्वे असिद्धत्वायोगात्। तस्य पक्षप्रयोग[६]कालवद्धेतुप्रयोगेऽप्यसिद्ध[७]त्वायोगात्।

प्रत्यक्ष विशद ज्ञानस्वरूप ही है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष है। जो विशदज्ञानात्मक नहीं वह प्रत्यक्ष नहीं; जैसे परोक्षज्ञान। और प्रत्यक्ष विवादापन्न है, इसलिए वह विशदज्ञानात्मक है, इस प्रकार अनुमान के पाँच अवयव-प्रयोगरूप यह सूत्र है।

शंका—सूत्र में तो एकमात्र धर्मी प्रत्यक्ष का निर्देश किया गया है, उसे ही आपने हेतु बनाया है। पक्ष के वचन को प्रतिज्ञा कहते हैं, उस प्रतिज्ञारूप अर्थ के एक देश को हेतु बनाने से यह हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध नाम का असिद्ध हेत्वाभास हो गया और असिद्ध हेतु से साध्य की सिद्धि होती नहीं है, अतः प्रत्यक्षत्व को हेतु बनाना उचित नहीं ?

प्रतिशंका—ऐसा दोष देने वाले से आचार्य पूछते हैं कि प्रतिज्ञा क्या वस्तु है और उसका एक देश क्या है?

समाधान—धर्म अर्थात् साध्य और धर्मी अर्थात् पक्ष के समुदाय को प्रतिज्ञा कहते हैं। उसका एक देश धर्म अथवा धर्मी है। उनमें से एक को हेतु बनाने पर वह प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है।

प्रतिसमाधान—आपका यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मी को हेतु बनाने पर असिद्धपना नहीं प्राप्त होता। पक्षप्रयोगकाल में धर्मी के जैसे असिद्धपना नहीं है, उसी प्रकार हेतु प्रयोगकाल में भी उसके असिद्धपना नहीं आ सकता।

भावार्थ—शंकाकारने धर्म और धर्मी के समुदाय को प्रतिज्ञा कहा है। सो धर्म नाम तो साध्य का है और साध्य सदा ही असिद्ध होता है। सूत्रकार ने आगे स्वयं ही इसका लक्षण ''इष्टमबाधित-मसिद्धं साध्यम्'' कहा है। यदि यहाँ पर धर्म को अर्थात् विशदात्मकतारूप साध्य को हेतु बनाया गया होता, तो वह अवश्य प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध हेत्वाभास कहलाता। किन्तु यहाँ पर तो धर्मी रूप पक्ष को हेतु बनाया गया है और धर्मी को वादी और प्रतिवादी सभी ने प्रसिद्ध माना है। स्वयं सूत्रकार ने आगे 'प्रसिद्धो धर्मी' ऐसा कहा है। अतः जब धर्मी प्रसिद्ध है, तब उसे हेतु बनाने पर वह असिद्ध कैसे हो सकता है? क्योंकि प्रमाण से सिद्ध वस्तु को प्रसिद्ध और

---

१. उदाहरणम्। २. उपनयः। ३. निगमनम्। ४. वादि-प्रतिवादिनोः प्रसिद्ध एव धर्मी भवति। ५. प्रतिज्ञा एवार्थः प्रतिज्ञार्थः, तस्यैकदेशः सो हेतुरसिद्धः। ६. पक्षः प्रत्यक्षम् तस्य प्रत्यक्षस्य प्रयोगकालः प्रत्यक्षं विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षत्वात्। यथा पक्षस्य प्रत्यक्षत्वं तथा हेतोः। ७. वादि-प्रतिवादिनोः प्रसिद्ध एव धर्मी भवतीत्यर्थः।

धर्मिणो हेतुत्वे अनन्वय[१] दोष इति चेन्न; विशेषस्य[२] धर्मित्वात्, सामान्यस्य[३] च हेतुत्वात्। तस्य च विशेषेष्वनुगमो[४] [५]विशेषनिष्ठत्वात्सामान्यस्य[६]।

अथ साध्यधर्मस्य[७] हेतुत्वे प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वमिति। तदप्यसम्मतम्[८], साध्यस्य स्वरूपेणैवासिद्धत्वान्न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेन तस्यासिद्धत्वम्, धर्मिणा व्यभिचारात्[९]।

प्रमाण से जो सिद्ध नहीं उसे असिद्ध कहते हैं। इसलिए आचार्य ने बहुत ठीक कहा है कि जैसे धर्मी पक्ष-प्रयोग के समय असिद्ध नहीं है, वैसे ही हेतु-प्रयोग के समय भी असिद्ध नहीं है।

शंका—धर्मी को हेतु बनाने पर अनन्वय दोष प्राप्त होता है? क्योंकि पक्षरूप धर्मी का साध्यरूप धर्म के साथ कोई अन्वय सम्बन्ध नहीं पाया जाता। जैसे कोई कहे कि 'यह पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि यह पर्वत है, तो इस अनुमान में हेतुरूप से प्रयुक्त पर्वतत्व का अग्निमत्त्व साध्य के साथ जो जो पर्वत होंगे, वे सभी अग्निमान् होंगे, इस प्रकार कोई अन्वय सम्बन्ध नहीं है।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ पर प्रत्यक्ष-विशेष को धर्मी बनाया गया है और प्रत्यक्षत्व-सामान्य को हेतु बनाया है। तथा सामान्य का अपने विशेषों में अनुगम अर्थात् अन्वय रहता ही है। सामान्य अपने सभी विशेषों में रहता है' ऐसा स्वयं आप यौगों ने कहा है।

शंका— साध्यरूप धर्म को हेतु बनाने पर तो यह प्रतिज्ञार्थैकदेशसिद्ध हेत्वाभास हो जायेगा? क्योंकि साध्य असिद्ध होता है।

समाधान—यह कथन भी हमारे लिए असम्मत है अर्थात् हमें मान्य नहीं है; क्योंकि हमने तो साध्यरूप धर्म को हेतु नहीं बनाया है। साध्य के स्वरूप से ही असिद्धता है, न कि प्रतिज्ञार्थ के एक देश होने से असिद्धता है; अन्यथा धर्मी के द्वारा व्यभिचार आता है।

विशेषार्थ—यहाँ पर शंकाकार ने यह शंका उठाई है कि यदि साध्यरूप धर्म को हेतुबनाया जायेगा, तो वह प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध हो जायेगा। जैसे कि शब्द नित्य है; क्योंकि उससे नित्यता पाई जाती है, इत्यादि। इसका समाधान आचार्य ने यह किया है कि हमने साध्य धर्म को हेतु नहीं बनाया है जिससे कि आपके द्वारा दिया गया दूषण हम पर लागू हो। यदि केवल प्रतिज्ञा के एकदेश होने मात्र से ही हम पर प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध का दोषारोपण आप करना चाहते हों, तो

---

१. पर्वतोऽयमग्निमान्, पर्वतत्वादित्यादिवदनन्वयदोषः। २. प्रत्यक्षस्य। ३. प्रत्यक्षत्वस्य। ४. अन्वयो वर्तते। ५. निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्। सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि। ६. भो यौग ! तव मतेन वर्तते। ७. साध्यमेव धर्मः साध्यधर्मः। ८. मया साध्यधर्मस्य हेतुत्वं न प्रतिपाद्यते। ९. कथमप्रस्तावे साध्यधर्मस्य हेतुत्वं ब्रूषे ? शब्दो नित्यो भवितुमर्हति, नित्यत्वादित्येवं प्रकारेण प्रतिवादिना (जैनेन) साध्यधर्मस्यानङ्गीकरणात्। किञ्च साध्यस्य हेतुत्वे स्वरूपासिद्धं च वक्तव्यम्, न प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वम्। अन्यथा यो यः प्रतिज्ञार्थैकदेशः सः सोऽसिद्ध इति व्याप्तौ धर्मिणा व्यभिचारात्। अथवा यो यः प्रतिज्ञार्थैकदेशः सः सोऽसिद्ध इति व्याप्तौ धर्मिणोऽपि प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद्वादि-प्रतिवादिनोः साध्यवत्तस्याप्यसिद्धता स्यात्।

सपक्षे[१] वृत्त्यभावाद्धेतो[२]रनन्वय[३] इत्यप्यसत्, सर्वभावाना[४] क्षणभङ्ग[५]सङ्गममेवाङ्गशृङ्गारमङ्गीकुर्वतां ताथागतानां सत्त्वादिहेतूनामनुदयप्रसङ्गात्[६]। विपक्षे[७] बाधकप्रमाण[८]भावात् पक्षव्यापकत्वाच्चानन्वयत्वं प्रकृतेऽपि समानम्[९]।

वैसी दशा में आपके कथन में धर्मी के द्वारा व्यभिचार दोष आता है; क्योंकि वह भी प्रतिज्ञा का एकदेश है। धर्मी की प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धता का परिहार हम पहले कर ही आये हैं। दूसरी विशेष बात यह है कि साध्य को हेतु बनाने पर उसे स्वरूपासिद्ध तो कहा जा सकता है, प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध नहीं। अन्यथा जो जो प्रतिज्ञार्थैकदेश है, वह वह असिद्ध है ऐसी व्याप्ति होने पर धर्मी के द्वारा व्यभिचार आता है। अथवा जो जो प्रतिज्ञार्थैकदेश है, वह वह प्रसिद्ध है, ऐसी व्याप्ति में धर्मी को भी प्रतिज्ञार्थैकदेशता होने से वादी-प्रतिवादी दोनों के ही साध्य के समान हेतु के भी असिद्धता प्राप्त होगी। इसलिए इस विषय में अधिक क्षोद-क्षेम करना व्यर्थ है।

शंका—आपने ऊपर अनुमान-प्रयोग करते हुए धर्मी को हेतु बनाया और व्यतिरेक-व्याप्तिपूर्वक व्यतिरेक ही दृष्टान्त दिया, सो हेतु के सपक्ष में न रहने से और अन्वयदृष्टान्त के न पाये जाने से आपके अनन्वय दोष प्राप्त होता है।

समाधान—यह कथन भी समीचीन नहीं है; क्योंकि सर्व पदार्थों के क्षणभंग-संगमरूप अंग-शृंगार को अंगीकार करने वाले ताथागतों (बौद्धों) के सत्त्वादि हेतुओं के अनुदय का प्रसंग प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—ऊपर विशदज्ञान को प्रत्यक्षता सिद्ध करते हुए किसी अन्य के सपक्ष न होने से व्यतिरेक व्याप्तिपूर्वक परोक्षज्ञान को व्यतिरेक दृष्टान्तरूप से बतलाया गया है। उसमें बौद्धों ने यह दूषण दिया कि हेतु के तीन रूप होते हैं-पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षाद्व्यावृत्ति। सो उस अनुमान में प्रयुक्त हेतु के सपक्षसत्त्वरूप दूसरे हेतुरूप का अभाव है और इसीलिए अन्वय दृष्टान्त भी नहीं दिया जा सका। अतः उक्त अनुमान में अनन्वयदोष आता है। आचार्य ने उसका यह समाधान किया है कि आप बौद्धों ने भी तो सर्व पदार्थों को क्षणिक सिद्ध करने के लिए जो सत्त्वहेतु दिया है, वहाँ पर भी तो सपक्षसत्त्व का और अन्वय-दृष्टान्त का अभाव है, क्योंकि सभी पदार्थों को पक्ष बना लिया गया है। फिर उसे आप क्यों समीचीन हेतु मानते हैं। उनका वह

---

१. साध्यसाधनधर्मा धर्मी सपक्षस्तस्मिन् सपक्षे। २. प्रत्यक्षत्वस्य हेतोः। ३. असपक्षधर्मत्वम्। ४. पदार्थानां कारणत्वेन जनकत्वेन। ५. क्षणे क्षणे भङ्गः क्षणभङ्गः, प्रतिसमयं नाश इत्यर्थः। ६. सर्वे क्षणिकं सत्त्वादित्यत्रापि हेतोः सपक्षे वृत्तिर्नास्ति, सर्वस्य पक्षीकृतत्वेन सपक्षस्याभावात्। ७. क्षणिकत्वे साध्ये नित्यत्वं विपक्षः। ८. नित्यः पदार्थो नास्ति, क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावात्, खरविषाणवदिति बौद्धमते बाधकप्रमाणम्। ९ अप्रत्यक्षे प्रत्यक्षत्वं नास्ति, परोक्षत्वात्, शिंशपादिवदिति प्रकृतेऽपि प्रकृतानुमानेऽपि प्रत्यक्षेऽपि बाधकप्रमाणमस्ति।

इदानीं[१] स्वोक्तमेव विशदत्वं व्याचष्टे-

प्रयोग इस प्रकार है-सर्व पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि सत् रूप हैं, जो क्षणिक नहीं होता, वह सत् भी नहीं होता; जैसे खर-विषाण। इसी अनुमान प्रयोग से बौद्ध लोग सर्व पदार्थों को क्षणिक सिद्ध करते हैं। यदि इतने पर भी आप जैनों को अनन्वय दूषण देने का प्रयास करेंगे तो आपने उक्त अनुमान में जो सत्त्व आदि हेतुओं का प्रयोग किया है, वह नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसमें भी अनन्वय दोष प्राप्त होता है।

यदि इतने पर भी बौद्ध कहें कि हेतु के विपक्ष में बाधक प्रमाण का सद्भाव होने से तथा पक्ष में व्यापक होने से हमारे सत्त्व हेतु के अनन्वय दूषण नहीं प्राप्त होता, तो यह बात प्रकृत में भी समान है, अर्थात् हमारे प्रत्यक्षत्व हेतु को भी अनन्वय दूषण नहीं प्राप्त होता।

विशेषार्थ—बौद्धों ने 'सर्व पदार्थ क्षणिक हैं, सत् रूप होने से' इस अनुमान में अनन्वय दोष के परिहार के लिए दो युक्तियाँ दी हैं, जिनमें से पहली युक्ति है-हेतु के विपक्ष में बाधक प्रमाण का सद्भाव। इसका अभिप्राय यह है कि उक्त अनुमान में क्षणिकत्व साध्य है, अतः उसका विपक्ष नित्यत्व है और पदार्थों के नित्यत्व सिद्ध करने में बाधक प्रमाण पाया जाता है। यथा-पदार्थ नित्य नहीं हैं, क्योंकि नित्य पदार्थ में क्रम से और एकसाथ इन दोनों ही प्रकारों से अर्थक्रियाकारिता का अभाव है। इस प्रकार विपक्षाद-व्यावृत्तिरूप हेतु का तीसरा लक्षण हमारे सत्त्व हेतु में पाया जाता है। दूसरी युक्ति दी है हेतु की पक्ष में व्यापकता अर्थात् हमारा सत्व हेतु पक्षभूत सभी पदार्थों में पाया जाता है, जिसे कि हेतु का पहला लक्षण कहा गया है। अतः सत्व हेतु के सपक्ष रहने से रूप दूसरे हेतु-लक्षण के नहीं पाये जाने पर भी पहले और तीसरे लक्षणों में पाये जाने से अनन्वय दोष नहीं प्राप्त होता। उनके इस कथन के उत्तर में जैनों की ओर से यह कहा गया है कि यह बात तो हमारे प्रत्यक्षत्व हेतु में भी समान है। जिसका खुलासा यह है कि उक्त अनुमान-प्रयोग में प्रत्यक्ष के विशदज्ञानात्मकता सिद्ध करने के लिए जो प्रत्यक्षत्व हेतु दिया गया है, वह भी अपने पक्ष में व्यापक है और विपक्ष में बाधक प्रमाण भी है। वह इस प्रकार कि प्रत्यक्ष का विपक्ष अप्रत्यक्ष अर्थात् परोक्षज्ञान है और परोक्षज्ञान में प्रत्यक्षता पाई नहीं जाती, क्योंकि वह परोक्ष है। इस प्रकार विपक्षाद्-व्यावृत्ति-रूप हेतु लक्षण हमारे हेतु में भी पाया जाता है। ऊपर के सभी आक्षेप और समाधानों का सार यह है कि प्रत्यक्षत्व हेतु के विषय में जितने भी दूषणों का उद्भावन आप लोगों ने किया है वे कोई भी हमारे हेतु को प्राप्त नहीं होते। अतः सर्व प्रकार निर्दोष होने से वह अपने साध्य की सिद्धि करता है।

अब आचार्य अपने द्वारा कही गई विशदता की व्याख्या करते हैं-

---

१. प्रत्यक्षस्य विशदज्ञानात्मकत्वसमर्थनानन्तरम्।

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्॥४॥

एकस्याः प्रतीतेरन्या प्रतीतिः प्रतीत्यन्तरम्। तेनाव्यवधानं तेन प्रतिभासनं वैशद्यम्। [१]यद्यप्यवायस्याव-ग्रहेहाप्रतीतिभ्यां व्यवधानम्[२], तथापि न परोक्षत्वम्[३]; विषयविषयिणोर्भेदेन[४] प्रतिपत्तेः[५]। यत्र[६] विषय-विषयिणोर्भेदे सति व्यवधानं तत्र परोक्षत्वम्।

सूत्रार्थ—दूसरे ज्ञान के व्यवधान से रहित और विशेषता से होने वाले प्रतिभास को वैशद्य कहते हैं॥४॥

प्रतीति नाम ज्ञान का है, एक प्रतीति से भिन्न दूसरी प्रतीति को प्रतीत्यन्तर कहते हैं। व्यवधान नाम अन्तराल का है। इस प्रकार यह अर्थ निकला कि अन्य ज्ञान के व्यवधान से रहित जो निर्मल, स्पष्ट और विशिष्ट ज्ञान होता है, उसे विशदता या वैशद्य कहते हैं।

यहाँ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को लक्ष्य में रखकर उठने वाली शंकाओं का स्वयं उद्‌भावन कर समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं–यद्यपि अवायज्ञान के अवग्रह और ईहा ज्ञान से व्यवधान है, तथापि उसे परोक्ष नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विषय और विषयी की यहाँ पर भेदरूप से प्रतीति नहीं है। जहाँ पर विषय और विषयी में भेद होने पर व्यवधान होता है, वहाँ परोक्षपना माना जाता है।

विशेषार्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेद हैं और पूर्व-पूर्व ज्ञान से गृहीत विषय में ही उत्तरोत्तर विशेषता को जानना इनका स्वभाव है। इस व्यवस्था को ध्यान में रखकर यदि कोई यह आशंका करे कि अवाय ज्ञान के अवग्रह और ईहा इन दो ज्ञानों से व्यवधान है; क्योंकि अवायज्ञान के पूर्व में अवग्रह और ईहा ज्ञान होते हैं अतः अवाय ज्ञान को परोक्ष क्यों न माना जाये ? आचार्य ने उसका यह समाधान किया है कि जहाँ विषय (पदार्थ) और विषयी (ज्ञान) में भेद होते हुए व्यवधान होता है, वहाँ परोक्षपना माना जाता है। यहाँ जो पदार्थ अवग्रह का विषय है, वही ईहा और अवाय ज्ञान का भी विषय है। इसलिए इन सभी ज्ञानों का विषयभूत पदार्थ एक है। और एक ही विषयभूत पदार्थ को जानने से ये अवग्रहादि सभी ज्ञान एक प्रत्यक्षरूप ही हैं। अतः अवाय ज्ञान में अवग्रह-ईहा ज्ञान से व्यवधान होने पर भी विषय और विषयी के भिन्न नहीं होने से अवाय के परोक्षता का प्रसंग प्राप्त नहीं होता है।

---

१. तर्ह्यवायस्य परोक्षत्वमस्तु; अवग्रहादिप्रतीत्यन्तरेण व्यवधानादिति शङ्कायामुत्तरं ददाति। २. पूर्वज्ञानमुत्तरज्ञानं व्यवधापयति, धारणाया अपि व्यवधानमस्ति। ३. तर्हि प्रत्यक्षत्वं कुत इत्याह। ४. विषयस्यार्थस्य विषयिणो ज्ञानस्य च भेदासम्भवात्। कथम् ? अवग्रहादिविषय-भूतार्थस्यावायविषयभूतार्थस्य (चावग्रहादिरूपेण परिणतस्यैकत्वात् ?) अवग्रहादिरूपस्य प्रत्यक्षस्य चैकत्वात्। ५. अज्ञानात्। ६. ज्ञानविषये प्रतीतौ वा।

[१]तर्ह्यनुमा[२]नाध्यक्ष[३]विषयस्यैकात्मग्रा[४]ह्यस्याग्नेर्भिन्नस्योपलम्भादध्यक्षस्य[५] परोक्षतेति। तदप्ययुक्तम्, भिन्नविषयत्वाभावात्[६]। [७]विसदृशसामग्री[८]जन्यभिन्नविषया प्रतीतिः प्रतीत्यन्तरमुच्यते, नान्यदिति न दोषः। न केवलमेतदेव, [९]विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं सविशेषवर्णसंस्थानादिग्रहणं वैशद्यम्।

शंका—यदि आप अवग्रह ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं और अवग्रह तथा ईहा इन दो ज्ञानों से व्यवधान होने पर भी अवाय ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं, तो इसी क्रम से किसी पुरुष के पहले अनुमान से अग्नि का ज्ञान हुआ, वह तो परोक्ष है, क्योंकि उसमें धूम ज्ञान से व्यवधान है। पुनः वही पुरुष समीप जाकर जब अग्नि को देखता है, तब उसका यह प्रत्यक्ष ज्ञान भी परोक्ष मानना पड़ेगा; क्योंकि उसमें प्रतीत्यन्तररूप अनुमान ज्ञान से व्यवधान है, तथा दोनों का विषय भी भिन्न है-पहले का परोक्ष अग्नि विषय है और दूसरे का प्रत्यक्ष अग्नि विषय है। अतः भिन्न विषयों की उपलब्धि के कारण उक्त प्रकार से उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष ज्ञान के परोक्षपना प्राप्त होता है?

समाधान—आपका यह कहना अयुक्त है; क्योंकि यहाँ पर भिन्न विषयपने का अभाव है कहने का भाव यह है कि अनुमान और प्रत्यक्ष की विषयभूत अग्नि एक है, भिन्न नहीं। अनुमान ने जिस अग्नि को जाना है प्रत्यक्ष ने भी उसी अग्नि को जाना है। एक ही अग्नि को विभिन्न प्रमाणों द्वारा जानने में कोई बाधा भी नहीं है। अतः यहाँ अनुमान और प्रत्यक्ष का विषय एक होने से प्रत्यक्ष में प्रतीत्यन्तर व्यवधान नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विसदृश (विलक्षण) सामग्री से उत्पन्न हुई और भिन्न विषय वाली प्रतीति को प्रतीत्यन्तर कहते हैं। यद्यपि अनुमान और प्रत्यक्ष विसदृश सामग्री से उत्पन्न हुए हैं तथापि उनका विषय एक है। अतः प्रत्यक्ष में प्रतीत्यन्तर से व्यवधान नहीं है और इस कारण उसमें परोक्षता का प्रसंग भी नहीं आता।

केवल प्रतीत्यन्तर के अव्यवधान से होने वाले ज्ञान का नाम ही वैशद्य नहीं है; अपितु वस्तु के वर्ण-गन्धादि तथा संस्थान (आकार-प्रकार) आदि विशेषताओं के द्वारा होने वाले विशिष्ट प्रतिभास को भी वैशद्य कहते हैं।

---

१. कश्चित्तटस्थः- यथाऽवग्रहज्ञानं प्रत्यक्षं तथा अवग्रहेहाप्रतीतिभ्यां व्यवधानेऽपि अवायज्ञानस्यापि प्रत्यक्षत्वं तत्क्रमेणैव। २. प्रथममग्निज्ञानं परोक्षं धूमज्ञानेन व्यवधानात्। पुनः समीपं गत्वाऽग्निं पश्यति; तस्य प्रत्यक्षस्यापि परोक्षत्वं स्यात्; प्रतीत्यन्तरानुमानज्ञानेन व्यवधानात्। तथा प्रथमं धूमदर्शनमन्यो विषयः, पश्चादग्निज्ञानं भिन्न :। ३. एकस्मिन् विषये बहुप्रमाणप्रवृत्तौ दोषो नास्ति, दर्शनकाले प्रत्यक्षं प्रमाणान्तरेण व्यवहितं भवति चेद्दोषः। ४. एकपुरुषस्य। ५. अध्यक्षस्य परोक्षत्वमनुमानं धूमदर्शन प्रत्यक्षेण जन्यं प्रत्यक्षमपि अग्निदर्शनजन्यं प्रत्यक्षत्वादि-विशेषादेकसामग्री-लिङ्गानुमितस्याग्नेस्तद्देशोपसर्पणे सति यदर्थग्राहकमध्यक्षं तस्य। ६. भिन्नसामग्रीजन्यस्वभावादिति पाठान्तरम्। ७. विलक्षण-। ८. अनुमानस्य ज्ञातकरणत्वात्प्रत्यक्षस्याज्ञातकरणत्वाद्भिन्न - सामग्री। प्रत्यक्षेऽज्ञातकरणं चक्षुरिन्द्रियं यतस्तत्स्वं न पश्यति। ज्ञातकरणं परिशीलितधूमः। अवग्रहादिनेत्यर्थः। ९. केवलं प्रतीत्यन्तराव्यवधानमेव वैशद्यं न; अपि तु।

'तच्च प्रत्यक्षं द्वेधा, मुख्य[१]-संव्यवहारभेदादिति' मनसि कृत्य प्रथमं सांव्यवहारिकप्रत्यक्षोत्पादिकां सामग्रीं तद्भेदं च प्राह–

[२]इन्द्रियानिन्द्रिय[३]निमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम्॥५॥

विशदं ज्ञानमिति चानुवर्तते। देशतो विशदं ज्ञानं सांव्यवहारिकमित्यर्थः। समीचीनः[४] प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहारः, तत्र[५] भवं सांव्यवहारिकं। पुनः किम्भूतम्? इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। इन्द्रियं चक्षुरादि, अनिन्द्रियं मनः ते निमित्तं कारणं यस्य। [६]समस्तं [७]व्यस्तं च कारणमभ्युपगन्तव्यम्। इन्द्रियप्राधान्यादनिन्द्रिय[८] बलाधानादुपजातमिन्द्रियप्रत्यक्षम्। अनिन्द्रियादेव [९]विशुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमानमनिन्द्रियप्रत्यक्षम्।

[१०]तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षमवग्रहादि[११]धारणापर्यन्ततया चतुर्विधमपि [१२]बह्वादिद्वादशभेदमष्टचत्वारिंशत्सङ्ख्यं

वह प्रत्यक्ष मुख्य और संव्यवहार के भेद से दो प्रकार का है ऐसा अभिप्राय मन में रखकर आचार्य पहले सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को उत्पन्न करने वाली सामग्री और उसके भेद को कहते हैं–

सूत्रार्थ–इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले एकदेश विशद ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं ॥५॥

यहाँ पर पूर्व सूत्र से विशद और ज्ञान इन दो पदों की अनुवृत्ति होती है। एकदेश से विशद जो ज्ञान है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। 'सम्' अर्थात् समीचीन प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार को संव्यवहार कहते हैं, उसमें होने वाले ज्ञान को सांव्यवहारिक कहते हैं। पुनः वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसा है? इन्द्रिय और अनिन्द्रिय-निमित्तक है। इन्द्रिय कहिये चक्षु श्रोत्रादिक और अनिन्द्रिय कहिये मन, ये दोनों जिसके निमित्त अर्थात् कारण हैं। इन्द्रिय और मन ये समस्त अर्थात् दोनों भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के कारण हैं और व्यस्त अर्थात् पृथक्-पृथक् भी कारण हैं, ऐसा जानना चाहिए। इन्द्रियों की प्रधानता से और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को इन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं। ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशमरूप विशुद्धि की अपेक्षा-सहित केवल मन से ही उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं।

इनमें से जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष है वह अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार प्रकार का है। वह भी बहु-अबहु, बहुविध-एकविध, क्षिप्र-अक्षिप्र, अनिःसृत-निःसृत, उक्त-अनुक्त

---

१. 'लघुध्वजाद्येति' सूत्रेणमुख्यस्य प्राक् प्रयोगः। २. इन्दति परमैश्वर्यमनुभवतीति इन्द्र आत्मा, इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। ३. ईषदिन्द्रियमनिन्द्रियम्। ४. अबाधितः। ५. तस्मिन् कर्तव्ये। ६. इन्द्रियानिन्द्रियम्। ७. मन इन्द्रियं वा। ८. सहायात्। ९. ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमलक्षणा विशुद्धिः। १०. द्वयोर्मध्ये। ११. अवगृह्यतेऽर्थस्य सत्त्वसामान्यादवान्तरो जातिविशेषो येन सः। विषयविषयिसन्निपाते सत्येवाद्यं ग्रहणमवग्रहः। ईह्यतेऽवग्रहगृहीतार्थस्य विशेष आकाङ्क्ष्यते यया सेहा, विशेषाकाङ्क्षणमीहा। अवयते निश्चीयतेऽर्थो येनासाववायः, निश्चयोऽवायः, धार्यते कालान्तरेऽपि न विस्मर्यतेऽनया सा कालान्तराविस्मरणकारणा धारणा। १२.बहुबहुविधक्षिप्रानिःस्मृतानुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम् (तत्त्वा० अ० १. सू० १६) बह्वेकव्यक्तिविज्ञानं बह्वेकं च क्रमाद्यथा। बहवस्तरवः सूपो बहुश्चैकं वनं नरः॥१॥ बह्वेकजातिविज्ञानं

प्रतीन्द्रियं प्रतिपत्तव्यम्। अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य चोक्तप्रकारेणाष्टचत्वारिंशद्भेदेन [१]मनोनयनरहितानां [२]चतुर्णामपीन्द्रियाणां [३]व्यञ्जनावग्रहस्याष्टचत्वारिंशद्भेदेन च [४]समुदितस्येन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षस्य षट्त्रिंशदुत्तरा त्रिशती सङ्ख्या प्रतिपत्तव्या।

ननु[५] स्वसंवेदन[६]भेदमन्यदपि प्रत्यक्षमस्ति, तत्कथं नोक्तमिति न वाच्यम्; तस्य सुखादिज्ञानस्वरूप-

---

और ध्रुव-अध्रुव इन बारह विषयों के भेद से अड़तालीस भेदरूप प्रत्येक इन्द्रिय के प्रति जानना चाहिए। अतः पाँचों इन्द्रियों के (४८×५ =२४०) दो सौ चालीस भेद हो जाते है।

अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के भी इसी प्रकार अड़तालीस भेद होते हैं। उन्हें दो सौ चालीस में मिला देने पर (२४०+४८ =२८८) दो सौ अठासी भेद व्यक्त पदार्थ की अपेक्षा होते हैं। किन्तु व्यञ्जन अर्थात् अव्यक्त पदार्थ का केवल अवग्रह ही होता है, ईहादि नहीं। तथा वह मन और नेत्रेन्द्रिय से नहीं होता, केवल शेष चार ही इन्द्रियों के द्वारा बहु-अबहु आदि बारह विषयों के केवल अवग्रह रूप होने से अड़तालीस भेदरूप होता है। इन्हें उक्त दो सौ अठासी में सम्मिलित कर देने पर (२८८+४८=३३६) तीन सौ छत्तीस भेद इन्द्रिय और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के जानना चाहिए।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष या मतिज्ञान के इन ३३६ भेदों का विशेष अर्थ तत्त्वार्थसूत्र की बड़ी टीकाओं से जानना चाहिए।

शंका—बौद्धों का कहना है कि ''मैं सुखी, मैं दुःखी'' इत्यादिरूप एक अन्य भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, उसे आपने क्यों नहीं कहा ?

स्याद्बह्वेकविधं यथा। वर्णा नृणां बहुविधाः गौर्जात्येकविधेति च॥२॥ आश्वर्थस्य ग्रहः क्षिप्रं स्यादक्षिप्रं शनैर्ग्रहः। मृत्पात्रं यद्वदादत्ते नूतं वाऽनूतनं जलम्॥३॥ वस्त्वेकदेशाद्वस्तुनो वस्त्वंशाद्वस्तुनोऽथवा। तत्रासन्निहितान्यस्याऽनिःसृतं मननं यथा॥४॥ घटार्वाग्भागकन्यास्य गवयग्रहणे क्षणे। स्फुटं घटेन्दुगोज्ञानमभ्याससमयान्विते॥५॥ वस्त्वेकदेशमात्रस्य विज्ञानं निःसृतं मतम्। घटार्वाग्भागमात्रेऽपि क्वचिज्ज्ञानं हि दृश्यते॥६॥ प्रत्यक्षे नियतान्यादृग्गुणार्थैकाक्षबोधनम्। अनुक्तमेकदैवोक्तं प्रत्यक्षं नियतग्रहः॥ ७॥ चक्षुषा दीपरूपावलोकावसर एव तत्। तदुष्णस्पर्शविज्ञानं यथोक्तार्थः प्ररूप्यते॥८॥ स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनश्च खम्। अर्थः स्पर्शो रसो गन्धो रूपः शब्दः श्रुतादयः॥९॥ स्यान्नित्यत्वविशिष्टस्य स्तम्भादेर्ग्रहणं ध्रुवः। विद्युदादेरनित्यत्वेनान्वितस्याध्रुवो ग्रहः॥१०॥ तत्रार्थस्य द्वादशपदार्थैः सहावग्रहादीनामिन्द्रियाणां मनसश्च गुणने २८८भेदा भवन्ति। व्यञ्जनावग्रहस्य द्वादशपदार्थैः 'न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्' इति निषेधाच्चक्षुरनिन्द्रियव्यतिरिक्तचतुर्णामिन्द्रियाणां गुणने सति ४८ भेदा भवन्ति। अर्थावग्रहस्यव्यञ्जनावग्रहस्य च सर्वे समुदिताः ३३६ भेदा मतिज्ञानस्य सन्ति।

१. अप्राप्यकारित्वमेतयोः। व्यक्तमर्थावग्रहस्य; प्राप्याप्राप्यकारित्वेन्द्रियेषु प्रवृत्तिः। अव्यक्तं व्यञ्जनावग्रहस्य, प्राप्यकारित्वेन्द्रियेषु प्रवृत्तिः। २. श्रोत्रत्वग्जिह्वाघ्राणेन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वम्। ३. अर्थावग्रहस्य स्पष्टत्वास्पष्टत्वम्। व्यञ्जनेऽस्पष्टत्वम्। व्यञ्जनमव्यक्तशब्दादिजातम्, तस्यावग्रह एव भवति; नूतनभाण्डस्योपरिक्षिप्तजलवत्संस्था-जनितकालवत्। ४. मिलितस्य। ५. बौद्धः प्राह। ६. अहं सुखी, अहं दुःखीत्यादिरूपम्।

संवेदनस्य मानसप्रत्यक्षत्वात्[१], इन्द्रियज्ञानस्वरूपसंवेदनस्य चेन्द्रियसमक्षत्वात्[२]। अन्यथा[३] तस्य[४] स्वव्यवसायायोगात्। स्मृत्यादिस्वरूपसंवेदनं [५]मानसमेवेति नापरं[६] स्वसंवेदनं नामाध्यक्षमस्ति।

[७]ननु प्रत्यक्षस्योत्पादकं कारणं वदता ग्रन्थकारेणेन्द्रियवदर्थालोकावपि किं न कारणत्वेनोक्तौ? तदवचने[८] कारणानां साकल्यस्यासङ्ग्रहाद्विनेयव्यामोह[९] एव स्यात्, तदियत्ताऽनवधारणात्। न च भगवतः[१०] परम-कारुणिकस्य चेष्टा[११] तद्-व्यामोहाय प्रभवतीत्याशङ्कायामुच्यते-

नार्थालोकौ[१२] [१३]कारणं [१४]परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्॥६॥

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सुख-दुःखादि के ज्ञानस्वरूप जो स्वसंवेदन होता है, उसका मानस प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव हो जाता है और जो इन्द्रिय ज्ञानस्वरूप संवेदन होता है, उसका इन्द्रिय प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव हो जाता है। यदि ऐसा न माना जाये तो स्वसंवेदनरूपज्ञान के स्वव्यवसायकता नहीं बन सकती है। तथा स्मृति आदि स्वरूप जो संवेदन होता है, वह भी मानस प्रत्यक्ष ही है। इसलिए इससे भिन्न स्वसंवेदन नाम का अन्य कोई प्रत्यक्ष नहीं है।

यहाँ नैयायिक कहते हैं कि प्रत्यक्ष के उत्पादक कारण बतलाते हुए ग्रन्थकार ने इन्द्रिय-अनिन्द्रिय के समान अर्थ और आलोक को कारणरूप से क्यों नहीं कहा ? क्योंकि अर्थ यानी पदार्थ के निमित्त से भी ज्ञान उत्पन्न होता है और आलोक अर्थात् प्रकाश के निमित्त से भी ज्ञान उत्पन्न होता है। इनके नहीं कहने से सकल कारणों का संग्रह नहीं हुआ और इसलिए शिष्यजनों को व्यामोह अर्थात् सन्देह और विभ्रम ही होगा, क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति के जितने भी कारण हैं उनकी संख्या शिष्यजनों को अज्ञात रहेगी। और परम करुणावान् भगवान् की कोई भी चेष्टा (प्रवृत्ति) शिष्यजनों के व्यामोह के लिए नहीं हो सकती। नैयायिकों की ऐसी आशंका होने पर ग्रन्थकार उसका उत्तर देते हुए कहते हैं-

सूत्रार्थ—अर्थ और आलोक ये दोनों ही सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के कारण नहीं हैं; क्योंकि ये परिच्छेद्य अर्थात् ज्ञान के विषय हैं-जानने योग्य ज्ञेय हैं। जो ज्ञान का विषय होता है, वह ज्ञान का कारण नहीं होता। जैसे अन्धकार ॥६॥

भावार्थ—अन्धकार ज्ञान का विषय तो है क्योंकि यह सभी जानते हैं और कहते भी हैं कि यहाँ अन्धकार है। परन्तु वह ज्ञान का कारण नहीं, प्रत्युत ज्ञान का प्रतिबन्धक है अर्थात् अन्धकार

---

१. अनिन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्। २. यथेन्द्रियज्ञानं समक्षं तथेन्द्रियज्ञानस्वरूप-संवेदनस्यापि समक्षत्वमिति। ३. मनोक्षप्रभव-ज्ञानाभ्यामन्यत्वे। ४. स्वसंवेदनस्य। ५. तस्यानिन्द्रिय-निमित्तत्वात्। ६. भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः। बहिःप्रमे-यापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते॥१॥ ७. नैयायिकः प्राह। ८. कारणसाकल्यावचने सति। ९. सन्देहभ्रमः। १०. आचार्यस्य ग्रन्थकर्तुः। ११. प्रवृत्तिः। १२. तमो वत्परिच्छे द्यौ। १३. सांव्यवहारिकप्रत्यक्षस्य कारणं नेति भावः। १४. प्रमेयत्वात्प्रत्यक्ष-गोचरत्वादित्यर्थः।

सुगममेतत्। ननु बाह्या[१]लोकाभावं विहाय तमसोऽन्यस्याभावात् साधनविकलो[२] दृष्टान्त इति? नैवम्, एवं सति[३] बाह्यालोकस्यापि तमोऽभावादन्यस्यासम्भवात्तेजोद्रव्यस्यासम्भव इति विस्तरेणैतदलङ्कारे[४] प्रतिपादितं बोद्धव्यम्।

अत्रैव साध्ये हेत्वन्तरमाह–

तदन्वय[५]व्यतिरेकानुवि[६]धानाभावाच्च केशो[७]ण्डुकज्ञानवन्नक्त[८]ञ्चर-ज्ञानवच्च॥७॥

के कारण सामने रखे हुए भी पदार्थों का ज्ञान नहीं होने पाता। यदि पदार्थों को ज्ञान का कारण माना जाये तो विद्यमान ही पदार्थों का ज्ञान होगा और जो उत्पन्न ही नहीं हुए, अथवा नष्ट हो गये हैं, उनका ज्ञान नहीं होगा; क्योंकि जो नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थ इस समय विद्यमान ही नहीं है, वे जानने में कारण कैसे हो सकते हैं। इसी प्रकार जो आलोक को ज्ञान का कारण मानते हैं उन्हें रात्रि में कुछ भी ज्ञान नहीं होगा, वे यह भी नहीं कह सकेंगे कि यहाँ अन्धकार है।

यह सूत्र सुगम है।

शंका—बाह्य आलोक के अभाव को छोड़कर अन्धकार अन्य कोई वस्तु नहीं है, अतः आपका 'तमोवत्' यह दृष्टान्त साधन-विकल है। अर्थात् जब अन्धकार कोई वस्तु ही नहीं है, तब वह परिच्छेद्य (जानने योग्य) कैसे हो सकता है, अतः उसमें परिच्छेद्यत्व साधन के नहीं पाये जाने से आपके द्वारा उपन्यस्त दृष्टान्त साधन-विकल हो जाता है।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर तो बाह्य प्रकाश के विषय में भी हम कह सकते हैं कि अन्धकार का अभाव ही प्रकाश है, इसके अतिरिक्त प्रकाश नाम का कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकार प्रकाश के असम्भव हो जाने से तेजो द्रव्य का मानना भी असम्भव हो जायेगा। इसका विस्तार से प्रतिपादन परीक्षामुख के अलंकारभूत प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक महान् ग्रन्थ में किया गया है उसे वहीं से जानना चाहिए।

अब सूत्रोक्त इसी साध्य को दूसरी युक्तियों से सिद्ध करते हैं–

सूत्रार्थ— अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं हैं, क्योंकि ज्ञान का अर्थ और आलोक के साथ अन्वय-व्यक्तिरेकरूप सम्बन्ध का अभाव है। जैसे केश में होने वाले उण्डुक ज्ञान के साथ, तथा नक्तंचर उलूक आदि को रात्रि में होने वाले ज्ञान के साथ ॥७॥

---

१. बाह्यालोकाभावस्य तमसः परिच्छेद्यत्वं नास्ति। बाह्यमिति विशेषणेनान्तरज्ञानत्वं प्रतिपादितं भवति, न तु तमस्त्वमिति। २.बाह्यालोकस्याभावस्यैव तमसः साधनात्तमसः परिच्छेद्यत्व नास्ति, अतःसाधनविकलत्वं दृष्टान्तस्य। ३.तमोऽभाव एव बाह्यालोकः। ४. प्रमेयकमलमार्तण्डे। ५. ज्ञानं धर्मी अर्थालोककारणकं न भवति, तस्मादर्थालोकयोः। ६. अनुगमन। ७. अनेन दृष्टान्तेन ज्ञानमर्थकारणकमिति निरस्तम्। ८. अनेन ज्ञानमालोककारणकमिति निरस्तम्।

अत्र[१] व्याप्तिः–[२]यद्यस्या[३]न्वयव्यतिरेकौ नानुविदधाति, न तत्तत्कारणकम्, यथा केशोण्डुकज्ञानम्। नानुविधत्ते च ज्ञानमर्थान्वयव्यतिरेकाविति[४]। तथाऽऽलोकेऽपि[५]। एतावान् विशेषस्तत्र नक्तञ्चरदृष्टान्त इति। नक्तञ्चरा मार्जारादयः[६]।

ननु[७] विज्ञानमर्थजनितमर्थाकारं चार्थस्य ग्राहकम्; [८]तदुत्पत्तिमन्तरेण विषयं[९] प्रति नियमायोगात्।

अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं हैं, इस विषय में व्याप्ति इस प्रकार है–जो कार्य जिस कारण के साथ अन्वय और व्यतिरेक को धारण नहीं करता है, वह तत्कारणक नहीं है। जैसे केश में होने वाला उण्डुक का ज्ञान अर्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक को नहीं धारण करता। तथा आलोक में भी ज्ञान के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है! इतना विशेष है कि यहाँ पर नक्तञ्चर दृष्टान्त है। रात्रि में विचरण करने वाले उल्लू, चमगीदड़, मार्जार आदि को नक्तञ्चर कहते हैं।

विशेषार्थ–पदार्थ ज्ञान के उत्पन्न करने में कारण नहीं हैं; क्योंकि ज्ञान का पदार्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। कारण के होने पर कार्य के होने को अन्वय कहते हैं और कारण के अभाव में कार्य के अभाव को व्यतिरेक कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान का अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध पदार्थ के साथ नहीं पाया जाता जैसे कि केशों में उण्डुक का ज्ञान। किसी व्यक्ति के मस्तक पर मच्छरों का समूह उड़ रहा था, उसे देखकर किसी को भ्रम हो गया कि केशों का गुच्छा उड़ रहा है। अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि किसी के शिर के केश उड़ रहे थे उन्हें देखकर किसी को मच्छरों के झुण्ड उड़ने का ज्ञान हो गया। इस प्रकार के ज्ञान में केशों के होते हुए केशों का ज्ञान तो नहीं हुआ, उलटा मच्छरों का ज्ञान हुआ। अथवा मच्छरों के रहते हुए मच्छरों का तो ज्ञान नहीं हुआ, प्रत्युत केशों का ज्ञान हो गया। इससे ज्ञात होता है कि पदार्थ के साथ ज्ञान का अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार प्रकाश के साथ भी ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक नहीं पाया जाता। देखो–दिन में प्रकाश के होते हुए भी उल्लू और चमगीदड़ आदि को सामने की वस्तु का ज्ञान नहीं होता। और रात्रि में प्रकाश के अभाव में भी उसका ज्ञान होता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रकाश भी ज्ञान का कारण नहीं है। यदि होता, तो रात्रि में उल्लू आदि को ज्ञान कभी नहीं होता।

बौद्धों की मान्यता है कि जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है, वह ज्ञान उसी अर्थ के आकार होता है और उसी का ग्राहक होता है अर्थात् उसे जानता है। क्योंकि तदुत्पत्ति के बिना विषय के प्रति कोई नियम नहीं बन सकता अर्थात् यदि घट विषयक ज्ञान को घट से उत्पन्न हुआ

---

१. अर्थालोकौ कारणं न भवत इत्यत्र। २. कार्यं ज्ञानम्। ३. कारणस्यार्थस्य। ४. अर्थे सति ज्ञानमिति नियमो न; यतोऽर्थाभावेऽपि ज्ञानसद्भावात्। ५. व्याप्तिः। ६. आदिशब्देनाञ्जनसंस्कृतमपि चक्षुः। ७. बौद्धः यौगाचारो वक्ति। ८. तस्माद्विज्ञातविषयादिति। ९. प्रत्येकव्यापारम्।

[१]तदुत्पत्तेरालोकादाव[२]विशिष्टत्वात्ताद्रूप्य[३]सहिताया एव [४]तस्यास्तं प्रति नियमहेतुत्वात्, [५]भिन्नकालत्वेऽपि ज्ञान-ज्ञेययोर्ग्राह्यग्राहकभावाविरोधात्। तथा चोक्तम्-

भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव[६] युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम्[७]॥४॥

इत्याशङ्का[८]यामिदमाह-

न माना जाये तो घटज्ञान घट को ही विषय करे और पट को न करे, इसका कोई नियम नहीं ठहरेगा। यदि केवल तदुत्पत्ति को ही विषय के जानने में नियामक माना जाये, तो वह आलोक आदि में भी समान है, अर्थात् आलोक के होने पर ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है, फिर भी वह ज्ञान तदाकारता के अभाव से आलोक को ग्रहण नहीं करता है, अतः ताद्रूप्य-सहित तदुत्पत्ति को ही विषय के प्रति नियामक कारण माना गया है। यदि कहा जाये कि ज्ञान और ज्ञेय भिन्न कालवर्ती हैं; अर्थात् जिस पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह तो पूर्व क्षण में नष्ट हो गया और उससे हुआ ज्ञान अब वर्तमान समय में प्रवृत्त हो रहा है, ऐसी दशा में ज्ञान और ज्ञेय में ग्राह्य और ग्राहकपना कैसे बन सकेगा? सो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व क्षणवर्ती पदार्थ नष्ट होते हुए भी अपना आकार उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अर्पण करके नष्ट होता है, अतः ग्राह्य ग्राहक भाव में कोई विरोध नहीं आता। जैसा कि कहा है-

यदि कोई पूछे कि भिन्न कालवर्ती पदार्थ ग्राह्य कैसे हो सकता है ? तो युक्ति के जानने वाले आचार्य ज्ञान में तदाकार के अर्पण करने की क्षमता वाले हेतुत्व को ही ग्राह्यता कहते हैं॥४॥

विशेषार्थ—बौद्धों से कोई पूछ सकता है कि आपके यहाँ ज्ञान और ज्ञेय का काल भिन्न है; क्योंकि जिस समय ज्ञान उत्पन्न होता है उस समय पदार्थ नष्ट हो जाता है। अतः भिन्न कालवर्ती ज्ञान ज्ञेय को कैसे जानेगा ? बौद्ध इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि ज्ञान के लिए अपना आकार अर्पण करने में समर्थज्ञान की उत्पत्ति का कारण पदार्थ ही ग्राह्य कहा गया है। अर्थात् नष्ट होते समय पदार्थ ज्ञान को अपना आकार सौंप जाता है और फिर ज्ञान उसी आकार को जानता है। इस प्रकार भिन्न काल होने पर भी अर्थ में ग्राह्यता सिद्ध हो जाती है।

पर जैन लोग तो ज्ञान की अर्थ से उत्पत्ति मानते नहीं है, अतः उनके यहाँ ज्ञान और ज्ञेय में

---

१. आत्माऽदृष्टेन्द्रियाणि सामान्यात्। २. सत्याऽऽलोके ज्ञानस्योत्पत्तिः कथं नालोकं गृह्णाति; तदाकारत्वाभावात्। ३.अतस्ताद्रूप्यग्रहणम्। ताद्रूप्यतदुत्पत्ती नीलक्षणादौ। तस्य विषयस्य रूपं यत्तत्तद्रूपं तस्य भावस्ताद्रूप्यम्। ४. तदुत्पत्तेः। ५. ज्ञानं नीलक्षणादुत्पन्नं तदाकारधारि सत्तद् गृह्णातीति तदसत्यम् तयोर्भिन्नकालत्वात्। नीलक्षणमतीतसमये नष्टम्, तदुत्पन्नं ज्ञानं वर्तमानसमये प्रवर्तते यत एक आत्मलाभक्षणो द्वितीयस्तस्य ज्ञानजननक्षणः। ६. ज्ञानोत्पत्तिकारणत्वमेव। ७. तस्मै आकारार्पणक्षमम्। ८. यद्येवं ज्ञानस्य तदुत्पत्तिरभ्युपगम्यते प्रागभावत्वात्सर्वहेतूनामिति वचनात् तर्हि कारणभूतार्थस्य कार्यभूत-ज्ञानेऽभाव एव। तथा च तस्य कथं ग्राह्यत्वमित्याशङ्कायामाह इति बौद्धशङ्कायामाहेत्यर्थः।

[1]अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं[2] प्रदीपवत्॥८॥

अर्थाजन्यमप्यर्थप्रकाशकमित्यर्थः। अतज्जन्यत्वमुपलक्षण[3]म्। तेनातदाकारमपीत्यर्थः। उभयत्रापि प्रदीपो दृष्टान्तः। यथा प्रदीपस्यातज्जन्यस्यातदाकारधारिणोऽपि तत्प्रकाशकत्वम्, तथा ज्ञानस्यापीप्यर्थः।

ननु[4] यद्यर्थादजातस्यार्थरूपाननुकारिणो ज्ञानस्यार्थसाक्षात्कारित्वं[5] तदा नियतदिग्देशकालवर्तिपदार्थ-प्रकाशप्रतिनियमे[6] [7]हेतोरभावात्सर्वे विज्ञानमप्रतिनियतविषयं[8] स्यादिति शङ्कायामाह–

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया[9] हि प्रतिनियतमर्थंव्यवस्थापयति॥९॥

ग्राह्य-ग्राहकपना कैसे बनेगा? ऐसी बौद्धों की आशंका के होने पर आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं–

सूत्रार्थ–अर्थ से नहीं उत्पन्न हो करके भी ज्ञान अर्थ का प्रकाशक होता है, दीपक के समान ॥८॥

अतज्जन्य अर्थात् अर्थ से नहीं उत्पन्न हुआ भी ज्ञान तत्प्रकाशक अर्थात् पदार्थ का ज्ञायक होता है। यहाँ पर अतज्जन्यता उपलक्षणरूप है, अतः उससे अतदाकारता का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। अतज्जन्यता और अतदाकारता इन दोनों के विषय में प्रदीप का दृष्टान्त समान है। जैसे दीपक घट-पटादि पदार्थों से उत्पन्न नहीं होकर और उनके आकार नहीं होकर के भी उनका प्रकाशक है वैसे ही ज्ञान भी घटादि पदार्थों से उत्पन्न नहीं होकर और उनके आकार नहीं होकर के भी उन पदार्थों को जानता है।

यहाँ पर बौद्ध शंका करते हैं कि यदि अर्थ से नहीं उत्पन्न हुए और अर्थ के आकार को भी नहीं धारण करने वाले ज्ञान को आप जैन लोग अर्थ का साक्षात्कारी मानते हैं, तब नियतदिशावर्ती, नियतदेशवर्ती और नियतकालवर्ती पदार्थों के जानने के प्रतिनियम में तदुत्पत्ति-ताद्रूप्य हेतु के अभाव से सभी ज्ञान अप्रतिनियत विषय वाले हो जायेंगे ? अर्थात् किसी भी व्यक्ति का कोई एक भी ज्ञान विभिन्न दिग्देशवर्ती त्रैकालिक पदार्थों का जानने वाला हो जायेगा; क्योंकि तदुत्पत्ति-ताद्रूप्य के बिना अमुकज्ञान अमुक पदार्थ को ही जाने, इसका कोई नियामक कारण नहीं रहता। फिर तो प्रत्येक ज्ञान विश्व के त्रिकालवर्ती और त्रिजगद्व्यापी पदार्थों का जानने वाला हो जायेगा। बौद्धों को ऐसी शंका के होने पर आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं–

सूत्रार्थ–अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम लक्षण वाली योग्यता से प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतिनियत पदार्थों के जानने को व्यवस्था करता है ॥९॥

---

१. न तज्जन्यमतज्जन्यमर्थाजन्यमपि। २. अर्थप्रकाशनस्वभावात्। ३. अतदाकारधारित्वमर्थमुपसन्धत्ते इत्युपलक्षणम्। यथा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्युक्ते गृद्धेभ्योऽपि रक्षणीयम्; न केवलं काकेभ्यः। तथाऽतदाकार-धारित्वमप्युपलक्षणीयम्। अथवा स्वस्य सदृशस्य ग्राहकमुपलक्षणम्। ४. बौद्धः प्राह। ५. भो जैन, यद्येवं ब्रूषे। ६. निश्चये। ७. तदुत्पत्ति-ताद्रूप्यहेतुमन्तरेण। ८. अतीतानागतव्यवहितदूरान्तरितानां प्रमाणस्य प्रकाशकत्वं भवत्वित्यनिष्टापादनं जैनानाम्। ९. अर्थग्रहणशक्तिर्योग्यता, तया।

स्वानि च तान्यावरणानि च स्वावरणानि। तेषां क्षय[१] उदयाभावः। तेषामेव सदवस्था उपशमः, [२]तावेव लक्षणं यस्या योग्यतायास्तया हेतुभूतया [३]प्रतिनियतमर्थे व्यवस्थापयति प्रत्यक्षमिति शेषः। हि यस्मादर्थे यस्मादेवं ततो नोक्तदोष इत्यर्थः।

इदमत्र तात्पर्यम्–कल्पयित्वापि[४] ताद्रूप्यं तदुत्पत्तिं तदध्यवसायं[५] च योग्यताऽवश्याऽभ्युपगन्तव्या[६]। ताद्रूप्यस्य[७] समानार्थैस्तदुत्पत्ते[८]–रिन्द्रिया[९]दिभिस्तद्द्वयस्यापि[१०] समानार्थ[११]–[१२]समनन्तर[१३]प्रत्ययै[१४]स्तत्त्रित–

भावार्थ–प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान पर उसे रोकने वाले असंख्य आवरण कर्म चढ़े हुए हैं। उन आवारक कर्मों की जैसी-जैसी क्षयोपशमशक्तिरूपी योग्यता प्रकट होती जाती है, वैसे-वैसे ही आत्मा में जानने की शक्ति भी स्वयमेव प्रकट होती जाती हैं। जिस वस्तु विषयक ज्ञान का आवरण दूर होता जाता है, आत्मा उसे बाहरी अर्थ, आलोक आदि कारणों के बिना तथा तदुत्पत्ति और तदाकारता के बिना ही स्वतः स्वभाव जानने लगता है। अतः ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशमरूप योग्यता को ही जैन लोग प्रतिनियत विषय का नियामक मानते हैं।

अपने ज्ञान के रोकने वाले आवरण को स्वावरण कहते हैं। उदय-प्राप्त उन आवरणकर्मों के वर्तमानकाल में उदयाभाव को क्षय कहते हैं और अनुदय-प्राप्त उन्हीं कर्मों के सत्ता में अवस्थित रहने को उपशम कहते हैं। ये दोनों ही जिसके लक्षण हैं, ऐसी योग्यता के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्रतिनियम अर्थ को व्यवस्था करता है। इस ज्ञान का यह पदार्थ ही विषय है, अन्य नहीं, ऐसी व्यवस्था को प्रतिनियम व्यवस्था कहते हैं। यहाँ प्रत्यक्ष यह पद शेष है, सूत्र में नहीं कहा गया है, अतः ऊपर के सूत्र से उसका अध्याहार कर लेना चाहिए। सूत्र में पठित 'हि' शब्द 'यस्मात् के अर्थ में है, यतः योग्यता वस्तु-ज्ञान की व्यवस्थापक है, अतः आप बौद्धों के द्वारा कहा गया कोई दोष हम जैनों पर लागू नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए?

यहाँ यह तात्पर्य है कि उक्त प्रकार से तदुत्पत्ति (ज्ञान का पदार्थ से उत्पन्न होना), ताद्रूप्य (पदार्थ के आकार होना) और तदध्यवसाय (उसी पदार्थ का जानना) यद्यपि प्रतिनियत अर्थ के जानने में कारण रूप से नियामक नहीं है, तथापि अपने दुराग्रहवश कल्पना करके भी अर्थात् उन तीनों को मान करके भी आप लोगों को योग्यता अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए। इसका कारण यह है कि ताद्रूप्य का समानार्थो के साथ, तदुत्पत्ति का इन्द्रियादिकों के साथ, इन दोनों का

---

१. मतिज्ञानावरण-वीर्यान्तरायकर्मद्रव्याणां अनुभागस्य सर्वघातिस्पर्धका-नामुदयाभावः क्षयः। २. तेषामेवानुदयप्राप्तानां सदवस्था उपशमः। ३. अस्य ज्ञानस्यायमेवार्थ इति। ४. त्वयोक्तं तथा न भवति, तथापि कल्पयित्वापि योग्यताऽङ्गीकर्तव्या त्वया। ५. अर्थनिश्चयम्। ६. एतत्त्रयं सहकारिकारणं वर्तते, तथापि कल्पनया किमुपकरणं कल्पितं यद्योग्यताऽवश्याऽभ्युपगन्तव्या। ७.तदाकारतया सदृशलक्षणैः। यदि ताद्रूप्याद्बोधोऽर्थस्य नियामकस्तर्हि निखिलसमानार्थेष्वैकवेदनापत्तिः स्यात्। न च ताद्रूप्याद्बोधस्य समानार्थेषु नियामकत्वं घटते; अतो नियामका-भावात्तैर्व्यभिचारः। ८.अर्थादुत्पत्तिश्चेत्। ९.इन्द्रियादि-भिर्व्यभिचारः स्याद्यतो ज्ञानमिन्द्रियादुत्पन्नं सत्तन्न जानाति।

यस्यापि[1] [2]शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानेन व्यभिचाराद् योग्यताश्रयणमेव श्रेय इति।

समानार्थ समनन्तर प्रत्यय के साथ और ताद्रूप्य, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय इन तीनों का भी शुक्ल शंख में पीताकार ज्ञान के साथ व्यभिचार आता है, अतः योग्यता का आश्रय लेना ही आप लोगों के लिए श्रेयस्कर है।

विशेषार्थ—यदि तदाकारता से ज्ञान पदार्थ का नियामक हो, तो जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न हुआ है, वह ज्ञान उस पदार्थ के समान जितने भी पदार्थ हैं, उन सबको उसी समय क्यों नहीं जानता? क्योंकि वे पदार्थ भी तो उसी पदार्थ के सदृश आकार वाले हैं, जिससे कि ज्ञान उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार ताद्रूप्य ज्ञान को अर्थ का नियामक मानने में समान आकार वाले पदार्थों से व्यभिचार आता है। तदुत्पत्ति को पदार्थ के जानने में नियामक मानने पर इन्द्रिय आदि से व्यभिचार आता है क्योंकि ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न तो होता है, पर इन्द्रियों को नहीं जानता। यदि ताद्रूप्य और तदुत्पत्ति इन दोनों को जानने में नियामक मानते हैं, तो समानार्थ समनन्तर प्रत्यय से व्यभिचार आता है। इसका भाव यह है कि बौद्धों की व्यवस्था के अनुसार किसी व्यक्ति को प्रथम क्षण में 'यह नील पदार्थ है' ऐसा ज्ञान हुआ, द्वितीय क्षण में भी यह नील है यह ज्ञान हुआ और तृतीय क्षण में भी यह नील है'यह ज्ञान हुआ। यहाँ पर तीनों ही ज्ञान समान अर्थ वाले हैं और प्रथम ज्ञान की अपेक्षा दूसरा ज्ञान बीच में अन्य के व्यवधान नहीं होने से समनन्तर प्रत्यय (प्रतीति) रूप भी है। यहाँ पर प्रथमक्षणवर्ती ज्ञान से द्वितीय क्षणवर्ती ज्ञान उत्पन्न हुआ, अतः तदुत्पत्ति भी है और पूर्व ज्ञान के आकार हुआ, अतः तदाकारता भी है, फिर भी बौद्ध मान्यता के अनुसार दूसरा ज्ञान प्राक्तन (पहले के) ज्ञान को नहीं जानता। अतः ताद्रूप्य और तदुत्पत्ति इन दोनों को नियामक मानने में समानार्थ-समनन्तर प्रत्यय से व्यभिचार दोष आता है। यदि कहा जाये कि ताद्रूप्य, तदुत्पत्ति

---

१०. भो जैन, त्वयैकैकस्य निराकरणं कृतम्; तन्न युक्तम्, यतस्तद्द्वयस्यापि प्रमाणस्य करणत्वमिति शङ्कायां तद्द्वयमपि निराकरोति जैनः। ११. प्राक्तनज्ञानस्य य एव नीलाद्यर्थो विषयः स एवोत्तरज्ञानस्येत्येकसन्तानवर्तित्वेन समानोऽर्थ एको नीलः। १२. ईप्। १३. प्रथमक्षणे नीलमिति ज्ञानमुत्पन्नम्, तच्च द्वितीयस्य जनकम्। तत्र ताद्रूप्यमस्ति तदुत्पत्तिश्च, ज्ञानत्वेन समानमन्याव्यवहितत्वेन समनन्तरमिति। १४. तदुत्पत्तेस्ताद्रूप्याच्च यद्यर्थस्य बोधो नियामकस्तदा प्राक्तनज्ञानेन व्यभिचारः कथम् ? द्वितीयज्ञानस्य प्राक्तन-ज्ञानात्तदुत्पत्तिताद्रूप्यसद्भावेऽपि द्वितीयज्ञानेन पूर्वान्तरज्ञानस्य नियामकत्वायोगात्। न हि ज्ञानं ज्ञानस्य नियामकं स्वप्रकाशकत्वात्तस्य। अयमाशयः-प्राक्तनज्ञानलक्षणैः सह तदनन्तरजातद्वितीयज्ञानस्य। व्यभिचारः, यतो द्वितीयज्ञानं प्राक्तनं न गृह्णाति।

१. ननु न ताद्रूप्यतदुत्पत्तिभ्यां बोधोऽर्थस्य नियामकः, किन्तु तदध्यवसायित्व-सहिताभ्या-मेवेत्याशङ्कायां तत्त्रयमपि निराकरोति जैनः। तत्त्रितयस्य तदुत्पत्तिताद्रूप्यतदध्यवसायस्य। २. ननु वीतं ज्ञानं प्रतिनियतनीलादिविषयं तज्जन्य-तद्रूपतदध्यवसायित्वादित्यत आह-'तदिति' काचकामलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानादुत्पन्नस्य तद्रूपस्य तदध्यवसायिनो द्वितीयज्ञानस्य पीताकारेण प्राक्तनज्ञानेन व्यभिचारः।

एतेन[१] यदुक्तं परेण[२]–

[१]अर्थेन [२]घटयत्येनां[३] न हि मुक्त्वाऽर्थरूपताम्[४]।
तस्मात्प्रमेयाधिगतेः[५] प्रमाणं मेयरूपता॥५॥

इति तन्निरस्तम्; [६]समानार्थाकारनानाज्ञानेषु मेयरूपतायाः सद्भावात्। न च [७]परेषां [८]सारूप्यं नामास्ति वस्तुभूतमिति योग्यतयैवार्थप्रतिनियम इति स्थितम्।

इदानीं कारणत्वात्परिच्छेद्यो[९]ऽर्थ[९] इति मतं निराकरोति–

और तदध्यवसाय इन तीनों को हम अर्थ का नियामक मानते हैं, तो काच–कमलादिक रोग के हो जाने से शुक्लवर्ण का भी शंख पीला दिखाई देने लगता है। अतः पीताकार ज्ञान से व्यभिचार आता है। इसका भाव यह है कि पीलिया रोग वाले व्यक्ति को प्रथम क्षण में जैसा पीताकार का ज्ञान हुआ तदनन्तर दूसरे क्षण में भी वैसा ही ज्ञान हुआ और तदनन्तर तीसरे भी समय में वैसा ही ज्ञान हुआ। यहाँ पर ताद्रूप्य, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय ये तीनों ही हैं, फिर भी द्वितीय क्षणवर्ती पीताकाररूप ज्ञान प्रथम क्षणवर्ती पीताकार ज्ञान को नहीं जानता। इस प्रकार व्यभिचार आने से ताद्रूप्य आदि को जानने का नियामक न मानकर योग्यता को ही प्रतिनियत अर्थ का व्यवस्थापक मानना चाहिए।

इस प्रकार ताद्रूप्य आदि के व्यभिचार प्रतिपादन करने से बौद्ध–द्वारा जो यह कहा गया है–

अर्थरूपता अर्थात् तदाकारता को छोड़कर अन्य कोई भी वस्तु इस निर्विकल्प प्रत्यक्ष बुद्धि का अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करती है, अतएव प्रमाण के विषभूत पदार्थ को जानने के लिए मेयरूपता अर्थात् पदार्थ के आकाररूप तदाकारता ही प्रमाण है ॥५॥

यह कथन निरस्त (खण्डित) हो जाता है; क्योंकि समान अर्थाकार वाले नाना ज्ञानों में मेयरूपता यानी तदाकारता पाई जाती है। फिर भी एक ज्ञान के द्वारा एक ही पदार्थ जाना जाता है, सत्सदृश अन्य नहीं। और बौद्धों के यहाँ सदृश परिणाम–लक्षण वाला यौगाभिमत सामान्य पदार्थ जैसा कोई सारूप्य वास्तविक है नहीं। अतः यही सिद्ध हुआ कि आवरण कर्म के क्षयोपक्षम लक्षण वाली योग्यता ही विषय के प्रतिनियम का कारण है।

अब जो लोग पदार्थ को ज्ञान का कारण होने से परिच्छेद्य अर्थात् जानने योग्य ज्ञेय कहते हैं, आचार्य उनके मत का निराकरण करते हैं–

---

१. स्वावरणेत्यादिना ताद्रूप्यादिनां व्यभिचार–प्रतिपादनेन। २. बौद्धेन। १.सह। २. संबध्नाति। ३. निर्विकल्पप्रत्यक्षबुद्धिम्। ४. अर्थरूपतां मुक्तवाऽन्यत् किञ्चिन्निर्विकल्प–प्रत्यक्षबुद्धिमर्थेन न–घटयतीत्यर्थः।५ फलस्य। ६. समानोऽर्थानामाकारो येषु। ७. सौगतानाम्। ८. सारूप्यं सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यम्, तच्च सौगतानां मते नास्ति वास्तवम्, तत्कथमर्थक्रियाकारि ? ९. विषयः कारकाणाम्।

कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे [१०]करणादिना व्यभिचारः॥१०॥

करणादिकारणं परिच्छेद्यमिति तेन व्यभिचारः। न ब्रूमः कारणत्वात्परिच्छेद्यत्वम्, अपि तु परिच्छेद्यत्वात्कारणत्वमिति चेन्न; तथापि केशोण्डुकादिना व्यभिचारात्।

इदानीमतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्याचष्टे–

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतोमुख्यम्॥११॥

सामग्री[१] द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणा, तस्या विशेषः समग्रतालक्षणः। तेन[२] [३]विश्लेषितान्यखिलान्या-

---

सूत्रार्थ—कारण को परिच्छेद्य मानने पर करण आदि से व्यभिचार आता है क्योंकि इन्द्रियाँ ज्ञान की कारण तो है, परन्तु विषय नहीं है। अर्थात् इन्द्रियाँ अपने आपको नहीं जानती हैं ॥१०॥

यतः करणादि (इन्द्रिय आदि) ज्ञान के कारण हैं, अतः परिच्छेद्य (ज्ञेय) हैं, इसलिए इन्द्रियादि से व्यभिचार सिद्ध है।

शंका—यहाँ बौद्ध कहते है कि हम लोग पदार्थ को ज्ञान का कारण होने से परिच्छेद्य नहीं कहते हैं अपितु परिच्छेद्य होने से उसे ज्ञान का कारण कहते हैं।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि परिच्छेद्य होने से यदि पदार्थ को ज्ञान का कारण मानेंगे, तो भी केशोण्डुक आदि से व्यभिचार दोष आता है; क्योंकि जैसा पहले बतला आये है कि किसी व्यक्ति के सिर पर मच्छर उड़ते देखकर जिस पुरुष को केशों के उड़ने का ज्ञान हो रहा है, उसके वे मच्छर ज्ञान के कारण नहीं होते हैं।

अब ग्रन्थकार अतीन्द्रिय जो मुख्य प्रत्यक्ष है, उसका स्वरूप कहते हैं–

सूत्रार्थ—सामग्री की विशेषता से दूर हो गये हैं समस्त आवरण जिसके, ऐसे अतीन्द्रिय और पूर्णतया विशदज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं ॥११॥

योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की प्राप्ति को सामग्री कहते हैं। उसका विशेष सर्व कारण-कलापों की परिपूर्णता है। उस सामग्री-विशेष से विश्लेषित अर्थात् विघटित कर दिये हैं अखिल (समस्त) आवरण जिसने, ऐसा वह ज्ञान है। पुनः कैसा है? अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियों को अतिक्रमण (उल्लंघन) करके यानी इन्द्रियों की सहायता के बिना ही वह समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानने में समर्थ है। पुनरपि वह कैसा है? अशेष अर्थात् सामस्त्यरूप से विशद (निर्मल या स्पष्ट) है, ऐसा सर्वश्रेष्ठ, निरावरण अतीन्द्रिय विशद ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष कहलाता है।

शंका—उस मुख्य प्रत्यक्ष के सामस्त्यरूप से विशद होने में क्या कारण है?

---

१०. साधकतमं कारणं करणं चक्षुरादि, तेन।१.कर्मक्षययोग्योत्तमसंहननोत्तमप्रदेशोत्तमकालोत्तमसम्यग्दर्शनादि-परिणतिस्वरूपा सामग्री। २. सामग्री-विशेषेण। ३. विघटितानि।

वरणानि येन[१] तत्तथोक्तम्। किंविशिष्टम्? अतीन्द्रियमिन्द्रियाण्यतिक्रान्तम्[२]। पुनरपि कीदृशम्? अशेषतः सामस्त्येन विशदम्। [३]अशेषतो वैशद्ये किं कारणमिति चेत् प्रतिबन्धाभाव[४] इति ब्रूमः। तत्रापि किं कारणमिति चेदतीन्द्रियत्वमनावरणत्वं चेति ब्रूमः। एतदपि कुतः? इत्याह–

सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात्॥१२॥

नन्ववधि-मनःपर्ययोरने[५]नासंग्रहादव्यापकमेतल्लक्षणमिति न वाच्यम्; तयोरपि स्वविषयेऽशेषतो

समाधान—ज्ञान के प्रतिबन्धक (अवरोधक) कारणों का अभाव ही ज्ञान के पूर्ण विशद होने में कारण है।

शंका—उसमें भी क्या कारण है?

समाधान—अतीन्द्रियपना और निरावरणता कारण है, ऐसा हम कहते हैं।

शंका—यह भी क्यों ?

उक्त शंका का समाधान करने के लिये आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ—क्योंकि, आवरण-सहित और इन्द्रिय-जनित मानने पर ज्ञान का प्रतिबन्ध सम्भव है ॥१२॥

भावार्थ—जब तक ज्ञान पर आवरण चढ़ा रहेगा और इन्द्रियादि की सहायता से उत्पन्न होगा, तब तक ज्ञान में प्रतिबन्ध (रुकावट) आने की सम्भावना बनी रहेगी। जब ज्ञान पर से समस्त आवरण हट जाते हैं और इन्द्रियादि बाहरी किसी भी सहायक की उसे आवश्यकता नहीं रहती है, तब वह अतीन्द्रिय और निरावरण ज्ञान त्रैलोक्य और त्रिकालवर्ती चराचर समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् स्पष्टरूप से जानने लगता है, अतः ज्ञान की विशदता के लिए उसका निरावरण और अतीन्द्रिय होना अत्यावश्यक है।

शंका—आपके द्वारा प्रतिपादित मुख्य प्रत्यक्ष-लक्षण वाले इस सूत्र से अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का संग्रह नहीं होता, अतः उक्त लक्षण अव्यापक है; क्योंकि वह अपने सभी लक्ष्यों में नहीं रहता है।

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि उन दोनों के भी अपने विषय में से अशेषरूप से विशदत्व आदि धर्म पायें जाते हैं। अतः मुख्य प्रत्यक्ष के लक्षण में अव्याप्ति नाम का दूषण नहीं है।

तथा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ऐसे नहीं हैं; अर्थात् उन दोनों में विशदपना नहीं पाया जाता,

---

१. ज्ञानेन। २. इन्द्रियाण्यतिक्रम्योल्लङ्घ्य प्रवर्तत इत्यतीन्द्रियमिति। ३.उत्तरसूत्रपातनिका। ४. ज्ञानस्य प्रतिबन्धा आवरणानि, तेषामभावः प्रध्वंसाभावः। सावृतत्वेऽक्षजत्वे च प्रतिबन्धो हि सम्भवेत्। मुख्यं चात्मनि सान्निध्यमात्रापेक्षत्वतो मतम्॥१॥ ५. सूत्रेण।

विशदत्वादिधर्मसम्भवात्। न चैवं मति-[१]श्रुतयोरित्यतिव्याप्ति[२]परिहारः। तदेतदतीन्द्रियमवधिमनःपर्ययकेवल-प्रभेदात् त्रिविधमपि मुख्यं प्रत्यक्षमात्मसन्निधिमात्रापेक्षत्वादिति।

[३]नन्वशेषविषयविशदावभासिज्ञानस्य तद्वतो[४] वा प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकाविषयत्वेनाभावप्रमाण-विषमविषधरविध्वस्तसत्ताकत्वात् कस्य मुख्यत्वम्? तथाहि[५]–नाध्यक्षमशेषज्ञविषयम्[६], तस्य रूपादिनियत-गोचरचारित्वात् [७]सम्बद्धवर्तमानविषयत्वाच्च। न चाशेषवेदी [८]सम्बद्धो वर्तमानश्चेति। नाप्यनुमानात्तत्सिद्धिः। अनुमानं हि गृहीतसम्बन्ध[९]स्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टे[१०] बुद्धिः। न च सर्वज्ञसद्भावाविनाभाविकार्यलिङ्गं स्वभावलिङ्गं[११] वा सम्पश्यामः; तज्ज्ञप्तेः[१२] पूर्वं तत्स्वभावस्य तत्कार्यस्य वा तत्सद्भावाविनाभाविनो[१३]

अतः उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दूषण भी नहीं है। इस प्रकार यह अतीन्द्रिय मुख्य प्रत्यक्ष अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान के भेद से तीन प्रकार का है। यतः यह मुख्य-प्रत्यक्ष इन्द्रिय, आलोक आदि समस्त पर वस्तुओं की सहायता से रहित केवल आत्मा के सन्निधि मात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होता है, अतः इसे अतीन्द्रिय कहते हैं।

यहाँ भाट्ट (मीमांसक) कहते हैं कि समस्त विषयों को विशद जानने वाला ज्ञान अथवा उस प्रकार का ज्ञानवान् पुरुष प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों का विषय नहीं है और अभाव प्रमाण तो विषम विषधर सर्प के समान उसकी सत्ता को ही विध्वस्त करता है। अतः किसी भी प्रमाण से जब उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती है, तब आप मुख्यप्रत्यक्षता किसके कहते हैं? वह अपने कथन को स्पष्ट करता हुआ कहता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण तो अशेष जगत् को जानने वाले सर्वज्ञ को विषय नहीं करता है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष तो रूपादि नियत विषयों को ही विषय करता है, तथा इन्द्रिय-सम्बद्ध और वर्तमान पदार्थ ही उसका विषय है। किन्तु अशेषवेदी (सर्वज्ञ) पुरुष न तो नेत्र से सम्बद्ध ही है और न वर्तमान ही है। अनुमान से भी उस सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती है; क्योंकि साध्य-साधन के सम्बन्ध को जिसने ग्रहण किया है, ऐसे पुरुष के ही साधनरूप एकदेश धूम के देखने से असन्निकृष्ट अर्थात् दूरवर्ती परोक्ष अग्नि में जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे अनुमान कहते हैं। सो सर्वज्ञ के सद्भाव का अविनाभावी न तो हम स्वभावलिंग ही देखते हैं और न कार्यलिंग

---

१. पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च मननं मतिः स्मृत्यादिकमपि। श्रुतावरणविश्लेषाच्छ्रवणं वा श्रुतम्। तदुक्तं श्लोकवार्त्तिके–''मत्यावरणविच्छेदविशेषान्मन्यते यथा। मननं मन्यते यावत्स्वार्थे मतिरसौ मता॥१॥ श्रुतावरण-विश्लेषविशेषाच्छ्रवणं श्रुतम्। शृणोति स्वार्थमिति वा श्रूयते स्मेति वाऽऽगमः''॥२॥ २. अत्यन्तविशदत्वाभावादिति द्रष्टव्यम्। अवधिमनःपर्ययवन्मतिश्रुते विशदे न भवतो यतः। ततस्तयोः करणजन्यत्व इत्यनेन निरासः कृतः। ३. भाट्टः प्राह। ४.पुरुषस्य सर्वज्ञस्य। ५.उक्तार्थं विवृणोति। ५. अशेषज्ञो विषयो यस्य। ६. प्रत्यक्षस्य। ७. 'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना' इत्याभिधानात्। ८. चक्षुषा संबद्धः पुरुषो न। ९. पुरुषस्य। १०. परोक्षे वह्निलक्षणे। ''स एव (पर्वतादिः अग्निविशिष्टः) चोभयात्माऽयं गम्यो गमक एव च। असिद्धेनैकदेशेन गम्यः सिद्धेन बोधकः''॥१॥ ११.अक्षादि। १२.सर्वज्ञावगमात्। १३. लिङ्गैरिति शेषः।

निश्चेतुमशक्तेः। नाप्यागमात्तत्सद्भावः,। स[1] हि नित्योऽ[2]नित्यो तत्सद्भावं [3]भावयेत्? न तावन्नित्यः [4]तस्यार्थवाद[5]रूपस्य कर्म[6]विशेषसंस्तवनपरत्वेन पुरुषविशेषावबोधकत्वायोगात्। अनादे नादेरागमस्यादि-मत्पुरुष-वाचकत्वाघटनाच्च। नाप्यनित्य[7] आगमः सर्वज्ञं साधयति, तस्यापि तत्प्रणीतस्य तन्निश्चयमन्तरेण प्रामाण्यानिश्चयादितरेतराश्रयत्वाच्च[8]। इतरप्रणीतस्य[9] त्वनासादित[10]प्रमाणभावस्याशेषज्ञप्ररूपणपरत्वं नितरामसम्भाव्यमिति। [11]सर्वज्ञसदृशस्यापरस्य ग्रहणासम्भवाच्च नोपमानम्। अनन्यथाभूतस्यार्थ-

---

ही। और सर्वज्ञ के जानने से पहले उसके सद्भाव का अविनाभावी सर्वज्ञ के स्वभाव का और उसके कार्य का निश्चय नहीं किया जा सकता। आगम से भी सर्वज्ञ का सद्भाव नहीं जाना जाता। यदि आप जैन लोग कहें कि आगम से सर्वज्ञ का सद्भाव जाना जाता है, तो हम पूछते हैं कि वह वेदरूप नित्य आगम सर्वज्ञ के सद्भाव को बतलाता है, अथवा स्मृति आदि के स्वरूप वाला अनित्य आगम सर्वज्ञ के सद्भाव को बतलाता है? नित्य आगम तो माना नहीं जा सकता; क्योंकि वह अर्थवादरूप है, अर्थात् प्रकृतिगत तत्त्वों का सामान्यरूप से स्तुति निन्दा करने वाला और यज्ञ-यागादि कर्म-विशेषों का संस्तवन करने वाला है, अतः उसके द्वारा सर्वज्ञरूप किसी पुरुष विशेष के सद्भाव का ज्ञान होना संभव नहीं हैं। दूसरी बात यह भी है कि वेदरूप अनादि आगम से आदिमान् पुरुष का कथन होना घटित भी नहीं हो सकता। तथा अनित्य आगम भी सर्वज्ञ को सिद्ध नहीं करता है, क्योंकि हम पूछते हैं कि वह अनित्य आगम सर्वज्ञ-प्रणीत है, अथवा असर्वज्ञ-प्रणीत जो कि सर्वज्ञ के सद्भाव का प्रतिपादक हो ? यदि सर्वज्ञ-प्रणीत अनित्य आगम को सर्वज्ञ के सद्भाव का आवेदक कहें तो प्रथम तो सर्वज्ञ के निश्चय हुए बिना उसके द्वारा प्रणीत आगम का निश्चय ही नहीं किया जा सकता है। दूसरे इतरेतराश्रय दोष आता है कि पहले जब सर्वज्ञ सिद्ध हो जाये, तब उसके द्वारा प्रणीत आगम के प्रमाणता सिद्ध हो और जब आगम की प्रमाणता सिद्ध हो जाये, तब उसके द्वारा सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध हो। यदि इतर असर्वज्ञ जन के द्वारा प्रणीत आगम को सर्वज्ञ के सद्भाव का प्रतिपादक मानते हो, तो जिसे स्वयं प्रमाणता प्राप्त नहीं है, ऐसे आगम को अशेषज्ञ के निरूपण करने वाला मानना तो अत्यन्त असम्भव ही है। इस प्रकार आगम से भी सर्वज्ञ सद्भाव सिद्ध नहीं होता। उपमान से भी सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञ के सदृश अन्य पुरुष का मिलना असम्भव है। अनन्यथाभूत अर्थ के

---

१. आगमः। २. नित्यो वेदः, अनित्या स्मृतिस्तत्पूर्वकत्वात्। ३. ज्ञापयेत्। ४. अपौरुषेयवेदस्य। ५. यागप्रशंसा-वादस्तुतिनिन्दार्थवादरूपस्य। ६. यज्ञादि। ७. अनित्यः साधयति चेत्स तु सर्वज्ञप्रणीत इतरप्रणीतो वेति विकल्पद्वयं मनसि कृत्वा दूषयति। ८. सर्वज्ञप्रणीतत्वादागमप्रामाण्यसिद्धिः, निश्चितप्रामाण्यादागमात्सर्वज्ञ-सिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम्। ९. असर्वज्ञप्रणीतस्य। १०. अप्राप्त-। ११. ''सर्वज्ञसदृशं किञ्चिद्यदि दृश्येत सम्प्रति। उपमानेने सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम्''॥१॥

स्याभावान्नार्था[१]पत्तिरपि सवर्ज्ञावबोधिकेति [२]धर्माद्युपदेशस्य व्यामोहादपि सम्भवात्। द्विविधो ह्युपदेशः-सम्यङ्मिथ्योपदेशभेदात्। तत्र मन्वादीनां सम्यगुपदेशो यथार्थज्ञानोदयवेदमूलत्वात्। [३]बुद्धादीनां तु व्यामोहपूर्वकः, [४]तदमूलत्वात् [५]तेषामवेदार्थज्ञत्वात्। ततः प्रमाणपञ्चकाविषयत्वादभावप्रमाणस्यैव प्रवृत्तिस्तेन चाभाव[६] एव ज्ञायते; [७]भावांशे प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकस्य व्यापारादिति।

अत्र प्रतिविधीयते[१]-यत्तावदुक्तम्-'प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयत्वमशेषज्ञस्येति[१] तद-युक्त; तद् ग्राहकस्यानुमानस्य सम्भवात्। तथाहि-[३]कश्चित्पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी[४], तद्ग्रहणस्वभावत्वे[५] सति

अभाव से अर्थापत्ति भी सर्वज्ञ के सद्भाव की अवबोधिका नहीं है; क्योंकि धर्मादि का उपदेश व्यामोह से भी सम्भव है। उपदेश दो प्रकार का है-सम्यक् उपदेश और मिथ्या उपदेश। उनमें से मनु आदि पुरुषों का तो सम्यक् उपदेश है; क्योंकि उनके वेदमूलक यथार्थ ज्ञान का उदय पाया जाता है और बुद्ध आदि का उपदेश मिथ्या है-व्यामोह पूर्वक है, वेद-अमूलक है; क्योंकि बुद्धादिक वेद के अर्थ के ज्ञाता नहीं हैं। इसलिए सर्वज्ञ के विषय में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति इन पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति न होने से अभाव-प्रमाण की ही प्रवृत्ति होती है सो उसके द्वारा सर्वज्ञ का अभाव ही जाना जाता है, क्योंकि किसी भी वस्तु के भाव अंश में अर्थात् सद्भाव में प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों का ही व्यापार होता है।

अब आचार्य वादी के उपर्युक्त कथन का प्रतिवाद करते हैं-जो आपने कहा-''कि सर्वज्ञ प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं है'' सो यह कहना अयुक्त है; क्योंकि सर्वज्ञ के सद्भाव का ग्राहक अनुमान पाया जाता है। वह इस प्रकार है-कोई पुरुष समस्त पदार्थों का साक्षात् करने वाला है, क्योंकि उन पदार्थों का ग्रहण-स्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्यय (ज्ञान) वाला है। अर्थात् जिसके ज्ञान के प्रतिबन्ध करने वाले सभी आवरण कर्म नष्ट हो गये हैं, ऐसा पुरुष सभी देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट, अन्तरित और सूक्ष्म पदार्थों का प्रत्यक्ष द्रष्टा है, क्योंकि ज्ञान का स्वभाव सभी ज्ञेय पदार्थों के जानने का है। जो जिसका ग्रहण-स्वभावी होकर के प्रक्षीण प्रतिबन्ध

---

१. ''प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्। अदृष्टं कल्पयेदन्यत्सार्थापत्तिरुदाहृता''॥२॥ २. धर्माद्युपदेशस्त्वस्ति, परन्त्वसावन्यथापि सम्भवतीत्यनूद्य दूषयति। ३. सर्वज्ञोऽस्ति, धर्माद्युपदेशान्यथानुपपत्तेरित्यपि दूषयति। ४. वेद-। ५. बुद्धादीनाम्। ६. ''गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्। मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥१॥ प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते। वस्त्वसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥२॥ न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पद्यते मतिः। भावांशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥३॥ प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते। साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि॥४॥ न च स्याद्व्यवहारोऽयं कारणादिविभागतः। प्रागभावादिभेदेन नाभावो (नार्थो वा) यदि विद्यते (भिद्यते)॥५॥ यद्वाऽनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम्। तस्माद् गवादिवद्वस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम्''॥६॥ ७. ''प्रत्यक्षाद्यवतारश्च भावांशो गृह्यते यदा। व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते''॥७॥ १. इतो भाट्टमतस्य जैनेन प्रतिविधानं क्रियते। २. अशेषज्ञ-। ३. अनिर्दिष्टनामा। ४. रूपादिमत्प्रतिनियत-वर्तमानसूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः सकलपदार्थास्तेषां

प्रक्षीण[१]प्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्[२]। यथाऽपगततिमिरं लोचनं रूप साक्षात्कारि। तद् ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च विवादापन्नः कश्चिदिति[३]। सकलपदार्थग्रहणस्वभावत्वं नात्मनोऽसिद्धम्[४]; चोदनातः[५] सकल-पदार्थ[६]परिज्ञानस्यान्यथा[७]ऽ-योगा[८]त्, अन्धस्येवाऽऽदर्शाद्रूपप्रतिपत्तेरिति। [९]व्याप्तिज्ञानोत्पत्ति-

---

प्रत्यय वाला होता है, वह उस पदार्थ का साक्षात्कारी होता है; जैसे तिमिर (अन्धकार) से रहित लोचन (नेत्र) रूप का साक्षात्कारी अर्थात् प्रत्यक्षदर्शी होता है। तद्ग्रहण स्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्यय वाला विवाद-ग्रस्त कोई पुरुष विशेष है।

मीमांसक अनुमान के चार ही अवयव मानते हैं, अतः यहाँ पर उनकी दृष्टि से निगमन का प्रयोग नहीं किया गया है।

यदि कहा जाये कि आत्मा का समस्त पदार्थों के ग्रहण करने का स्वभाव असिद्ध है, सो नहीं कह सकते; अन्यथा वेद-वाक्य से सकल पदार्थों का परिज्ञान नहीं हो सकेगा; जैसे कि अन्धे को दर्पण से भी अपने रूप का ज्ञान नहीं हो सकता है। (किन्तु आप लोगों ने वेदवाक्य को भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालवर्ती सूक्ष्मादि सभी पदार्थों का अवगमक स्वयं माना है। आश्चर्य है कि फिर भी आप लोग आत्मा का स्वभाव सर्व पदार्थों के जानने का नहीं मानते हैं।) तथा जो सत् है, वह सर्व अनेक धर्मात्मक है, इत्यादि व्याप्ति ज्ञान की उत्पत्ति के बल से समस्त विषयों का

साक्षात्कारी प्रत्यक्षद्रष्टेत्यर्थः।५. प्रक्षीणप्रतिबन्ध-प्रत्ययत्वादि-त्येतावत्युच्यमाने यौगपरिकल्पितमुक्तजीवेन व्यभिचारः, अत उक्तं तद्ग्रहणस्वभावत्वे सतीति। यौगपरिकल्पित-मुक्तजीवस्य प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वमस्ति, पदार्थग्रहणस्वभावो नास्ति; अतस्तद्व्यवच्छेदार्थे तद्ग्रहणस्वभावत्वे सतीत्युक्तम्। तद्ग्रहणस्वभावत्वादित्युच्यमाने काचकामलादिजुष्टेन चक्षुषा व्यभिचारः, अत उक्तं प्रक्षीणप्रतिबन्ध-प्रत्ययत्वात्। यतस्तद्ग्रहणस्वभावत्वा-देतावन्मात्रस्योच्यमाने काचकामलादिदुष्टे चक्षुषि तद्-ग्रहणस्वभावोऽस्ति, ग्रहणं नास्तीति भाट्टंप्रति।

१.प्रक्षीणश्चासौ प्रतिबन्धश्च स एव प्रत्ययः कारणं यस्य स, तस्य भावस्तत्त्वम्। प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वादित्युक्ते प्रतिबन्धविवर्जिते वह्नौ व्यभिचारोऽतस्तद्व्यवच्छेदार्थे तद्ग्रहणस्वभावत्वे सतीत्युच्यते। अतः सर्वे साधनमिति सुष्ठूक्तम्। २.प्रत्ययत्वात्कारणत्वात्। ३. पञ्चावयवान् यौगश्चतुरो मीमांसकस्त्रीन् साङ्ख्यो द्वौ जैनो बौद्धस्त्वेकमेव हेतुं प्रयोजयतीत्युक्त-त्वान्मीमांसकं प्रति चत्वार एव अवयवा प्रयुक्ताः।४. असिद्धोऽयं हेतुरिति शङ्का, तां निराकरोति।५. वेदात्, वेदवाक्यात्।६. चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयमर्थमवगमयितुमलं पुरुषविशेषानिति वदन् स्वयं प्रतीयन्नपि मीमांसकः सकलार्थज्ञानस्वभावत्वमात्मनो न प्रत्येतीति कथं स्वस्थः ? तच्च न ज्ञानमात्मनो भिन्नमेव मीमांसकस्य कथञ्चिद्भेदोपगमादन्यथा मतान्तरप्रसङ्गात्। ततः सिद्धं तत्स्वभावत्वम्। ७. आत्मनः सकलपदार्थज्ञानस्वभावत्वं विना। ८. चोदनातः सकलार्थज्ञत्वं न युज्यते। ९. यत्सत्स्वरूपं तत्सर्वमनेकान्तात्मक-मित्यादिव्याप्तिज्ञानाच्च सकलार्थज्ञत्वं युज्यते; अन्यथाऽनियतदिग्देशादिस्थिताग्रेः परिज्ञानं कथमुत्पद्यते।

बलाच्चाशेषविषय[१] ज्ञानसम्भवः। केवलं वैशद्ये विवादः[२], तत्र चावरणापगम[३] एव कारणं [४]रजो[५]नीहारा-द्यावृतार्थज्ञानस्येव तदप[६]गम इति।

प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वं कथमिति चेदुच्यते–दोषावरणे[७] [८]क्वचिन्निर्मूलं प्रलयमुपव्रजत; प्रकृष्यमाण[९]-हानिकत्वात्। यस्य प्रकृष्यमाणहानिः स क्वचिन्निर्मूलं प्रलयमुपव्रजति। यथाऽग्निपुटपाकापसारित-किट्टकालिकाद्यन्तरङ्गबहिरङ्गमलद्वयात्मानि हेम्नि मलमिति। [१०]निर्ह्रासातिशयवती च दोषावरणे इति।

[११]कथं पुनर्विवादाध्यासितस्य ज्ञानस्यावरणं सिद्धम्[१२], प्रतिषेधस्य[१३] विधिपूर्वकत्वादिति। अत्रोच्यते[१४]-विवादापन्नं ज्ञानं सावरणम्, विशदतया[१५] [१६]स्वविषयानवबोधकत्वाद्[१७] रजोनीहाराद्यन्तरितार्थज्ञानवदिति।

परोक्षज्ञान सम्भव है ही। केवल वैशद्य (निर्मलतारूप प्रत्यक्षपने) में अपना विवाद रह जाता है, सो उसमें कर्म के आवरण का दूर होना ही कारण है। जैसे रज (धूलि) और नीहार (बर्फ) आदि से आवृत्त पदार्थ का स्पष्ट ज्ञान उसके आवरण दूर होने पर होता है।

शंका–ज्ञान के प्रतिबन्धक सर्व आवरण सर्वथा क्षय हो सकते हैं, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान–अनुमान से जाना जाता है, वह इस प्रकार है–दोष (राग-द्वेषादि भावकर्म) और आवरण (ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म) किसी पुरुष विशेष में निर्मूल विनाश को प्राप्त होते हैं, क्योंकि इनकी प्रकृष्यमाण अर्थात् बढ़ती हुई चरम सीमा को प्राप्त हानि देखी जाती है। जिसकी प्रकृष्यमाण हानि होती है, वह कहीं पर निर्मूल प्रलय को प्राप्त होता है। जैसे कि अग्निपुट के पाक से दूर किये गये हैं कीट और कालिमा आदि अन्तरंग और बहिरंग ये दोनों मल जिसके भीतर से ऐसा सुवर्ण मल-रहित सर्वथा शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अत्यन्त निर्मूल विनाशरूप अतिशय वाले दोष और आवरण हैं। इस अनुमान से जाना जाता है कि ज्ञान के प्रतिबन्धक आवरण भी सर्वथा क्षय को प्राप्त हो सकते हैं।

शंका–विवादापन्न ज्ञान का आवरण कैसे सिद्ध है? क्योंकि किसी भी वस्तु का प्रतिषेध विधिपूर्वक ही होता है?

समाधान–इस शंका पर आचार्य कहते हैं कि वक्ष्यमाण अनुमान से ज्ञान का आवरण सिद्ध है। वह इस प्रकार है–विवादापन्न ज्ञान आवरण सहित है; क्योंकि वह अतिविशद रूप से अपने विषय को नहीं जानता है। अथवा पाठान्तर की अपेक्षा अविशदरूप से अपने विषय को जानता है। जैसे कि रज और नीहार आदि से अन्तरित (आच्छादित) पदार्थ का ज्ञान अतिविशदरूप से अपने विषय को नहीं जानता है। इस अनुमान से ज्ञान की सावरणता सिद्ध है।

---

१. सर्व मग्न्यादिविषयक-। २. आवयोः। ३. आवरणाभावः। ४. धूलिः। ५. तुषारः। ६. तस्य रजोनीहारादेरभावः। ७. भावद्रव्यकर्मणी। ८. आत्मनि। ९. वर्धमानहानिदर्शनात्, प्रतिपुरुषं वर्धमानातिशयदर्शनात्। १०. विनाश-। ११. बौद्धः प्राह। १२. अपि तु न कुतः। १३. प्रीतिपूर्वको हि निषेधः। १४. जैनैः। १५. स्पष्टाकारतया। १६. धूमादि-। १७. अविशदतया (अव्यक्ताकारतया) स्वविषयावबोधकत्वात्' इति पाठान्तरम्।

न चात्मनोऽमूर्त्तत्वादावार[१]कावृत्त्य[२]योगः अमूर्ताया अपि चेतनाशक्तेर्मदिरामदनकोद्रवादिभिरावरणोपपत्तेः। न चेन्द्रियस्य[३]तैरावरणम्, इन्द्रियाणामचेतनानामप्यनावृतप्रख्यत्वात्[४] [५]स्मृत्यादि[६]प्रतिबन्धायोगात्[७]। नापि[८] मनसस्तैरावरणम्; आत्मव्यतिरेकेणापरस्य [९]मनसो निषेत्स्यमानत्वात्[१०]। ततो नामूर्तस्याऽऽवरणाभावः। अतो नासिद्धं तद्-[११]ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वम्। नापि विरुद्धम्; विपरीत[१२]निश्चिता-विनाभावाभावात्[१३]। नाप्यनैकान्तिकम्; देशतः सामस्त्येन वा विपक्षे[१४] वृत्त्यभावात्। [१५]विपरीतार्थोपस्थापक[१६]

शंका—आत्मा तो अमूर्त है, अतः अमूर्त होने से उसका ज्ञानावरणादि मूर्त्त आवारकों के द्वारा आवरण नहीं हो सकता है ?

समाधान—यह शंका उचित नहीं; क्योंकि अमूर्त भी चैतन्यशक्ति की मदिरा, मदनकोद्रव (मतौनिया कोदों) आदि मूर्त पदार्थों से आवरण होता हुआ देखा जाता है। यदि कहा जाये कि मदिरा आदि से इन्द्रियों का आवरण होता है, सो भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इन्द्रियाँ अचेतन हैं, सो उनका आवरण भी अनावरण के तुल्य है। यदि फिर भी इन्द्रियों का आवरण माना जाये, तो मदिरापान करने वाले पुरुष के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानों का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, अर्थात् मदिरा-पायी पुरुष के वस्तुओं का स्मरण आदि स्वस्थ दशा के समान बना रहना चाहिए। किन्तु उस दशा में उसके वस्तु का स्मरण आदि देखा नहीं जाता, अतः सिद्ध है कि मदिरा आदि से चैतन्य शक्ति का आवरण होता है। यदि कहा जाये कि मदिरा आदि से मनका आवरण होता है, सो भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त अन्य मन का आगे निषेध किया गया है, अर्थात् आत्मा के सिवाय मन अन्य कोई वस्तु नहीं है, यह बात हम आगे चलकर सिद्ध करेंगे। इसलिए अमूर्त चैतन्य शक्ति का आवरण नहीं होता, यह कहना ठीक नहीं है।

इस प्रकार ''तद्-ग्रहण-स्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्ययत्व'' यह हमारा हेतु असिद्ध नहीं है। और न विरुद्ध ही है; क्योंकि विपरीत के साथ निश्चित अविनाभाव का अभाव है। यहाँ आत्मा के सकल पदार्थों का साक्षात् करना साध्य है और उनका साक्षात् न करना यह साध्य का विपरीत है, उसके साथ हेतु निश्चित रूप से व्याप्ति रखने वाला अविनाभावी सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। तथा हमारा उक्त हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि एकदेश से अथवा सर्वदेश से उसके विपक्ष में रहने का अभाव है। विपरीत अर्थ की स्थापना करने वाले प्रत्यक्ष और आगम

१.आवृणोतीति आवारकम्। २. ज्ञानावरणादिना प्रच्छादनायोगः। ३. भो भट्ट, यद्येवं ब्रूषे यदिन्द्रियाणामावरणमिति तदेवा नूद्य दूषयति। ४. समानत्वात्। ५. अन्यथेन्द्रियाणामावरणं चेत्। ६. आदिशब्देन प्रत्यभिज्ञानतर्कादयः। ७. आत्मन आवरणाभावे मदोन्मत्तस्य स्मरणं भवतु; नास्ति च स्मरणं। तस्मादात्मन एवाऽऽवरणं सिद्धं मदिरादिभिः। ८. यदि भावरूपस्य मनस आवरणं ब्रूषे तदप्ययुक्तम्। ९.गुणदोषविचार-णादिध्यानं आत्मनो भावमनः। १०. अग्रे निषेत्स्यते। ११. सकलपदार्थग्रहण-। १२. आत्मनः सूक्ष्मादिग्रहणस्वभावाभावो विपरीतः। १३. स्वसाध्याभावेन सह सम्बन्धस्याभावात्। १४. सकलपदार्थसाक्षात्कारिणि पुरुषे। १५. अग्निरनुष्ण इत्यादिवत्। १६. व्यवस्थापक-।

प्रत्यक्षागमासम्भवान्न कालात्ययापदिष्टत्वम्[१]। नापि सत्प्रतिपक्षम्[२] प्रतिपक्षसाधनस्य हेतोरभावात्[३]।

[४]अथेदमस्त्येव–विवादापन्नः पुरुषो नाशेषज्ञो वक्तृत्वात्पुरुषत्वात्पाण्यादिमत्त्वाच्च; रथ्यापुरुषवदिति। नैतच्चारु; वक्तृत्वादेरसम्यग्हेतुत्वात्। वक्तृत्वं हि दृष्टे[५]ष्टविरुद्धार्थवक्तृत्वं [६]तदविरुद्धवक्तृत्वं वक्तृत्वसामान्यं वा; गत्यन्तराभावात्[७]। न तावत् प्रथमः पक्षः, सिद्धसाध्यतानुषङ्गात्[८]। नापि द्वितीयः पक्षः; विरुद्धत्वात्। तदविरुद्धवक्तृत्वं[९] हि ज्ञानातिशयमन्तरेण नोपपद्यत इति। वक्तृत्वसामान्यमपि [१०]विपक्षाविरुद्धत्वान्न प्रकृतसाध्यसाधनायालम्[११] ज्ञानाप्रकर्षे वक्तृत्वापकर्षादर्शनात्[१२]। प्रत्युत ज्ञानातिशयवतो वचनातिशयस्यैव सम्भवात्।

प्रमाण का अभाव होने से उक्त हेतु कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है; क्योंकि जो हेतु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित पक्ष के अनन्तर प्रयुक्त होता है, उसे कालात्ययापदिष्ट कहते हैं और न हमारा हेतु सत्प्रतिपक्ष (प्रकरणसम) ही है, क्योंकि प्रतिपक्ष के साधन करने वाले हेतु का अभाव है।

यहाँ पर मीमांसक कहते हैं कि प्रतिपक्ष का साधन करने वाला हेतु पाया जाता है; वह इस प्रकार है–विवादापन्न पुरुष अशेषज्ञ (सर्वज्ञ) नहीं है क्योंकि वह वक्ता है, पुरुष और हस्त–पादादि अंग–उपांगों का धारक है। जैसे कि गली–कूचे में घूमने वाला साधारण पुरुष। उनका यह कहना भी सुन्दर नहीं; क्योंकि वक्तृत्व आदि सम्यक् हेतु नहीं हैं। हम पूछते हैं कि वक्तृत्व का अर्थ प्रत्यक्ष ओर अनुमान से विरुद्ध अर्थ का वक्तापना आपके अभीष्ट है, अथवा उससे अविरुद्ध वक्तापना, अथवा वक्तृत्व सामान्य अभीष्ट है; क्योंकि इनके अतिरिक्त अन्य विकल्प सम्भव नहीं हैं। इनमें से प्रथम पक्ष ठीक नहीं हैं, क्योंकि उसके मानने पर सिद्ध–साध्यता का प्रसंग प्राप्त होता है। हम भी तो यह कहते हैं कि जो प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध वक्ता है, वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह विरुद्ध हेत्वाभास रूप है। इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से अविरुद्ध वक्तापन तो ज्ञानातिशय के बिना नहीं बन सकता है। और वैसी दशा में वह आपके साध्य से विरुद्ध अर्थ को सिद्ध करने के कारण विरुद्ध हेत्वभास हो जाता है। वक्तृत्व सामान्यरूप तृतीय विकल्प भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह विषयभूत सर्वज्ञता के साथ अविरोधी है, अतः वह प्रकृत साध्य जो असर्वज्ञता उसे सिद्ध करने के लिए समर्थ नहीं है। इसका कारण यह है कि ज्ञान के प्रकर्ष होने पर वक्तृत्व का अपकर्ष नहीं देखा जाता; प्रत्युत ज्ञानातिशय वाले पुरुष के वचनों का अतिशय ही सम्भव है। इस प्रकार वक्तृत्व हेतु विवादापन्न पुरुष को असर्वज्ञ सिद्ध नहीं करता है।

---

१. प्रत्यक्षागम–बाधितकाला–(पक्षा–) नन्तरं प्रयुक्तत्वात्कालात्ययापदिष्टः। २. सन् प्रतिपक्षो यस्य हेतुरूपस्य तत्तथोक्तम्। ३. न प्रकरणसम इत्यर्थः। ४. मीमांसकः प्राह। ५. प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। ६. दृष्टेष्टाविरुद्धवक्तृत्वम्। ७. विकल्पान्तराभावात्। ८. सम्पर्कात्। ९. प्रत्यक्षानुमानाभ्यामविरुद्धवक्तृत्वम्। १०. सर्वज्ञेन सहाविरुद्धत्वात्। ११. असर्वज्ञत्वसाध्यसाधनाय न समर्थं वक्तृत्वं हेतुः। १२. ज्ञानातिशये सति वचनस्य हानित्वं न दृश्यते। हानिरभाव इत्यर्थः।

[१]एतेन [२]पुरुषत्वमपि निरस्तम्। [३]पुरुषत्वं हि रागादिदोषदूषितम्[४], तदा सिद्धसाध्यता। तददूषितं तु विरुद्धम्[५]वैराग्य[६]ज्ञानादिगुणयुक्तपुरुषत्वस्याशेषज्ञत्वन्मन्तरेणायोगात्। पुरुषत्वसामान्यं तु सन्दिग्धविपक्ष[७] व्यावृत्तिकमिति सिद्धं सकलपदार्थसाक्षात्कारित्वं कस्यचित्पुरुषस्यातोऽ[८]नुमानात्। इति न [९]प्रमाणपञ्चका-विषयत्वमशेषज्ञस्य।

अथास्मिन्ननुमानेऽर्हतः [१०]सर्ववित्त्वमनर्हतो[११] वा? अनर्हतश्चेदर्हद्वाक्यमप्रमाणं स्यात्। अर्हतश्चेत्सोऽपि

इसी वक्तृत्व हेतु के असर्वज्ञता-साधन करने के निराकरण से द्वितीय पुरुषत्व हेतु का भी निराकरण कर दिया गया समझना चाहिए। क्योंकि हम आपसे पूछते हैं कि पुरुषत्व से आपका अभिप्राय यदि रागादि दोष से दूषित पुरुष से है, तो सिद्ध साध्यता है; हम भी कहते हैं कि रागादि दोष से दूषित पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। यदि पुरुषत्व से अभिप्राय रागादि दोष से अदूषित (रहित) पुरुष से है, तो आपका हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जाता है; क्योंकि राग का अभाव वीतरागता को, द्वेष का अभाव शान्त मनोवृत्ति को तथा मोह का अभाव सर्वज्ञता को सिद्ध करता है। और अशेषज्ञता (सर्वज्ञता) के बिना वैराग्य वा विशिष्टज्ञान आदि गुणों से युक्त पुरुषपन बन नहीं सकता। यदि पुरुषत्व सामान्यरूप हेतु आपको अभीष्ट हो, तो वह सन्दिग्ध-विपक्ष-वृत्तिक हेत्वाभास हो जाता है; क्योंकि असर्वज्ञता का विपक्ष सर्वज्ञता है, उसका किसी पुरुष में रहना सम्भव है, अतः विपक्ष से व्यावृत्ति सन्दिग्ध है।

(तीसरा पाण्यादिमत्व हेतु भी ठीक नहीं है; क्योंकि हाथ-पैर आदि के होने का असर्वज्ञता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।)

इस प्रकार हमारे द्वारा कहे गये अनुमान से किसी पुरुष विशेष के सकल पदार्थों का साक्षात्कारित्व सिद्ध है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि सर्वज्ञता प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों का विषय नहीं है, अतः कोई सर्वज्ञ नहीं है।

पुनः असर्वज्ञवादी कहते है कि आपके द्वारा प्रयुक्त इस अनुमान से जो सामान्य सर्वज्ञता सिद्ध होती है, वह आप अर्हत् के मानते है, या अनर्हत् बुद्ध आदि के मानते हैं ? यदि अनर्हत् के मानते हैं, तो अर्हद्वाक्य अप्रमाण हो जायेंगे। यदि अर्हत् के मानते हैं, तो हम पूछते हैं कि अर्हत् के सर्वज्ञता श्रुति (आगम) से सिद्ध करते हैं, अथवा सामार्थ्य से, अथवा स्वशक्ति से अथवा दृष्टान्त

---

१. वक्तृत्वस्यासर्वज्ञत्वसाधननिराकरणेन। २. द्वितीयसाधनम्। ३. पुरुषत्वं हि रागादिदोषदूषितं तददूषितं पुरुषत्वसामान्यं वेति विकल्पत्रयं मनसि निधाय क्रमशस्तद्दूषयति। ४. रागद्वेषमोहैर्दूषितं संयुक्तम्। ५. रागाभावे वीतरागं द्वेषाभावेशान्तंमोहाभावे सर्वज्ञं साधयति तस्माद्विरुद्धम्। ६. वीतरागत्व-। ७. सन्दिग्धाविपक्षात्सर्वज्ञाद् व्यावृत्तिर्यस्य तत्तथोक्तम्। ८. कश्चित् पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी, तद् ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीण-प्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्। ९. प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्ति-प्रमाणपञ्चकम्। १०. सर्वज्ञत्वम्। ११. बुद्धादेः।

न श्रुत्या[१] [२]सामर्थ्येन वाऽवगन्तुं पार्यते। स्वशक्त्या[३] दृष्टान्तानुग्रहेण[४] वा हेतोः[५] पक्षान्तरेऽपि[६] तुल्य-वृत्तित्वादिति।

तदेतत्परेषां[७] स्ववधाय[८] कृत्योत्थापनम्; [९]एवंविधविशेषप्रश्नस्य सर्वज्ञसामान्याभ्युपगमपूर्वकवात्। अन्यथा[१०] न कस्याप्यशेषज्ञत्वमित्येवं वक्त[११]व्यम्। प्रसिद्धानुमाने[१२]ऽप्यस्य[१३] दोषस्य सम्भवेन [१४]जात्युत्तरत्वाच्च। तथाहि[१५]-नित्यः शब्दः, [१६]प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्; इत्युक्ते व्यापकः[१७] शब्दो नित्यः

के अनुग्रह से सिद्ध करते हैं। इनमें से श्रुति से और सामर्थ्य से तो अर्हत् जाना नहीं जाता है अर्थात् अर्हन्त के सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती है। स्वशक्ति कहिये अविनाभावी लिंग से अथवा आपके द्वारा प्रयुक्त दृष्टान्त के बल से कहें, तो तद्-ग्रहणस्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्धप्रत्ययत्वहेतु हरि-हर-हिरण्यगर्भादि पक्षान्तर में भी समानरूप से रहता है। अर्थात् उस हेतु से अर्हन्त के समान ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध आदि सभी के सर्वज्ञता सिद्ध होती है, जो कि आपको भी अभीष्ट नहीं है।

आचार्य उक्त कथन का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि असर्वज्ञवादियों का यह कथन अपने वध के लिए कृत्या-उत्थापन के अर्थात् सोती हुई मारक राक्षसी के जगाने के समान है; क्योंकि इस प्रकार के विशेष प्रश्न सर्वज्ञसामान्य की स्वीकृति-पूर्वक ही पूछे जा सकते हैं और सर्वज्ञ सामान्य के मानने पर आपके असर्वज्ञरूप पक्ष का घात हो जाता है। अन्यथा (यदि सर्वज्ञ सामान्य नहीं मानते हैं, तो,) किसी के भी सर्वज्ञता नहीं है, ऐसा ही कहना चाहिए। तथा सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाले आपके उस प्रसिद्ध अनुमान में भी अर्हत् के सर्वज्ञता है, या अनर्हत् के, इत्यादि प्रश्नरूप इस दोष की सम्भावना से जाति नामक दूषणरूप उत्तर होता है। असत् उत्तर को जाति कहते हैं, अथवा दोनों पक्षों में प्रश्न और उत्तर के समान होने को जात्युत्तर दोष कहते हैं। वह दोष इस प्रकार से प्राप्त होता है-किसी ने अनुमान का प्रयोग किया कि शब्द नित्य है, क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान होता है, ऐसा कहने पर जातिवादी उससे पूछे कि आप इस अनुमान से व्यापक शब्द के नित्यता सिद्ध करते हैं, तो व्यापक रूप से कल्पना किया हुआ वह शब्द किसी भी अर्थ को पुष्ट नहीं करता है। अर्थात् फिर शब्द को व्यापक मानना निरर्थक है, क्योंकि मीमांसक

---

१. आगमेन। २. व्यापकत्वेन व्यञ्जकत्वेनाविनाभावित्वेन वा। ३. हेतोरविनाभावशक्त्या सामर्थ्येन नावगन्तुं पार्यत इत्येतद्विवृणोति। ४. यथाऽपगततिमिरं लोचनं रूपसाक्षत्कारीति दृष्टान्तस्तस्य बलेन। ५. तद्-ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वस्य। ६. हरिहरहिरण्यगर्भादौ। ७. भाट्टानामसर्वज्ञवादिनाम्। ८. कर्णाटकभाषायां मारि। ९. कुतः स्वपक्षोच्छेदनं वाञ्छाम्यहमिति पृच्छसि चेदाह। १०. सर्वज्ञसामान्यानभ्युपगमे। ११. मीमांसकेन त्वया। १२. तव मते उभयवादिप्रसिद्धानुमानेऽपि। १३. अर्हतः सर्ववित्त्वमनर्हतो वेत्थंप्रकारस्य। १४. असदुत्तरं जातिः दोषसम्भवात्प्रयुक्ते स्थापनाहेतौ दूषणाशक्तमुत्तरं जातिमाहुः। अथान्ये तु स्वव्याघातकमुत्तरं सन्दर्भेण दूषणासमर्थे वा छलादिभिन्नदूषणसमर्थमुत्तरं वा जात्युत्तरमाहुः। १५. प्रसिद्धानुमानेऽप्ययं दोषः कथं सम्भवति ? तदेव विवृणोति। १६. स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानात्। १७. मीमांसकमते व्यापकः सर्वगतः शब्दो नित्यश्च।

प्रसाध्यते, अव्यापको वा यद्यव्यापकः, तदा व्यापकत्वेनोवकल्प्यमानो[१] न कञ्चिदर्थं पुष्णाति। अथ व्यापकः, सोऽपि न श्रुत्या सामर्थ्येन वाऽवगम्यते[२]। स्वशक्त्या दृष्टान्तानुग्रहेण वा [३]पक्षान्तरेऽपि [४]तुल्यवृत्तित्वादिति सिद्धमतो[५] निर्दोषात्साधना-देशषज्ञत्वमिति।

यच्चाभावप्रमाणकवलितसत्ताकत्वमशेषज्ञत्वस्येति, तदयुक्तमेव; अनुमानस्य तद्ग्राहकस्य सद्भावे सति प्रमाणपञ्चकाभावमूलस्याभावप्रमाणस्योपस्थापनायोगात्।

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं[६] स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्[७]।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया[८]॥६॥

इति च भावत्कं[९] दर्शनम्[१०]। तथा[११] च कालत्रयत्रिलोकलक्षणवस्तुसद्भावग्रहणेऽ-[१२]न्यत्रान्यदा[१३]

शब्द को व्यापक मानते हैं। और यदि व्यापक शब्द के नित्यता सिद्ध करते हैं, तो उसको व्यापक रूप नित्यता श्रुति से और सामर्थ्य से तो जानी नहीं जाती है। यदि स्वशक्ति से और दृष्टान्त के अनुग्रह से कहें तो अव्यापक नित्य शब्दरूप पक्षान्तर में भी उस हेतु का रहना समान है। इस प्रकार से दोषोद्भावन कर असत् उत्तर देना तो जात्युत्तर दोष है। इस प्रकार तद्-ग्रहणस्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्धप्रत्ययत्वरूप निर्दोष हेतु से सर्वज्ञता सिद्ध है।

और जो आप लोगों ने कहा कि सर्वज्ञता की सत्ता तो अभाव प्रमाण से कवलित (ग्रसित) है, अर्थात् अभाव प्रमाण से सर्वज्ञता का सद्भाव नहीं, प्रत्युत अभाव ही सिद्ध होता है, सो यह कहना भी अयुक्त ही है; क्योंकि जब सर्वज्ञता के ग्राहक (साधक) अनुमान का सद्भाव पाया जाता है, तब प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों का अभाव ही जिसका मूल है, ऐसे अभाव प्रमाण के उपस्थापन का अयोग है, अर्थात् अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति वहीं पर होती है, जहाँ पर कि प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से वस्तु के सद्भाव की सिद्धि न हो। जब सर्वज्ञता का साधक अनुमान प्रमाण पाया जाता है, तब अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। तथा–

वस्तु के सद्भाव को ग्रहण कर अर्थात् घट-रहित केवल भूतल को देखकर और प्रतियोगी को स्मरण कर अर्थात् घट को याद कर बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित नास्तितारूप मानस ज्ञान होता है, अन्य प्रकार से नहीं ॥६॥

ऐसा आप लोगों का मत है। सो इस व्यवस्था के अनुसार तो त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्त वस्तुओं के सद्भाव को ग्रहण कर लेने पर तथा अन्यत्र (क्षेत्रान्तर में) और अन्यदा (कालान्तर में)

---

१. कल्प्यमानः शब्दः। २. अवगन्तुं न पार्यते। ३. अव्यापकेनित्येशब्दे। ४. जात्युत्तरम्। ५. तद्-ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्। ६. घटव्यतिरिक्तं भूतलं गृहीत्वा। ७. घटं स्मृत्वा। ८. बाह्येन्द्रियानपेक्षया। ९. भवदीयम्। १०. मतम्। ११. एवं सति। १२. क्षे त्रान्तरे। १३. कालान्तरे।

गृहीतस्मरणे च सर्वज्ञनास्तिताज्ञानमभावप्रमाणं युक्तम्, नापरथा[१]। न च कस्यचिदर्वाग्द[२]र्शिनस्त्रिजगत्त्रि-कालज्ञानमुपपद्यते[३], सर्वज्ञस्यातीन्द्रियस्य वा। सर्वज्ञत्वं हि चेतोधर्मतयाऽतीन्द्रियम्, तदपि न [४]प्रकृतपुरुष-विषयमिति कथमभावप्रमाणमुदय[५]मासादयेत्[६];असर्वज्ञस्य तदुत्पाद-सामग्र्या[७] असम्भवात्। [८]सम्भवे वा तथा[९] ज्ञातुरेव सर्वज्ञत्वमिति। [१०]अत्रा[११]धुना[१२] तदभावसाधन[१३]मित्यपि न युक्तम्; [१४]सिद्धसाध्यतानुषङ्गात्। ततः सिद्धं [१५]मुख्यमतीन्द्रियज्ञानमशेषतो विशदम्।

सर्वज्ञज्ञानस्यातीन्द्रियत्वादशुच्यादिदर्शनं [१६]तद्रसास्वादनदोषोऽपि परिहृत एव। [१७]कथमतीन्द्रियज्ञानस्य

जाने हुए सर्वज्ञ का स्मरण होने पर और उससे भिन्न किसी देश और काल में सर्वज्ञ के दृष्टिगोचर न होने पर सर्वज्ञ की नास्तिता का जो ज्ञान हो, उसे अभाव प्रमाण मानना युक्त हैं, अन्यथा नहीं। सो अर्बाग्दर्शी किसी भी छद्मस्थ, असर्वज्ञ पुरुष के न तो त्रिलोक और त्रिकाल का ज्ञान हो सकता है और न सर्वज्ञ और उसके अतीन्द्रिय ज्ञान का ही परिज्ञान हो सकता है क्योंकि सर्वज्ञता तो चैतन्य का धर्म होने से अतीन्द्रिय है, अतः वह किसी साधारण प्रकृत पुरुष के ज्ञान का विषय नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में आपके अभाव प्रमाण का उदय कैसे हो सकता है, क्योंकि असर्वज्ञ जन के अभाव प्रमाण को उत्पन्न करने वाली सामग्री का मिलना असम्भव है। और यति असर्वज्ञ के सर्वदेश और सर्वकाल का ज्ञान मानकर सर्वज्ञ के अभाव की प्रतिपादक सामग्री का सद्भाव सम्भव माना जाये, तो इस प्रकार त्रिलोक और त्रिकाल के ज्ञाता पुरुष के ही सर्वज्ञता सिद्ध हो जाती है। यदि कहा जाये कि आज इस देश और इस काल में कोई सर्वज्ञ नहीं है, इस प्रकार हम वर्तमान देशकाल की अपेक्षा से सर्वज्ञ के अभाव का साधन करते हैं, तो यह कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर तो सिद्ध साध्यता का प्रसंग प्राप्त होता है; हम जैन लोग भी वर्तमान में यहाँ पर सर्वज्ञ का अभाव मानते हैं। इस प्रकार अतीन्द्रिय और सम्पूर्णरूप से विशद ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष है, यह सिद्ध हुआ।

जो लोग सर्वज्ञ के ज्ञान को लक्ष्य करके यह कहते हैं कि जब सर्वज्ञ संसार के समस्त पदार्थों को देखता-जानता है, तो अशुचि और गन्दे पदार्थों को भी देखता-जानता होगा और फिर उसे उन अशुचि पदार्थों के रस का आस्वाद भी प्राप्त होता होगा? सो ऐसा आक्षेप करने वालों को आचार्य उत्तर देते हैं, कि यतः सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय है, अतः अशुचि पदार्थों के देखने और

---

१. अन्यथाऽभावप्रमाणं भवितुं नार्हति केनचित्प्रकारेण। २. किञ्चिज्ज्ञस्य। ३. असर्वज्ञ जनस्य तद्विषयं न किञ्चिदपि ज्ञानमुत्पद्यते। ४. मध्यमः सज्जनोऽसर्वज्ञजनः। ५. उत्पत्तिम्। ६. प्रापयेत्। ७. सर्वज्ञविषयभावप्रमाणोत्पादक-सामग्र्याः। ८. असर्वज्ञाभावोत्पादकसामग्रीसम्भवे वा। ९. कालत्रयत्रिलोकलक्षणवस्तुसद्भावप्रकारेण, अन्यत्रान्यदा सर्वज्ञनास्तित्व-प्रकारेण सर्वज्ञाभावसामग्रीज्ञातुः। १०. अत्राधुना सर्वज्ञो नास्तीति वदसि चेत् तदपि न युक्तम्। ११. अस्मिन् क्षेत्रे। १२. अस्मिन् काले। १३. सर्वज्ञाभावसाधनम्। १४. अस्मिन् क्षेत्रे काले च सर्वज्ञोऽस्तीति केन वोच्यत इति सिद्धसाध्यता। १५. प्रत्यक्षम्। १६. इन्द्रियज्ञानस्यैवाशुच्यादिरसास्वादनदोषो नातीन्द्रियज्ञानस्येति शेषः। १७. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धाभावात्।

वैशद्यमिति चेत्–यथा सत्यस्वप्नज्ञानस्य [१]भावनाज्ञानस्य चेति। दृश्यते हि भावनाबलादेतद्देश[२]वस्तुनोऽपि विशददर्शनमिति।

पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रदुर्भेद्ये।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम्॥७॥

इति बहुलमुपलम्भात्[३]।

[४]ननु च नावरणविश्लेषादशेषज्ञत्वम्; अपि तु तनुकरणभुवनादिनिमित्तत्वेन। न चात्र तन्वादीनां बुद्धि-मद्धेतुकत्वमसिद्धम्; अनुमानादेस्तस्य सुप्रसिद्धत्वात्। तथाहि–विमत्यधिकरणभावापन्नं[५] उर्वीपर्वत-तरुतन्वादिकं बुद्धिमद्धेतुकम्, कार्यत्वादचेतनोपादानत्वात्सन्निवेश[६]विशिष्टत्वाद्वा वस्त्रादिवदिति।

उनके रस का आस्वादन करनेरूप दोष का भी परिहार उक्त कथन से हो जाता है। अशुचि पदार्थों के रसास्वादन आदि का दोष तो इन्द्रियज्ञान के ही सम्भव है, अतीन्द्रियज्ञान के नहीं।

शंका—अतीन्द्रियज्ञान के विशदता कैसे सम्भव है?

समाधान—जैसे कि सत्य स्वप्न-ज्ञान के और भावना-ज्ञान के सम्भव है। भावना के बल से दूरदेशवर्ती भी वस्तु का विशद दर्शन पाया जाता है। जैसा कि कोई कारागार (जेलखाना) बद्ध कामी पुरुष कहता है–

कारागार का द्वार बन्द है और अन्धकार इतना सघन है कि सूई के अग्रभाग (नोक) से भी नहीं भेदा जा सकता, मैंने अपने नेत्र बन्द कर रखे हैं, फिर भी मुझे अपनी प्यारी स्त्री का मुख स्पष्ट दिखाई दे रहा है ॥७॥

इस प्रकार इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध नहीं होने पर भी परोक्षज्ञान में विशदता प्रायः देखने में आती है।

शंका—यहाँ पर यौग कहते हैं कि उक्त प्रकार से सर्वज्ञता की तो सिद्धि हो जाती है, परन्तु आवरणों के विश्लेष से-पृथक् होने से-सर्वज्ञता नहीं बनती, अपितु तनु (शरीर), करण (इन्द्रिय), भुवन आदि के निमित्त से सर्वज्ञता बनती है और तनु-करण-भुवनादि का बुद्धिमान पुरुष के निमित्त से होना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि अनुमान आदि प्रमाणों से उसका होना सुप्रसिद्ध है। वह इस प्रकार है–विवादापन्न उर्वी (पृथ्वी) पर्वत, तरु (वृक्ष) और तनु (शरीर) आदिक पदार्थ बुद्धिमद्धेतुक हैं; अर्थात् किसी बुद्धिमान पुरुष के निमित्त से बने हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं और जो कार्य होता है वह किसी ने किसी के द्वारा किया ही जाता है, बिना किये नहीं होता। दूसरे

---

१. मानसिकज्ञानस्य। २. भावनाज्ञानाधिकरणपुरुषस्य भिन्नदेशवर्ति-वस्तुनोऽपि। ३. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धाभावेऽपि विशदत्वोपपत्तेः। ४. यौगः प्राह। प्रश्नावधारणाऽनुनयाऽऽमन्त्रणे ननु। ननु च स्याद्विरोधोक्तावित्यमरः। ५. विविधा मतयो विमतयः, विमतीनामधिकरणं तस्य भावमापन्नं प्राप्तं विमत्याधिकरणभावापन्नम्, विवादापन्नमित्यर्थः। ६. संस्थानं रचनाविशेषः।

आगमोऽपि तदावेदकः[1] श्रूयते–

[2]विश्वतश्चक्षु[3]रुत विश्वतो[4]मुखो विश्वतो [5]बाहुरुत विश्वतः [6]पात्।
[7]सम्बाहुभ्यां [8]धमति [9]सम्पतत्त्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव[10] एकः॥८॥

तथा व्यासवचनञ्च–

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥९॥

न चाचेतनैरेव परमाण्वादिकारणैः पर्याप्तत्वाद् बुद्धिमतः कारणस्यानर्थक्यम्; अचेतनानां स्वयं कार्योत्पत्तौ

उर्वी, पर्वत आदि का उपादान कारण अचेतन है, अतः उन्हें किसी चेतन पुरुष से अधिष्ठित होकर ही कार्यरूप में परिणत होना चाहिए। तीसरे उर्वी–पर्वतादि की सन्निवेश–(संस्थान–आकार) गत विशिष्टता पाई जाती है, जो कि बिना किसी बुद्धिमान पुरुष के सम्भव नहीं है; वस्त्रादि के समान। जैसे नाना प्रकार के वस्त्रादि का निर्माण उनके बनाने वाले बुनकर (जुलाहा) आदि के बिना संभव नहीं है, उसी प्रकार उर्वी, तनु पर्वत, करण भुवनादि का भी निर्माण बिना किसी बुद्धिमान पुरुष के सम्भव नहीं है।

तथा आगम भी उस बुद्धिमान पुरुष का प्रतिपादक सुना जाता है–

जो विश्वतश्चक्षु है, सर्व ओर नेत्रवाला है, अर्थात् विश्वदर्शी है, विश्वतोमुख है– सर्व ओर मुखवाला है अर्थात् जिसके वचन विश्वव्यापी है विश्वतो बाहु है–सर्व ओर भुजाओं वाला हैं, अर्थात् जिसको भुजाओं का व्यापार सर्व जगत् में है यानी जो सर्व जगत् का कर्ता है, विश्वतःपात् है–जिसके (पाद) पैर सभी ओर हैं अर्थात् जो विश्व में व्याप्त है, पुण्य–पापरूप सम्बाहुओं से सर्व प्राणियों को संयुक्त करता है और जो परमाणुओं से दिव् अर्थात् आकाश और भूमि को उत्पन्न करता हुआ वर्तमान है ऐसा एक देव अर्थात् ईश्वर है॥८॥

तथा व्यास के भी वचन उस ईश्वर के पोषक हैं–

यह अज्ञ प्राणी अपने सुख और दुःख में अनीश है अर्थात् स्वयं स्वामी नहीं है। वह ईश्वर से प्रेरित होकर कभी स्वर्ग को जाता है और कभी श्वभ्र (नरक) को॥९॥

यदि कहा जाये कि अचेतन ही परमाणु आदि कारण अपने–अपने कार्यों के उत्पन्न करने में समर्थ हैं, अतः किसी बुद्धिमान कारण की कल्पना करना अनर्थक है, सो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अचेतन पदार्थों का अपने कार्यों के उत्पन्न करने में स्वयं व्यापार संभव नहीं है; तुरी आदि

---

१. बुद्धिमपत्प्रतिपादकः, कथक इत्यर्थः। २. विश्वमधिकृत्य प्रवर्तते। ३. चक्षुः कार्यज्ञानं विवादाध्यासितम्, विश्वदर्शीत्यर्थः। ४. विश्वस्याभिमुखो विश्वव्यापि वचनमित्यर्थः। ५. व्यापारः, सकलजगत्कर्तेत्यर्थः। ६. विश्वव्यापीति भावः। ७. पुण्यपापाभ्याम्। ८. संयोजयति। ९. परमाणुभिः। १०. ईश्वरः।

व्यापारायोगात्तुर्यादिवत्[१]। न चैवं चेतनस्यापि चेतनान्तरपूर्वकत्वादनवस्था;[२] तस्य[३] सकलपुरुष-ज्येष्ठत्वान्नि-रति[४]शयत्वात्सर्वज्ञबीजस्य[५] क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वादनादिभूतानश्वरज्ञानसम्भवाच्च।

यदाह पतञ्जलिः[१]–

''क्लेश[२]कर्म[३]विपा[४]काशयै[५]रपरामृष्टः[६] पुरुषविशेष ईश्वरः। तत्र[७] निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। स

के समान। जैसे वस्त्र बनाने के साधनभूत तुरी, वेम शलाका और तन्तु (सूत) आदि अचेतन पदार्थ स्वयं ही वस्त्र नहीं बना सकते। किन्तु सचेतन कुविन्द (बुनकर-जुलाहा) से अधिष्ठित हो करके ही वस्त्र-निर्माण में सहायक होते हैं। इसी प्रकार प्रकृत में भी पार्थिव परमाणु आदि से पृथ्वी आदि कार्य अपने आप नहीं उत्पन्न हो सकते; किन्तु सचेतन सर्वज्ञ ईश्वर से अधिष्ठित हो करके ही वे अपने-अपने कार्यों को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। यदि कहा जाये कि जिस प्रकार चेतन कुविन्द आदि को बाल्यकाल में वस्त्रादि बनाने का उपदेश अपने पिता या गुरुजनादि से मिलता है और उन्हें भी अपने अपने पूर्वजों से। इसी प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती चेतनान्तर से अधिष्ठित कार्यों की उत्पत्ति मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होगा, सो भी बात नहीं, क्योंकि वह जगत् का कारणभूत और सर्वज्ञता का बीज ईश्वर संसार के समस्त पुरुषों से ज्येष्ठ है, समर्थ है और अतिशयों की परम प्रकर्षता से निष्क्रान्त (रहित) है। तथा वह ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अपरामृष्ट अर्थात् रहित है और उसके अनादिभूत अविनश्वर ज्ञान पाया जाता है।

यही पतञ्जलि ने भी कहा है-क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित पुरुष विशेष ईश्वर है, वह निरतिशय सर्वज्ञ-बीज है, हरि-हर हिरण्यगर्भादि पूर्व पुरुषों का भी गुरु है और काल की अपेक्षा उसका कभी विच्छेद नहीं होता अर्थात् वह अनादिनिधन है।

विशेषार्थ–क्लेश नाम अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का है। किसी पदार्थ

---

१. यथा तुरीतन्तुवेमशलाकादीनामचेतनानां स्वयं कार्योत्पत्तौ व्यापारायोगाच्चेतनकुविन्दाधिष्ठितेनैव कार्यकर्तृत्वं तथा प्रकृतेऽपि। २. यथा चेतनस्य कुविन्दादेर्बाल्यकाले पितुरुपदेशमन्तरेणाकर्तृत्वाच्चेतना-न्तरेण भाव्यम् , तथा चेतनान्तरेऽपरचेतनान्तरेण। एवं परापरचेतनप्रयुज्यकर्तृत्वादनवस्था। ३. ईश्वरस्य। ४. अतिशयाति-क्रान्तत्वात्। अतिशयानां परमप्रकर्षता, तथा निष्क्रान्तत्वात्। ५. सर्वज्ञ एव बीजं कारणं सर्वस्य मूलत्वाद्बीजमिव बीजम्, तस्यजगत्कारणभूतस्येत्यर्थः

१.पातञ्जलयोगसूत्रे। २. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। तत्र विपरीताख्यातिरविद्या। अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। नित्यादिचतुष्टयेऽनित्यादिचतुष्टयबुद्धिः पापादौ पुण्यादि-बुद्धिरपि विवक्षिता, तासामपि संसारहेत्वविद्यात्वात्। अहो अहमस्मीत्यभिमानोऽस्मिता। दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मता अस्मिता। रागद्वेषौ सुखदुःखतत्साधनविषयौ प्रसिद्धौ। सुखानुशयी रागः। सुखतत्साधनमात्रविषयकः क्लेशो रागः। दुःखानुशयी द्वेषः। आप्तेश्वरभङ्गभीतिरभिनिवेशः। स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। स्वस्य रसेन संस्कारेणैव वहतीति स्वरसवाही। अपिशब्दादविद्वानपि परिगृह्यते। रुढः प्रसिद्धः। तथा च यथाऽविदुषस्तथा विदुषोऽपि स्वरसवहित्वहेतुना यज्जातीयो यत्क्लेशो भयाख्यः प्रसिद्धोऽस्ति, सोऽभिनिवेश इत्यर्थः। ३. कर्म धर्माधर्मों, अश्वमेधब्रह्महत्यादिकं कर्म। ४. विपाकाः

[1]पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानविच्छेदादिति च।''

ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो[2] विरागस्तृप्तिर्निसर्गजनिता[3]वशितेन्द्रियेषु। [4]आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्तिर्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तवैव॥१०॥

इत्यवधूत[5]वचनाच्च।

न चात्र[6] कार्यत्व[7]मसिद्धम् [8]सावयवत्वेन कार्यत्वसिद्धेः। नापि विरुद्धम् विपक्षे[9] वृत्त्यभावात्।

को विपरीत जानना अविद्या है। अर्थात् अनित्य, अशुचि और दुःखरूप वस्तुओं में नित्य, शुचि और सुख की कल्पना करने को अविद्या कहते हैं। ''मैं भी कोई हूँ'' इस प्रकार के अहंकार को अस्मिता कहते हैं। सुख और उसके कारणों में प्रीति को राग कहते हैं। दुःख और उसके कारणों में अप्रीति को द्वेष कहते हैं। आप्त ईश्वर के भंग का भय और दुराग्रह का नाम अभिनिवेश है। इन सभी को क्लेश कहते हैं। कर्म नाम पुण्य-पाप का है। यज्ञादि पुण्य कर्म हैं और ब्रह्महत्यादि पापकर्म हैं। कर्म के फलरूप जाति, आयु और भोग को विपाक कहते हैं। जाति नाम देवत्व, मनुष्यत्व आदि का है। नियत काल तक प्राणों के साथ सम्बन्ध बने रहने को आयु कहते हैं। सुख-दुःख के भोगने का नाम भोग है। सांसारिक वासना से वासित चित्त की परिणति को आशय कहते हैं। वह जगद्-व्यापी अनादि-निधन और सर्व का गुरु ईश्वर इन सबसे रहित है।

तथा संन्यासियों के गुरु अवधूत के भी वचन उसके विषय में इस प्रकार हैं–

''हे भगवन्! आपका ऐश्वर्य अप्रतिहत है, वैराग्य स्वाभाविक है, तृप्ति नैसर्गिक है, इन्द्रियों में वशिता है अर्थात् आप जितेन्द्रिय हैं, आपका सुख आत्यन्तिक अर्थात् चरम सीमा को प्राप्त है, शक्ति आवरण-रहित है और सर्व विषयों को साक्षात् करने वाला ज्ञान भी। आपका ही है' ॥१०॥

इस प्रकार ईश्वर यतः सर्व से ज्येष्ठ और अनादिनिधन है, अतः उसके द्वारा उर्वी, पर्वतादि कार्यों के किये जाने पर अनवस्था दोष नहीं प्राप्त होता है।

और ईश्वर के सद्भाव को सिद्ध करने के लिए हमने जो कार्यत्व हेतु दिया है, वह असिद्ध

कर्मफलानि। जन्मायुर्भोगाः। जात्यायुर्भोगाविपाकाः। तत्र जातिर्देवत्व-मनुष्यत्वादिः। प्राणाख्यस्य वायोः कालावच्छिन्नसम्बन्ध आयुः। स्वसमवेतसुखदुःखसाक्षात्कारो भोगः। ५. आशयो ज्ञानादिवासना। संसारवासितचित्तपरिणाम आशयः। आनिवृत्तेरात्मनि शेते इत्याशयो धर्माधर्मस्वरूपमपूर्वम्। ६. एतैः कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः सर्वथा सर्वदाऽसंस्पृष्ट इत्यर्थः। ७. सर्वज्ञत्वानुमापकं यज्ज्ञानस्य सातिशयत्वं तत्तत्रेश्वरे निरतिशयं विश्रान्तमित्यर्थः। तथा च निरतिशयज्ञान ईश्वर इति लक्षणम्। तस्मिन् भगवति सर्वज्ञत्वस्य यद्बीजं सर्वस्य मूलत्वाद्बीजमिव बीजम्, तन्निरतिशयं काष्ठां प्राप्तम्।

१. स एव ईश्वरः पूर्वेषां हिरण्यगर्भादीनामपि गुरुरन्तर्यामिविधया ज्ञानचक्षुःप्रदः। कालानवच्छिन्नत्वान्नित्यो भवति तथा च श्रुतिः–''जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्'' इति। २. स्वाभाविकः। ३. स्वाधीनता। ४. विनाशरहितम्। ५. संन्यासिनां मतम्। ६. तन्वादौ। ७. क्षित्यादिकं समवाय्यसमवायनिमित्तकारणत्रयप्रभवं कार्यत्वाद्वस्त्रादिवत्। तत्र समवायिकारणं चतुर्विधाः परमाणवः, असमवायिकारणं परमाणुसंयोगः, निमित्तकारण-

नाप्यनैकान्तिकम्; विपक्षे परमाण्वादावप्रवृत्तेः। प्रतिपक्षसिद्धिनिबन्धनस्य साधनान्तरस्याभावान्न प्रकरणसमम्। [१]अथ 'तन्वादिकं बुद्धिमद्धेतुकं न भवति, दृष्टकर्तृक[२]प्रासादादिविलक्षणत्वादाकाशवत्' इत्यस्त्येव प्रतिपक्ष-साधनमिति। नैतद्युक्तम्; हेतोरसिद्धत्वात् [३]सन्निवेशविशिष्टत्वेन प्रासादादिसमानजातीयत्वेन तन्वादीना-मुपलम्भात्। अथ यादृशः प्रासादादौ सन्निवेशविशेषो दृष्टो न तादृशस्तन्वादाविति चेन्न[४]; सर्वात्मना[५]

भी नहीं है; क्योंकि सावयव होने से कार्यत्व हेतु सिद्ध है।

विशेषार्थ—यौग लोग पृथ्वी आदिक कार्यों को समवायि कारण, असमवायि कारण और निमित्त कारण इन तीन कारणों से उत्पन्न हुआ मानते हैं और उसे सिद्ध करने के लिये उन्होंने कार्यत्व हेतु दिया है। उनमें से वे पृथ्वी जलादि रूप चार प्रकार के परमाणुओं को कार्य का समवायि कारण कहते हैं, परमाणुओं का संयोग असमवायि कारण है और ईश्वर, आकाश, कालादि निमित्त कारण हैं, क्योंकि ये अनादिनिधन हैं। उक्त अनुमान में प्रयुक्त कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं है, इस बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने सावयवत्व हेतु का प्रयोग किया है यथा-पृथ्वी आदिक कार्य हैं, क्योंकि वे अवयव सहित हैं। जो-जो पदार्थ अवयव सहित होते हैं, वे-वे कार्य होते हैं। जैसे प्रासाद (भवन) आदि। पृथ्वी आदिक सावयव हैं अतः वे कार्य हैं। इस प्रकार वे पृथ्वी आदि के कार्यत्व की सिद्धि सावयवत्व हेतु से करते हैं। अतः कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं हैं।

और उनका कहना है कि हमारा यह कार्यत्व हेतु विरुद्ध भी नहीं हैं; क्योंकि साध्य जो बुद्धिमन्निमित्तकत्व, उसका विपक्ष अबुद्धिमन्निमित्तकत्व नित्य परमाणु आदिक उनमें कार्यत्व हेतु नहीं रहता है। और इसी कारण अनैकान्तिक भी नहीं है; क्योंकि वह विपक्षभूत परमाणु आदिक में नहीं रहता। प्रतिपक्ष की सिद्धि करने वाले अन्य साधन का अभाव होने से प्रकरण सम भी नहीं है। यदि कहा जाये कि ''तनु-करण-भुवनादिक बुद्धिमद्धेतुक नहीं हैं; क्योंकि जिन कार्यों के कर्ता दिखाई देते हैं, ऐसे प्रासाद आदिसे वे विलक्षण हैं, जैसे कि आकाश।'' यह प्रतिपक्ष का साधक अनुमान पाया जाता है, सो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस अनुमान में प्रयुक्त हेतु असिद्ध है-यतः तनु-करण-भुवनादिक के सन्निवेश (रचना-आकार) वैशिष्ट्य से प्रासादादि के समानजातीयता पाई जाती है। यदि कहा जाये कि जैसा सन्निवेश वैशिष्ट्य प्रासाद आदि में देखा जाता है, वैसा तनु-करण-भुवनादिक में नहीं पाया जाता, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि

मीश्वराकाशकालाः अनादिनिधनत्वादाद्यन्तरहितत्वा-दित्यनुमाने कार्यत्वमसिद्धं न भवति। ८. तथाहि-क्षित्यादिकं कार्यं सावयवत्वात्। यत्सावयवं तत्कार्यं यथा प्रासादादि। सावयवं चेदं तस्मात् कार्यं भवति। ९. अबुद्धिमद्धेतुके नित्ये परमाण्वादौ।

१. अबुद्धिमद्धेतुके इदमेव प्रतिपक्षसाधनमस्ति। २. यथा प्रासादादीनां कर्त्ता दृश्यते, न तथा तन्वादीनामिति। ३. रचनाविशेष-। ४. यौगः। ५. सर्वरूपेण।

सदृशस्य[3] कस्यचिदप्यभावात्। सातिशयसन्निवेशो हि सातिशयं कर्त्तारं गमयति, प्रासादादिवत्। न च दृष्टकर्तृकत्वा[4]दृष्ट-कर्तृकत्वाभ्यां बुद्धिमन्निमित्तेतरत्व[5]सिद्धिः, [6]कृत्रिमैर्मणि[7]मुक्ताफलादिभिर्व्यभिचारात्। [8]एतेनाचेतनो[9]-पादानत्वादिकमपि समर्थितमिति सूक्तं बुद्धिमद्धेतुकत्वम्, [10]ततश्च सर्ववेदित्वमिति।

तदेतत्सर्वमनुमानमुद्रा[11]द्रविणदरिद्रवचनमेव, कार्यत्वादेरसम्यग्घेतुत्वेन तज्जनित[12]-ज्ञानस्य मिथ्या-रूपत्वात्। तथाहि[1]-कार्यत्वं [2]स्वकारणसत्ता[3]समवायः[4] स्यात्, अभूत्वाभावित्वम्, अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वम्, कारण[5]व्यापारानुविधायित्वं वा स्यात्, गत्यन्तराभावात्।

सम्पूर्णरूप से सदृशता तो किसी भी पदार्थ में नहीं पाई जाती है। यदि दृष्टान्त के सभी धर्म दार्ष्टान्त में पाये जायें तो वह दृष्टान्त ही नहीं रहेगा, प्रत्युत दार्ष्टान्त हो जायेगा। अतिशय-युक्त सन्निवेश तो सातिशय कर्ता का ज्ञान कराता है, जैसा सुन्दर कलापूर्ण प्रासादसातिशय कलाकार (कारीगर) का ज्ञान कराता है। यदि कहा जाये कि जिनके कर्ता दिखाई देते हैं, वे कार्य बुद्धिमान के निमित्त से बने हैं और जिनके कर्ता दिखाई नहीं देते हैं, वे कार्य अबुद्धिमान के निमित्त से बने हैं, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं; अन्यथा कृत्रिम (नकली) मणि-मुक्ताफलादि से व्यभिचार आता हैं; क्योंकि वे भी चतुर स्वर्णकार आदि के निमित्त से बने हैं। इस प्रकार इस कार्यत्व हेतु के समर्थन से अचेतनोपादानत्व और सन्निवेशविशिष्टत्व इन शेष दोनों हेतुओं का भी समर्थन किया हुआ जानना चाहिए। अतः यह बहुत सुन्दर कहा है कि उर्वी, पर्वत, तरु और तनु आदिक बुद्धिमद्धेतुक हैं और इसी से सर्ववेदित्व (सर्वज्ञत्व) भी सिद्ध हो जाता है।

समाधान—अब आचार्य ईश्वर-सिद्धि के पूर्व पक्ष का निराकरण और स्वपक्ष का स्थापन करते हुए कहते हैं कि आप लोगों का यह सर्व कथन अनुमान-मुद्रा (सिक्का) रूप धन से रहित दरिद्र पुरुष के वचन के समान है; क्योंकि कार्यत्व आदिक असम्यक् हेतु हैं, अतः उनसे जनित ज्ञान भी मिथ्यारूप ही है। आगे उसी को स्पष्ट करते हैं-हम आपसे पूछते हैं कि कार्यत्व हेतु से आपका क्या अभिप्राय है ? स्वकारणसत्तासमवाय को कार्यत्व कहते हैं, या अभूत्वाभावित्व को, या अक्रियादर्शी के कृतबुद्ध्युत्पादकत्व को अथवा कारणव्यापारानुविधायित्व को कार्यत्व कहते हैं? क्योंकि इनके अतिरिक्त अन्य गति (विकल्प) का अभाव है अर्थात् अन्य को कार्यत्व बतलाना

---

१. सर्वो दृष्टान्तधर्मो दार्ष्टान्तिके प्रवर्तते चेद् दृष्टान्त एव न स्यात्। २. यद्दृष्टकर्तृकं तद्बुद्धिमन्निमित्तं यददृष्टकर्तृकं तदबुद्धिमन्निमित्तम्। ३. अबुद्धिमन्निमित्तत्व-। ४. अन्यथा। ५. अत्रापि चतुर-स्वर्णकारादयो निमित्तम्। ६. कार्यत्व-हेतुसमर्थनपरेण न्यायेन। ७. परमाण्वादि। ८. सर्वतन्वादिकार्याणां बुद्धिमद्धेतुकत्वतो निमित्तकारणत्वात्। ९. अनुमानमुद्रां कर्तुमशक्यः। १०. कार्यत्वाद्य-सद्धेतूत्पन्नज्ञानस्य। ११. विकल्पचतुष्कं कृत्वा वदति। १२. स्वस्य निष्पाद्यवस्तुनः कारणानि, तेषां सत्ता तया समवायो मिलनमिह मृत्तिकायां घट इति मृत्तिकासत्तया घटो व्याप्यत इत्यर्थः। १३. स्वकारण समवायः सत्तासमवायो वा। १४. अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदं प्रत्ययलिङ्गो यः सम्बन्धः स समवायः। १५. कारणानि परमाण्वादीनि।

आपके लिए सम्भव नहीं है।

विशेषार्थ—कार्यत्व क्या वस्तु है, इसके सम्बन्ध में आचार्य ने जो चार विकल्प उठाये हैं उनका खुलासा अर्थ जानने के लिए नैयायिक-वैशेषिक मत की तत्त्व व्यवस्था का कुछ मूलरूप जान लेना आवश्यक है। इनके मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ माने हैं। इनमें से द्रव्य के नौ भेद हैं–पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन। गुणपदार्थ के चौबीस भेद हैं– रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। कर्मपदार्थ के पाँच भेद हैं–उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। सत्तारूप सामान्य पदार्थ एक हैं उसके परसामान्य और अपरसामान्य ये दो भेद हैं। नित्य द्रव्यों में रहने वाले विशेष अनन्त हैं। समवाय का कोई भेद नहीं, वह एक ही है। इन छह पदार्थों को वे सत्‌रूप मानते हैं और अभाव को असत्‌रूप। अभाव के चार भेद माने हैं-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव (अन्योन्याभाव) और अत्यन्ताभाव। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इनके मत में द्रव्य से गुण नाम का पदार्थ सर्वथा भिन्न है और समवाय नामक पदार्थ के सम्बन्ध से द्रव्य में गुणों का सम्बन्ध होता है। सामान्य नामक पदार्थ अपने पूर्ववर्ती द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में रहता है। समवाय पदार्थ अपने पूर्ववर्ती पाँचों पदार्थों में पाया जाता है। सामान्य का ही दूसरा नाम सत्ता है। उसे वे लोग नित्य, एक और अनेक पदार्थों में रहने वाला मानते हैं। आत्मा और ज्ञान जैसे अभिन्न पदार्थों में–जिनमें कि आधार-आधेय का सम्बन्ध पाया जाता है, 'इहेदं'–इसमें यह है, इस प्रकार की प्रतीति ही जिसका लिंग (चिह्न) है, ऐसे पदार्थ को समवाय कहते हैं। इतनी व्यवस्था जान लेने के बाद अब उन चारों विकल्पों का अर्थ कहते हैं–पहला विकल्प है–स्वकारणसत्तासमवाय। विवक्षित कार्य के उत्पन्न करने वाले जो कारण हैं, उनकी सत्ता के साथ कार्य के समवाय सम्बन्ध को स्वकारणसत्ता समवाय कहते हैं। जैसे इस मिट्टी में घट है, यहाँ पर मिट्टी की सत्ता के साथ घट का समवाय सम्बन्ध है, वह स्वकारणसत्ता समवाय है। जो पदार्थ पहले नहीं था, उसके अब उत्पन्न होने को अभूत्वाभावित्व कहते हैं। जिसने कार्य के उत्पन्न होने की क्रिया को नहीं देखा है, ऐसे पुरुष के भी ''यह किसी ने किया है'' ऐसी बुद्धि के उत्पन्न होने को कृतबुद्ध्युत्पादकत्व कहते हैं। कारण के व्यापार के अनुसार कार्य के होने को कारणव्यापारानुविधायित्व कहते हैं। आचार्य पूर्वपक्षवादी से उक्त चार विकल्प उठाकर पूछते हैं कि इनमें से किस जाति का कार्यत्व आपको विवक्षित या अभीष्ट है, क्योंकि इनके अतिरिक्त कार्य का और कोई अर्थ सम्भव नहीं है।

अथाद्यः [१]पक्षस्तदा योगिनामशेषकर्मक्षये[२] पक्षान्तःपातिनि[३] हेतोः कार्यत्व[४]लक्षणस्याप्रवृत्ते-र्भागासिद्धत्वम्[५]। न च तत्र[६] सत्तासमवायः[७] स्वकारणसमवायो[८] वा समस्ति; तत्प्रक्षयस्य प्रध्वंसरूपत्वेन सत्तासमवाययोरभावात्[९], सत्ताया द्रव्य[१०]गुण[११]क्रिया[१२]ऽऽधारत्वाभ्यनुज्ञानात्[१३], समवायस्य च [१४]परैर्द्रव्यादि[१५]-पञ्चपदार्थवृत्तित्वाभ्युपगमात्।

[१६]अथाभावपरित्यागेन [१७]भावस्यैव विवादाध्यासितस्य [१८]पक्षीकरणान्नायं दोषः प्रवेशभागिति चेत्तर्हि[१९]

अब आचार्य उन चारों विकल्पों में से प्रथम विकल्प का खण्डन करते हुए कहते हैं–यदि आपको आद्य पक्ष अभीष्ट है अर्थात् कार्यत्व का अर्थ स्वकारणसत्ता समवाय लेते हैं, तो योगियों के समस्त कर्मों का क्षय भी तनुकरण-भुवनादि के समान पक्ष के अन्तर्गत है, परन्तु उसमें कार्यत्व लक्षण वाले हेतु की अप्रवृत्ति है; अतः आपका हेतु भागासिद्ध हो जाता है। जो हेतु पक्ष के एकभाग (देश) में रहे और एकभाग में न रहे, उसे भागासिद्ध कहते हैं। प्रकृत में स्वकारणसत्ता समवायरूप कार्यत्व हेतु उर्वी-पर्वतादिक में तो पाया जाता है और योगियों के अशेषकर्मक्षयरूप कार्य में नहीं पाया जाता है अतः वह भागासिद्ध है। कर्मक्षयरूप कार्य में न तो सत्ता समवाय है और न स्वकारण समवाय है। सत्ता के साथ वस्तु की एकतारूप सम्बन्ध होने को सत्ता समवाय कहते हैं। और वस्तु के कारणों के साथ एकत्वरूप सम्बन्ध होने को स्वकारण समवाय कहते हैं। योगियों का कर्म क्षय प्रध्वंसाभावरूप है, अतः उसके साथ सत्ता और समवाय दोनों के सम्बन्ध का अभाव है। आप लोगों ने सत्ता को द्रव्य, गुण और क्रिया (कर्म) इन तीन पदार्थों में रहने वाला स्वीकार किया है, तथा समवाय को द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थों में रहने वाला माना है।

यदि कहा जाये कि हम लोग कर्मक्षयरूप अभाव का परित्याग कर विवादापन्न तनु-करण-भुवनादिरूप भावपक्ष को यहाँ अंगीकार करते हैं, अतः हमारे कार्यत्व हेतु को भागासिद्ध नाम का

---

१. चेत्। २. सर्वकर्मप्रक्षये। ३. तनुकरणभुवनादिपक्षे पतिते पक्षान्तर्वर्तिनि सति। ४. योगिनामशेषकर्मक्षयस्य प्रध्वंसाभावरूप-त्वान्नहितत्र स्वकारण-सत्तासमवायलक्षणस्य कार्यत्वस्य हेतोः प्रवृत्तिर्युज्यते। ५. पक्षान्तःपातिनि भूधरादौ स्वकारणसत्तासमवायस्य प्रवृतेरशेषकर्मक्षये चाप्रवृत्तेः स्वकारणसत्तासमवायलक्षणस्य हेतो : पक्षैक-देशासिद्धत्वमिति। कर्मप्रक्षयस्याभावात्, क्षित्यादेर्वर्तमानस्य वर्तित्वात्तस्मादत्र न प्रवर्तते। ६. कर्मक्षये। कार्ये। ७. सत्तायाः सम्बन्धः। ८. स्वस्य कार्यस्य कर्मक्षयलक्षणस्य कारणे यमनियमादिलक्षणे समवायसम्बन्धः। ९. अनेन हेतुना सत्तासमवायपक्ष एव दूष्यते, न स्वकारणसत्तासमवायपक्षः। १०. पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकाल-दिगात्ममनांसीति द्रव्याणि। ११. रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथकत्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्व द्रवत्वस्नेहशब्दबुद्धि सुखदुःखेच्छा-द्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराश्चतुर्विंशतिर्गुणाः। १२. उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चन-प्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि। १३. अङ्गीकरणात्। १४. यौगैः (नैयायिकवैशेषिकैः) १५. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाः। १६. यौगः प्राह। १७. तन्वादिक-स्याभाव-व्यतिरिक्तभावस्यैव १८. अशेषकर्मप्रक्षयस्य प्रध्वंसाभावस्य परित्यागे शेषंकार्यंबुद्धिमद्धेतुकमिति पक्षीकरणात्। १९.भावस्यैव पक्षीकरणाद्बुद्धिमद्धेतुकत्वसाध्ये।

मुक्त्यर्थिनां तदर्थमीश्वराराधनमनर्थकमेव स्यात्, तत्र[१] तस्या[२]किञ्चित्करत्वात्। सत्तासमवायस्य विचारमधि-रोहतः शतधा विशीर्यमाणत्वात् स्वरूपा[३]सिद्धं च कार्यत्वम्। स[४] हि समुत्पन्नानां भवेदुत्पद्यमानानां वा? यद्युत्पन्नानाम्; सतामसतां (वा)? न तावदसताम्[५], खरविषाणादेरपि तत्प्रसङ्गात्। सतां[६] चेत् सत्तासमवायात् स्वतो वा? [७]न तावत्सत्तासमवायात्, [८]अनवस्थाप्रसङ्गात्, प्रागुक्तविकल्पद्वया[९]नतिवृत्तेः। स्वतः[१०] सतां तु सत्तासमवायानार्थक्यम्[११]।

अथोत्पद्यमानानां सत्तासम्बन्धनिष्ठा[१२]सम्बन्धयोरेककालत्वाभ्युपगमादिति मतम्[१३], तदा[१४] सत्ता-

---

यह दोष प्राप्त नहीं होगा। तब तो मोक्षार्थियों का मुक्ति के लिए ईश्वर का आराधन करना निरर्थक ही होगा; क्योंकि आपके कथनानुसार मोक्षार्थी के कर्मक्षय में वह ईश्वरराधन अकिञ्चित्कर ही है, कुछ भी लाभकारक नहीं है। दूसरी बात यह है कि सत्ता समवायरूप कार्यत्व हेतु को विचार श्रेणी पर चढ़ाने से वह शतधा विशीर्ण (छिन्न-भिन्न) हो जाता है अतः कार्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है; क्योंकि पृथ्वी-पर्वतादिक में सत्ता का समवाय असम्भव है। हम पूछते हैं कि वह सत्ता समवाय उत्पन्न हुए पदार्थों के है अथवा उत्पद्यमान पदार्थों के है? यदि उत्पन्न हुए पदार्थों के मानते हैं, तो वे उत्पन्न हुए पदार्थ सत् हैं, अथवा असत्। उत्पन्न हुए असत् पदार्थों के तो सत्ता समवाय माना नहीं जा सकता, अन्यथा खरविषाण आदि के भी सत्ता समवाय का प्रसंग आयेगा। यदि सत् पदार्थों के सत्ता समवाय कहेंगे तो वह सत्ता समवाय अन्य सत्ता समवाय से है, या स्वतः है ? अन्य सत्ता समवाय से तो कह नहीं सकते, क्योंकि उसके मानने पर तो अनवस्था दोष का प्रसंग आता है, क्योंकि पहले कहे गये दोनों विकल्प यहाँ भी उठेंगे। स्वतः सतों के मानने पर सत्ता-समवाय की कल्पना निरर्थक हो जाती है।

यदि आपका ऐसा मत हो कि सत्ता-सम्बन्ध और पदार्थों की उत्पत्ति रूप निष्ठा-सम्बन्ध

---

१. मुक्त्यर्थिनि अशेषकर्मप्रक्षये। २. ईश्वराराधनस्य। ३. महीभूधरादौ सत्तासमवायस्यासम्भवात्स्वरूप्रसिद्धं कार्यत्वमिति। ४. सत्तासमवायः। ५. यदि समुत्पन्नानामसतां सत्तासमवायस्तदा खरविषाणादीनामपि सः स्यादसत्त्वा-विशेषात्। ६. सतां सत्तासमवायश्चेत्सत्तासमवायात्सतां सत्तासमवायः, स्वतो वा सतां सत्तासमवायः। ७. सत्तासमवाया-त्सतां सत्तासम्बन्धस्तर्हि सोऽन्यः सत्तासम्बन्ध : सतामसतां वा ? असतां चेत्खरविषाणादीनामपि तत्प्रसङ्गात् इत्यसत्, तस्य पूर्वमुत्पन्नस्य पश्चादसदिति वक्तुमशक्यत्वात्। न हि पूर्वमुत्पन्नाः पश्चादसन्तः खरविषाणादयः प्रतीयन्ते व्यतिरेके घटादिवत्। यद्युत्पन्नानां सतामसतां वेति स्ववचनविरोधात्। ततः प्रध्वस्तघटादेरपि तत्प्रसङ्गादिति साधीय इत्यभणुः वादिराजाः। ८. सतां चेत्सत्तासम्बन्धात्सतां स्वतो वा सताम् ? सत्तासम्बन्धात्सतां चेत्तर्हि सोऽप्यपरः सत्तासम्बन्धः सतामसतां वेति विकल्पानामनवस्थानादनवस्था स्यात्। ९. सतामसतां वेति। १०. स्वरूपेण। ११. सत्तासमवायः सतां पदार्थानां सत्त्वमस्तित्वं सत्तासमवायात्स्वस्माद्वेति विकल्पद्वयम्। सत्तासमवायात्तेषां पदार्थानां सत्त्वं तस्य सत्तासमवायस्य सतोऽसतो वा सत्त्वम् ? असतः सत्त्वे गगनकुसुमस्य सम्बन्धः स्यात्। सतः सत्त्वे सत्तासमवायान्तरात् स्वतो वा ? तस्य सतोऽसतो वा ? न सतः सत्त्वेऽनवस्था। असतः सत्त्वे पूर्वपदार्थानां सत्त्वं स्वतो भवतु, सत्तासमवायस्यानर्थक्यमिति। १२. उत्पत्ति-सत्तासमवाययोः। १३. यौगस्य। १४. जैनाः पृच्छन्ति तदा वस्तूत्पत्तिकाले।

सम्बन्ध उत्पादाद्भिन्नः किंवाऽभिन्न इति? यदि भिन्नस्तदोत्पत्तेरसत्त्वाविशेषादुत्पत्त्यभावयोः किंकृतो[१] भेदः? अथोत्पत्तिसमाक्रान्तवस्तुसत्त्वेनोत्पत्तिरपि तथा[२] व्यपदिश्यत इति मतम्, तदपि अतिजाड्यवल्गितमेव, उत्पत्तिसत्त्वप्रतिविवादे[३] वस्तुसत्त्वस्यातिदुर्घटत्वात् [४]इतरेतराश्रयदोषश्चेति उत्पत्तिसत्त्वे[५] वस्तुनि तदेककालीनसत्तासम्बन्धावगमः, तदवगमे[६] च [७]तत्रत्यसत्त्वेनोत्पत्तिसत्त्वनिश्चय इति। अथैतद्[८]दोषपरिजिहीर्षया [९]तयोरैक्य[१०]मभ्यनुज्ञायते, तर्हि तत्सम्बन्ध[११] एव कार्यत्वमिति। [१२]ततो बुद्धिमद्धेतुकत्वे[१३] [१४]गगनादि-भिरनेकान्तः।

एतेन[१५] स्वकारण[१६]सम्बन्धोऽपि चिन्तितः[१७]। अथोभयसम्बन्धः[१८] कार्यत्वमिति मतिः, सापि न

इन दोनों का एक काल मानने से उत्पद्यमान पदार्थों के सत्ता-सम्बन्ध है तो हम पूछते हैं कि सत्ता सम्बन्ध उत्पाद से भिन्न है कि अभिन्न? यदि भिन्न है, तब उत्पत्ति से असत्त्व में कोई विशेषता नहीं रही, अतः उत्पत्ति और अभाव इन दोनों में क्या भेद रहा ? यदि कहें कि उत्पत्ति से समाक्रान्त अर्थात् युक्त वस्तु के सत्त्व से उत्पत्ति को भी सत्रूप व्यवहार कर दिया जाता है, तब तो आपका यह कहना अति जड़ पुरुष के बकवाद के तुल्य है; क्योंकि जब उत्पत्ति के सत्त्व में ही विवाद है, तब वस्तु का सत्त्व मानना अत्यन्त दुर्घट है, अशक्य है। और वैसा मानने पर इतरेतराश्रय दोष भी आता है कि उत्पत्ति-सत्त्व के सिद्ध होने पर वस्तु-सत्त्व सिद्ध हो। अर्थात् उत्पत्ति के समय वस्तुओं में सत्ता के सम्बन्ध का ज्ञान हो। और जब वस्तु सत्त्व का ज्ञान हो जाये, तब वस्तु-सत्त्व के द्वारा उत्पत्ति सत्त्व का निश्चय हो। यदि उपर्युक्त दोष का परिहार करने की इच्छा से आप उत्पत्ति और सत्तासम्बन्ध इन दोनों में एकता मानते हों, तो उस सत्ता का सम्बन्ध ही कार्यत्व सिद्ध हुआ। तब उस सत्तासम्बन्धरूप कार्यत्व से बुद्धिमद्धेतुकत्व साध्य में आकाशादि के द्वारा अनैकान्तिक दोष प्राप्त होता है; क्योंकि आकाशादि में सत्ता-सम्बन्ध तो है परन्तु बुद्धिमद्धेतुकता नहीं है। कहने का भाव यह कि आकाशादि में सत्ता का सम्बन्ध होने पर भी वे किसी के द्वारा बनाये हुए नहीं हैं।

इस उपर्युक्त सत्ता-समवायसम्बन्ध के निराकरण से स्वकारण समवायसम्बन्ध का भी विचार

---

१. उत्पत्तौ सत्तासमवायो नास्ति, अभावेऽपि नास्ति; तर्हि तयोः को भेदः ? २. सत्त्वरूपेण। ३. उत्पत्तिश्च सत्त्वं चेति तयोर्विवादे। उत्पत्तौ सत्त्व नास्तीति विवादः। ४. यथाकथञ्चिद्भवतु, तथापीतरेतराश्रयदूषणमापतितमिति। ५. उत्पतौ सत्त्वमुत्पत्तिसत्त्वं तस्मिन् सति। उत्पत्तिसमये वस्तुनि सद्रूपे निश्चिते सतीत्यर्थः। ६. वस्त्वेककालीनसत्तासम्बन्धावगमे। ७. वस्तुस्थसत्ता-समवायेन। ८. उक्तदोष। ९. उत्पत्तिसत्ता-सम्बन्धयोः। १०. अभिन्न इति द्वितीयभेदमङ्गीकृत्य दूषयति। ११. सत्तासम्बन्धः एव। १२. सत्तासम्बन्धरूपात्कार्यत्वात्। १३. साध्ये सति। १४. गगनादौ सत्तासम्बन्धरूपसाधनत्वमस्ति, बुद्धिमद्धेतुकत्वं नास्ति। यतो गगनादौ सत्तासम्बन्धो वर्तते, तथापि कार्यो न भवति; गगनादीनां बुद्धिमद्धेतुकत्वाभावे सत्तासम्बन्धस्य विद्यमानत्वात्। न तु खरविषाणादीनां तद्विद्यमानत्वम्। ततः साध्याभावे हेतुसद्भावादनेकान्तः। १५. सत्तासमवायसम्बन्धनिराकरणेन। १६. यतोऽस्य बुद्धिमद्धेतुकं नास्ति। १७. स्वकारणसम्बन्धः (सत्तासमवायः) उत्पन्नानां स्यादुत्पद्यमानानां वा ? यद्युत्पन्नानां तर्हि सतामसतां वा ? न तावदसतां खरविषाणादीनामपि तत्प्रसङ्गादित्यादिना निरस्तः। १८. स्वकारणसमवायः सत्तासमवायश्चेत्युभयसम्बन्धः।

युक्ता; [१]तत्सम्बन्धस्यापि [२]कादाचित्कत्वे समवायस्यानित्यत्वप्रसङ्गात्[३] घटादिवत्। अकादाचित्कत्वे [४]सर्वदोपलम्भ-प्रसंगः। [५]अथ [६]वस्तूत्पादककारणानां सन्निधानाभावान्न सर्वदोपलम्भप्रसंगः। ननु[७] वस्तूत्पत्त्यर्थे कारणानां व्यापारः, उत्पादश्च [८]स्वकारणसत्तासमवायः[९]; स च सर्वदाप्यस्ति, इति तदर्थे[१०] कारणोपादान-मनर्थकमेव स्यात्।

[११]अभिव्यक्त्यर्थं [१२]तदुपादानमित्यपि [१३]वार्त्तम्; [१४]वस्तूत्पादापेक्षया[१५] [१६]अभिव्यक्तेरघटनात्[१७]। वस्त्वपेक्षयाऽभिव्यक्तौ [१८]कारणसम्पातात्प्रागपि कार्य[१९]वस्तुसद्भावप्रसङ्गात्। उत्पादस्याप्यभिव्यक्तिरसम्भाव्या;

किया गया समझना चाहिए। यदि उभय सम्बन्ध को अर्थात् स्वकारण समवाय और सत्ता समवाय इन दोनों के सम्बन्ध को कार्यत्व कहते हों, तो यह मानना भी युक्त नहीं है; क्योंकि तनु-करण-भुवनादिक के उभयसम्बन्ध को यदि कादाचित्क (कभी किसी काल में होने वाला) मानेंगे, तो घटादिक के समान समवाय के अनित्यता का प्रसंग आता है। यदि अकादाचित्क कहेंगे; अर्थात् सदा होने वाला मानेंगे, तो तनु-करणादि कार्यों के भी सर्वदा पाये जाने का प्रसंग आता है। यदि कहें कि वस्तु के उत्पादक कारणों के सन्निधान (सामीप्य) के अभाव से कार्यों के सर्वदा होने का प्रसंग नहीं आयेगा। तो आचार्य कहते हैं कि वस्तु की उत्पत्ति के लिए कारणों का व्यापार होता है और उत्पाद स्वकारण सत्ता समवायरूप है, सो वह सर्वदा है ही। अतएव वस्तु की उत्पत्ति के लिए कारणों का उपादान (ग्रहण) करना अनर्थक ही होगा।

यदि कहें कि वस्तु के कारणों का ग्रहण उत्पत्ति के लिये नहीं, किन्तु कार्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है; सो यह भी कथनमात्र ही है अर्थात् असत्य या व्यर्थ है; क्योंकि वस्तु के उत्पाद की अपेक्षा से अभिव्यक्ति का कथन घटित नहीं होता। यदि वस्तु की अपेक्षा से अभिव्यक्ति मानी जाये, तो कारणों के समागम से पहले भी कार्यरुप वस्तु के सद्भाव का प्रसंग आता है। तथा उत्पाद की अभिव्यक्ति भी असम्भाव्य है; क्योंकि स्वकारण सत्ता सम्बन्ध लक्षणरूप उत्पाद के भी

---

१. तनुकरणादीनामुभयसम्बन्धस्यापि। २. तत्सम्बन्धः कादाचित्कोऽकादाचित्को वेति विकल्पद्वयं मनसि कृत्वा दूषयति। ३. कदाचित् कार्योत्पत्तिरस्ति, कदाचिन्नास्तीति समवायोऽनित्यो भवितुमर्हति; कादाचित्कत्वाद्घटवदिति समायाति। ४. तनुकरणादिकार्याणाम्। ५. नैयायिकः प्राह। ६. कार्योत्पादक। ७. जैनाः प्राहुः ८. वस्तूत्पत्तिरेवोत्पादः, स च स्वकारणसत्तासमवाय एव, स च नित्यस्तत्रापि कारणानां वैय्यर्थ्यम् 'सदकारणवन्नित्यम्' इति वचनात्। ९. ऐक्याङ्गीकरणात्। समवायो नित्य इति यौगमतम्। १०. वस्तूत्पत्त्यर्थम्। ११. वस्तूत्पादापेक्षयाऽभिव्यक्तिः वस्त्वपेक्षया वेति विकल्पद्वयं मनसि कृत्वा दूषयति। १२. कारण-। १३. असत्यम्। १४. उत्पादाभिव्यक्तेरघटनात्तस्यानित्यवात्। १५. उत्पाद स्वकारणसमवाययोरैक्यानित्यत्वं निष्ठासम्बन्धयोरेक- कालीनत्वाभ्युपगमादि-निमित्तम्। १६. कार्यस्यापि। पूर्वभावित्वं कारणत्वमिति नष्टं भवति। १७. उभयसम्बन्धरूपस्य वस्तूत्पादस्य नित्यत्वान्न तदपेक्षयाऽभिव्यक्तिः सम्भवति। १८. अन्यथासिद्धनियतपूर्वभावि कारणमिति मतं नश्यति। १९. पश्चाद्भावित्वं कार्यत्वमिति नष्टम्।

स्वकारणसत्तासम्बन्धलक्षणस्योत्पाद[१]स्यापि कारणव्यापारात्प्राक् सद्भावे [२]वस्तुसद्भावप्रसंगात्; तल्लक्षणत्वाद्वस्तुसत्त्वस्य[३]। प्राक् सत[४] एव हि केनचित् तिरोहितस्याभिव्यञ्जकेनाभिव्यक्तिः, तमस्तिरोहितस्य घटस्येव प्रदीपादिनेति। तन्नाभिव्यक्त्यर्थं कारणोपादानं युक्तम्। तन्न स्वकारणसत्तासम्बन्धः कार्यत्वम्।

[५]नाप्यभूत्वाभावित्वम्, तस्यापि विचारासहत्वात्। [६]अभूत्वाभावित्वं हि भिन्नकालक्रिया-द्वयाधिकरणभूते कर्त्तरि सिद्धे सिद्धिमध्यास्ते[७]; क्त्वान्तपदविशेषितवाक्यार्थत्वाद् भुक्त्वा[८] व्रजतीत्यादि-वाक्यार्थवत्[९]। न चात्र भवना[१०]भवनयोराधारभूतस्य कर्तुरनुभवोऽस्ति[११] अभवनाधारस्याविद्यमानत्वेन

कारण-व्यापार से पूर्व सद्भाव मानने पर वस्तु के सद्भाव का प्रसंग आता है; कारण कि वस्तु के सत्त्व का लक्षण ही स्वकारण सत्ता सम्बन्धरूप है। जो वस्तु पहले सत् रूप हो, पीछे किसी से तिरोहित (आच्छादित) हो जाये, तो उसकी अभिव्यञ्जक कारणों से अभिव्यक्ति होती है। जैसे अन्धकार से तिरोहित घट की प्रदीप आदि के प्रकाश से अभिव्यक्ति होती है। अतः अभिव्यक्ति के लिए कारणों का उपादान करना युक्त नहीं है इस प्रकार स्वकारण सत्ता सम्बन्धरूप कार्यत्व हेतु सिद्ध नहीं होता, यह निश्चित हुआ।

अब आचार्य दूसरे विकल्प में दोष दिखलाते हैं—अभूत्वाभावित्व को ही कार्यत्व नहीं कह सकते, क्योंकि वह भी विचार को तर्कणा को सहन नहीं करता। जो कार्य पहले न होकर आगामी काल में हो, उसे अभूत्वाभावित्व कहते हैं। सो यह अभूत्वाभावित्व भिन्न कालवर्ती दो क्रियाओं के अधिकरणभूत कर्ता के सिद्ध हो जाने पर ही सिद्धि को प्राप्त हो सकता है; क्योंकि वह अतीत कालवाचक 'क्त्वा' प्रत्यय जिसके अन्त में है, ऐसे पद से विशेषित वाक्य के अर्थ रूप हैं। जैसे कि 'भुक्त्वा व्रजति' अर्थात् भोजन करके जाता है, इत्यादि वाक्य का अर्थ है। कोई पुरुष भोजन करके जाता है, यहाँ पर भुक्त्वा रूप अर्थ तो भूत-कालिक है और 'व्रजति' रूप अर्थ वर्तमानकालिक है, अथवा भोजनकाल की अपेक्षा भविष्यत्कालिक है। सो यहाँ भूत और भावी इन दोनों ही क्रियाओं का आधार एकही पुरुष है। परन्तु अभूत्वाभावित्वरूप कार्य में भवन (होना) और अभवन (नहीं होना) इन दोनों क्रियाओं के आधारभूत एक कर्ता का अनुभव नहीं है, अर्थात् प्रतीति में नहीं आ रहा है; क्योंकि अभवन का आधार अविद्यमान होने से और भवन का आधार

---

१. कार्यस्यापि। २. वस्तुनः कारणव्यापारात्पूर्वम्। ३. स्वकारण-सत्तासम्बन्धलक्षणोत्पादस्वरूपत्वात्। ४. वस्तुनः। ५. द्वितीयविकल्पं दूषयति। ६. नैयायिका ह्यसत्कार्यवादिनस्तेषां मते परमाण्वादिषु कारणेषु सर्वथाऽसन्त्येव द्व्यणुकादीनि कार्याणि समुत्पद्यन्ते। ७. अधिरोहति। ८. अत्र भोजनक्रिया अतीतरूपाऽस्ति। ९. यथाऽत्र भिन्नकालाधिकरणभूते कर्तरि देवदत्ते सत्येव भुक्त्वा व्रजतीति युज्यते, न तथाऽभवन-भवनक्रिया-द्वयाधिकरणभूतस्य कर्तुरनुभवोऽस्ति। १०. विद्यमाना-विद्यमानयोः। ११. उपपत्तिर्नास्ति।

भवनाधारस्य च विद्यमानतया भावाभावयोरेकाश्रयविरोधात्[१]। अविरोधे[२] च तयो [३]पर्यायमात्रेणैव भेदो न वास्तव[४] इति।

अस्तु वा यथाकथञ्चिदभूत्वाभावित्वम्, तथापि तन्वादौ सर्वत्रानभ्युपगमाद्भागासिद्धम्[५]। न हि मही-महीधराकूपारारामादयः प्रागभूत्वा भवन्तोऽभ्युपगम्यन्ते परैः[६]; तेषां तैः सर्वदाऽवस्थानाभ्युपगमात्[७]। अथ सावयवत्वेन[८] तेषामपि[९] सादित्वं[१०] प्रसाध्यते, तदप्यशिक्षित[११]लक्षितम् [१२]अवयवेषु वृत्तेरव[१३]यवैरारभ्यत्वेन च सावयवत्वानुपपत्तेः। [१४]प्रथमपक्षे [१५]सावयवसामान्येनानेकान्तात्[१६]। द्वितीयपक्षे साध्याविशिष्टत्वात्[१७]।

विद्यमान होने से भाव (सद्भाव) और अभाव (असद्भाव) का एक आश्रय मानने में विरोध आता है, कारण कि कार्य तो भावरूप ही है, अभावरूप नहीं। यदि इतने पर भी भाव और अभाव में अविरोध माना जाये, तो उन दोनों में नाममात्र का ही भेद रहा, वास्तविक नहीं।

अथवा किसी प्रकार से अभूत्वाभावित्व मान भी लिया जाये, तो भी तनु-करण-भुवनादिक सभी पदार्थों में नहीं मानने से आपका कार्यत्व हेतु भागासिद्ध हो जायेगा; क्योंकि हम जैन लोग मही, महीधर, (पर्वत) समुद्र और वन-खण्डादि को पहले नहीं होकर होते हुए नहीं मानते हैं; किन्तु इनका हम सर्वदा ही अवस्थान मानते हैं। यदि कहें कि मही-महीधरादिक अनित्य है, क्योंकि वे अवयव-सहित हैं, इस प्रकार सावयवत्व हेतु से उन मही-महीधरादिक के सादिपना सिद्ध करते हैं, तो आपका यह कहना भी अशिक्षित पुरुष के कथन के समान प्रतीत होता है; क्योंकि यहाँ पर दो विकल्प उत्पन्न होते हैं-अवयवों में अवयवी रहता है, इसलिये वह सावयव है, अथवा अवयवों से वह आरम्भ किया जाता है, इसलिए उसे सावयव कहते हैं। सो दोनों ही प्रकारों से सावयवता सिद्ध नहीं होती है। इनमें से प्रथम पक्ष के मानने पर तो सावयव सामान्य से अनेकान्त दोष आता है।

भावार्थ—यद्यपि यौगमतानुसार सामान्य निरवयव, अमूर्त और नित्य है, तथापि व्यक्तिरूप अवयवों में रहने से उसे यहाँ सावयव कहा गया है। वह सामान्य के सावयव होते हुए भी उसे सादि नहीं माना गया है, अतः अवयवों में रहने से सादित्व का कथन करना व्यभिचरित हो जाता है।

यदि द्वितीय पक्ष माना जाये कि अवयवी अवयवों से आरम्भ किया जाता है, तो सावयव

---

१. तच्च भाववादिनामेवायं दोषः, न तु स्याद्वादिनाम्; तेषामभावानामपि भावान्तररूपत्वात् वस्तुनो भावाभावात्मकत्वाभ्युपगमात्। २. एकाश्रये तयोरविरोधश्चेत्। ३. नाममात्रेण। ४. पारमार्थिकः। ५. प्रतिवाद्यपेक्षया कार्यत्वम्। ६. अस्माभिर्जैनैः। ७.कालः सर्वज्ञनाथश्च जीवो लोकस्तथाऽऽगमः। अनादिनिधना ह्येते द्रव्यरूपेण संस्थिताः॥१॥ ८. मही-महीधरादयोऽनित्याः सावयवत्वात्। ९. मही-महीधरादीनाम्। १०. ननु सर्वदाऽनवस्थानरूपतया सादित्वं न साध्यते, कादाचित्कत्वादपि न साध्यते; किन्तु सावयवत्वेन साध्यते। ११. न समीचीनमित्यर्थः। १२.अवयविनः। १३. अवयवेषु वृत्तित्वं सावयवत्वं तैरारभ्यत्वं वा। १४. स्पर्शवत्कार्यं सावयवमित्यभिधानात् सामान्यस्य निर्गुणत्व-नित्यत्वाभ्यां कार्यरूपस्पर्शवत्कार्यत्व-योरभावात्सामान्यस्य न सावयवत्वम्, यदवयववृत्ति तत्सादीति वक्तुमशक्यत्वात्।

अथ सन्निवेश एव सावयवत्वम्, तच्च घटादिवत्! पृथिव्यादानुपलभ्यत इत्यभूत्वाभावित्वमभिधीयते। तदप्यपेशलम्; सन्निवेशस्यापि विचारासहत्वात्। स हि अवयवसम्बन्धो[1] भवेद् रचनाविशेषो वा? यद्यवयवसम्बन्धस्तदा गगनादिनाऽनेकान्तः; सकलमूर्त्तिमद्[2]द्रव्यसंयोगनिबन्धनप्रदेशनानात्वस्य सद्भावात्। अथोपचरिता एव तत्र[3] प्रदेशा इति चेत्तर्हि सकलमूर्त्तिमद्-द्रव्य[4]सम्बन्धस्याप्युपचरितत्वात् [5]सर्वगतत्त्व-मप्युपचरितं स्यात्; श्रोत्रस्यार्थक्रियाकारित्वं[6] च न स्यादुपचरितप्रदेशरूपत्वात्। [7]धर्मादिना संस्कारात्ततः[8]

हेतु के साध्य से कोई विशेषता नहीं रहती है, अतः वह साध्यसम हो जाता है, क्योंकि कार्यत्व और अवयवों से आरभ्यत्व इन दोनों का अर्थ समान ही है।

यदि कहें कि यह सन्निवेश अर्थात् आकाररूप जो रचना विशेष है, वही सावयवपना है और वह घटादि के समान पृथ्वी आदिक में भी पाया जाता है, इस प्रकार से हम अभूत्वाभावित्वरूप कार्यत्व को कहते हैं, सो यह कथन भी सुन्दर नहीं है क्योंकि सन्निवेश के भी विचार का असहपना है अर्थात् विचार करने पर वह कोई वस्तु नहीं ठहरता। हम पूछते हैं कि अवयवों के साथ सम्बन्ध होने का नाम सन्निवेश है, अथवा रचना विशेष का नाम सन्निवेश है ? यदि अवयव-सम्बन्ध का नाम सन्निवेश है, तो आकाश आदि से अनेकान्त दोष आता है; क्योंकि समस्त मूर्तिमान द्रव्यों के संयोग का कारण प्रदेशों का नानात्व आकाशादि में पाया जाता है। यदि कहें कि आकाशादि में तो प्रदेश उपचरित हैं, वास्तविक नहीं; तब तो समस्त मूर्तिक द्रव्यों का सम्बन्ध भी उपचरित हो जाने से आकाश के भी सर्वव्यापकता उपचरित हो जायेगी; और तब श्रोत्र के अर्थक्रियाकारिता भी न रहेगी अर्थात् कान से शब्द नहीं सुना जा सकेगा; क्योंकि आकाश के प्रदेश उपचरित हैं।

यदि कहा जाये कि धर्म आदि के संस्कार द्वारा श्रोत्र से वह अर्थक्रिया बन जायेगी, सो उपचरित तो असद्-रूप होता है, उसका धर्मादिक से कुछ भी उपकार या संस्कार नहीं किया जा

---

१५. अवयवसामान्यं अवयवेषु वर्तते, परं कार्यं न भवति; कार्यत्वेऽनित्यत्वप्रसङ्गात्। अथवा अवयवसामान्यं सर्वेषु अवयवेषु वर्तमानमपि न सावयवम्; किन्तु निरवयवमेव, ततोऽकार्यम्। येषामवयवेषु वृत्तिस्तेषां सादित्वमित्युच्यते। १६. महीमहीधरादयः सादयोऽवयवेषु वृत्तेरित्युच्यमाने सामान्येन व्यभिचारः स्यात्; सामान्यं ह्यवयवेषु वर्तते, परन्तु तत्र सादित्वं नास्ति। १७. अवयवैरारभ्यत्व कार्यत्वयोः समानार्थत्वात्साध्यसमो हेतुः।

१. अवयवैः सह सम्बन्धो यः सोऽवयवसम्बन्धः। २. इयत्तावद्द्रव्यपरिणामयोगित्वं मूर्तिमत्त्वम्। सकलमूर्त्तिमद् द्रव्यसंयोग एव निबन्धनं कारणं येषां प्रदेशानां तेषां नानात्वं तस्य सद्भावात्। ३. आकाशादौ। ४. आकाशस्य मूर्त्तिमद् द्रव्येण सह संयोग, एकदेशेन सर्वात्मना वा। एकदेशेन चेत्सावयवत्वं सर्वात्मनाचेदव्यापकत्वम्। ५. व्यापकत्वम्। ६. शब्दग्राहकत्वम्। ७. पुण्यौषधादिना। आदिशब्देन सुखदुःखानुभवप्रापक धर्माधर्मविशिष्टस्यैव नभोदेशस्य श्रोत्रत्वाभ्युपगमात्, अदृष्टबलादर्थक्रियाकारित्वात्। ८. श्रोत्रात्।

[१]सेत्युक्तम्। उपचरितस्यासद्रूपस्य [२]तेनोपकारायोगात् खरविषाणस्येव। [३]ततो न किञ्चिदेतत्[४]। अथ रचनाविशेषस्तदा[५] [६]परम्प्रति भागासिद्धत्वं [७]तदवस्थमेवेति नाभूत्वाभावित्वं विचारं सहते।

[८]नाप्यक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वम्; तद्धि [९]कृतसमयस्यादकृतसमयस्य वा भवेत्? कृत-समयस्य चेद् गगनादेरपि बुद्धिमद्धेतुकत्वं स्यात् [१०]तत्रापि [११]खननोत्सेचनात् कृतमिति गृहीतसंकेतस्य [१२]कृतबुद्धिसम्भवात्। सा[१३] मिथ्येति चेद्भवदीयापि[१४] किं न स्यात्; बाधासद्भावस्य[१५] प्रतिप्रमाणविरोधस्य

सकता। जैसे गर्दभ के सींग का किसी भी पदार्थ से कुछ भी उपकार नहीं किया जा सकता है। इसलिए अवयवों के सम्बन्धरूप यह सन्निवेश कुछ भी वस्तु नहीं सिद्ध होता है। यदि रचना विशेषरूप द्वितीय पक्ष अंगीकार करें, तो जैनों के प्रति भागासिद्धता तदवस्थ ही रहती है; क्योंकि जैन लोग मही-महीधरआदिक को रचना-विशेष से विशिष्ट नहीं मानते हैं। इस प्रकार अभूत्वाभावित्वरूप कार्यत्व विचार करने पर ठहरता नहीं है।

यदि कार्यत्व का अर्थ तीसरे विकल्परूप अक्रियादर्शी के कृतबुद्ध्युत्पादकत्व लेते हैं, तो यह भी पृथ्वी आदि के बुद्धिमद्धेतुकता सिद्ध करने के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि हम पूछते हैं कि यह कृतबुद्धि जिस पुरुष ने संकेत ग्रहण कर रखा है, उसके उत्पन्न होगी, अथवा जिसने संकेत नहीं ग्रहण किया हैं, उसके होगी ? यदि संकेत ग्रहण करने वाले के मानेंगे, तो आकाशादि के तो बुद्धिमान द्वारा किये जाने का प्रसंग प्राप्त होगा; क्योंकि आकाश में भी मिट्टी के खोदने और निकालने से 'यह हमने गड्ढा बनाया' इस प्रकार के संकेत को ग्रहण करने वाले के कृतबुद्धि का होना सम्भव है।

भावार्थ—किसी मनुष्य ने किसी स्थान पर पृथ्वी को खोदकर और मिट्टी बाहर निकाल कर एक बड़ा गड्ढा बनाकर कहा कि देखो मैंने यह कितना बड़ा गड्ढेरुप आकाश का निर्माण किया है, तो इस प्रकार आकाश में भी कृतबुद्धि हो जाती है। तब क्या आप आकाश को भी किसी ईश्वरादिक के द्वारा बनाया हुआ मानेंगे? अर्थात् नहीं मानेंगे। अतः प्रथम पक्ष ठीक नहीं है।

यदि कहें कि गगनादि में कृतबुद्धि का उत्पन्न होना तो मिथ्या है, तो हम कहते हैं कि आपके भी जो तनु-करण-भुवनादिक में कृतबुद्धि उत्पन्न हो रही है, वह भी क्यों न मिथ्या मानी जाये ?

---

१. अर्थक्रिया। २. धर्मादिना। ३. अवयवसम्बन्धात्। ४. अवयव-सम्बन्धलक्षणं सन्निवेशविशिष्टत्वम्। ५. महीमहीधरादयः सादयः सावयवत्वाद् घटवदित्यत्र सुखादिरचनाविशेषो नास्ति, ततो भागासिद्धत्वमिति। ६. जैनम्प्रति। न हि महीमहीधराकूपारारामादयो रचना-विशेषविशिष्टाः अभ्युपगम्यन्ते परैः। ७. भागासिद्धत्वं पूर्ववत्तदवस्थमेव। ८. न क्रियां पश्यतीत्यक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वलक्षणं कार्यत्वमपि क्षित्यादीनां बुद्धिमद्धेतुकत्वं साध्यं साधयितुं नालमित्यर्थः। ९. गृहीतसङ्केतस्य, कारणमिदं कार्यमिदमिति गृहीतसङ्केतपुरुषस्य। १०. तत्कथमिति चेत्। ११. मृत्तिकादिनिष्कासनं खननम्। १२. गर्तोऽयमिति। १३. गगनादौ या कृतबुद्धि :। १४. तन्वादौ या कृतबुद्धिः सापि। १५. नित्यमाकाशं सदकारणत्वात्समवायवदिति।

चान्यत्रापि[1] समानत्वात्[2], प्रत्यक्षेणोभयत्रापि कर्तुरग्रहणात्। क्षित्यादिकं बुद्धिमद्धेतुकं न भवति; अस्मदाद्य-नव[3]ग्राह्यपरिमाणा[4]धारत्वाद् गगनादिवदिति प्रमाणस्य[5] साधारणत्वात्[6]। [7]तन्न कृतसमयस्य कृतबुद्ध्युत्पाद-कत्वम्। नाप्यकृतसमयस्य[8]; असिद्धत्वादवि[9]प्रतिपत्तिप्रसङ्गाच्च[10]।

कारणव्यापारानुविधायित्वं च कारणमात्रापेक्षया[11] यदीष्यते तदा विरुद्धं[12] साधनम्। कारणविशेषापेक्षया

क्योंकि बाधा का सद्भाव और प्रति प्रमाण का विरोध तो तनु-करणादिक में भी समान है।

भावार्थ—जगत् को ईश्वर-कर्तृक मानने वाले यदि कहें कि गगनादि में जो कृतबुद्धि उत्पन्न होती है, वह मिथ्या है, क्योंकि वहाँ कृतबुद्धिके मानने में बाधक प्रमाण का सद्भाव देखा जाता है। हमारे आगम में उसे समवाय के समान सत्, अकारणवान् और नित्य माना है। तो आचार्य कहते हैं कि तनु-करण-भुवनादिक के बुद्धिमन्निमित्तक मानने में भी अनुमान-प्रमाण से बाधा का सद्भाव देखा जाता है। इस प्रकार दोनों में आक्षेप और समाधान समान हैं।

तथा प्रत्यक्ष से कर्ता का अग्रहण तो दोनों में ही समान है। जैसे प्रत्यक्ष से आकाश का कर्ता नहीं दिखाई देता, वैसे ही तनु-करण-भुवनादि का भी कर्ता नहीं दिखाई देता है तथा पृथ्वी आदिक बुद्धिमद्धेतुक नहीं है; क्योंकि हमारे जैसे लोगों के द्वारा उसका परिमाण और आधार अग्राह्य (अपरिच्छेद्य) है; जैसे कि आकाश आदि का। इस प्रकार का अनुमान प्रमाण आकाश और पृथ्वी आदिक में साधारण अर्थात् समान बल वाला पाया जाता है। इसलिए जिसने संकेत ग्रहण किया है, ऐसे पुरुष के कृतबुद्धि का उत्पादकपना नहीं बनता है। तथा जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया है, ऐसे भी पुरुष के कृतबुद्ध्युत्पादकत्व नहीं बनता है; क्योंकि बिना संकेत किये कृतबुद्धि का उत्पन्न होना असिद्ध है। यदि फिर भी कृतबुद्धि सम्भव मानी जाये, तो सभी के अविप्रतिपत्ति का प्रसंग आता है अर्थात् फिर किसी को भी विवाद नहीं होना चाहिए।

यदि कार्यत्व का अर्थ चौथे विकल्परूप कारण व्यापारानुविधायित्व मानते हैं अर्थात् जैसा कारण का व्यापार होता है, तदनुसार ही कार्य होता है, यह कार्यत्व का अर्थ किया जाये, तो इसमें दो विकल्प उत्पन्न होते हैं—कारणव्यापारानुविधायित्व से आपका अभिप्राय कारणमात्र-व्यापारानु-

---

१. तन्वादौ। २. त्वमेवं कथयिष्यसि यद् गगनादौ कृतबुद्धयुत्पाद-कत्वस्य प्रतिबाधकं प्रमाणमस्ति; तर्ह्यन्यत्र तन्वादावपि बाधकप्रमाणमस्त्येव। ३. अपरिच्छेद्य-। ४. परिमाणाधारत्वादि-त्युक्ते घटगतपरिमाणादौ व्यभिचारस्तस्मादस्मदाद्य-नवग्राह्येतिपदोपादानं कृतम्। ५. भूम्याकाशयोः। ६. समबलत्वात्। ७. तत्तस्मात्। ८. अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध-युत्पादकत्वादिति हेतोरसिद्धत्वादित्यर्थः। अग्नेरनुष्णत्वं यथा। ९. अयं घटो न पट इति विप्रतिपत्तिरस्ति, परन्त्वगृहीत-सङ्केतस्य तथा नास्ति। १०. निःसन्देहप्रसङ्गात्। यदि कृतसङ्केतस्य कृतबुद्धि सम्भवस्तथाऽकृतसङ्केतस्यापि यदि कृत-बुद्धिसम्भवश्चेत्तदा माऽस्तु विप्रतिपत्तिः। अस्ति च विप्रतिपत्तिः। ततोऽविप्रतिपत्तिप्रसङ्गो दूषणमिति भावः। ११. कारणमात्रव्यापारानुविधायित्वं कारणविशेषव्यापारानुविधायित्वं वा। १२. विपक्षी भूतेऽबुद्धिमद्धेतुके वस्तुनि वर्तमानत्वात्। ईश्वराख्यकारणविशेषस्येष्टस्यासिद्धेर्विरुद्धत्वम्।

चेदितरेतराश्रयत्वम्-सिद्धे हि कारणविशेषे बुद्धिमति तदपेक्षया[१] कारणव्यापारानुविधायित्वं कार्यत्वम्; [२]ततस्तद्विशेषसिद्धिरिति[३]।

[४]सन्निवेशविशिष्टत्वमचेतनोपादानत्वं[५] चोक्तदोषदुष्टत्वान्न पृथक् चिन्त्यते; स्वरूपभागासिद्धत्वा-देस्तत्रापि सुलभत्वात्।

विधायित्व से है, अथवा कारणविशेषव्यापारानुविधायित्व से है? यदि कारण मात्र की अपेक्षा कहते हैं, तो कार्यत्व हेतु विरुद्ध है; क्योंकि वह विपक्षभूत अबुद्धिमन्निमित्तक कार्यों में भी पाया जाता है और आप लोगों ने ईश्वर नाम के कारण-विशेष को माना है उसकी कारण सामान्य के व्यापार का अनुसरण करने वाले कार्यत्व हेतु से सिद्धि नहीं होती। यदि कारणविशेष की अपेक्षा व्यापारानुविधायित्व कहें, तो इतरेतराश्रय दोष आता है-जब बुद्धिमान कारण विशेष सिद्ध हो जाये, तब उसकी अपेक्षा से कारणव्यापारानुविधायित्वरूप कार्यत्व हेतु सिद्ध हो और जब कारणव्यापारानुविधायित्व सिद्ध हो जाये, तब उसकी अपेक्षा से कारणविशेष बुद्धिमद्धेतुकत्व की सिद्धि हो। इसलिए कारण व्यापारानुविधायित्वरूप कार्यत्व भी सिद्ध नहीं होता।

सन्निवेशविशिष्टत्व और अचेतनोपादानत्व ये दोनों हेतु भी उपर्युक्त दोषों से दुष्ट हैं अतः उनपर पृथक् विचार नहीं करते हैं; क्योंकि उनमें भी भागासिद्धत्व आदि दोष सुलभ हैं अर्थात् सरलता से पाये जाते हैं।

विशेषार्थ—पृथ्वी, पर्वत, तरु, तनु आदिक को बुद्धिमन्निमित्तक सिद्ध करने के लिए जो तीन हेतु दिये थे, उनमें से कार्यत्व हेतु का विस्तार-पूर्वक विचार कर आचार्य ने उसे अपने साध्य की सिद्धि करने के लिए अयोग्य सिद्ध कर दिया और शेष दोनों हेतुओं पर पृथक् विचार न करके इतना मात्र कह दिया कि इनमें भी प्रायः वे ही दोष आते हैं, जो कि कार्यत्व हेतु के खण्डन में दिये गये हैं, फिर भी उनमें भागासिद्धत्व का जो संकेत किया है उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-यदि सन्निवेश (रचना-आकार आदि) की विशेषता देखी जाने से पृथ्वी पर्वतादि के बुद्धिमद्धेतुकता मानी जाये, तो यह हेतुभागासिद्ध है; क्योंकि सुखादिक कार्य तो हैं; पर उनमें रचनाविशेष नहीं पाई जाती है। इसी प्रकार ज्ञान कार्य तो है, पर उसमें अचेतनोपादानता नहीं पाई जाती है, अतः वह भी भागासिद्ध है।

---

१. कारणविशेषापेक्षया। २. कारणव्यापारानु-विधायित्वतः। ३. कारणविशेषबुद्धिमद्धेतुकत्वसिद्धिः। ४. सुखादिना भागासिद्धत्वं यतः सुखादौ रचनाविशेषत्वं नास्ति, कार्यत्वमस्ति। ५. बुद्धिमद्धेतुकत्वमपि 'अङ्कुरादिकं सकर्तृकं, अचेतनोपादानत्वात्' इत्यत्र चेतनोपादाने ज्ञानकार्येऽप्रवर्तमानत्वादचेतनोपादानत्वस्य हेतोर्भागासिद्धत्वम्। कुत्रचिज्ज्ञानलक्षणे कार्ये सचेतनोपादानत्वाद् भागासिद्धत्वम्।

[१]विरुद्धाश्चामी[२] हेतवो दृष्टान्तानुग्रहेण[३] सशरीरासर्वज्ञपूर्वकत्वसाधनात्। [४]न धूमा[५]त्पावका-नुमानेऽप्ययं[६] दोषः, तत्र[७] तार्ण-पार्णादिविशेषा[८]धाराग्निमात्रव्याप्तधूमस्य[९] दर्शनात्। नैवमत्र[१०] सर्वज्ञास[११]र्वज्ञ-कर्तृविशेषाधिकरण-तत्सामान्येन कार्यत्वस्य व्याप्तिः सर्वज्ञस्य[१२] [१३]कर्तुरतोऽनुमानात्प्रागसिद्धत्वात्[१४]।

तथा ये कार्यत्व आदि तीनों हेतु विरुद्ध भी हैं, क्योंकि पूर्व में दिये गये घटादि दृष्टान्त के बल से आपने अशरीरी और सर्वज्ञ ऐसे ईश्वर को सिद्ध किया है; किन्तु दृष्टान्त जो घट उसका कर्ता कुम्भकार तो सशरीरी और असर्वज्ञ है, अतः घट दृष्टान्त की सामर्थ्य से सशरीर और असर्वज्ञ के निमित्त से साध्य की सिद्धि करने पर हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जाता है। यदि कहें कि यह दोष तो धूम से अग्नि के अनुमान में भी आयेगा, सो नहीं कह सकते, क्योंकि धूम से पावक के अनुमान में तार्ण (तृण सम्बन्धी) पार्ण (पत्तों से उत्पन्न हुई) आदि विशेष आधारों में रहने वाली अग्निमात्र से व्याप्त धूम का वहाँ भी दर्शन होता है। उस प्रकार से यहाँ सर्वज्ञ और असर्वज्ञरूप जो कर्ता का विशेष उसका आधार जो कर्तृत्व सामान्य उसके साथ कार्यत्व हेतु की व्याप्ति नहीं है। तथा कर्तारूप सर्वज्ञ इस अनुमान से पहले असिद्ध है।

---

१. तन्वादिकं बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वाद् घटवदित्यत्र यथा घटो बुद्धिमत्कुम्भकारेण कृतः सोऽपि सशरीरी, असर्वज्ञश्च। तथापि सर्वं कार्यं तन्नियतकारणम्। तथा दृष्टान्तसामर्थ्यात्तन्वादिकार्यमपि सशरीरासर्वज्ञबुद्धिमन्निमित्तं स्यादितीष्ट विरुद्धसाधनाद्विरुद्धसाधनमिति। तथा विद्युदादिना व्यभिचारः। २. कार्यत्वसन्निवेश-विशिष्टत्वा-चेतनोपादानत्वरूपास्त्रयो हेतवः। ३. दृष्टान्तबलादस्य सशरीरासर्वज्ञत्वं साधितं तर्ह्यनुमानं मास्तु। ४. दृष्टान्त-सामर्थ्याद्यदीश्वरस्य सशरीरसर्वज्ञत्वं साध्यते तथा सति सर्वानुमानोच्छेदः स्यात्। तथा हि-साग्निरयं पर्वतो धूमवत्त्वान्महानसवदित्यत्रापि पर्वतादौ महानस परिदृष्टस्यैव खादिरपलाशाद्यग्नेः सिद्धेरिष्टविरुद्धसाधनाद्विरुद्धं साधनमिति नैयायिकशङ्का परिहरति। ५. अत्र नैयायिकेनाऽऽशङ्क्यते यद्भवतोक्तं तन्न युक्तम्; उत्कर्षसमजाति रूपासदुत्तरत्वात्। तथा हि-दृष्टान्तधर्मं साध्ये समासञ्जयतो मतोत्कर्षसमाजातिरिति। प्रकृतेऽप्येवं दृष्टान्तधर्मयोर-सर्वज्ञशरीरत्वयोः साध्यधर्मिणि बुद्धिमति समारोपणादुत्कर्षसमा जातिः स्यादेवेति शङ्कां परिहरति। अथवा कस्याप्यनिष्टधर्मस्य वादिसाधनशक्तितः दृष्टान्तात् पक्ष उत्कर्षः, तदुत्कर्षसम उच्यते। उत्कर्षसमा जातिरिति चेन्नायं दोष इति निरस्यति। ६. विरुद्धरूपो दोषः। ७. धूमात्पावकानुमाने। महानसे सामान्येन धूमाग्नि सम्बन्धं दृष्टा पर्वतेऽपि सामान्याग्निमनुमिनोति, तथा सति मम दोषो न, तवैव। ८. महानसे धूमाग्न्योर्व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतेऽग्निमनुमिनोति, तदा न तत्र तार्णाद्यग्निसद्भावात्तत्रोत्पन्नधूमस्य वैयर्थ्यं स्यात्, महानसधूमनिदर्शनस्य सद्भावात्। ९. पर्वतोऽयमग्नि-मान्। १०. क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वादित्यनुमाने। ११. यथाऽस्माकं जैनानां धूमात्पावकानुमाने तार्णादीनां विशेषाग्नीनामग्निमात्राधारग्रहणमस्ति, न तथा तव मते सर्वज्ञासर्वज्ञ योर्विशेषभूतयोस्तदाधारभूतस्य सामान्यपुरुषस्य ग्रहणमस्ति येन कार्यत्वस्य व्याप्तिः स्यात्। यतस्तव मते सर्वज्ञ एव बुद्धिमान्, न तु सामान्यः पुरुषः। १२. अनादिसर्वज्ञः, तस्य साधकं कार्यत्वं तस्मात्सर्वज्ञस्य प्रागसिद्धिः धर्मिणि। विप्रतिपत्तिर्नास्ति, धर्मे विप्रतिपत्तिः। १३. ईश्वरस्य धर्मिणोऽसिद्धत्वात्, धर्मी प्रसिद्धं इति सर्वमते। अत्र धर्मी अप्रसिद्धो जातः तस्माद्धेतोरसिद्धत्वं बुद्धिमतो भावे बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वं साधयति; अतोऽसिद्धत्वम्। १४. भवतां मते हि सर्वज्ञसाधकं तन्वादयो बुद्धिमन्निमित्तकाः कार्यत्वादिदमेवानुमानं तच्च साम्प्रतं विवादापन्नमेवातो न तेन सर्वज्ञसिद्धिरिति सर्वज्ञासर्वज्ञविशेषाधिकरणतत्सामान्येन न कार्यत्वस्य हेतोर्व्याप्तिरस्ति। वह्निमान् धूमादित्यत्र तु तार्ण-पार्णादिविशेषाधारवन्हि सामान्येन धूमस्य व्याप्तिरस्त्येवेति नात्र दोषः।

[1]व्यभिचारिणश्चामी हेतवो बुद्धिमत्कारणमन्तरेणापि विद्युदादीनां प्रादुर्भावसम्भवात्। सुप्ताद्यवस्थायाम-बुद्धिपूर्वकस्यापि कार्यस्य[2] दर्शनात्।

तदवश्यं [3]तत्रापि भर्गाख्यं[4] कारणमित्यतिमुग्धविलसितम्; [5]तद्-व्यापारस्याप्यसम्भवादशरीरत्वात्। ज्ञानमात्रेण[6] कार्यकारित्वाघटनात्, इच्छा[7]-प्रयत्नयोः शरीराभावेऽसम्भवात्। तदसम्भवश्च [8]पुरातनैर्विस्तरेणा-भिहित आप्तपरीक्षादौ; अतः पुनरत्र नोच्यते। यच्च महेश्वरस्य क्लेशादिभिरपरामृष्टत्वं निरतिशयत्व-

---

भावार्थ—ईश्वर को जगत्कर्ता और सर्वज्ञ सिद्ध करने वाला अनुमान यह है—तनु-करण-भुवनादिक बुद्धिमन्निमित्तक हैं, क्योंकि ये कार्य हैं। किन्तु यह कार्यत्व हेतु अभी विवादग्रस्त ही है, अतः उससे सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि सर्वज्ञ और असर्वज्ञरूप जो कर्ता के विशेष हैं। उनका आधार कर्तृत्व सामान्य है उसके साथ कार्यत्व हेतु की व्याप्ति नहीं है, पर्वतादिक में भले ही रसोईघर की अग्नि से भिन्न तृण और पर्ण से उत्पन्न अग्नि हो, पर अग्नि सामान्य के साथ धूमरूप जो कार्य है, उसकी तो व्याप्ति पाई जाती है; इसलिए उसमें कोई दोष नहीं आता।

तथा ये कार्यत्व आदि हेतु व्यभिचारी भी हैं; क्योंकि बुद्धिमान पुरुष रूप कारण के बिना भी बिजली आदि की उत्पत्ति देखी जाती है। तथा सुप्त और उन्मत आदि दशाओं में भी अबुद्धिपूर्वक कार्य देखा जाता है।

यदि कहें कि यतः सुप्त और उन्मत्त आदि अवस्थाओं में उस पुरुष की बुद्धि के बिना ही कार्य होते देखे जाते हैं, अतः उनका भर्ग अर्थात् सदाशिव नामक कोई अदृश्य कारण अवश्य ही मानना चाहिए, सो आपका यह कहना भी अतिमुग्ध जन के विलास के समान है; क्योंकि अशरीर होने से उस सदाशिव का व्यापार सुप्त आदि अवस्थाओं में भी असम्भव है। और ज्ञानमात्र से कार्य-कारित्व घटित नहीं होता। यदि कहें कि ईश्वर की इच्छा और प्रयत्न से कार्यकारीपना बन जायेगा, सो शरीर के अभाव में इच्छा और प्रयत्न का होना असम्भव है। इस असंभवता का निरूपण विद्यानन्द आदि पुरातन आचार्यों ने आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थों में विस्तार से किया ही है, अतः यहाँ पर उसे पुनः नहीं कहते हैं।

और आपने विविध आगम-प्रमाणों के द्वारा महेश्वर के क्लेश, कर्म आदि से अपरामृष्टत्व, निरतिशयत्व और ऐश्वर्य आदि से युक्तत्व का निरूपण किया है, सो वह सभी गगनारविन्द के

---

१. यथा घट-पटकर्तारौ कुलाल-कुविन्दौ, न तथा विद्युत्कर्ता कश्चिदस्त्यतो विद्युति बुद्धिमत्कर्तुर-भावात्कार्यत्वसद्भावाद् व्यभिचारित्वम्। २. हस्तपादादिसञ्चालनस्य कार्यस्य। ३. विद्युदादिष्वपि, सुप्ताद्यवस्थायां समुत्पन्नकार्ये च। ४. सदाशिवसंज्ञकम्। ५. सदाशिव। ६. ईश्वरस्य। ७. चिकीर्षाक्रिययोः। ८. विद्यानन्द्यादिभिः।

मैश्वर्याद्युपेतत्वं तत्सर्वमपि गगनाब्जसौरभव्यावर्णनमिव [१]निर्विषयत्वादुपेक्षा[२]मर्हति। ततो न महेश्वरस्याशेषज्ञत्वम्।

नापि ब्रह्मणः;[३] तस्यापि [४]सद्भावावेदकप्रमाणाभावात्। न तावत्प्रत्यक्षं तदावेदकम्[५] अविप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्[६]। न चानुमानम्; अविनाभाविलिङ्गाभावात्। [७]ननु प्रत्यक्षं [८]तद्ग्राहकमस्त्येव; अक्षिविस्फालनानन्तरं निर्विकल्पकस्य[९] [१०]सन्मात्रविधि[११]–[१२]विषयतयोत्पत्तेः। [१३]सत्तायाश्च परमब्रह्मरूपत्वात्। तथा चोक्तम्–

अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं[१४] प्रथमं निर्विकल्पकम्।
[१५]बाल[१६]मूकादिविज्ञानसदृशं शुद्ध[१७]वस्तुजम्[१८]॥११॥

[१९]न च विधिवत् [२०]परस्परव्यावृत्तिरप्यध्यक्षतः [२१]प्रतीयत इति द्वैतसिद्धिः, तस्य[२२] [२३]निषेधाविषयत्वात्।

सौरभ (सुगन्ध) के वर्णन के समान निर्विषय होने से उपेक्षा (अनादरणीयता) के योग्य है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि महेश्वर के सर्वज्ञता नहीं है।

ब्रह्म के भी सर्वज्ञपना नहीं है, क्योंकि उस ब्रह्म के सद्भाव को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अभाव है। प्रत्यक्ष को तो ब्रह्म के सद्भाव का साधक माना नहीं जा सकता; अन्यथा सभी को ब्रह्म का दर्शन होना चाहिए और फिर ब्रह्म के विषय में किसी को कोई विप्रतिपत्ति (विवाद) नहीं रहना चाहिए। अनुमान भी ब्रह्म के सद्भाव का साधक नहीं है; क्योंकि ब्रह्म के साथ अविनाभाव रखनेवाले लिंग (साधन) का अभाव है।

यहाँ पर ब्रह्मवादी कहते हैं–प्रत्यक्ष प्रमाण तो उस ब्रह्म का ग्राहक है ही; क्योंकि आँख खोलने के अनन्तर ही सर्व विकल्पों से रहित सत्तामात्र स्वरूप वाले विधि (ब्रह्म) को विषय करने से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है। अर्थात् आँख खोलते ही सभी वस्तुएँ सत्रूप से प्रतिभासित होती हुई प्रत्यक्षप्रमाण से प्रतीति में आती है। और यह निर्विकल्परूप सत्ता ही परमब्रह्म का स्वरूप है। जैसा कि कहा है–

प्रथम ही जो सत् सामान्य के अवलोकनरूप आलोचनाज्ञान उत्पन्न होता है, वह निर्विकल्पक हैं, बालक और मूक (गूंगा) आदि के ज्ञान–सदृश हैं, तथा सन्मात्ररूप शुद्ध वस्तु–जनित हैं ॥११॥

भावार्थ–सर्व विकल्पों से रहित शुद्ध सत्तामात्र ही परमब्रह्म का स्वरूप है। यदि कहा जाये कि जिस प्रकार विधि (सत्ता) प्रत्यक्ष का विषय है, उसी प्रकार परस्पर व्यावृत्ति (निषेध) भी

---

१. ईश्वराभावात्। २. अनादरणीयताम्। ३. सर्वज्ञत्वम्। ४. अस्तित्वसाधक–। ५. सर्वेषामपि ब्रह्मदर्शनं स्यात्। ६. यदि प्रत्यक्षं तदावेदकं तर्हि सर्वेषामविप्रति–पत्तिरस्तुः; अस्ति च विप्रतिपत्तिः;। ७.ब्रह्माद्वैतवादिनः प्राहुः। ८.ब्रह्म–। ९. विकल्पज्ञानशून्यस्य प्रत्यक्षस्य। १०. अस्तित्वं ब्रह्मणः किमित्युक्ते आह। ११. ब्रह्म–। १२. वसः। १३. सा (या) सत्ता महानात्मा यामाहुस्त्वतलादयः। १४. प्रथमावलोकनं विशिष्टव्यवहारानङ्गभूतं ज्ञानमालोचनाज्ञानम्। दर्शनमित्यर्थः। १५. तदर्हज्जातः। १६. बधिरत्व–वाक्त्वविकलो मूक इति व्यपदिश्यते। १७. सन्मात्र। १८. परमार्थभूतमीदृग्विधिजन्यं प्रत्यक्षम्। १९. यथा विधिः प्रत्यक्षस्य विषयस्तथा व्यावृत्तिरपि विषय इति जैनशङ्कां निराकरोति। २०. सत्तावत् २१. प्रत्यक्षस्य विषया व्यावृत्तिर्नेति भावः। २२. प्रत्यक्षस्य। २३. घटे पटो नास्तीति।

तथा चोक्तम्–

आहुर्विधातृ[1] प्रत्यक्षं न निषेधृ[2] विपश्चितः[3]।
नैकत्वे[4] आगम[5]स्तेन[6] प्रत्यक्षेण[7] प्रबाध्यते॥१२॥

अनुमानादपि तत्सद्भावो विभाव्यत एव। तथाहि[8]–ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तः[9] प्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात्। यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्; यथा प्रतिभासस्वरूपम्[10]। प्रतिभासन्ते च विवादापन्ना[11] इति[12]। तदागमानामपि[13] ''पुरुष[14] एवेदं–यद् भूतं यच्च भाव्यमिति'' बहुलमुपलम्भात्।

सर्वं वै[15] खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
[16]**आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन॥१३॥** इति श्रुतेश्च।

प्रत्यक्ष से प्रतीत होती है, अतः विधिनिषेधरूप द्वैतसिद्धि हो जायेगी, सो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय निषेध करना नहीं है। जैसा कि कहा है–

''विद्वान् लोग प्रत्यक्ष को विधायक (विधि का विषय करने वाला) कहते हैं, निषेधक (प्रतिषेध को विषय करने वाला) नहीं। इसलिए एकत्व के विषय में (समर्थन में) जो आगम है, वह प्रत्यक्ष से बाधित नहीं होता है'' ॥१२॥

भावार्थ–ब्रह्मवादियों के यहाँ अद्वैतरूप ब्रह्म का प्रतिपादक आगम यह है, यह सर्व प्रतिभासमान चराचर जगत् ब्रह्म ही है, यहाँ नानारूप में कुछ भी वस्तु नहीं है। लोग उसकी पर्यायों को ही देखते हैं, पर उसे कोई भी नहीं देख सकता। यह आगम प्रत्यक्ष से बाधित नहीं है, ऐसा उनका कहना है।

ब्रह्मवादी कहते हैं कि अनुमान से भी उस ब्रह्म का सद्भाव जाना ही जाता है। वह अनुमान इस प्रकार है–ग्राम और आराम (उद्यान) आदि सभी दिखलाई देने वाले पदार्थ प्रतिभा से (परम ब्रह्म) के अन्तः प्रविष्ट हैं; क्योंकि वे प्रतिभासमान होते हैं। जो प्रतिभासित होता है, वह सर्व प्रतिभास के अन्तः प्रविष्ट है, जैसे कि प्रतिभास का स्वरूप। विवादापन्न ग्राम और आराम आदिक प्रतिभासित होते हैं। इसलिए वे सर्व परम ब्रह्म के ही स्वरूप है। तथा परम ब्रह्म के प्रतिपादन करने वाले अनेक आगम भी पाये जाते हैं। यथा–जो भूतकाल में हो चुका है, तथा भविष्यकाल में होगा और जो वर्तमान में विद्यमान है वह सर्व परम ब्रह्मस्वरूप एक पुरुष ही है, इत्यादि।

तथा उस परम ब्रह्म का समर्थन करने वाली श्रुति भी पाई जाती है–

यह सभी दृश्यमान पदार्थ निश्चय से परमब्रह्म ही है उसके अतिरिक्त इस जगत् में नानारूप

---

१. विधिविषयम्। २. निषेधविषयं न। ३. अभेदे सति भेदप्रतिपक्षे। ४. एकत्वे सन्मात्रे योऽसावागमः 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्यागमस्य बाधकं प्रत्यक्षं नेति। ५. ब्रह्मज्ञानिनाम्। ६. कारणेन। ७. प्रत्यक्षं साधकं न बाधकं परस्परं व्यावृत्तिविषयतया। ८. उक्तार्थमेव विवृणोति। ९. तमेवमनुभाषन्ति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। १०. ब्रह्मस्वरूपम्। ११. ग्रामारामादयः। १२. अद्वैतवादिनामनुमानानङ्गीकाराद्भट्टमताश्रयः। १३. तदावेदकश्रुतीनां ब्रह्मवाचकानाम्। १४. परमब्रह्मैव। १५. सर्वे ब्रह्मेति प्रतिपादनार्थं वै ग्रहणम्। १६. विवर्तम्।

ननु[१०] परमब्रह्मण एव परमार्थसत्त्वे कथं घटादिभेदोऽवभासत इति न चोद्यम्; सर्वस्यापि तद्विवर्त[११]-तयाऽवभासनात्। न चाशेषभेदस्य[१२] तद्विवर्तत्व[१३]मसिद्धम्; प्रमाणप्रसिद्धत्वात्। तथा हि–विवादाध्यासितं विश्वमेककारणपूर्वकम्; एकरूपान्वितत्त्वात्[१४]। घट घटीसरावोदञ्चनादीनां मृद्रूपान्वितानां यथा मृदेककारण-पूर्वकत्वम्। सद्रूपेणान्वितं च निखिलं वस्त्विति। तथाऽऽगमोऽप्यस्ति–

ऊर्णनाभ[१] इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्।
प्रोहाणामिव प्लक्षः[२] स[३] हेतुः सर्वजन्मिनाम्॥१४॥ इति

कुछ भी वस्तु नहीं है। हम सभी लोग उस ब्रह्म की आराम अर्थात् पर्यायों को देखते हैं, किन्तु उसे कोई नहीं देख सकता ॥१३॥

शंका–परमब्रह्म को ही वास्तविक सत्त्वरूप से मान लेने पर 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि रूप से जो भेद प्रतिभासित होता है, वह कैसे बनेगा?

समाधान–ऐसी शंका नहीं करना चाहिए; क्योंकि सभी घट-पटादि वस्तुएँ उस परमब्रह्म के विवर्त (पर्याय) रूप से अवभासित होती हैं।

भावार्थ–एक वस्तु के अवास्तविक अनेक आकारों के प्रतिभास को विवर्त कहते हैं। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाले पदार्थों के आकार वास्तविक नहीं है–छायामात्र हैं। इसी प्रकार घट-पटादिरूप से जो कुछ भी भेद प्रतिभासित होता है, वह सब भी वास्तविक नहीं है।

यदि कहा जाये कि घट-पटादि-गत जितने भी भेद हैं, उन सबका परमब्रह्म को पर्याय होना असिद्ध है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि उनके परमब्रह्म की विवर्तता अनुमानादिप्रमाणों से प्रसिद्ध है। उनमें से अनुमान प्रमाण इस प्रकार है–यह विवादापन्न विश्व एक कारण-पूर्वक है, क्योंकि एक सत्-रूप से अन्वित (संयुक्त) है। जिस प्रकार घट, घटी, सराब (सिकोरा) उदञ्चन (ढक्कन) आदि मृत्तिका रूप से अन्वित पदार्थों के एक मृत्तिकारूप कारण-पूर्वकता देखी जाती है। सत्-रुप से अन्वित ये समस्त वस्तुएँ हैं।

तथा आगम भी परमब्रह्म का आवेदक पाया जाता है जैसे ऊर्णनाभ (मकड़ा) अपने मुख से निकलने वाले जालारूप तन्तुओं का एक मात्र कारण है, अथवा जैसे चन्द्रकान्तमणि जल का कारण है, अथवा जैसे प्लक्ष (वटवृक्ष) अपने से निकलने वाले प्ररोहों (नीचे को लटकने वाली

---

१. ब्रह्मणः। २. श्रवणात्। ३. जैनाः प्राहुः। जैनोद्भावितमुद्घाटितदूषणमनूद्य दूषयति ब्रह्माद्वैतवादी। ४. पूर्वाकारापरि-त्यागादुत्तरः प्रतिभाति चेत्। विवर्तः स परिज्ञेयो दर्पणे प्रतिबिम्बवत्॥१॥ एकस्यातात्त्विकानेकप्रतिपत्तिर्विवर्तः। पूर्वरूपा-परित्यागेनासत्यनानाकार प्रतिभासः, पूर्वावस्थाऽपरित्यागेनावस्थान्तरापत्तिर्वा विवर्तः। उपादानविषमसत्ताकत्वे सत्यन्यथा भावो वा। ५. नानात्वस्य। ६. अनिर्वाच्याऽविद्याद्वितयसचिवस्य प्रभवतो विवर्तो यस्येति वियदनिलतेजोऽववनयः, यतश्चाभूद्विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं नाम तद्रूपापरिमितसुखज्ञानममृतम्। ७. सत्स्वरूपानुवृत्तिरूपत्वात्। ८. कौलुकं वालूता मांकडी। ९. न्यग्रोधो वटवृक्षः। १०. ब्रह्मा।

तदेतन्मदिरारसास्वादगददोदितमिव मदनकोद्रवाद्युपयोगजनितव्यामोहमुग्धविलसितमिव निखिल-मवभासते; विचारासहत्वात्। तथा हि–यत्प्रत्यक्षसत्ता[१]विषयत्वमभिहितम्, तत्र[२] किं निर्विशेष[३]सत्ताविषयत्वं सविशेष[४]सत्तावबोधकत्वम् वा? न तावत् पौरस्त्यः[५] पक्षः; सत्तायाः सामान्यरूपत्वात् विशेषनिरपेक्षतयाऽनव-भासनात्, शाबलेयादिविशेषानवभासने गोत्त्वानवभासनवत्। 'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्[६]' इत्यभिधानात्। [७]सामान्यरूपत्वं च [८]सत्तायाः सत्सदित्यन्वय[९]बुद्धिविषयत्वेन सुप्रसिद्धमेव। अथ [१०]पाश्चात्यः पक्षः कक्षीक्रियते[११], तदा[१२] न[१३] परमपुरुषसिद्धिः[१४], परस्परव्यावृत्ताकर[१५]विशेषाणामध्यक्षतोऽ[१६]वभासनात्। यदपि साधनमभ्यधायि प्रतिभासमानत्वं तदपि न साधु; विचारासहत्वात्। तथाहि–प्रतिभा-समानत्वं स्वतः

जटाओं) का कारण है, उसी प्रकार वह परम ब्रह्म सर्व प्राणियों का एक मात्र कारण है ॥१४॥

इस प्रकार ब्रह्मवादियों ने अपने पूर्वपक्ष का स्थापन किया।

अब आचार्य उसका प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि आप लोगों का यह सर्वकथन मदिरा-रस के आस्वादन (पान) करने से निकलने वाले गद्‌गद वचनों के समान हैं, अथवा मदन-कोद्रव (मतौनिया कोदों) आदि के खान से उत्पन्न व्यामोह से मत्त हुए मुग्ध पुरुष के वचन-विलास के समान प्रतिभासित होता है, क्योंकि विचार करने पर उक्त सर्व कथन तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। आगे उसे स्पष्ट करते हैं–आपने जो कहा कि परमब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय है, सो इसमें दो विकल्प उत्पन्न होते हैं–इससे आपको निर्विशेष सत्ता का विषयपना अभीष्ट है अथवा सविशेष सत्ता का अवबोधकपना अभीष्ट है ? प्रथम पक्ष तो बनता नहीं है; क्योंकि सत्ता का सामान्य रूप होता है, वह विशेष की निरपेक्षता से प्रतिभासित नहीं हो सकती। जैसे कि शाबलेय (चितकबरी) धवली आदि विशेषताओं से रहित गोत्व-सामान्य का प्रतिभास नहीं होता। विशेष-रहित सामान्य शश-विषाण (खरगोश के सींग) के समान है, ऐसा कहा गया है। सत् सत् इस प्रकार की अन्वय-बुद्धि का विषय होने से सत्ता का सामान्य रूप सुप्रसिद्ध ही है।

यदि पाश्चात्य (द्वितीय) पक्ष अंगीकार करते हैं, तब परमपुरुष परमब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि परस्पर पृथक्-पृथक् आकार वाले विशेषों का प्रत्यक्ष से प्रतिभास होता है। और अनुमान से परम ब्रह्म की सिद्धि करने के लिए आपने जो प्रतिभासमानत्व साधन (हेतु) कहा है, सो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह तर्कणारूप विचार को सहन नहीं करता है। आगे इसी को

---

१. सतो भावः सत्ता, इति वचनात्संतं विहाय सत्ता न वर्तते। २. तस्मिन् वाक्ये। ३. सामान्यसत्ताविषयत्वम्। ४. विशेषसहितसत्ताया परिच्छेदकत्वम्। ५. प्रथमः। ६. नास्ति यथा। ७. सत्तायाः सामान्यरूपत्वासिद्धत्वान्नैष दोष इत्यारेकां निराकुर्वन्नाह। ८.जैनैः सत्तायाः सामान्यमापादितं भवति, तदनूद्य दूषयति। ९. सति सद्भावोऽन्वयः। १०. सविशेषसत्तावबोधकत्वमिति द्वितीयः पक्षः। ११. अङ्गीक्रियते। १२. सामान्यं नित्यमेकमनेकसमवायिदृग्गोचरं नेति तन्मतम्। १३. परमब्रह्मणः। १४. कुतः ? द्वैतापत्तेः। १५. अयमस्माद्भिन्नः, अयं श्यामः शबलो वेत्यादिपरस्परभिन्नाकार-घटपटादिपदार्थानाम्। १६. प्रत्यक्षो विशेषसत्तावभासनं भवति।

परतो वा? न ताव[1]त्स्वतोऽसिद्धत्वात्[2]। परतश्चेद्विरुद्धम्[3]। परतः प्रतिभासमानत्वं हि परं विना नोपपद्यते। [4]प्रतिभासनमात्रमपि न सिद्धिमधिवसति; तस्य तद्विशेषानन्तरीयकत्वात्[5]। तद्विशेषाभ्युपगमे[6] च द्वैतप्रसक्तिः[7]।

किञ्च–धर्मि–हेतु–दृष्टान्ता अनुमानोपायभूताः प्रतिभासन्ते न वेति? प्रथमपक्षे प्रतिभासान्त प्रविष्टाः[8] प्रतिभासबहिर्भूता वा ? यद्याद्यः पक्षस्तदा साध्यान्तः[9]पातित्वान्न ततोऽनुमानम्। [10]तद्बहिर्भावे तैरेव[11] हेतोर्व्यभिचारः। [12]अप्रतिभासमानत्वेऽपि तद्[13]व्यवस्थाभावात्ततो नानुमानमिति।

[14]अथानाद्यविद्या[15]विजृम्भितत्वात्[16] [17]सर्वमेतदसम्बद्धमित्यनल्पतमोविलसितम्; अविद्यायामप्युक्त–

स्पष्ट करते हुए आचार्य उनसे पूछते हैं कि यह प्रतिभासमानपना स्वतः है, अथवा परतः। स्वतः तो कह नहीं सकते; क्योंकि हेतु असिद्ध है। अर्थात् पदार्थों का यदि स्वयमेव प्रतिभास होना सम्भव होता, तो आँख खोलने पर प्रकाश के अभाव में भी पदार्थों का स्वतः प्रतिभास होना चाहिए ? परन्तु होता नहीं है। इसलिए आपका प्रतिभासमानपना हेतु असिद्ध हैं। यदि प्रतिभासमानपना परतः मानते हैं, तो आपका हेतु विरुद्ध है; क्योंकि परतः प्रतिभासमानपना पर के बिना बन नहीं सकता हैं और पर के सद्भाव मानने पर द्वैत की सिद्धि होती है। तथा प्रतिभास मात्र भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि उसका उसके विशेषों के साथ अविनाभावी सम्बन्ध पाया जाता है। और प्रतिभासमान के विशेषों के स्वीकार करने पर द्वैतवाद का प्रसंग प्राप्त होता है।

पुनश्च–हम आपसे पूछते हैं कि अनुमान के उपायभूत धर्मी (पक्ष) हेतु, दृष्टान्त प्रतिभासित होते हैं, अथवा नहीं? प्रतिभासित होते हैं, इस प्रथम पक्ष के मानने पर पुनः दो विकल्प उत्पन्न होते हैं कि वे प्रतिभासित होने वाले धर्मी, हेतु, दृष्टान्त प्रतिभासके अन्तः प्रविष्ट होकर प्रतिभासित होते हैं, अथवा प्रतिभास से बहिर्भूत रहकर प्रतिभासित होते हैं? इनमें से यदि आद्य पक्ष मानते हैं, तो उनके साध्यान्तर्गत हो जाने से फिर उनके द्वारा अनुमान नहीं हो सकता। यदि दूसरा पक्ष माना जाये कि वे धर्मी, हेतु, दृष्टान्त प्रतिभास से बहिर्भूत होकर प्रतिभासित होते हैं, सो उन्हीं के द्वारा प्रतिभासमानत्व हेतु के व्यभिचार आता है। यदि कहें कि अनुमान के उपायभूत वे धर्मी, हेतु, दृष्टान्त प्रतिभासित ही नहीं होते, यह दूसरा पक्ष हम मानते हैं; तो उन धर्मी आदि की व्यवस्था का ही अभाव हो जायेगा। फिर उनके बिना अनुमान कैसे किया जा सकेगा?

यदि ब्रह्माद्वैतवादी यह कहें कि अनादिकाल से लगी हुई अविद्या के प्रसार से यह सब

---

१. घटादीनां स्वतः प्रतिभासमानत्वा भावात्। २. पदार्थानां स्वयमेव प्रतिभासनं चेन्नेत्रोन्मीलने प्रकाशाभावेऽपि स्वतः प्रतिभासनं भवतु। परन्तु तथा नास्ति। तस्माद्धेतोरसिद्धत्वम्। ३. एकत्व विरोधिद्वैतप्रसाधकत्वाद्विरुद्धमिति। ४. ज्ञानसामान्यमपि। ५. विशेषविनाभावित्वात्। ६.प्रतिभासमानविशेषाभ्युपगमे। ७. द्वैतवादप्रसङ्गः। ८. प्रतिभासन्ते। ९. प्रतिभासान्तः प्रविष्टत्वाद्धेतोः सिद्धसाध्यता समागता। १०. द्वितीयपक्षे। ११. सह। १२. न प्रतिभासन्त इति द्वितीयः पक्षः। १३. तेषां धर्मादीनाम्। १४. ब्रह्माद्वैतवादी भाट्टः प्राह। १५. अविद्या स्वाश्रयव्यामोहकरी। १६. विडम्बितत्वाद् व्याप्तत्वात्। १७. पूर्वोक्तं धर्मि–हेतु–दृष्टान्तादिकं सर्वम्।

दोषानुषङ्गात्[१]। सकलविकल्पविक[२]लत्वात्तस्या[३] नैष[४] दोष इत्यप्यतिमुग्धभाषितम्; केनापि रूपेण तस्याः प्रतिभासाभावे [५]तत्स्वरूपानवधारणात्[६]। अपरमप्यत्र[७] विस्तरेण **देवागमालङ्कारे**[८] चिन्तितमिति नेह प्रतन्यते[९]।

यच्च परमब्रह्मविवर्तत्वमखिलभेदानामित्युक्तम्; तत्राप्येकरूपेणान्वितत्त्वं[१०] हेतुरन्वेत्रन्वीय[११]मान-द्वयाविना-भावित्वेन पुरुषाद्वैतं [१२]प्रतिबध्नातीति स्वेष्टविघातकारित्वाद्विरुद्धः। [१३]अन्वितत्त्वमेकहेतुके[१४]

धर्मी, हेतु आदिक की प्रतीति होती है, वह वास्तविक नहीं है असम्बद्ध है; सो उनका यह कहना भी महान् अज्ञानान्धकार के विलास के समान है; क्योंकि अविद्या के मानने पर भी उसमें पूर्वोक्त सभी दोषों का प्रसंग आता हैं।

भावार्थ—यह अविद्या प्रतिभासित होती है कि नहीं ? प्रतिभासित होती है, तो वह विद्या ही हुई। और यदि उससे बहिर्भूत है, तो उसी के द्वारा हेतु में व्यभिचार आता है और अविद्या तथा विद्या इन दो के सद्‌भाव से द्वैतवाद हेतुवाद की आपत्ति आती है। यदि वह अविद्या प्रतिभासित नहीं होती है, तो यह अविद्या है, इस प्रकार की व्यवस्था नहीं सकेगी इस प्रकार से वे सभी दोष प्राप्त होते हैं जो कि अनुमान को लक्ष्य में रखकर प्रतिपादन किये गये हैं।

यदि कहा जाये कि वह अविद्या समस्त विकल्पों से रहित है, इसलिए ये उपर्युक्त कोई दोष नहीं प्राप्त होते हैं, तो यह कहना भी अतिमुग्ध पुरुष के वचन के समान है; क्योंकि किसी भी रूप से उस अविद्या का प्रतिभास न होने पर उसके स्वरूप का ही निश्चय नहीं हो सकेगा। इस विषय का और भी विस्तार से विवेचन देवागमस्तोत्र के अलंकारभूत जो अष्टसहस्री ग्रन्थ है, उसमें किया गया है, इसलिए उसका यहाँ पर विस्तार नहीं करते हैं।

जो आपने प्रतिभास होने वाले समस्त भेदरूप पदार्थों को परमब्रह्म का विवर्त होना कहा है; सो वहाँ पर भी 'एकरूप से अन्वित होना' यह हेतु है, अतः अन्वेता (अन्वय सम्बन्ध करने वाला) पुरुष और अन्वीयमान (जिनका अन्वय किया जाये ऐसे) पदार्थ इन दोनों का अविनाभावी सम्बन्ध होने से वह पुरुषाद्वैत का प्रतिषेध करता है, इस प्रकार आपका इष्ट जो अद्वैत ब्रह्म उसका विघातकारी होने से ''एकरूप से अन्वितत्त्व'' हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जाता है, तथा यह

---

१. अविद्या प्रति भासते न वा ? प्रतिभासते चेत् प्रतिभासान्तः प्रविष्टा तद्‌बहिर्भूता वा। प्रतिभासान्तः प्रविष्टा चेद् विद्यैव स्यात्। तद्‌बहिर्भूता चेत्तयैव हेतोर्व्यभिचारो द्वैतापत्तिश्च। न प्रतिभासते चेत्तदाऽविद्येति व्यवस्था न स्यात्। २. रहितत्वात्। ३. अविद्यायाः। ४. उक्त लक्षणः। ५. अविद्या-। ६. असती अविद्या कथं विकल्पमुत्पादयति ? यथा काचकामलादि-दोषसद्भावे मिथ्याज्ञानसद्भावस्तदभावे च यदभावस्तथा। विकल्पाभावेऽविद्या स्वरूपाभावः। ७. अविद्यमानप्रयोगे। ८. अष्टसहस्त्रयाम्। ९. न विस्तीर्यते। १०. अन्वेतृ सामान्यमन्वीयमानो विशेषः। विवादाध्यासितं विश्वमेककारणपूर्वकमेकरूपेणान्वितत्-वात्सत्सदिति। ११. अन्वेता पुमान्, अन्वीयमानः पदार्थः। तयोर्द्वयमिति द्वैतापत्तिः। अन्वेतृ मृदादि, अन्वीयमानं घटादि; व्याप्यं व्यापकं वा। १२. प्रतिषेधयति। १३. एकरूपेणान्वितत्वादिति साधनं विचार्यते। तत्रानुमानदूषण-मनैकान्तिकत्व। तदेव स्पष्टयति। १४. मृदैककारणके।

[1]घटादौ, अनेकहेतुके स्तम्भ-कुम्भाम्भोरुहादावप्युपलभ्यत इत्यनैकान्तिकश्च[2]।

किमर्थं चेदं[3] [4]कार्यमसौ[5] विदधाति? अन्येन प्रयुक्तत्वात्, कृपावशात्, क्रीडावशात्, स्वभावाद्वा? अन्येन[6] प्रयुक्तत्वे स्वातन्त्र्यहानिर्द्वैतप्रसङ्गश्च। कृपावशादिति नोत्तरम्[7]; कृपायां दुःखिनामकरणप्रसङ्गात् परोपकारकरणनिष्ठत्वात्[8] तस्याः[9]। सृष्टेः प्रागनुकम्पाविषयप्राणिनामभावाच्च न सा[10] युज्यते[11]; कृपापरस्य प्रलयविधानायोगाच्च। [12]अदृष्टवशात्तद्विधाने[13] स्वातन्त्र्यहानिः; कृपापरस्य पीडाकारणादृष्टव्यपेक्षायोगाच्च।

क्रीडावशात्प्रवृत्तौ न प्रभुत्वम्; [14]क्रीडोपायव्यपेक्षणाद् बालकवत्। क्रीडोपायस्य[15] [16]तत्साध्यस्य

अन्वितपना मिट्टीरूप एक हेतु से निर्मित घट, घटी, सराव, उदञ्चनादिक में, तथा अनेक हेतुओं से निर्मित स्तम्भ, कुम्भ और अम्भोरुह (कमल) आदि में भी पाया जाता है, अतः वह अनैकान्तिक हेत्वाभास भी है।

पुनश्च–हम आपसे पूछते हैं कि वह सदाशिव या ब्रह्मा विश्वरूप इस जगत् के कार्य को किसलिए बनाता है? क्या किसी अन्य पुरुष के द्वारा प्रेरित होने से, अथवा दया के वश से, अथवा क्रीड़ा (कौतुक) के वश से अथवा स्वभाव से वह जगत् के कार्यों को करता है ? यदि प्रथम पक्ष माने कि अन्य से प्रेरित होकर कार्य करता है, तब तो उसकी स्वतन्त्रता की हानि प्रसक्त होती है और द्वैत का भी प्रसंग आता है; क्योंकि एक प्रेरणा करने वाला और दूसरा ब्रह्मा ये दो स्वयं ही आपने स्वीकार कर लिए। यदि दूसरा पक्ष मानें कि वह ब्रह्मा दया के वश से जगत् को बनाता है, तो यह कोई उत्तर नहीं है, क्योंकि दया के रहते हुए उसके द्वारा दुःखी प्राणियों का निर्माण नहीं होना चाहिए; कारण कि दया तो एकमात्र परोपकार करने में ही तत्पर रहती है। दूसरे, सृष्टि से पूर्व अनुकम्पा (दया) के विषयभूत प्राणियों का अभाव होने से वह सम्भव ही नहीं है। तीसरे कृपा में तत्पर ऐसे कृपालु पुरुष के द्वारा जगत् का प्रलय करना भी सम्भव नहीं है। यदि कहा जाये कि वह प्राणियों के अदृष्ट (पाप) के वश जगत् का प्रलय करता है, अथवा उनके पाप-पुण्य के निमित्त से सुखी-दुःखी प्राणियों का निर्माण करता है, तब प्रथम तो उस ब्रह्मा के स्वातन्त्र्य की हानि होती है, दूसरे कृपा में तत्पर उस ब्रह्मा के पर-पीड़ा के कारणभूत अदृष्ट की अपेक्षा भी नहीं बनती है।

यदि तीसरा पक्ष मानें कि क्रीड़ा के वश से वह जगत् के निर्माण में प्रवृत्त होता है, तब उसके प्रभुता नहीं रहती; प्रत्युत क्रीड़ा के उपायों की अपेक्षा रखने से वह बालक के समान सिद्ध

---

१. घटघटीशरावो-दञ्चनादौ। २. विपक्षेऽनेकहेतु के स्तम्भ-कुम्भादावपि 'एकरूपान्वितत्वात्' इति हेतोः प्रवृत्तेरनेकान्तः। सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः, विपक्षेऽप्यविरुद्ध-वृत्तिरनैकान्तिक इति वचनात्। ३. विश्वरूपम्। ४. जगत् कार्यम्। ५.ब्रह्मा। ६. प्रथमपक्षे। ७. इत्युत्तरं नास्ति। ८. तत्परत्वात्। ९. कृपायाः। १०. अनुकम्पा। ११. न सम्भवतीत्यर्थः। १२. पापवशात्। १३. प्रलयविधाने। जगद्विधाने वा। १४. कन्दुकादेः। १५. जगतः। १६. क्रीडासाध्यसुखस्य।

च युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गश्च। सति समर्थे [1]कारणे [2]कार्यस्यावश्यम्भावात्; अन्यथा[3] क्रमेणापि सा[4] ततो[5] न स्यात्[6]। अथ स्वभावादसौ[7] जगन्निर्मिनोति; यथाऽग्निर्दहति, वायुर्वातीति मतम्; तदपि बाल-भाषितमेव, [8]पूर्वोक्तदोषानिवृत्तेः[9]। तथाहि[10]-क्रमवर्तिविवर्तजात[11]मखिलमपि युगपदुत्पद्येत[12]; अपेक्ष-णीयस्य[13] सहकारिणोऽपि तत्साध्यत्वेन[14] यौगपद्यसम्भवात्। [15]उदाहरणवैषम्यं च; वन्ह्यादेः कादाचित्कस्व[16]-हेतुजनितस्य

होता है ! तथा क्रीड़ा का उपाय जो जगद्विधान और उसके द्वारा साध्य जो सुख इन दोनों के एक साथ उत्पन्न होने का प्रसंग भी आता है; क्योंकि ब्रह्मरूप समर्थ कारण के रहते हुए कार्य का होना अवश्यम्भावी है। अन्यथा क्रम से भी कार्य की उत्पत्ति उस ब्रह्मरूप कारण से नहीं होना चाहिए। यदि चौथा पक्ष अंगीकार करते हैं कि स्वभाव से वह ब्रह्मा जगत् का निर्माण करता है, जैसा कि अग्नि स्वभाव से जलती है और वायु स्वभाव से बहता है। ऐसा मत आपका हो, तो यह कहना भी बाल-भाषित के समान है, क्योंकि पूर्व में कहे हुए किसी भी दोष की निवृत्ति नहीं होती है। आगे आचार्य इसे ही स्पष्ट करते हैं-समस्त ही कर्मवर्ती विवर्तों का समूह युगपत् ही उत्पन्न होना चाहिए; क्योंकि अपेक्षणीय सहकारी कारण भी तत्साध्य है, अर्थात् ब्रह्मा के द्वारा ही करने योग्य है; अतः सर्व विवर्तों का युगपत् होना सम्भव है।

भावार्थ-जब सर्व कार्यों का मुख्य कारण परमब्रह्म विद्यमान है, तब उनकी एक साथ उत्पत्ति भी हो जाना चाहिए। यदि कहा जाये कि प्रत्येक कार्य का प्रतिनियत सहकारी कारण भिन्न-भिन्न होता है, अतः जब तक उसका संयोग नहीं होगा, तब तक उस-उस कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि उन-उन प्रतिनियत सहकारी कारणों का निर्माण भी तो उस परमब्रह्म के ही अधीन है, अतः उनको भी एक साथ ही उत्पन्न कर लेना चाहिए।

और जो आपने ''अग्नि स्वभाव से जलती है'' इत्यादि उदाहरण दिये हैं वे भी विषम है; क्योंकि अग्नि आदिक कादाचित्क स्वहेतु जनित हैं-जब काष्ठ आदि का संयोग मिल जाये तब अग्नि जलने लगे, जब न मिलें तो न जले। तथा उनकी दहनादि की शक्ति प्रतिनियत है जिस देश और काल में हों, वही तक अपने कार्य को करती हैं अतः मर्यादित शक्ति वाली है। किन्तु अन्यत्र

---

१. ब्रह्मरूपे। २. प्रदीपवत्। यथा प्रदीपः कज्जलमोचनं तैलशोषणं वर्त्तिदहनं प्रकाशनञ्च करोति। ३. समर्थ-कारणाभावे। ४. उत्पत्तिः। ५. ब्रह्मणः कारणात्। ६. यदि युगपदुत्पादनशक्तिर्यस्य नास्ति, तत्कारणं क्रमेणापि नोत्पादयति, शक्तौ सामर्थ्याभावात्। उत्पादयति चेत्तत्रैव शक्तिः समर्थकारणम्। ७. ब्रह्मा। ८. जगतो युगपदुत्पत्त्यादि। ९. प्रतिभासान्तः प्रविष्टः प्रतिभासस्तेन वा ? तदा स्वस्माद्वोत्पत्तिर्नास्तीत्यादि। १०. पूर्वोक्तदोषं समुद्भावयति। ११. समूहम्। १२. उत्पन्नं भूयात्। १३. परब्रह्मणि मुख्यकारणे सति किमर्थं कार्याणां युगपदुत्पत्तिर्नास्ति ? यदि तत्र तन्नियतकारणस्य संयोगाभावान्नोत्पद्यते तर्हि तन्नियतकारणस्य संयोगस्य सहकारिकारणस्यापि ब्रह्मकरणीयत्वेन यौगपद्यसम्भवोऽस्तु। १४. ब्रह्मकरणीयत्वेन। १५. अग्निर्दहतीत्यादि-। १६. काष्ठादि।

[१]नियतशक्त्यात्मकत्वोपपत्तेरन्यत्र[२] नित्य-व्यापि-समर्थैकस्वभावकारणजन्यत्वेन देशकाल-प्रतिनियमस्य[३] कार्ये दुरुपपादात्[४]।

तदेवं ब्रह्मणोऽसिद्धौ वेदानां [५]तत्सुप्त-प्रबुद्धावस्थात्वप्रतिपादनं[६] परमपुरुषाख्यमहाभूतनिःश्वसिताभिधानं च गगनारविन्दमकरन्दव्यावर्णनवदनवधेया[७]र्थविषयत्वादुपेक्षा[८]मर्हति। यच्चागमः 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादि' ''ऊर्णनाभ इत्यादि' च; तत्सर्वमुक्त[९] विधिनाऽद्वैतविरोधीति नावकाशं[१०] लभते। न चापौरुषेय आगमोऽस्तीत्यग्रे प्रपञ्चयिष्यते। तस्मान्न पुरुषोत्तमोऽपि विचारणां प्राञ्चति।

अर्थात् परमब्रह्म में नित्यपना, सर्वव्यापकपना और सर्व कार्यों के करने में समर्थ एक स्वभावरूप कारण से उत्पन्न करने की योग्यता सर्वत्र सर्वदा पाई जाती है। अतः देश-काल का प्रतिनियम सृष्टिरूप कार्य में घटित नहीं होता।

इस प्रकार ब्रह्म की सिद्धि न होने पर वेदों का उसकी सुप्त-प्रबुद्ध अवस्था का प्रतिपादन करना और परम-पुरुष-संज्ञक उस ब्रह्म-स्वरूप महाभूत के निःश्वास का कथन करना गगनारविन्द के मकरन्द की सुगन्ध के वर्णन करने के समान अग्राह्य-विषय होने से उपेक्षा के योग्य है।

भावार्थ—ईश्वर या परमब्रह्म को जगत्कर्ता मानने वालों की ऐसी मान्यता है कि परम-पुरुष की सुप्त-अवस्था प्रलय है, प्रबुद्ध-अवस्था सृष्टि है, निःश्वास वेद हैं, आँखों से देखना ही पंचभूत हैं और उसका स्मित (मुस्कराहट) चर-अचर जगत् है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि जब परम ब्रह्म ही सिद्ध नहीं होता, तो उसके अभाव में उसका यह सब स्वरूप वर्णन आकाश-कमल की सुगन्धि के वर्णन के समान है, जो कि प्रेक्षा-पूर्वक कार्य करने वाले विज्ञजनों के लिए किसी भी प्रकार से आदरणीय नहीं हो सकता।

और जो उस परमपुरुष की सिद्धि के लिए 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' ऊर्णनाभ इवांशूनाम्' इत्यादि आगम-प्रमाण उपस्थित किये हैं, वे सब उपर्युक्त विधि से अद्वैत के विरोधी हैं, अतः वे अपने मत की सिद्धि करने के लिए अवकाश को नहीं पाते हैं। अर्थात् अपना मत सिद्ध करने में समर्थ नहीं है और उनका आगम को अपौरुषेय मानना बनता नहीं, यह बात आगे विस्तार से कही जायेगी। इसलिए परमपुरुषरूप वह पुरुषोत्तम भी तर्क की विचारणा पर नहीं ठहरता है।

इस प्रकार मुख्य प्रत्यक्ष का वर्णन किया। उसके प्रसंग से सर्वज्ञ की सिद्धि और जगत्कर्ता ईश्वर का परिहार भी किया।

---

१. मर्यादीभूतदहनशक्तिस्वरूपोपपत्तेः। २. ब्रह्मणि। ३. सृष्टौ। ४. अघटनात्। ५. परमब्रह्म-। ६. सुप्तिः प्रलयः प्रबुद्धावस्था सृष्टिः, एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेव ऋग्वेदो यजुर्वेदश्च।''निःश्वसितं तस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि। स्मितमेतस्य चरमचरमस्य सुप्तं महाप्रलयः'' ॥१॥ इति भामती। ७. अग्राह्यार्थविषयत्वाद् ब्रह्मभावात्। ८. माध्यस्थ्यम्। ९. प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावेन। १०. मतस्थापने।

प्रत्यक्षेतरभेदभिन्नममलं मानं द्विधैवोदितम्
[१]देवैर्दीप्त[२] गुणैर्विचार्य [३]विधिवत्सङ्ख्याततेः [४]सङ्ग्रहात्।
मानानामिति[५] [६]तद्दिगप्यभिहितं[७] श्रीरत्ननन्द्याहयै[८]-
स्त[९]द्व्याख्यानमदो[१०] विशुद्धधिषणै[११]र्बोधव्यमव्याहतम्[१२]॥७॥
मुख्य-संव्यवहाराभ्यां प्रत्यक्षमुपदर्शितम्।
देवोक्तमुपजीवद्भिः[१३] [१४]सूरिभिर्ज्ञापितं[१५] मया[१६]॥८॥

इति परीक्षामुखस्य लघुवृत्तौ द्वितीयः समुद्देशः॥२॥

सम्यग्दर्शनादि गुणों से देदीप्यमान श्री अकलंकदेव ने विधिवत् विचार करके प्रमाणों की सर्व संख्याओं का संग्रह कर प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो भेदरूप निर्मल निर्दोष प्रमाण का वर्णन (अपने महान् ग्रन्थों में) किया है। उसी प्रमाण का दिङ्मात्र संक्षिप्त वर्णन श्री माणिक्यनन्दी आचार्य ने अपने परीक्षामुख-नामक ग्रन्थ में किया। उसका यह बाधा-रहित व्याख्यान मैंने (अनन्तवीर्य ने) अपनी इस लघुवृत्ति में किया है। सो विशुद्ध बुद्धि वाले सज्जनों को निर्दोषरूप से जानना चाहिए अर्थात् इस व्याख्या में मेरी कही चूक हुई हो, या दोष रह गया हो, तो वे सज्जन पुरुष उसे शोध करके ग्रहण करें ॥७॥

मुख्य और सांव्यवहारिक के भेद से प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्णन श्री अकलंकदेव ने किया। उसी को स्वीकार करते हुए श्री माणिक्यनन्दी ने भी उसका वर्णन किया और उसी को मैंने (अनन्तवीर्य ने) व्याख्यान किया है ॥८॥

इस श्लोक द्वारा वृत्तिकार श्री अनन्तवीर्य ने अपनी स्वच्छन्दता का परिहार कर यह बतलाया कि मैंने जो कुछ भी कहा है, वह सब आचार्य परम्परा के अनुरूप ही कहा है।

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में प्रत्यक्ष-प्रमाण का वर्णन करने वाला दूसरा समुद्देश समाप्त हुआ।

१.अकलङ्कदेवैः। २. दर्शनविशुद्ध्यादिगुणैः। ३. यथोक्तप्रकारेण। ४. संक्षेपात्संग्रहमाश्रित्येत्यर्थः। ५.हेतोः। ६. तेषां मानानां दिक् तद्दिक्। ७. दिङ्मात्रस्योपदेशः कृत इत्यर्थः। ८. श्रीमाणिक्यनन्दिभिः। ९. मया क्रियमाणम्। १०. एतत्। ११. ज्ञातव्यम्। १२. निर्दोषम्। १३. अभ्युपगच्छद्भिः। १४. माणिक्यनन्दिभिः। १५. ख्यापितं व्याख्यातम्। १६. मया अनन्तवीर्यदेवेन।

तृतीयः समुद्देशः

अथेदानीमुद्दिष्टे[1] प्रत्येक्षेतरभेदेन प्रमाणद्वित्वे प्रथमभेदं व्याख्याय इतरद्[2] व्याचष्टे–

परोक्षमितरत्॥१॥

उक्तप्रतिपक्षमितरच्छब्दो ब्रूते। ततः प्रत्यक्षादिति लभ्यते, तच्च परोक्षमिति। तस्य च [3]सामग्री-स्वरूपे[4] निरूपयन्नाह–

प्रत्यक्षादिनिमित्तं[5] स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्॥२॥

प्रत्यक्षादिनिमित्तमित्यत्रादिशब्देन [6]परोक्षमपि गृह्यते। तच्च[7] यथावसरं निरूपयिष्यते[8]। प्रत्यक्षादिनिमित्तं यस्येति विग्रहः। स्मृत्यादिषु द्वन्द्वः। ते भेदा यस्य इति विग्रहः।

अब आचार्य, प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के जो दो भेद पहले निर्दिष्ट किये गये हैं, उनमें से प्रथम भेद प्रत्यक्ष का व्याख्यान करके दूसरा भेद जो परोक्ष है उसको कहते हैं–

सूत्रार्थ–जो प्रत्यक्ष से इतर अर्थात् भिन्न है, वह परोक्ष है ॥१॥

इतर शब्द पूर्व में कहे हुए प्रमाण के प्रतिपक्ष को कहते हैं। अतः उस प्रत्यक्ष से भिन्न अविशद स्वरूपवाला जो ज्ञान है, वह परोक्ष है, ऐसा अर्थ लेना चाहिए।

अब आचार्य उस परोक्ष की सामग्री और स्वरूप का निरूपण करते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–प्रत्यक्ष आदि जिसके निमित्त हैं, वह परोक्ष प्रमाण है। इसके पाँच भेद हैं–स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ॥२॥

'प्रत्यक्षादिनिमित्तं' इस पद में प्रयुक्त आदि पद से परोक्ष का भी ग्रहण करना चाहिए। यह प्रत्यक्ष और परोक्ष की निमित्तता आगे यथावसर निरूपण की जायेगी। प्रत्यक्ष आदि हैं निमित्त जिसके ऐसा विग्रह है और स्मृति आदि पदों में द्वन्द्व समास है। वे स्मृति आदिक हैं भेद जिसके वह परोक्ष प्रमाण है, ऐसा विग्रह करके सूत्र का अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

विशेषार्थ–अविशद या अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। उसके पाँच भेद सूत्र में बतलाये हैं और उन्हें प्रत्यक्षादि-निमित्तक कहा है। इसका खुलासा यह है कि पहले अनुभव किये हुए पदार्थ के स्मरण करने को स्मृति कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्मृति ज्ञान के लिए पूर्व अनुभवरूप धारणा प्रत्यक्ष निमित्त है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान में स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों निमित्त होते हैं; क्योंकि जिस पदार्थ को पहले देखा था, उसी को पुनः देखने पर ''यह वही है, जैसे मैंने पहले देखा था'', ऐसा जो ज्ञान होता है, उसे ही प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। इसमें पूर्वस्मरण और

१.नाममात्रेणार्थानामभिधानमुद्देशः। २. परोक्षप्रमाणम्। ३. उत्पत्तिकारणम्। ४. अविशदस्वरूपम्। ५. स्मृतिः प्रत्यक्षपूर्विका, प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्ष-स्मरणपूर्वकम्, प्रत्यक्षस्मरण-प्रत्यभिज्ञानपूर्वकस्तर्कः, अनुमानं प्रत्यक्ष-स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कपूर्वकम्, आगमः श्रावणाध्यक्षस्मृतिसङ्केतपूर्वकमिति। ६. व्याप्तिस्मरणम्। ७. प्रत्यक्ष-परोक्षनिमित्तम्। ८. कथयिष्यते।

तत्र स्मृतिं क्रमप्राप्तां दर्शयन्नाह–

[१]संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः॥३॥

संस्कारस्योद्बोधः प्राकट्यं स निबन्धनं[२] यस्याः सा यथोक्ता। तदित्याकारा तदित्युल्लेखिनी। एवम्भूता स्मृतिर्भवतीति शेषः। उदाहरणमाह–

स देवदत्तो यथा॥४॥

वर्तमान में पुनः दर्शनरूप प्रत्यक्ष ये दोनों निमित्त होते हैं। साध्य-साधन के अविनाभावरूप व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। इसकी उत्पत्ति में प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान ये तीनों निमित्त हैं; क्योंकि जिसने अपने रसोईघर में अग्नि से उत्पन्न हुए धूम को प्रत्यक्ष देखा है, वही व्यक्ति अन्यत्र कहीं से निकलते हुए धूम को देखकर अग्नि का स्मरण करता है और विचारता है कि यह धूम भी रसोईघर के धूम के सदृश है, ऐसा उसे सादृश्य प्रत्यभिज्ञान होता है। पुनः वह निश्चय करता है कि जहाँ-जहाँ धूम होगा, वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य होगी। और जहाँ अग्नि नहीं होगी, वहाँ धूम भी नहीं, होगा। इस प्रकार अग्नि और धूम के अविनाभावरूप व्याप्ति के ज्ञान का नाम तर्क है। इसकी उत्पत्ति में प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान ये तीनों ही निमित्त हैं। इसके पश्चात् वह किसी पर्वत आदि से धूम को निकलते हुए देखकर निश्चय करता है कि यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि इससे धूम निकल रहा है। इस प्रकार धूमरूप साधन से अग्निरूप साध्य के ज्ञान को ही अनुमान कहते हैं। इस अनुमान में इससे पूर्व होने वाले प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ये चारों ही ज्ञान निमित्त हैं। आप्त पुरुषों के वचनादि का निमित्त पाकर जो पदार्थ का ज्ञान होता है, उसे आगम कहते हैं। इस आगम प्रमाण में ''इस शब्द से यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए'' इस प्रकार का संकेत और उसका स्मरण ये दोनों निमित्त होते हैं। इस प्रकार इन सभी ज्ञानों के उत्पन्न होने में दूसरे ज्ञान निमित्त होते हैं, अतः उन्हें परोक्ष कहा गया है।

अब क्रम-प्राप्त स्मृति का स्वरूप दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–धारणारूप संस्कार की प्रकटता के निमित्त से होने वाले और 'तत्' (वह) इस प्रकार के आकारवाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं ॥३॥

संस्कार का उद्बोध अर्थात् प्रकटपना वह है निबन्धन (कारण) जिसका वह स्मृति कही जाती है। वह 'तत्' इस आकार अर्थात् उल्लेख वाली है। इस प्रकार के स्वरूप वाली स्मृति होती है। यहाँ पर 'भवति' पद शेष है, जिसे ऊपर से अध्याहार करना चाहिए।

अब आचार्य उसका उदाहरण कहते हैं–

सूत्रार्थ–जैसे कि वह देवदत्त ॥४॥

---

१. धारणाज्ञान। २. कारणम्।

प्रत्यभिज्ञानं प्राप्तकालमाह–

दर्शनस्मरणकारणकं[१] सङ्कलनं[२] प्रत्यभिज्ञानम्।
तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं [३]तत्प्रतियोगीत्यादि॥५॥

अत्र दर्शनस्मरणकारणकत्वात् [४]सादृश्यादिविषयस्यापि प्रत्यभिज्ञानत्वमुक्तम्। येषां[५] तु सादृश्यविषय-मुपमानाख्यं[६] प्रमाणान्तरं तेषां वैलक्षण्यादिविषयं[७] प्रमाणान्तरमनुषज्येत[८]। तथा चोक्तम्–

[९]उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्[१०] [११]साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात्प्रमाणं [१२]किं स्यात्[१३] सञ्ज्ञिप्रतिपादनम्[१४]॥१५॥

भावार्थ–किसी व्यक्ति में पहले कभी देवदत्त नामक पुरुष को देखा और उसकी धारण कर ली। पीछे वह धारणारूप संस्कार प्रकट हुआ और उसे याद आया कि वह देवदत्त। इस प्रकार उसके स्मरणरूपज्ञान को स्मृति कहते हैं।

अब अवसर-प्राप्त प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप कहते हैं–

सूत्रार्थ–वर्तमान में पदार्थ का दर्शन और पूर्व में देखे हुए का स्मरण ये होती हैं कारण जिसके ऐसे संकलन अर्थात् अनुसन्धानरूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह वही है, यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। यह उसके सदृश है, यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। यह उससे विलक्षण हैं; यह वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान है। यह उसका प्रतियोगी है, यह प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान है, इत्यादि ॥५॥

यहाँ पर दर्शन और स्मरण के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण सादृश्य, आदि के विषय करने वाले ज्ञान को भी प्रत्यभिज्ञानपना कहा है। जिन नैयायिक आदि के यहाँ सादृश्य को विषय करने वाला ज्ञान उपमान नाम से एक भिन्न प्रमाण माना गया है, उनके वैलक्षण्य आदि को विषय करने वाला एक और भी प्रमाण मानने का प्रसंग प्राप्त होता है। जैसा कि कहा है–

---

१. निमित्तकम् । २. अनुभूतार्थस्य विवक्षितधर्मसम्बन्धित्वेऽनुसन्धानं सङ्कलनम्, एकत्व-सादृश्यादिधर्मयुक्तत्वेन पुनर्ग्रहणमिति वा। ३. यन्निरूपणाधीनं निरूपणं यस्य तत्तत्प्रतियोगी। ४. सङ्कलनस्येति शेषः। ५. नैयायिकादीनाम्। ६. दृश्यमानाद्यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते। सादृश्योपाधिवत्तज्ज्ञैरुप-मानमिति स्मृतम् ॥१॥ तस्माद्यत् स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम्। प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥२॥ प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते। विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥३॥ प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे स्मर्यमाणे च पावके। विशिष्टविषयत्वेन नानुमानप्रमाणता ॥४॥ न चैतस्यानुमानत्वं पक्षधर्माद्यसम्भवात्। प्राक् प्रमेयस्य सादृश्यधर्मत्वेन न गृह्यते ॥५॥ गवये गृह्यमाणे च न गवार्थानुमापकम्। प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता ॥६॥ गवयस्यापि सम्बन्धान्न गोर्लिङ्गत्वमृच्छति। सादृश्यं न च सर्वेणपूर्वदृष्टं तदन्वयि ॥७॥ एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं पश्यतो वने। सादृश्येन सहैवास्मिंस्तदैवोत्पद्यते मतिः ॥८॥ सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते। प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि तत्तस्मादुपलभ्यते ॥९॥ ७. गोविलक्षणो महिष इत्यत्र प्रमाणान्तरेण भवितव्यम्। ८. सम्पद्येत। ९. गोलक्षणम्। १०. सादृश्यात्। ११. गवयादि। १२. इति प्रश्ने। १३. संज्ञिनो वाच्यस्य प्रतिपादनं विवक्षितसंज्ञाविषयत्वेन सङ्कलनम्; यथा वृक्षोऽयमित्यादि। १४. प्रत्यभिज्ञानविषयः। वाच्यप्रतिपादनम्।

[1]इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु[2] नैति वा[3]।
व्यपेक्षातः[4] समक्षेऽर्थे[5] [6]विकल्पः [7]साधनान्तरम्[8]॥१६॥

[9]एषां क्रमेणोदाहरणं दर्शयन्नाह–

यथा स एवायं देवदत्तः[10], गोसदृशो गवयः[11], गोविलक्षणो महिषः[12], इदमस्माद् दूरम्[13], [14]वृक्षोऽयमित्यादि॥६॥

आदिशब्देन–

पयोऽ[1]म्बुभेदी हंसः स्यात् षट्पादैर्भ्रमरः स्मृतः।
सप्तपर्णस्तु तत्त्वज्ञैर्विज्ञेयो [2]विषमच्छदः॥१७॥

यदि प्रसिद्ध पदार्थ की समानता से साध्य के साधन को अर्थात् ज्ञान को उपमान प्रमाण कहते हैं, तो उसके वैधर्म्य से (विलक्षणता से) होने वाले साध्य के साधनरूप प्रमाण का क्या नाम होगा ? तथा नामादिरूप संज्ञा वाले संज्ञी पदार्थ के प्रतिपादन करने को कौन-सा प्रमाण कहेंगे ? इसी प्रकार यह इससे अल्प है, यह इससे महान् है; यह इससे दूर है, यह इससे आसन्न (समीप) है, यह इससे उन्नत (ऊँचा) है, यह इससे अवनत (नीचा) है। तथा इनके निषेधरूप यह इससे अल्प नहीं, यह इससे महान् नहीं; इत्यादिरूप जो प्रत्यक्षगोचर पदार्थ में परस्पर की अपेक्षा से अन्य भाव का विकल्प (निश्चय) रूप ज्ञान होता है सो इन सबको भी पृथक् प्रमाणपना प्राप्त होता है और इस कारण आप लोगों के द्वारा स्वीकृत प्रमाण-संख्या का विघटन हो जाता है। अतः उपमान प्रमाण को पृथक् प्रमाण मानना ठीक नहीं है, उसे सादृश्य प्रत्यभिमान के ही अंतर्गत जानना चाहिए ॥१५-१६॥

अब आचार्य उक्त प्रत्यभिज्ञानों के क्रम से उदाहरण दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–जैसे यह वही देवदत्त है, यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह गवय (नीलगाय, रोझ) गौ के सदृश्य है, यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह महिष (भैंसा) उस गौ से विलक्षण है, यह वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह इससे दूर है, यह तत्प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह वृक्ष है, यह सामान्य प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है, इत्यादि ॥६॥

सूत्र के अन्त में जो आदि शब्द दिया है, उससे–

दुग्ध और जल का भेद करने वाला हंस होता है, छह पाद का भ्रमर होता है, सात पत्तों

---

१. शब्दरूपेण परामर्शोल्लेखः। २. उन्नतम्। ३. अथवा 'इदमस्मान्न महत्' इत्यादिना शब्देनोक्तं भवति। ४. परस्परापेक्षया, प्रतिपक्षाकाङ्क्षया। ५. प्रसिद्धे। ६. निश्चयः। ७. तदा प्रमाणसंख्याविघटनम्। ८. प्रमाणान्तरं सम्पद्येत। ९. प्रत्यभिज्ञान-भेदानाम्। १०. एकत्व-प्रत्यभिज्ञानम्। ११. सादृश्यप्रत्यभिज्ञानम्। १२. वैलक्षण्यप्रत्यभिज्ञानम्। १३. तत्प्रतियोगि-प्रत्यभिज्ञान १४. वृक्षसामान्यस्मृतिरूपप्रत्यभिज्ञानम्। १५. हंसो भवति पयोऽम्बुभेदकृत्। १६.भीमसेनीकर्पूरो-त्पादककेलिः।

पञ्चवर्णं भवेद् रत्नं मेचकाख्यं पृथुस्तनी।
युवतिश्चैकशृङ्गोऽपि गण्डकः परिकीर्तितः॥१८॥
शरभोऽप्यष्टभिः पादैः सिंहश्चारुसटान्वितः॥१९॥

इत्येवमादिशब्दश्रवणात् तथाविधानेव [1]मरालादीनवलोक्य तथा सत्यापयति[2] यदा तदा [3]तत्सङ्कलनमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्तम्; दर्शनस्मरणकारणत्वाविशेषात्। परेषां तु [4]तत्प्रमाणान्तरमेवोपपद्यते; उपमानादौ तस्यान्तर्भावाभावात्।

अथोहोऽवसरप्राप्त इत्याह–

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः॥७॥
[5]इदमस्मिन् सत्येव[6] भवत्यसति[7] न भवत्येवेति च॥८॥

उपलम्भः [8]प्रमाणमात्रमत्र गृह्यते। यदि [9]प्रत्यक्षमेवोपलम्भशब्देनोच्यते तदा[10] साधनेषु[11] [12]अनुमेयेषु

वाला विषमच्छद नाम का वृक्ष तत्त्वज्ञों को जानना चाहिए। पाँच वर्ण वाला मेचक रत्न होता है। विशाल स्तनवाली युवती होती है। एक सींगवाला गेंडा कहा जाता है, आठ पाद वाला जानवर शरभ (अष्टपद) कहलाता है। सुन्दर सटा (केशों की लटें) वाला सिंह होता है ॥१७-१९॥

इत्यादिक शब्दों को सुनकर पीछे इसी प्रकार के हंस आदि को देखकर जब कोई व्यक्ति विचार करता है कि यह वही मिले हुए जल और दुग्ध का भेद करने वाला हंस है, तब यह संकलनरूप अनुसन्धानात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानना चाहिए। क्योंकि इन सभी उदाहरणों में वस्तु का वर्तमान में दर्शन और पूर्व धारणा का स्मरणरूप दोनों कारण समान हैं। किन्तु नैयायिकादि अन्य मतावलम्बियों को तो इन्हें भिन्न-भिन्न ही प्रमाण मानना पड़ेगा, क्योंकि उनके द्वारा स्वीकृत उपमान आदि प्रमाणों में इनका अन्तर्भाव नहीं होता है।

अब अवसर-प्राप्त ऊह अर्थात् तर्क प्रमाण का स्वरूप कहते हैं–

सूत्रार्थ—उपलम्भ (अन्वय) और अनुपलम्भ (व्यतिरेक) के निमित्त से जो व्याप्ति का ज्ञान होता है, उसे ऊह अर्थात् तर्क प्रमाण कहते हैं। जैसे यह साधनरूप वस्तु इस साध्यरूप वस्तु के होने परही होती है और साध्यरूप वस्तु के नहीं होने पर नहीं होती है ॥७-८॥

यहाँ पर उपलम्भ से प्रमाण सामान्य का ग्रहण करना चाहिए। यदि प्रत्यक्ष को ही उपलम्भ शब्द से ग्रहण किया जाये तो अनुमान के विषयभूत साधनों में व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकेगा।

---

१. हंसादीन्। २. सत्यङ्करोति। ३. स एवायं हंसः पयोऽम्बुभेदीति यज्ज्ञानं तत्सङ्कलनम्। ४. सङ्कलनज्ञानम्। ५.साधनत्वेनाभिप्रेतं वस्तु। ६. अन्वये। ७. व्यतिरेके। ८. प्रमाणसामान्यम्। ९. नैयायिकानामभिप्रायमनूद्य दूषयति, तेषामभिप्रायस्तु प्रत्यक्षविषयवस्तुनि व्याप्तिर्न तु अनुमानगोचरे। १०. असिद्धो हेतुरपि साध्यो यदा भवतीत्यर्थः। तत् कथम्। अर्हन् सर्वज्ञो भवितुमर्हति प्रमाणवाक्त्वात्। असिद्धोऽयं हेतुरसिद्धो न भवति प्रमाणवाक्त्वम्। कुतः!

व्याप्तिज्ञानं न स्यात्। अथ व्याप्तिः सर्वोपसंहारेण[१] प्रतीयते, सा कथमतीन्द्रियस्य[२] साधनस्यातीन्द्रियेण साध्येन[३] भवेदिति? नैवम्; प्रत्यक्षविषयेष्विवानुमानविषयेष्वपि व्याप्तेरविरोधात्, [४]तज्ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्।

उदाहरणमाह[५]–

यदि कहा जाये कि व्याप्ति तो सर्व देश और सर्व काल के उपसंहार से प्रतीति में आती है, तो जब अतीन्द्रिय ही साधन हो और अतीन्द्रिय ही साध्य हो, तब वह व्याप्ति कैसे जानी जायेगी? सो ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि प्रत्यक्ष के विषयभूत साध्य-साधनों के समान अनुमान के विषयभूत साध्य और साधनों में भी व्याप्ति के होने में कोई विरोध नहीं है, कारण कि उस अनियत दिग्देश कालवाली व्याप्ति के ज्ञान को परोक्ष माना गया है।

भावार्थ—नैयायिकादि दूसरे वादियों का ऐसा मत है कि प्रत्यक्ष के विषयभूत साध्य-साधनों में ही व्याप्ति सम्भव है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं है, अनुमान या आगम प्रमाण के विषय हैं, उनमें व्याप्ति कैसे संभव है? इसका उत्तर आचार्य ने यह दिया है कि अनुमान या आगम के विषयभूत पदार्थों के साध्य-साधनों में भी व्याप्ति संभव है। जैसे अत्यन्त दूरवर्ती होने से सूर्य की गति परोक्ष है, फिर भी उसकी गति को अनुमान करते हैं–सूर्य गमनशक्ति युक्त है, क्योंकि गतिमान् है। इस अनुमान के विषयभूत साध्य-साधन की व्याप्ति इस प्रकार है–जो-जो पदार्थ गतिमान् होते हैं, वे वे गमनशक्ति युक्त देखे जाते हैं, जैसे कि बाण तथा सूर्य गतिमान् है, क्योंकि वह पूर्व देश का त्यागकर पश्चिमादि देशों में जाता हुआ देखा जाता है। जो-जो गतिमान होते हैं, वे देश से देशान्तर को जाते हुए देखे जाते हैं, जैसे कि देवदत्त। यहाँ प्रथम अनुमान से सूर्य में गमनशक्ति सिद्ध की गई है और दूसरे अनुमान से सूर्य में गतिमत्त्व सिद्ध किया गया है। प्रथम अनुमान में साध्य और साधन दोनों परोक्ष हैं और दूसरे अनुमान में केवल साध्य परोक्ष है। इस प्रकार अनुमान के विषयभूत परोक्ष साध्य और साधनों में भी व्याप्ति बराबर देखने में आती है, अतः वह प्रत्यक्ष के विषयभूत साध्य-साधनों में ही होती है, यह कहना ठीक नहीं है।

अब आचार्य व्याप्ति के ज्ञानरूप तर्क का उदाहरण कहते हैं–

दृष्टेष्टाविरुद्धवक्तृत्वात्। ११. नास्त्यत्र देहिनि सुखं हृदयशल्यात्। १२. आदित्यो गमनशक्तियुक्तो गतिमत्वात्। यो यो गतिमान् स स गमनशक्तियुक्तो दृष्टः, यथा शरः। गतिमाश्चाँयम्, तस्माद् गमनशक्तियुक्तः। आदित्यो गतिमान् भवति, पूर्वदेशत्यागेन देशान्तरसमुपलभ्यमानत्वात्, देवदत्तवत्। इत्यत्र सूर्यगतिमत्वादिषु धर्मादिषु गत्यादिष्वनुमेयेष्वत्यन्तपरोक्षेषु आगमगम्येषु।

१. सर्वदेशे सर्वकाले सर्वात्मना गृह्यते। २. परोक्षस्य। ३. सह। ४. अनियतदिग्देशव्याप्तिज्ञानस्य। ५. व्याप्तिज्ञानरूप-तर्कस्योदाहरणमाह।

यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च[१]॥९॥

इदानीमनुमानं क्रमायातमिति तल्लक्षणमाह–

[२]साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्॥१०॥

साधनस्य लक्षणमाह–

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः॥११॥

[३]ननु त्रैरूप्यमेव[४] हेतोर्लक्षणम्; तस्मिन्[५] सत्येव हेतोरसिद्धादि[६]दोषपारिहारोपपत्तेः। तथा हि–[७]पक्षधर्मत्वमसिद्धत्वव्यवच्छेदार्थमभिधीयते। सपक्षे सत्त्वं तु [८]विरुद्धत्वापनोदार्थम्। विपक्षे चासत्त्वमेवा–

सूत्रार्थ–जैसे अग्नि के होने पर ही धूम होता हे और अग्नि के अभाव में नहीं होता है ॥९॥

अब अनुमान क्रम-प्राप्त है, अतः आचार्य उसका लक्षण कहते हैं–

सूत्रार्थ–साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं ॥१०॥

विशेषार्थ–इस सूत्र के प्रत्येक पद की सार्थकता इस प्रकार है–यदि अनुमान का लक्षण यह किया जाता कि प्रमाण से जो विज्ञान होता है, वह अनुमान है, तो आगम आदि से व्यभिचार आता है, अतः उसके निवारण के लिए साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा। फिर भी प्रत्यक्ष से व्यभिचार आता, अतः उसके निवारणार्थ 'साधन से' यह पद दिया है। इस प्रकार साधनरूप लिंग से साध्यरूप लिंगी का जो ज्ञान होता है, उसे अनुमानप्रमाण कहते हैं। जैसे धूम देखकर अग्नि का ज्ञान करना।

अब साधन (हेतु) का लक्षण कहते हैं–

सूत्रार्थ–साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो, अर्थात् जो साध्य के बिना न हो, उसे हेतु (साधन) कहते हैं ॥११॥

शंका–बौद्धों का कहना है कि हेतु का यह लक्षण ठीक नहीं, किन्तु पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षाद्-व्यावृत्तिरूप त्रैरूप्य को ही हेतु का लक्षण मानना चाहिए, क्योंकि त्रैरूप्य के होने पर ही असिद्ध आदि दोषों का परिहार संभव है। उनके अनुसार पक्षधर्मत्व असिद्ध हेत्वाभास के व्यवच्छेद के लिए, सपक्षसत्त्व विरुद्ध हेत्वाभास के निराकरण के लिए और विपक्षाद्व्यावृत्ति

---

१. परमाणुप्रत्यक्षेऽव्याप्तिर्वर्तते, यथात्र प्रत्यक्षे वर्तते। अस्ति च परमाणुरागमोक्तत्वात् , पुण्यपापवत्। २. प्रमाणाद्विज्ञान-मनुमानमेतावन्मात्रेलक्षणेऽनुमेयाऽऽगमादिभिर्व्यभिचारः, अतस्तद्वारणाय साध्यविज्ञानमनुमानमित्युक्तम्। तथापि प्रत्यक्षेण व्यभिचारः, अतस्तद्वारणाय साधनात्साध्य-साविज्ञानमनुमानमित्युक्तम्। ३. बौद्धः प्राह। ४. पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व-विपक्षाद्व्यावृत्तित्रयमिति। ५. त्रैरूप्ये। ६. आदिपदेन विरुद्धानैकान्तिकदोषौ। ७. शब्दोऽनित्यः, चाक्षुषत्वादित्यत्रा-पक्षधर्मत्वमस्ति; चाक्षुषत्वादिति हेतोः पक्षभूते शब्देऽवर्तमानत्वात्तस्मादसिद्धोऽयं हेतुरतस्तद्वारणाय पक्षे सत्त्वमिति। ८. नित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यत्र सपक्षेऽसत्त्व-मस्ति, कृतकत्वस्य हि नित्यत्वविरोधिनाऽनित्यत्वेन व्याप्तत्वात्। तस्माद्धेतोः साध्याभाववद् वृत्तित्वाद्विरुद्धत्वमिति। अतो विरुद्धदोषपरिहारार्थं सपक्षे सत्त्वमिति।

नैकान्तिक[१] व्युदासार्थमिति। तदुक्तम्[२]–

हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः[३]॥२०॥

तदयुक्तम्[४]; अविनाभावनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारोपपत्तेः। अविनाभावो ह्यन्यथानुपपन्नत्वम्। [५]तच्चासिद्धस्य न सम्भवत्येव, 'अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्ध्यति' इत्यभिधानात्। नापि विरुद्धस्य

अनैकान्तिक हेत्वाभास के निषेध के लिए कहे गये हैं।

विशेषार्थ–उक्त कथन का स्पष्टीकरण यह है–जैसे 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह चाक्षुष है अर्थात् नेत्रों से जाना जाता है। इस अनुमान में चाक्षुषत्व हेतु अपने पक्षभूत शब्द में नहीं रहता है, अतः वह असिद्ध हेत्वाभास है। इस प्रकार के दोष-परिहार के लिए पक्षधर्मत्व को हेतु का लक्षण मानना आवश्यक है। इसी प्रकार 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह कृतक है अर्थात् अपनी उत्पत्ति में अन्य के व्यापार की अपेक्षा रखता है। इस अनुमान में कृतकत्व हेतु सपक्ष में नहीं रहता है, क्योंकि कृतकपने की नित्यत्व के विरोधी अनित्यत्व के साथ व्याप्ति है। अतः साध्य विरोधी पदार्थ के साथ रहने से यह हेतु विरुद्धहेत्वाभास है। इस दोष के परिहारार्थ हेतु का सपक्ष में रहना यह दूसरा रूप भी आवश्यक है। तथा अनैकान्तिक दोष के परिहार के लिए हेतु को विपक्ष से व्यावृत्त होना चाहिए। जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि वह प्रमेय अर्थात् प्रमाण का विषय है। यहाँ पर प्रमेयत्व हेतु पक्षभूत शब्द में और सपक्षभूत आकाश में रहते हुए भी नित्यत्व के विरोधी अनित्य घट आदि में भी पाये जाने से अनैकान्तिक है। इस दोष के दूर करने के लिए विपक्षाद्-व्यावृत्तिरूप तीसरे रूप को भी मानना चाहिए। जैसा कि कहा गया है–

हेतु के लक्षण का उपर्युक्त तीनरुपों में ही निर्णय वर्णन किया गया है, क्योंकि पहला पक्षधर्मत्व असिद्ध दोष का प्रतिपक्षी है, दूसरा सपक्षसत्त्व विरुद्ध दोष का प्रतिपक्षी है और तीसरा विपक्षव्यावृत्ति व्यभिचारी जो अनैकान्तिक दोष उसका प्रतिपक्षी है॥२०॥

इसलिए असिद्धादि तीनों दोषों के परिहारार्थ त्रैरूप्य को ही हेतु का लक्षण मानना चाहिए।

समाधान–आपका यह कहना अयुक्त है; क्योंकि, अविनाभावरूप नियम के निश्चय से ही असिद्धादि तीनों दोषों का परिहार हो जाता है। अविनाभाव नाम अन्यथानुपपत्ति का है। साध्य के बिना साधन के नहीं होने को अन्यथानुपपत्ति कहते हैं। यह अन्यथानु-पपत्ति असिद्ध हेतु में संभव नहीं है; क्योंकि ''अन्यथानुपपन्नत्व असिद्ध हेतु के सिद्ध नहीं होता है'' ऐसा कहा गया है।

---

१. शब्दो नित्यः प्रमेयत्वादित्यत्र विपक्षादव्यावृत्तिरस्ति, प्रमेयत्वस्य हेतोः पक्षभूते शब्दे तथा सपक्षरूपाकाशादौ वर्तमानेऽपि नित्यत्वविरोधिनो घटादेरव्यावृत्तित्वात्। तस्माद्धेतोः पक्षसत्त्व सपक्षसत्त्वेऽपि विपक्षादव्यावृत्तित्वादनै-कान्तिकमिति। अतस्तत्परिहारार्थं विपक्षाद् व्यावृत्तिरिति। २. दिग्नागाचार्येण (धर्मकीर्त्तिना) ३. एत एव विपक्षास्तेभ्यः। ४. असिद्धादिदोषपरिहारार्थं हेतोस्त्रैरूप्यवर्णनम्। ५. अन्यथानुपपन्नत्वम्।

[१]तल्लक्षणत्वोपपत्तिर्विपरीतनिश्चिताविनाभाविनि[२] [३]यथोक्तसाध्याविनाभावनियमलक्षणस्यानुपपत्तेर्विरोधात्। व्यभिचारिण्यपि न प्रकृतलक्षणावकाशस्तत[४] एव [५]ततोऽ[६]न्यथानुपपत्तिरेव श्रेयसी, न त्रिरूपता; तस्यां[७] सत्यामपि यथोक्तलक्षणाभावे[८] हेतोर्गमकत्वादर्शनात्[९]। तथा हि-स, [१०]श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्' इत्यत्र त्रैरूप्यसम्भवेऽ[११]प्यगमकत्वमुपलक्ष्यते।

अथ[१२] विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नियमवती तत्र[१३] न दृश्यते, ततो न [१४]गमकत्वमिति। तदपि मुग्धविलसितमेव,

---

विरुद्ध हेतु के भी अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु का लक्षण संभव नहीं है क्योंकि साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ निश्चित अविनाभावी हेतु में यथोक्त साध्याविनाभावी निश्चित लक्षण के पाये जाने का विरोध है। व्यभिचारी हेतु में भी अन्यथानुपपत्तिरूप प्रकृत लक्षण के रहने का अवकाश नहीं है, क्योंकि साध्याविनाभावी हेतु का व्यभिचारी होने में विरोध है, अर्थात् व्यभिचारी हेतु में साध्याविनाभावित्व सम्भव ही नहीं है। इसलिए अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का श्रेष्ठ लक्षण है, त्रिरूपता नहीं; क्योंकि उस त्रिरूपता के होने पर भी यथोक्त अन्यथानुपपत्तिरूप लक्षण के अभाव में हेतु के गमकपना नहीं देखा जाता है। जैसे-वह श्याम (सांवला) है, क्योंकि वह अमुक व्यक्ति का पुत्र है, अन्य पुत्रों के समान'। इस अनुमान में प्रयुक्त तत्पुत्रत्व हेतु के त्रैरूप्य सम्भव होते हुए भी गमकपना नहीं देखा जाता है।

भावार्थ—किसी व्यक्ति के अनेक पुत्रों को सांवला देखकर अनुमान किया कि उस व्यक्ति की स्त्री के गर्भ में जो पुत्र है, वह भी सांवला ही होगा, क्योंकि वह अमुक व्यक्ति का पुत्र होने वाला है। जो उसका पुत्र है वह सांवला है, जैसे कि विवक्षित अमुक पुत्र। जो सांवला नहीं, वह उसका पुत्र नहीं; जैसे कि अमुक व्यक्ति का गोरा पुत्र। इस प्रकार के अनुमान में तत्पुत्रत्वरूप हेतु के त्रैरूप्यपना है अर्थात् वह पक्षरूप गर्भस्थ पुत्र में पाया जाता है, सपक्षभूत अन्य पुत्रों में भी रहता है और विपक्षभूत अन्य के पुत्रों में नहीं पाया जाता। फिर भी यह हेतु अपने साध्य का गमक नहीं है, क्योंकि गर्भस्थ पुत्र के गौरवर्ण होने की सम्भावना है। अतः त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण न मानकर अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण मानना चाहिए।

यदि कहा जाये कि ''स श्यामस्तत्पुत्रत्वात्'' इस अनुमान में विपक्ष से व्यावृत्ति नियमवाली

---

१. अन्यथानुपपन्नत्व। २. साधने। अनित्यः शब्दः, नित्यधर्मरहितत्वात्। नित्यः शब्दः, प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। ३. अनुपपत्तिः कुत इत्यत आह। ४. विरोधादेव। यथोक्तसाध्याविनाभावनियमलक्षणस्यानुपपत्तेरेव। ५. दोषत्रयपरिहारात्। अन्यथानुपपत्तिबलेनैवासिद्धादिदोषपरिहारो भवति यतः। ६. अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥१॥ ७. त्रिरूपतायाम्। ८. अविनाभावाभावे। साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरिति। ९.साधकत्वाप्रतीतेः। १०.श्यामत्वस्यान्यत्र दर्शनात्। ११. गर्भस्थो मैत्रतनयः श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरपुत्रवत्, इत्यत्र तत्पुत्रत्वस्य हेतोः पक्षभूतगर्भस्थे सपक्षभूतेतरतत्पुत्रे च वर्तमानस्य साध्याभाववद्गोरादिना व्यावृत्तौ सत्यामपि गर्भस्थमैत्रतनयस्य गौरत्वेनापि सन्देहसम्भवात्सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं स्यादिति। १२. सौगतः प्राह। १३. स श्यामस्तत्पुत्रत्वादित्यनुमाने। १४. प्रकृतसाध्य-ज्ञापनशक्तिकत्वम्।

तस्या[१] एवाविनाभावरूपत्वात्। [२]इतररूपसद्भावेऽपि तदभावे[३] हेतोः स्वसाध्यसिद्धिं प्रति गमकत्वानिष्टौ[४] सैव[५] प्रधानं लक्षणमक्षूण[६]मुपलक्षणीयमिति[७]। तत्सद्भावे चेतररूपद्वयनिरपेक्षतया [८]गमकत्वोपपत्तेश्च।

यथा सन्त्यद्वैतवादिनोऽपि [९]प्रमाणानीष्टानिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तेः। न चात्र[१०] पक्षधर्मत्वं सपक्षान्वयो वास्ति; केवलमविनाभावमात्रेण गमकत्वप्रतीतेः। यदप्युक्तं परैः[११]—पक्षधर्मताऽभावेऽपि 'काकस्य काष्ण-

---

नहीं दिखाई देती है, इसलिए तत्पुत्रत्वरूप हेतु गमक नहीं है, सो आपका यह कथन भी अतिमुग्ध पुरुष के विलास समान ही है, क्योंकि उस विपक्ष-व्यावृत्ति का नाम ही अविनाभावरूपता है। इतर रूपों के सद्भाव होने पर भी अर्थात् पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व इन दो रूपों के पाये जाने पर भी उस विपक्षाद्-व्यावृत्ति के अभाव होने पर हेतु के अपने साध्य की सिद्धि के प्रति गमकपना नहीं है, अतः साध्य के साथ अविनाभाव वाली उस विपक्षव्यावृत्ति को ही हेतु का निर्दोष लक्षण प्रतिपादन करना चाहिए, क्योंकि उसके सद्भाव में अन्य दो रूपों की निरपेक्षता से भी हेतु के साध्य के प्रति गमकता बन जाती है।

भावार्थ—जैसे माता-पिता के ब्राह्मण होने से पुत्र के भी ब्राह्मणत्व का अनुमान किया जाता है। अथवा नदी में नीचे की ओर जल का पूर दिखाई देने से ऊपर की ओर जलवर्षा का अनुमान किया जाता है। इन दोनों ही उदाहरणों में न पक्षधर्मत्व है और न सपक्षसत्त्व है, फिर भी माता-पिता को ब्राह्मणता और अधोदेश में नदी के पूर का दर्शन ये दोनों ही हेतु पुत्र की ब्राह्मणता और ऊपरी प्रदेश में हुई जलवृष्टिरूप साध्य के गमक हैं ही।

आचार्य अद्वैतवादियों का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि यद्यपि वे परम ब्रह्म के सिवाय दूसरा कोई पदार्थ नहीं मानते हैं, तथापि इष्ट का साधन और अनिष्ट का दूषण अन्यथा बन नहीं सकता, इस अन्यथानुपपत्ति के बल से उनके भी प्रमाण नामक पदार्थ की मान्यता प्राप्त होती ही है। यथा ''अद्वैतवादी के प्रमाण हैं, अन्यथा इष्ट का साधन और अनिष्ट का दूषण बन नहीं सकता'' इस अनुमान में न पक्षधर्मत्व है और न सपक्षसत्त्व है; केवल अविनाभाव मात्र से हेतु का गमकपना प्रतीति में आ रहा है। तथा बौद्धादिकों ने जो यह दूषण कहा है कि यदि पक्षधर्मत्वरूप हेतु का लक्षण नहीं मानेंगे, तो 'काक की कृष्णता से प्रासाद (भवन) धवलवर्ण का है सो यहाँ

---

१. विपक्षाद् व्यावृत्ते। २. पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वरूपद्वयसद्भावेऽपि। ३. विपक्षाद् व्यावृत्त्यभावे। ४. सत्याम्। ५. साध्याविनाभाववती विपक्षाद्व्यावृत्तिरेव। ६. निर्दोषम्। ७. प्रतिपादनीयम्। ८. पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेनपुत्रब्राह्मणतानुमा। सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते ॥१॥ नदीपूरोऽप्यधोदेशे दृष्टः सन्नुपरिस्थिताम्। नियम्यो गमयत्येव वृत्तां वृष्टिं नियामिकाम् ॥२॥ इत्यत्र पक्षसपक्षसत्त्वद्वयाभावेऽपि विपक्षाद् व्यावृतिबलादेव पित्रोः ब्राह्मणत्वाधोदेशस्थनदीपूरौ पुत्रब्राह्मणतोपरिसञ्जातवृष्टयोर्गमकाविति। ९. तेषां प्रमाणानि प्राग् न सन्तीदानीमापद्यन्ते, तस्य प्रमाणवत्त्वधर्मस्याङ्गीकाराभावात्पक्षधर्मत्वं नास्ति, तथापि गम्यगमक भावोऽस्ति। १०. अनुमाने। ११. बौद्धादिभिः।

र्याद्धवलः प्रासादः' इत्यस्यापि [१]गमकत्वापत्तिरिति[२], तदप्यनेन[३] निरस्तम्; अन्यथानुपपत्तिबलेनैवापक्षधर्मस्यापि साधुत्वाभ्युपगमात्[४]। न चेह[५] [६]साऽस्ति। ततोऽविनाभाव एव हेतोः प्रधानं लक्षणमभ्युपगन्तव्यम्[७]; तस्मिन् [८]सत्य सति[९] त्रिलक्षणत्वेति हेतोर्गमकत्वदर्शनात्। इति न त्रैरूप्यं हेतुलक्षणम्, अव्यापकत्वात्। सर्वेषां[१०] क्षणिकत्वे साध्ये सत्त्वादेः साधनस्य सपक्षेऽसतोऽपि स्वयं [११]सौगतैर्गमकत्वाभ्युपगमात्।

एतेन[१२] पञ्चलक्षणत्वमपि यौगपरिकल्पितं न हेतोरुपपत्ति[१३]मियर्तीत्यभिहितं बोद्धव्यम्। पक्षधर्मत्वे सत्यन्वय[१४] [१५]व्यतिरेकावबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्च लक्षणानि, तेषामप्यविनाभावप्रपञ्चतैव[१६]

काक की कृष्णतारूप हेतु केभी भवन के धवलरूप साध्य के गमकता की आपत्ति प्राप्त होगी, इन दोषापत्ति का भी परिहार अन्यथानुपपत्तिरूप लक्षण के द्वारा कर दिया गया है; क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के बल से ही पक्ष में नहीं रहने वाले भी हेतु के साधुता (समीचीनता) स्वीकार की गई है। वह अन्यथानुपपत्ति यहाँ पर अर्थात् ''काक की कृष्णता से प्रासाद धवल है'' इस प्रयोग में नहीं है। इसलिए अविनाभाव को ही हेतु का प्रधान लक्षण मानना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर और त्रैरूप्य के नहीं होने पर भी हेतु के गमकपना देखा जाता है। इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि त्रैरूप्य हेतु का लक्षण नहीं है; क्योंकि वह अव्यापक है। जैसे कि आप बौद्धों ने ''सर्व पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत्‌रूप है'' इस अनुमान से सभी पदार्थों को क्षणिक सिद्ध करने में सपक्ष का अभाव होने से सत्त्व हेतु के उसमें नहीं रहने पर भी स्वयं उसे गमक माना है।

इसी हेतु के त्रैरूप्य लक्षण के निराकरण से यौग-परिकल्पित हेतु का पञ्चलक्षणत्व भी युक्ति की संगति को प्राप्त नहीं होता है, यह भी कहा गया ही जानना चाहिए। पक्षधर्मत्व के रहते हुए अन्वयपना अर्थात् सपक्षसत्त्व और व्यतिरेकपना अर्थात् विपक्षव्यावृत्ति ये तीन रूप, तथा चौथा अबाधितविषयत्व और पाँचवाँ असत्प्रतिपक्षत्व, हेतु के ये पाँच लक्षण यौग मानते हैं। सो ये सभी अविनाभावके ही विस्तार हैं; क्योंकि बाधितविषय के अविनाभाव का अयोग है, जैसे कि सत्प्रतिपक्ष के अविनाभाव सम्भव नहीं है।

भावार्थ—जिसका साध्यरूप विषय प्रमाण से बाधित न हो, उसे अबाधित विषय कहते हैं। और जिस हेतु का प्रतिपक्षी साधक हेतु न हो उसे असत्प्रतिपक्ष कहते हैं। बौद्ध सम्मत तीन रूपों

---

१. पक्षधर्मतां विना गम्यगमकभावो नास्ति। अस्ति चेदत्र गमकत्वमस्तु। २.अत्रान्यथानुपपत्तिर्नास्ति, दूषणमापादयति। भवतु। ३. अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणद्वारेण। ४. इष्टानिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तेरिति हेतोः पक्षधर्मता नास्ति, तथाप्यस्यान्यथानुपपत्ति बलात्साधुत्व-स्वीकारात्।५. काकस्य काष्ण्र्याद्धवलः प्रासाद इत्यत्र। ६. अन्यथानुपपत्तिः। ७. अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि कार्य कारणभाव इति समायातम्। ८. अविनाभावनियमे सति। ९. त्रिरूपेऽसति। १०. पदार्थानाम्। ११. हन्त विस्मरणशीलवत्सस्य किं कर्त्तव्यम् ? १२. त्रैरूप्यनिराकरणद्वारेण। १३. युक्तिघटनाम्। १४. सपक्षे सत्त्वम्। १५. विपक्षाद् व्यावृत्तिः। १६. अविनाभावस्य पर्यायनाम, स्वरूपमेवेत्यर्थः।

बाधितविषयस्याविनाभावायोगात्[१]; सत्प्रतिपक्षस्येवेति, साध्याभासविषयत्वेनासम्यग्घेतुत्वाच्च[२], [३]यथोक्त[४] पक्षविषयत्वाभावात्तद्दोषेणैव[५] दुष्टत्वात्। अतः स्थितम्–साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरिति।

इदानीमविनाभावभेदं दर्शयन्नाह–

सहक्रमभावनियमो[६]ऽविनाभावः॥१२॥

तत्र सहभावनियमस्य विषयं दर्शयन्नाह–

सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः॥१३॥

सहचारिणो रूप–[७]रसयोर्व्याप्यव्यापकयोश्च वृक्षत्वशिंशपात्वयोरिति। सप्तम्या विषयो निर्दिष्टः।

के साथ इन दोनों को मिलाकर यौग लोग पाञ्चरूप्य को हेतु का लक्षण कहते हैं। आचार्य उनके कथन की निरर्थकता यह कहकर बतला रहे हैं, कि ये सभी लक्षण अविनाभाव के विस्ताररूप ही हैं क्योंकि जिस हेतु का विषय प्रमाण से बाधित है और जिस हेतु के प्रतिपक्ष का साधक हेतु पाया जाता है, उन दोनों में ही अविनाभाव का अभाव है।

दूसरे, साध्याभास को विषय करने से असम्यक् हेतुपना भी है, अर्थात् जो हेतु असत्य साध्य को विषय करता है, वह समीचीन हेतु नहीं है; क्योंकि वह यथोक्तपक्ष को विषय नहीं करता है; अतः वह पक्ष के दोष से ही दुष्ट है। इस प्रकार–साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो वही समीचीन हेतु है यह सिद्ध हुआ।

अब अविनाभाव के भेदों को दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–सहभाव नियम और क्रमभाव नियम को अविनाभाव कहते हैं॥१२॥

भावार्थ–एकसाथ रहने वाले साध्य-साधन के सम्बन्ध को सहभाव नियम कहते हैं और काल के भेद से क्रमपूर्वक होने वाले साध्य-साधन के सम्बन्ध को क्रमभाव नियम कहते हैं। इस प्रकार अविनाभाव के दो भेद हो जाते हैं।

अब आचार्य सहभाव नियम का विषय दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–सहचारी और व्याप्य-व्यापक पदार्थों में सहभाव नियम होता है॥१३॥

सहचारी अर्थात् साथ में रहने वाले रूप और रस में सहभाव नियम होता है; क्योंकि नींबू-आम आदि पदार्थों में रूप रस को छोड़कर या रस रूप को छोड़कर नहीं पाया जाता है, किन्तु दोनों साथ ही साथ रहते हैं। इसी प्रकार व्याप्य-व्यापक जो वृक्षत्व और शिंशपात्व है, उनमें भी सहभाव नियम पाया जाता है। वृक्षत्व व्यापक है और शिंशपात्व व्याप्य है, वृक्षत्व को छोड़कर

---

१. अबाधित-विषयस्याविनाभाव-योगो वर्तते, बाधितविषये नास्ति। २. कुतः। ३. अविनाभाव-। ४. अग्निरनुष्णः कृतकत्वात्। ५. पक्षदोषेणैव। ६.अव्यभिचारित्वम्। ७. मातुर्लिङ्गे रूपं रसं विहाय न तिष्ठति, रसो रूपं विहाय न तिष्ठति, सहैव स्थितिः।

क्रमभावनियमस्य विषयं दर्शयन्नाह–

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः॥१४॥

पूर्वोत्तरचारिणोः कृत्तिकोदय–[१]शकटोदययोः कार्यकारणयोश्च धूम–धूमध्वजयोः क्रमभावः।

नन्वेवम्भूतस्याविनाभावस्य न प्रत्यक्षेण ग्रहणम्; तस्य सन्निहितविषयत्वात्। नाप्यनुमानेन; प्रकृता–परानुमानकल्पनायामितरेतराश्रयत्वानवस्थावतारात्[१]। आगमादेरपि [२]भिन्नविषयत्वेन सुप्रसिद्धत्वान्न ततोऽपि [३]तत्प्रतिपत्तिरित्यारेका[४]यामाह–

तर्कात्तन्निर्णयः॥१५॥

शिंशपात्व कभी नहीं पाया जायेगा, अतः इनमें भी सहभाव नियम जानना चाहिए। सूत्र में सप्तमी विभक्ति के द्वारा विषय का निर्देश किया गया है।

अब क्रमभाव नियम के विषय को दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–पूर्वचर और उत्तरचर में तथा कार्य और कारण में क्रमभाव नियम होता है ॥१४॥

कृत्तिका नक्षत्र का उदय एक मुहूर्त पहले होता है और शकट (रोहिणी) नक्षत्र का उदय एक मुहूर्त पीछे होता है; अतः ये दोनों नक्षत्र क्रमशः पूर्वचर और उत्तरचर कहलाते हैं। उदय होने की अपेक्षा दोनों में क्रमभाव सम्बन्ध है। इसी प्रकार अग्नि कारण है और धूम उसका कार्य है। इसलिए कारण और कार्य में भी क्रमभाव सम्बन्ध है।

यहाँ पर कोई शंकाकार कहता है कि इस प्रकार के अविनाभाव का ग्रहण न तो प्रत्यक्ष से होता है; क्योंकि प्रत्यक्ष तो सन्निकटवर्ती वर्तमान पदार्थ को विषय करता है। और न अनुमान से अविनाभाव का ग्रहण होता है; क्योंकि उससे ग्रहण मानने पर दो विकल्प उत्पन्न होते हैं–प्रकृत अनुमान से अविनाभाव का ग्रहण होगा या अन्य अनुमान से। प्रकृत अनुमान से मानने पर इतरेतराश्रय दोष आता है–कि पहले अविनाभाव का ज्ञान हो जाये, तब अनुमान की उत्पत्ति हो और जब अनुमान उत्पन्न हो जाये, तब अविनाभाव का ज्ञान हो। यदि दूसरे अनुमान से अविनाभाव का ग्रहण माना जावे, तो उसके भी अविनाभाव का ग्रहण अन्य अनुमान से मानना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होगा। आगमादि प्रमाणों का भिन्न विषय सुप्रसिद्ध ही है, अतः उनसे भी अविनाभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। फिर अविनाभाव का ज्ञान किस प्रमाण से माना जाये ? इस प्रकार की आरेका (शंका) के होने पर आचार्य उसका समाधान करते हुए कहते हैं–

सूत्रार्थ–तर्क प्रमाण से उस अविनाभाव का निर्णय होता है ॥१५॥

---

१. अनुमानेनाविनाभाव–ग्रहणं चेत्तर्हि प्रकृतानुमानेनानुमानान्तरेण वा ? प्रकृतानुमानेन चेदितरेतराश्रयस्तथाहि–सत्यामविनाभाव–प्रतिपत्तावनुमानस्याऽऽत्मलाभस्तदात्मलाभे चाविनाभावप्रतिपत्तिरिति। अनुमानान्तरेणाविनाभाव–प्रतिपत्ति–श्चेत्तस्याप्यमुमानान्तरेणाविनाभावप्रतिपत्तावनवस्था स्यात्। २. एकस्मिन् वस्तुनि प्रमाणसंप्लवोऽस्ति, तथापि मुख्यवृत्त्या तत्तन्नियतस्य प्रमाणस्य स एव विषयः। ३. अविनाभावस्य। ४. आशङ्कायाम्।

तर्काद् यथोक्तलक्षणादूहात्तन्निर्णय[१] इति।

[२]अथेदानीं साध्यलक्षणमाह–

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्[३]॥१६॥

[४]अत्रापरे[५] दूषणमाचक्षते–आसन–शयन–भोजन–यान–[६]निधुवनादेरपीष्टत्वात्तदपि साध्यमनुषज्यत इति। तेप्यतिबालिशाः, अप्रस्तुतप्रलापित्वात्। अत्र हि साधनमधिक्रियते[७], तेन[८] साधनविषयत्वेनेप्सित-मिष्टमुच्यते।

इदानीं स्वाभिहितसाध्यलक्षणस्य विशेषणानि सफलयन्नसिद्धविशेषणं समर्थयितुमाह–

सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां[९] साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम्[१०]॥१७॥

तर्क से अर्थात् जिसका लक्षण पहले कहा जा चुका हैं, ऐसे ऊह प्रमाण से उस अविनाभाव का निर्णय अर्थात् परिज्ञान होता है।

अब आचार्य साध्य का लक्षण कहते हैं–

सूत्रार्थ–इष्ट, अबाधित और असिद्ध पदार्थ को साध्य कहते हैं ॥१६॥

भावार्थ–जिसे वादी सिद्ध करना चाहता है उसे इष्ट कहते हैं। जिसमें प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से बाधा न आती हो, उसे अबाधित कहते हैं। और जो किसी प्रमाण से सिद्ध न हुआ हो उसे असिद्ध कहते हैं; क्योंकि सिद्ध का साधन करने से कोई लाभ नहीं है। अतः जिसमें सूत्रोक्त तीनों बातें पाई जावें, ऐसा पदार्थ ही साध्य होता है।

इस साध्य के लक्षण में नैयायिकादि अन्यवादी यह दूषण देते हैं कि यदि इष्ट को साध्य मानते हैं तो आसन, शयन, भोजन, गमन, मैथुनादिक भी इष्ट हैं, अन्तः उनके भी साध्यपने का प्रसंग आता है ? आचार्य कहते हैं कि ऐसा दूषण देने वाले अतिमूर्ख हैं, क्योंकि वे अप्रस्तुत-प्रलापी हैं–बिना अवसर की बात करते हैं। यहाँ पर साधन का अधिकार अर्थात् प्रकरण है, इसलिए साधन के विषयरूप से इच्छित वस्तु को ही इष्ट कहा गया है।

अब आचार्य अपने द्वारा कहे हुए साध्य के लक्षण के विशेषणों की सफलता (सार्थकता) बतलाते हुए असिद्ध विशेषण का समर्थन करने के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–संदिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न पदार्थों के साध्यपना जिस प्रकार से माना जा सके, इसलिए साध्य के लक्षण में असिद्ध पद दिया है ॥१७॥

---

१. अविनाभावनिर्णयः। २. हेतुलक्षणकथनान्तरम्। ३. साध्यं लक्ष्यम्, इष्टमबाधितमसिद्धं लक्षणम्। यदा असिद्धं साध्यम्, तदा इष्टमबाधितविशेषणसहितमेव ज्ञातव्यम्। ४. साध्यलक्षणे। ५. नैयायिकाः। ६. मैथुन–। ७. सन्मुखीक्रियते। ८. साधनाधिकारेण। ९. अनध्यवसितानां पदार्थानाम्। १०. प्रतिपादितम्।

तत्र सन्दिग्धं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यनवधारणेनोभयकोटिपरामर्शिसंशयाकलितं वस्तु उच्यते। विपर्यस्तं तु विपरीतावभासिविपर्ययज्ञानविषयभूतं रजतादिः। अव्युत्पन्नं[१] तु नामजाति[२]संख्यादिविशेषापरिज्ञानेनानिर्णीतविषयानध्यवसायग्राह्यम्[३]। एषां[४] साध्यत्वप्रतिपादनार्थमसिद्धपदोपादानमित्यर्थः।

अधुनेष्टाबाधितविशेषणद्वयस्य साफल्यं दर्शयन्नाह–

अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम्॥१८॥

अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः, प्रत्यक्षादिबाधितश्चाश्रावणत्वादिः। आदिशब्देनानु[५]माना[६]गम-[७]लोक [८]स्ववचनबाधितानां ग्रहणम्। तदुदाहरणं चाकिञ्चित्करस्य हेत्वाभासस्य निरुपणावसरे स्वयमेव ग्रन्थकारः[९] प्रपञ्चयिष्यतीत्युपरम्यते।

किसी स्थानपर अन्धकार आदि के निमित्त से खड़े हुए पदार्थ को देखकर यह स्थाणु (लकड़ी का ठूँठ) है अथवा पुरुष है? इस प्रकार किसी एक का निश्चय न होने से उभय कोटि (पक्ष) के परामर्श करने वाला संशय से संयुक्त पदार्थ को संदिग्ध कहते हैं। यथार्थ से विपरीत वस्तु का निश्चय करने वाले विपर्यय ज्ञान के विषयभूत सीप में चाँदी आदिक पदार्थ विपर्यस्त कहलाते हैं। नाम, जाति, संख्या आदि के विशेष परिज्ञान न होने से अनिर्णीत विषय वाले अनध्यवसाय ज्ञान से ग्राह्य पदार्थ को अव्युत्पन्न कहते हैं। इन संदिग्ध आदि तीनों प्रकार के पदार्थों के साध्यपना प्रतिपादन करने के लिए साध्य के लक्षण में असिद्ध पद का ग्रहण किया गया है, ऐसा अर्थ जानना चाहिए।

अब आचार्य इष्ट और अबाधित इन दो विषयों की सफलता दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–अनिष्ट और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित पदार्थों के साध्यपना न माना जाये, इसलिए इष्ट और अबाधित ये दो विशेषण दिये गये हैं॥१८॥

मीमांसक के लिए शब्द को अनित्य कहना अनिष्ट है; क्योंकि वह शब्द को नित्य मानता है। शब्द को अश्रावण कहना अर्थात् वह कान से नहीं सुना जाता है ऐसा कहना प्रत्यक्ष-बाधित है, क्योंकि वह कान से सुना जाता है। आदि शब्द से अनुमान-बाधित, आगम-बाधित, लोक-बाधित और स्ववचन-बाधित पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए। इन अनुमान-बाधित आदिकों के उदाहरण आगे अकिंचित्कर हेत्वाभास के निरूपण के समय ग्रन्थकार स्वयं ही कहेंगे, इसलिए यहाँ पर उनका कथन नहीं करते हैं।

---

१. अनध्यवसितं तु गच्छत्तृणस्पर्शः। २. एकद्वित्र्यादिस्पर्शनम्। ३.अनिश्चयेन गच्छत्तृणस्पर्श इव मार्गे गच्छतः पुरुषस्य कस्यचित्स्पर्शनं जातं तदा किमपि न चिन्तितम्, अथवा किञ्चिद् भविष्यतीति चिन्तितम्। पश्चाच्चिन्तयति मम कस्य स्पर्शनं जातम्; तृणस्यैव विषयस्य वेदनानुदयात्। ४. सन्दिग्धादीनाम्। ५. अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्। ६. प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः, पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत्। ७. शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवत्। ८. माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्य-गर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत्। ९. सूत्रकारो माणिक्यनन्दिदेवः।

[१]तत्रासिद्धपदं[२] प्रतिवाद्यपेक्षयैव, इष्टपदं तु वाद्यपेक्षयेति [३]विशेषमुपदर्शयितुमाह–

न[४] चासिद्धवदिष्टं[५] प्रतिवादिनः[६]॥१९॥

अयमर्थः–न हि सर्वं सर्वापेक्षया विशेषणम्, अपि तु किंचित्[७] [८]कमप्युद्दिश्य[९] भवतीति। असिद्धवदिति व्यतिरेकमुखेनोदाहरणम्। यथा–असिद्धं प्रतिवाद्यपेक्षया, न तथेष्टमित्यर्थः।

कुत एतदित्याह–

[१०]प्रत्यायनाय हीच्छा[११] वक्तुरेव॥२०॥

इच्छायाः खलु विषयीकृतमिष्टमुच्यते। प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेवेति।

[१२]तच्च साध्यं धर्मः किं वा तद्विशिष्टो धर्मीति[१३] प्रश्ने तद्भेदं दर्शयन्नाह–

साध्य के लक्षण में कहे हुए उन तीन विशेषणों में से असिद्ध पद तो प्रतिवादी की अपेक्षा से है और इष्ट पद वादी की अपेक्षा से है, ऐसा विशेष बतलाने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–असिद्ध के समान इष्ट विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से नहीं है॥१९॥

सूत्र का यह अर्थ है–सभी विशेषण सभी की अपेक्षा से नहीं होते, अपितु कोई विशेषण किसी की (वादी की) अपेक्षा से होता है और कोई विशेषण किसी (प्रतिवादी) की अपेक्षा से होता है। असिद्धवत् यह उदाहरण व्यतिरेक मुख से दिया गया है। जैसे असिद्ध विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से कहा गया है, उस प्रकार से इष्ट विशेषण नहीं अर्थात् वह वादी की अपेक्षा से दिया गया है, ऐसा अर्थ जानना चाहिए।

ऐसा अर्थ क्यों लिया जाये इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–क्योंकि दूसरे को समझाने के लिए इच्छा वक्ता अर्थात् वादी को ही होती है, प्रतिवादी को नहीं॥२०॥

इच्छा का विषयभूत पदार्थ इष्ट कहा जाता है। दूसरे को ज्ञान कराने की इच्छा वक्ता के ही होती है।

भावार्थ–जो पहले अपने पक्ष को स्थापित करता है, उसे वादी कहते हैं और जो उसका निराकरण करता है, उसे प्रतिवादी कहते हैं। अतः अपने पक्ष को समझाने की इच्छा वादी के ही होती है, प्रतिवादी के नहीं।

वह साध्य क्या धर्म होता है, अथवा धर्म-विशिष्ट धर्मी ? ऐसा प्रश्न होने पर उसका भेद दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

---

१. त्रयाणां मध्ये। २. वादिनः साध्यं प्रसिद्धं प्रतिवादिनस्त्वसिद्धमिति। ३. भेदम्। ४.यथा प्रतिवादिनोऽसिद्धं तद्वदिष्टं न प्रतिवादिन इति व्यतिरेकेण प्रतिपादितम्। ५. इष्टपदग्रहणं वाद्यपेक्षयैव, यथा प्रतिवाद्यपेक्षयाऽसिद्धपदग्रहणम्। ६. किन्तु वादिन एव। ७. विशेषणम्। ८. वादिनं प्रतिवादिनं वा। ९. यथैकस्य जनस्य पुत्रापेक्षया पितृव्यपदेशः, पित्रपेक्षया पुत्रव्यपदेश इति। १०. परप्रतिबोधनाय। ११. इत्थमेवेष्टमित्यर्थः। १२. परप्रतिपादनाय शब्दप्रयोग;। १३. यथोक्त-विशेषणविशिष्टो धर्मो धर्मी वेति विकल्पद्वयम्।

साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी॥२१॥

सोपस्काराणि[१] वाक्यानि भवन्ति। ततोऽयमर्थो लभ्यते–[२]व्याप्तिकालापेक्षया तु साध्यं धर्मः[३]। क्वचित्प्रयोगकालापेक्षया[४] तु तद्विशिष्टो धर्मी[५] साध्यः।

अस्यैव धर्मिणो नामान्तरमाह–

पक्ष इति यावत्॥२२॥

ननु धर्म-धर्मिसमुदायः पक्ष[६] इति [७]पक्षस्वरूपस्य [८]पुरातनैर्निरूपितत्वाद्धर्मिणस्तद्वचने कथं न [९]राद्धान्तविरोध इति? नैवम्; साध्यधर्माधारतया विशेषितस्य धर्मिणः पक्षत्ववचनेऽपि दोषानवकाशात्। [१०]रचनावैचित्र्यमात्रेण [११]तात्पर्यस्यानिराकृतत्त्वात् सिद्धान्ताविरोधात्।

सूत्रार्थ–कहीं पर धर्म साध्य होता है और कहीं पर धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य होता है॥२१॥

सूत्र-वाक्य अध्याहार-अर्थ वाले होते हैं। इसलिए सूत्र का यह अर्थ प्राप्त होता है कि व्याप्ति काल की अपेक्षा तो धर्म साध्य होता है और कहीं पर प्रयोगकाल की अपेक्षा धर्म से विशिष्ट धर्मी साध्य होता हैं।

भावार्थ–जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है और जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम नहीं होता। इस प्रकार से जब किसी शिष्यादि को साध्य-साधन का ज्ञान कराया जाता है, तब उसे व्याप्ति काल कहते हैं। इस व्याप्ति काल में अग्निरूप धर्म ही साध्य है। इस पर्वत में अग्नि है, क्योंकि यह धूमवाला है, इस प्रकार से अनुमान के प्रयोग करने को प्रयोगकाल कहते हैं, उस समय अग्निरूप धर्म से विशिष्ट पर्वत ही साध्य होता है।

अब आचार्य इसी धर्मी का पर्यायवाची दूसरा नाम कहते हैं–

सूत्रार्थ–उसी धर्मी को पक्ष कहते हैं ॥२२॥

शंका–धर्म और धर्मी के समुदाय को पक्ष कहते हैं, ऐसा पक्ष का स्वरूप प्राचीन आचार्यों ने निरूपण किया है, इसलिए धर्मी को ही पक्ष कहने पर सिद्धान्त से विरोध कैसे नहीं होगा?

समाधान–नहीं होगा, क्योंकि साध्यधर्म के आधार से विशेषित धर्मी को पक्ष कहने पर भी किसी दोष का अवकाश नहीं है। शब्द-रचना मात्र की विचित्रता से तात्पर्य का निराकरण नहीं होता, अतः सिद्धान्त से अविरोध है।

---

१. साध्याहाराणि। २. यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः। ३. प्रयोगकालेऽपि धर्मः साध्यः, यथाऽस्ति सर्वज्ञः। ४. पर्वतोऽयं वह्निमान् अत्र वह्निविशिष्टः पर्वतः साध्यः। ५. प्रयोगकालापेक्षयापि धर्मी साध्यो भवति, धर्मिणः साध्यत्वे प्रयोगकाल एव नियमः। ६. ज्ञातव्ये पक्षधर्मत्वे पक्षो धर्म्यभिधीयते। व्याप्ति काले भवेद्धर्मः साध्यसिद्धौ पुनर्द्वयम्॥१॥ प्रयोगकाले। ७. साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः। ८. अकलङ्कदेवादिभिः। ९.सिद्धान्त–। १०. धर्मधर्मिसमुदायः पक्ष, इति रचनावैचित्र्यम्। ११. अर्थस्य।

अत्राह सौगतः–भवतु नाम धर्मी पक्षव्यपदेशभाक् तथापि सविकल्पकबुद्धौ परिवर्तमान एव, न वास्तवः[१]। 'सर्व एवानुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन[२] धर्मधर्मिन्यायेन न [३]बहिः सदसत्त्वमपेक्षते' इत्याभिधानादिति तन्निरासार्थमाह–

प्रसिद्धो धर्मी॥२३॥

अयमर्थः–नेयं विकल्पबुद्धिर्बहिरन्तर्वाऽनासादितालम्बन[४]भावा[५] धर्मिणं व्यवस्थापयति, [६]तदवास्त-

---

भावार्थ—यद्यपि सूत्रकार ने केवल धर्मी को पक्ष कहा है, तथापि उनका अभिप्राय साध्यधर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहने का है। इससे धर्म-धर्मी के समुदाय का अर्थ आ ही जाता है, अतः प्राचीन सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं आता।

यहाँ पर बौद्ध कहते हैं कि भले ही धर्मी को पक्ष इस नाम से कहा जाये, तथापि वह धर्मी सविकल्पक बुद्धि में ही वर्तमान है; वास्तविक नहीं, क्योंकि सर्व ही अनुमान-अनुमेय का व्यवहार विकल्प बुद्धि से गृहीत धर्म-धर्मी के न्याय से होता है अतः वह अनुमान-अनुमेय का व्यवहार बाहरी सत् या असत् वस्तु की अपेक्षा नहीं करता है ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ—बौद्धों की मान्यता है कि अनुमान एक विकल्प है; क्योंकि वह सामान्य को ग्रहण करता है। अनुमान में जो धर्मी और धर्म का ग्रहण होता है वह विकल्प बुद्धि के द्वारा ही होता है और विकल्प-बुद्धि (कल्पना-ज्ञान) अर्थ के बिना भी वासना (संस्कार) मात्र से उत्पन्न हो जाती है। अतः अनुमान-अनुमेय के व्यवहार में बाह्य पदार्थ की सत्ता या असत्ता की अपेक्षा नहीं होती है। अर्थात् बाह्य वस्तु की सत्ता या असत्ता की अपेक्षा के बिना ही विकल्प-बुद्धि से गृहीत धर्म और धर्मी के द्वारा अनुमान अनुमेय का व्यवहार होता है। इससे बौद्धों के मतानुसार यह सिद्ध हुआ कि धर्मी का प्रतिभास विकल्प-बुद्धि से होने के कारण उसकी सत्ता वास्तविक नहीं हैं।

आचार्य उनके इस कथन का निराकरण करने के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ—धर्मी प्रसिद्ध अर्थात् प्रमाण से सिद्ध होता है, काल्पनिक नहीं॥२३॥

बाह्य और अन्तरंग पदार्थ के आलम्बन भाव से रहित यह विकल्प बुद्धि धर्मी की व्यवस्था नहीं करती है; क्योंकि उस धर्मी के अवास्तविक होने से उसके आधारभूत साध्य और साधन के

---

१. यथा केशोण्डुकज्ञानमिति। २. विकल्पबुद्धिगृहीतेन। सन्तानात् अपरामृष्टभेदाः सन्तानिन एव सन्तानो जलप्रवाहवद्यथा गतो जलप्रवाहो गत एव, पुनरन्य एवाऽऽगमिष्यति; तथापि सन्तानरूपेण एक एव व्यपदिश्यते। ३. बाह्य वस्तु वर्तते तथापि क्षणिकं निर्विकल्पक-ज्ञानविषयम्; स्थिरस्थूलतया सदसत्त्वं नास्ति। ४. अवलम्बनेति पाठान्तरम्। ५. अप्राप्त-विषयभावाः। ६. धर्मिणोऽवास्तवत्वेन।

वत्वेन [१]तदाधारसाध्य-साधनयोरपि वास्तवत्त्वानुपपत्तेस्त[२]द्बुद्धेः[३] [४]पारम्पर्येणापि वस्तुव्यवस्था[५]निबन्धनत्वायोगात्। ततो [६]विकल्पेनान्येन[७] वा व्यवस्थापितः[८] पर्वतादिर्विषयभावं[९] भजन्नेव धर्मितां प्रतिपद्यत इति स्थितं प्रसिद्धो धर्मीति। तत्प्रसिद्धिश्च क्वचिद्विकल्पतः[१०] क्वचित्प्रमाणतः [११]क्वचिच्चोभयत[१२] इति नैकान्तेन[१३] विकल्पारूढस्य प्रमाणप्रसिद्धस्य वा धर्मित्वम्।

भी वास्तविकता नहीं बन सकती है। इसलिए अनुमान-बुद्धि के परम्परा से भी वस्तु की व्यवस्था के कारणपने का अयोग है।

विशेषार्थ—बौद्धों के यहाँ दो प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है और अनुमान का विषय सामान्य है। उनका सामान्य नैयायिक आदि के सामान्य के समान वस्तु नहीं है, किन्तु अवस्तु है। तब प्रश्न यह होता है कि अवस्तु के विषय करने के कारण अनुमान में अप्रमाणता क्यों नहीं है। इसका उत्तर बौद्ध इस प्रकार देते हैं कि अनुमान-बुद्धि परम्परा से वस्तु (स्वलक्षण) की प्राप्ति का कारण होती है। अतः उसमें अप्रमाणता का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है। वह इस प्रकार है कि अनुमान में विकल्पबुद्धि के द्वारा पहले धूम-सामान्य का ग्रहण होता है, फिर धूम-सामान्य से अग्नि-सामान्य का ग्रहण होता है। इसके पश्चात् धूम-स्वलक्षण का और धूम-स्वलक्षण से अग्नि-स्वलक्षण का ग्रहण होता है। अतः परम्परा से वस्तु की प्राप्ति में कारण होने से अनुमान में प्रमाणता है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि बौद्धों ने अनुमान बुद्धि को जो परम्परा से वस्तु-व्यवस्था का कारण माना है, वह नहीं बन सकता है। क्योंकि जब धर्मी की सत्ता अवास्तविक है, तब साध्य और साधन में भी अवास्तविकता को प्राप्ति होगी। अर्थात् साध्य और साधन का आधार ही जब अवास्तविक है तब आधेयभूत साध्य और साधन वास्तविक कैसे हो सकते हैं? इसलिए चाहे धर्मी को व्यवस्था विकल्प से हो, या अन्य किसी प्रमाण से हो, वह धर्मी तभी कहा जा सकता है, जब उसकी सत्ता वास्तविक मानी जाये। धर्मी की सत्ता वास्तविक मानने पर ही वह विकल्प बुद्धि या अन्य किसी प्रमाण का विषय हो सकता है और तभी उसके द्वारा उसकी व्यवस्था हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार यह बात स्थित हुई कि धर्मी प्रसिद्ध होता है। उसकी प्रसिद्धि कहीं पर विकल्प से, कहीं पर प्रमाण से तथा कहीं पर प्रमाण और विकल्प

---

१. पक्ष आधारौ ययोस्तौ साध्यसाधनौ तयोः। २. विकल्पग्राह्यधर्मिबुद्धेरिति प्रतिपादनानन्तरम्। ३. अनुमानबुद्धेः। ४. तथा धूमस्वलक्षणाद् दहनस्वलक्षणं तस्मात्तदनुभवस्तस्माद्धूमविकल्पस्तस्माद्वह्निविकल्प इति पारम्पर्येण ? (धूमसामान्याद् वह्निसामान्यम् तस्माद् धूमविकल्पः, तस्माद् वह्निविकल्पः, तदनन्तरं धूमस्वलक्षणम् तस्माद् वह्निस्वलक्षणं प्रत्येतीति पारम्पर्येण।) ५. तर्हि बौद्धानामनुमानं नष्टं ततो निर्विकल्प-प्रत्यक्षप्रामाण्यमनुमानेन माऽस्तु। ६. विकल्पबुद्धया। ७. प्रमाणान्तरेण। ८. निर्णीतः। ९. विषयभावोऽस्ति चेद्धर्मी भवति, अन्यथा धर्मी न भवति, धर्मी नास्तीति वक्तुं न पार्यतेऽनुमानभङ्गो भवति यतः। १०. अनिश्चितसंवाद-विसंवादो विकल्पः शब्दप्रत्यक्षयोः। ११. प्रत्यक्षादेः। १२. विकल्प-प्रमाणाभ्याम्। १३. नियमेन।

[७]ननु धर्मिणो विकल्पात्प्रतिपत्तौ किं तत्र साध्यमित्याशङ्कायामाह–

[८]विकल्पसिद्धे तस्मिन्[९] सत्तेतरे साध्ये॥२४॥

तस्मिन् धर्मिणि विकल्पसिद्धे सत्ता च तदपेक्षयेतरात्सत्ता च ते द्वेऽपि साध्ये; [१]सुनिर्णीतासम्भवद्-बाधकप्रमाणबलेन योग्यानुपलब्धिबलेन[२] चेति शेषः।

अत्रोदाहरणमाह–

अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम्॥२५॥

सुगमम्।

दोनों से होती है। इसलिए यह कोई एकान्त नहीं है कि केवल विकल्प से गृहीत अथवा प्रमाण से प्रसिद्ध पदार्थ के ही धर्मीपना हो।

यहाँ पर भाट्ट कहते हैं कि धर्मी की विकल्प से प्रतिपत्ति मानने पर उसमें साध्य क्या होगा? ऐसी आशंका के होने पर आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–उस विकल्पसिद्ध धर्मी में सत्ता और असत्ता ये दोनों ही साध्य हैं ॥२४॥

जिस पक्ष का किसी प्रमाण से न तो अस्तित्व ही सिद्ध हो और न नास्तित्व ही सिद्ध हो, उस पक्ष को विकल्पसिद्ध कहते हैं। उस विकल्पसिद्ध धर्मी में सत्ता और उसकी अपेक्षा इतर जो असत्ता ये दोनों ही साध्य हैं। सुनिश्चित असम्भव-बाधक प्रमाण के बल से तो सत्तासाध्य है और योग्य की अनुपलब्धि के बल से असत्ता साध्य है, इतना वाक्य शेष है अर्थात् सूत्र में नहीं कहा, सो ऊपर से लेना चाहिए।

अब आचार्य विकल्पसिद्ध का उदाहरण कहते हैं–

सूत्रार्थ–सर्वज्ञ है और खर-विषाण नहीं है ॥२५॥

भावार्थ– सर्वज्ञ है, यहाँ पर सर्वज्ञ विकल्पसिद्ध धर्मी है और उसका कोई सुनिश्चित बाधक प्रमाण नहीं पाया जाता, इस हेतु से उसकी सत्ता सिद्ध की जाती है। इसी प्रकार खर-विषाण नहीं है, यहाँ पर खरविषाण भी विकल्पसिद्ध धर्मी है, और वह प्राप्त होने के योग्य होकर भी पाया नहीं जाता, इस हेतु से उसकी असत्ता सिद्ध की जाती है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि विकल्पसिद्ध धर्मी में सत्ता और असत्ता दोनों साध्य हैं।

यह सूत्र सुगम है।

---

७. भाट्टः प्राह। ८. प्रमाणाप्रमाणसाधारणौ शाब्दौ प्रतीतिर्विकल्पः। ९. पक्षे मानसप्रत्यक्षसिद्धे। १. अस्ति सर्वज्ञः सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् प्रसिद्धवेदार्थ-ज्ञानिवत्। २. नास्ति खरविषाणं दृश्यत्वे सत्यनुपलब्धेर्घटवत्, नास्त्यत्र भूतले घट इति दृश्यानुपलब्धिबलेन वा।

ननु[1] धर्मिण्यसिद्धसत्ताके[2] [3]भावाभावोभय[4]धर्माणा[5]मसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्त्वादनुमानविषयत्वा-योगात् [6]कथं सत्तेतरयोः साध्यत्वम्? तदुक्तम्–

[7]असिद्धो [8]भावधर्मश्चेद् [9]व्यभिचार्युभयाश्रितः[10]।
[11]विरुद्धो धर्मोऽभावस्य[12] सा सत्ता [13]साध्यते कथम्[14]॥२१॥ इति

तदयुक्तम्; मानसप्रत्यक्षे भावरूपस्यैव [15]धर्मिणः प्रतिपन्नत्वात्[16]। न च [17]तत्सिद्धौ तत्सत्त्वस्यापि[18] प्रतिपन्नत्वाद् व्यर्थमनुमानम्[19]; तदभ्युपेतमपि [20]वैय्यात्याद्यदा [21]परो न प्रतिपद्यते[22] तदाऽनुमानस्य साफल्यात्।

शंका—मीमांसक कहते हैं कि जिसकी सत्ता ही असिद्ध है ऐसे धर्मी को मानने पर उसमें साध्य सिद्धि के लिए दिया गया हेतु यदि धर्मी का भावरुप धर्म है तो वह असिद्ध हेत्वाभास हो जायेगा। क्योंकि सुनिश्चित असम्भव बाधक प्रमाणत्व हेतु यदि सर्वज्ञ का भावरुप धर्म है तो सर्वज्ञ के समान वह भी असिद्ध होगा। यदि उक्त हेतु धर्मी का अभावरूप धर्म है तो वह विरुद्धहेत्वाभास हो जायेगा। क्योंकि सर्वज्ञ के अभाव धर्मरूप हेतु से सर्वज्ञ का अभाव ही सिद्ध होगा। और यदि उक्त हेतु सर्वज्ञ का भाव और अभावरूप उभय धर्मवाला है तो वह अनैकान्तिक हो जायेगा। क्योंकि उभयधर्मरूप हेतु सर्वज्ञ के सद्भाव के समान अभाव को भी सिद्ध करेगा। जैसा कि कहा है–

यदि सुनिश्चितासम्भव बाधक प्रमाणत्व हेतु सर्वज्ञ का भावरूप धर्म है तो वह व्याभिचारी है। और यदि अभाव के धर्मरूप है तो वह विरुद्ध है। ऐसी दशा में वह सर्वज्ञ की सत्ता कैसे सिद्ध कर सकता है॥२१॥

समाधान—आपका उपर्युक्त कथन अयुक्त है; क्योंकि मानस-प्रत्यक्ष में भावरूप ही धर्मी प्रतिपन्न है अर्थात् प्रसिद्ध है। यदि कहा जाये कि जैसे मानस प्रत्यक्ष में धर्मी की भावरूप से प्रत्यक्षता है, तो उसी प्रकार उसका सत्त्वरूप धर्म भी प्रसिद्ध होगा। अतः उसकी सिद्धि के लिए फिर अनुमान का प्रयोग करना व्यर्थ है, सो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि हमारे द्वारा स्वीकार किया गया भी सर्वज्ञ का सद्भाव धृष्टता से जब कोई दूसरा व्यक्ति अंगीकार नहीं करता तब उसे

---

१. मीमांसकः प्राह। २. प्रमाणप्रत्यक्षा-भावादविद्यमाने। ३. अस्तित्व -। ४. भावाभाव-। ५. हेतूनाम्। ६. आक्षेपः। ७. सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादिति हेतुर्यदि सर्वज्ञभावधर्मश्चेत्तदा सर्वज्ञवद्धेतु-रप्यसिद्धः, को हि नाम सर्वज्ञभावधर्ममिच्छन् सर्वज्ञमेव नेच्छेत्। ८. हेतुर्यदि सर्वज्ञाभावधर्मश्चेत्। ९. हेतुर्यदि सर्वज्ञभावावधर्मश्चेत्तदा व्यभिचारी सपक्ष-विपक्षयोर्वृत्तेः। १०. हेतुर्यदि सर्वज्ञभावाभावधर्माश्रितश्चेत्। ११. हेतुर्यदि सर्वज्ञाभावधर्मश्चेत्। तथा विरुद्धो यतः सर्वज्ञाभावधर्मात्सर्वज्ञनास्तित्वस्यैव साधनात्। १२. सर्वज्ञभावस्य। १३. स सत्तां साधयेत्कथमिति पाठान्तरम्। १७. सर्वज्ञास्तित्वनिराकरणार्थे कारिकेयम्। १५. सर्वज्ञस्य। १६. प्रसिद्धत्वादस्तित्वं साध्यते। १७. सर्वज्ञ। १८. धर्मस्यापि। १९. तथा धर्मिणो मानसप्रत्यक्षे भावरूपेण प्रत्यक्षत्वं तथा धर्मस्यापि प्रसिद्धत्वं वर्तते, किमत्रानुमानेनेति मीमांसकशङ्कनं परिहरति। २०. धार्ष्ट्यात्। २१. सर्वज्ञाभाववादी। २२. नाङ्गीकुरुते।

न च मानसज्ञानाद् गगनकुसुमादेरपि सद्भावसम्भावनाऽतोऽतिप्रसङ्ग[१]; तज्ज्ञानस्य बाधकप्रत्ययव्यपा[२]कृतसत्ताकवस्तुविषयतया मानसप्रत्यक्षाभासत्वात्[३]। कथं तर्हि [४]तुरगशृङ्गादे[५]र्धर्मित्वमिति न चोद्यम्; धर्मिप्रयोग-काले [६]बाधकप्रत्ययानुदयात्[७]सत्त्वसम्भाव[८]नोपपत्तेः। न च सर्वज्ञादौ साधकप्रमाणासत्त्वेन सत्त्वं प्रति संशीतिः[९], सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वेन सुखादाविव सत्त्वनिश्चयात्तत्र[१०] संशयायोगात्।

इदानीं प्रमाणोभयसिद्धे[११] धर्मिणि किं साध्यमित्याशङ्कायामाह–

प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता[१२]॥ २६॥

सिद्ध करने के लिए अनुमान की सार्थकता है ही। यदि कहें कि मानस ज्ञान से आकाश-कुसुमादि के भी सद्भाव की सम्भावना है और उसके मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है, सो ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि आकाश-कुसुम का ज्ञान बाधक प्रतीति से निराकरण कर दी गयी है सत्ता जिसकी ऐसी वस्तु को विषय करने से मानस प्रत्यक्षाभास है।

शंका—तो तुरंग-शृंग (घोड़े के सींग) आदि के धर्मीपना कैसे सम्भव है?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्मी के प्रयोगकाल में बाधक प्रतीति के उदय न होने से तुरंग-शृंगादि के सत्त्व की सम्भावना बन जाती है।

यदि कहा जाये कि सर्वज्ञ आदिक में साधक प्रमाण का अभाव होने से उसकी सत्ता में सन्देह है, सो ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि सुनिश्चित असम्भव बाधक प्रमाण के बल से जैसे सुख आदि के सद्भाव का निश्चय है, उसी प्रकार से सर्वज्ञ के सद्भाव का भी निश्चय है, अतः उसमें संशय सम्भव नहीं है।

अब प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी में क्या साध्य है, ऐसी आशंका के होने पर आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ—प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी में साध्य धर्म से विशिष्टता अर्थात् संयुक्तता साध्य होती है ॥२६॥

---

१. यथा धर्मिणो मानसप्रत्यक्षेण भावरूपग्रहणं परिहरति। (यथा धर्मिणो मानसप्रत्यक्षे भावरूपेण प्रसिद्धत्वं तथा धर्मस्यापि प्रसिद्धत्वं-वर्तते, किमत्रानुमानेनेति मीमांसकस्य दूषणमनूद्य दूषयति-)२. विशेषण निराकृतः व्यपाकृतः। ३. अत्र गगनकुसुमादौ मानसप्रत्यक्षाभासत्वं कुतः? तत्र सर्वज्ञास्तित्वे मानसप्रत्यक्षत्वं कुतः? अनुमानसद्भावात्। गगनकुसुमादौ अनुमानाभावात् प्रत्यक्षाभासत्वं प्रतिपादितम्। तथाहि– गगनकुसमादिकं नास्ति दृश्यत्वे सत्यनुपलब्धेरिति गगनकुसुमादिसद्भावावे-दकानुमानाभावात्तत्र संजातमानसप्रत्यक्षस्य मानसप्रत्यक्षा-भासत्वात्। ४. तुरङ्गविषाणादेर्धर्मित्वं मास्त्विति शङ्कां परिहरति। ५. अयमादिशब्दः खरविषाणादिक-मुररीकुर्वीत। ६. खरविषाणादिकं नास्ति, दृश्यत्वे सत्यनुपलब्धेरिति बाधकप्रत्ययानुदयात्। ७. अस्तित्वं धर्मि। ८. अश्वश्रृङ्गादेः। ९. सर्वज्ञसाधकं प्रमाणमस्ति, ततः सर्वज्ञास्तित्वे संशयो नास्ति। १०. सर्वज्ञास्तित्वे। ११. प्रमाणसिद्धे प्रमाणविकल्पसिद्धे च धर्मिणि। १२. साध्या।

'साध्ये' इतिशब्दः प्राक्[1] [2]द्विवचनान्तोऽप्यर्थवशादेकवचनान्ततया सम्बध्यते [3]प्रमाणं चोभयं च विकल्पप्रमाणद्वयम्[4], ताभ्यां सिद्धे धर्मिणि साध्यधर्मविशिष्टता साध्या। अयमर्थः–प्रमाणप्रतिपन्नमपि वस्तु[5] [6]विशिष्टधर्माधारतया [7]विवादपदमारोहतीति[8] साध्यतां नातिवर्तत[9] इति[10]। एवमुभयसिद्धेऽपि योज्यम्।

प्रमाणोभयसिद्धं धर्मिद्वयं क्रमेण दर्शयन्नाह–

अग्निमानयं देशः[11] परिणामी शब्द[12] इति यथा॥२७॥

देशो हि प्रत्यक्षेण सिद्धः, शब्दस्तूभयसिद्धः। न हि प्रत्यक्षेणार्वाग्दर्शिभि[13]रनियतदिग्देशकालावच्छिन्नाः सर्वे शब्दा निश्चेतुं पार्यन्ते। सर्वदर्शिनस्तु तन्निश्चयेऽपि[14] तं[15] प्रत्यनुमानानर्थक्यात्।

'विकल्पसिद्धे' इत्यादि पूर्वसूत्र में 'साध्ये' यह द्विवचनान्त प्रयोग भी यहाँ पर अर्थ के वश से एकवचनान्त के रूप से सम्बद्ध किया गया है। प्रमाण और उभय अर्थात् विकल्प और प्रमाण इन दोनों से सिद्ध धर्मी में साध्यधर्म विशिष्टता साध्य है। इसका यह अर्थ है कि प्रमाण से जानी गई भी वस्तु विशिष्ट धर्म के आधाररूप से विवाद का विषय हो जाती है, अतः वह साध्यपने का उल्लंघन नहीं करती है, अर्थात् साध्य की कोटि में आ जाती है। इसी प्रकार उभयसिद्ध में भी लगा लेना चाहिए।

अब आचार्य प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध इन दोनों धर्मियों को क्रम से दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–जैसे यह प्रदेश अग्निवाला है और शब्द परिणामी है ॥२७॥

यहाँ अग्निवाला पर्वत आदि प्रदेश प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है और शब्द उभयसिद्ध है; क्योंकि अल्पज्ञान वाले पुरुष अनियत दिग्देश-काल-व्याप्त सभी शब्दों का निश्चय नहीं कर सकते। तथा सर्वदर्शी के अनियत दिग्देशकालवर्ती शब्दों के निश्चय होने पर भी उसके लिए अनुमान का प्रयोग अनर्थक है।

भावार्थ–शब्द परिणमनशील है, यहाँ पर नियत दिग्देशवर्ती वर्त्तमान काल वाले शब्द की परिणमनशीलता तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है किन्तु और अनियत दिग्देशवर्ती वर्तमान भूत भविष्यत् काल वाले शब्दों की परिणमनशीलता विकल्प से सिद्ध है, अतः शब्द को उभयसिद्ध धर्मी जानना चाहिए।

---

१. पूर्वसूत्रे। २. अर्थक्रियावशाद्विभक्तिपरिणामः। ३. प्रसिद्धम्। ४. विकल्पप्रमाणयो-र्द्वयम्। ५. पर्वतादि। ६. अग्न्यादि। ७. अग्निमत्वानग्निमत्वरूपम्। ८.हेतोः। ९. तदा। धर्मविशिष्टता साध्या। १०. न निराक्रियते। ११. पर्वतादिदेशो हि प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धो-ऽग्निरूपविशिष्टधर्माधारतया तु साध्यो जातः। १२. यथा नियतदिग्देश-वर्तमानकाला-वच्छिन्नाः शब्दाः श्रावणप्रत्यक्षसिद्धाः, न हि तथाऽनियतदिग्देशातीतानागतकाला-वच्छिन्नाः शब्दाः अस्माभिर्निश्चेतुं शक्यन्ते; तस्मात् श्रावणप्रत्यक्षसिद्धा। वर्तमानशब्दाः प्रमाणसिद्धाः, अन्ये तु विकल्पसिद्धाः। १३. किञ्चिद्ज्ञैः पुरुषैः। १४. अनियतदिग्देशाद्यवच्छिन्नशब्द-निश्चयेऽपि। १५. सर्वज्ञं प्रति।

[१]प्रयोगकालापेक्षया धर्मविशिष्टधर्मिण: साध्यत्वमभिधाय व्याप्तिकालापेक्षया साध्यनियमं दर्शयन्नाह–

व्याप्तौ[२] तु[३] साध्यं धर्म[४]एव॥२८॥

सुगमम्। धर्मिणोऽपि साध्यत्वे को दोष इत्यत्राह–

[५]अन्यथा तदघटनात्[६]॥२९॥

उक्तविपर्ययेऽन्यथाशब्द:। धर्मिण: साध्यत्वे तदघटनात् व्याप्त्यघटनादिति हेतु:। न हि धूमदर्शनात्सर्वत्र पर्वतोऽग्निमानिति व्याप्ति: शक्या कर्तुम्; प्रमाणविरोधात्[७]। [८]ननु अनुमाने पक्षप्रयोगस्यासम्भवात्[९] प्रसिद्धो धर्मीत्यादि[१०]वचनमयुक्तम्; तस्य[११] [१२]सामर्थ्यलब्धत्वात्। [१३]तथापि तद्वचने[१४] पुनरुक्तताप्रसङ्गात्। अर्थादापन्न–

इस प्रकार प्रयोगकाल की अपेक्षा से धर्मविशिष्ट धर्मी को कह करके अब आचार्य व्याप्ति काल की अपेक्षा से साध्य के नियम को दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–व्याप्ति काल में तो धर्म ही साध्य होता है ॥२८॥

भावार्थ–जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, इस प्रकार की व्याप्ति के समय अग्निरूप धर्म ही साध्य होता है, धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य नहीं होता।

यदि धर्मी को भी साध्य माना जाये तो क्या दोष है? आचार्य इस शंका का समाधान करने के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–अन्यथा व्याप्ति घटित नहीं हो सकती ॥२९॥

यहाँ अन्यथा शब्द ऊपर कहे गये अर्थ के विपरीत अर्थ में दिया गया है। अर्थात् यदि व्याप्ति के समय धर्म को साध्य न बनाकर धर्मी को साध्य बनाया जाये तो व्याप्ति बन नहीं सकती, यह हेतु जानना चाहिए। इसका कारण यह है कि जहाँ-जहाँ धूम दिखाई दे, वहाँ सभी स्थानों पर अग्निवाला पर्वत ही हो, ऐसी व्याप्ति नहीं की जा सकती है; क्योंकि ऐसा मानने में प्रमाण से विरोध आता है।

यहाँ बौद्धों का कहना है कि अनुमान में पक्ष का प्रयोग करना असंभव है, इसलिए 'प्रसिद्धो धर्मी' इत्यादि वचन कहना अयुक्त है। पक्ष तो हेतु की सामर्थ्य से ही जाना जाता है, फिर भी यदि पक्ष का कथन करते हैं, तो पुनरुक्त दोष का प्रसंग आता है; क्योंकि अर्थ से प्राप्त होने वाले पदार्थ

---

१. अनुमान-प्रयोगापेक्षया। २. यत्र तत्र धूमस्तत्र यत्र वह्निरिति व्याप्तौ। ३. तु भेदे प्रयोगकाले धर्मोऽपि साध्यो भवति, अस्ति सर्वज्ञ:। न तु व्याप्तौ धर्मी साध्य:। ४. अग्निरेव, न हि वह्निविशिष्टपर्वत:। ५. व्याप्तौ धर्मिण: साध्यत्वे। ६. व्याप्त्यघटनात्। न हि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निमान् पर्वत:, इति व्याप्ति: शक्या कर्तुम्; प्रत्यक्षादिना विरोधादनुमाना-सम्भवादिति व्याप्तौ साध्यविशिष्टधर्मिण: साध्यकरणेनहेतोरन्वयासिद्धे:। ७. साध्यसाधनभावासम्भवात्। ८. बौद्ध:प्राह। ९. पक्षस्य हेतुसामर्थ्यलब्धत्वात्तद्वचनमयुक्तम्। तत: केवलो हेतुरेव हि वाच्य:। तथा चोक्तम्–तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते (सिद्धान्ते) तदवेदिन:। ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवल:॥१॥ १०. सूत्रम्। ११. पक्षस्य। १२. हेतुलब्धत्वात्; साध्यसाधनसामर्थ्यप्राप्तत्वात्। त्रैरूप्यलिङ्ग दर्शनेन अर्थादायातत्वात्। १३. सामर्थ्यलब्धत्वेऽपि। १४. धर्मिवचने।

स्यापि[1] पुनर्वचनं पुनरुक्तमित्यभिधानादिति [2]सौगतस्तत्राह–

साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय [3]गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम्॥३०॥

साध्यमेव धर्मस्तस्या[4]धारस्तत्र सन्देहो महानसादिः पर्वतादिर्वेति। [5]तस्यापनोदो व्यवच्छेदस्तदर्थे गम्यमानस्यापि[6] साध्य[7]साधनयोर्व्याप्यव्यापक[8]भावप्रदर्शनान्यथानुपपत्ते[9]स्तदाधारस्य गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनं प्रयोगः।

अत्रोदाहरणमाह–

साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत्[10]॥३१॥

साध्येन विशिष्टो धर्मी पर्वतादिस्तत्र साधनधर्मावबोधनाय[11] पक्षधर्मोपसंहारवत् पक्षधर्मस्य[12] हेतोरुपसंहार

के पुनः कहने को पुनरुक्त दोष कहते है, ऐसा कहा गया है। आचार्य इसका उत्तर देते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–साध्यधर्म के आधार में उत्पन्न हुए सन्देह को दूर करने के लिए गम्यमान भी पक्ष का प्रयोग किया जाता है ॥३०॥

साध्य वही हुआ धर्म, उसका आधार जो पक्ष उसमें यदि सन्देह हो जाये कि इस साध्यरूप धर्म का आधार प्रकृत में महानस आदि है, अथवा पर्वत आदि है तो उस सन्देह के अपनोद अर्थात् व्यवच्छेद करने के लिए गम्यमान भी अर्थात् साध्य-साधन के व्याप्य-व्यापक भावरूप सम्बन्ध का प्रदर्शन अन्यथा बन नहीं सकता, इसलिए हेतु की सामर्थ्य से ज्ञात होने वाले भी-पक्ष का प्रयोग करना चाहिए।

अब आचार्य इस विषय में उदाहरण कहते हैं–

सूत्रार्थ–जैसे साध्य से युक्त धर्मी में साधन धर्म के ज्ञान कराने के लिए पक्षधर्म के उपसंहाररूप उपनय का प्रयोग किया जाता है ॥३१॥

साध्य जो अग्निमत्त्व धर्म उससे विशिष्ट (संयुक्त) जो धर्मी पर्वतादिक उसमें साधनधर्म के ज्ञान करने के लिए पक्षधर्म के उपसंहार के समान-पक्षधर्म जो हेतु उसके उपसंहार को उपनय

---

१. पदार्थस्य। २. तात्पर्यमिदम्–बौद्धवादिनोक्तम्– अग्निमान्। तं प्रतिवादिनोक्तम् –अग्निमान्नभवतिकथमग्निमत्वं ब्रूषे ? इत्युक्ते बौद्धवादी एके नाप्यवयवेन हेतुना व्यवस्थापयत्यनुमान धूमवत्वात्। बौद्धस्य मते एकावयवेन साध्यसिद्धिः। ३. व्याप्तिदर्शनद्वारेण। ४. पक्षः। ५. साध्यधर्माधार-सन्देहस्य। ६. साध्यसाधनसामर्थ्याज्ज्ञायमानस्यापि। ७. यदि पक्षप्रयोगो न क्रियते तर्हि साध्यसा-धनयोः व्याप्यव्यापक-भावप्रदर्शनं विना न प्रवर्तते, अतः पक्षप्रयोगः कर्तव्य एव। ८. बौद्धमतमुद्भाव्य दूषयति। ९. पक्षं विना पक्षवचनप्रतिपादनमन्तरेणानेन हेतुना गम्यमानत्वात्। १०. धूमवांश्चायमिति यावत्। ११. प्रतिपादनाय। १२. साधनरूपस्य न तु साध्यरूपस्य।

[1]उपनयस्तद्वदिति। अयमर्थः–साध्यव्याप्तसाधनप्रदर्शनेन तदाधारावगतावपि[2] [3]नियतधर्मिसम्बन्धिता[4] प्रदर्शनार्थं यथोपनयस्तथा साध्यस्य विशिष्टधर्मिसम्बन्धितावबोधनाय पक्षवचनमपीति। किञ्च–हेतुप्रयोगेऽपि [5]समर्थनमवश्यं वक्तव्यम्; असमर्थितस्य हेतुत्वायोगात्। तथा च समर्थनोपन्यासादेव हेतोः [6]सामर्थ्यसिद्धत्वा-हेतुप्रयोगोऽनर्थकः[7] स्यात्। हेतुप्रयोगाभावे कस्य समर्थनमिति चेत्[8] पक्षप्रयोगाभावे क्व हेतुर्वर्ततामिति [9]समानमेतत्। तस्मात्कार्यस्वभावानुपलम्भभेदेन[10] पक्षधर्मत्वादिभेदेन[11] च त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानेन[12] पक्षप्रयोगोऽप्यभ्युपगन्तव्य एवेति।

कहते हैं–उसके समान। सूत्र का यह अर्थ है कि साध्य के साथ व्याप्ति रखने वाले साधन के दिखलाने से उसके आधार के अवगत हो जाने पर भी नियत धर्मी के साथ सम्बन्धपना बतलाने के लिए जैसे उपनय का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार से साध्य का विशिष्ट धर्मी के साथ सम्बन्धपना बतलाने के लिए पक्ष का वचन भी आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि आपके मतानुसार हेतु का प्रयोग करने पर भी समर्थन अवश्य करना चाहिए, क्योंकि जिसका समर्थन न किया गया हो वह हेतु नहीं हो सकता। ऐसी दशा में हम जैनों का कहना है कि जब समर्थन के उपन्यास (प्रतिपादन) से ही हेतु सामर्थ्य-सिद्ध है तब फिर भी हेतु का प्रयोग करना अनर्थक है। यदि आप कहें कि हेतु का प्रयोग नहीं करने पर समर्थन किसका होगा? तो हम कहेंगे कि पक्ष का प्रयोग नहीं करने पर हेतु कहाँ रहेगा? इस विषय में प्रश्नोत्तर समान हैं। इसलिए कार्य, स्वभाव और अनुपलम्भ के भेद से, तथा पक्षधर्मत्वादि के भेद से तीन प्रकार का हेतु कहकर और ऊपर से समर्थन करने वाले आप बौद्धों को पक्ष का प्रयोग भी स्वीकार करना चाहिए।

भावार्थ–बौद्ध लोग व्युत्पन्न पुरुष के लिए अनुमान के प्रयोग काल में केवल हेतु का ही प्रयोग आवश्यक मानते हैं, पक्ष का प्रयोग आवश्यक नहीं मानते। उनके लिए आचार्य ने यह कहा है कि पक्ष के कहे बिना साध्य के आधार में सन्देह हो सकता है, उसके दूर करने के लिए पक्ष के प्रयोग की आवश्यकता है। दूसरी बात यह कही है कि बौद्ध लोग हेतु का प्रयोग करने के बाद ऊपर से उसका समर्थन भी करते हैं। हेतु में सम्भव असिद्ध, विरुद्धादि दोषों का परिहार करके उसके साध्य सिद्ध करने की योग्यता के वचन को समर्थन कहते हैं। इस पर आचार्य ने यह कहा है कि समर्थन करने से ही हेतु स्वतः सिद्ध है, फिर उसका भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस पर बौद्धों ने कहा कि हेतु के कहे बिना समर्थन किसका होगा? तो आचार्य ने उत्तर दिया कि पक्ष का

---

१. तथा चायं धूमवान्। २. साध्याधारपक्षावगतेऽपि, धर्मिणि परिज्ञातेऽपि। ३. सर्व क्षणिकं तर्हि नियतस्य किमायातम्? संघशब्दस्तर्हि हेतुना प्रसिद्धस्य प्रतिपादनं वृथैव। ४. भावे त्वतलौ। ५. समर्थनम्। ६. तस्य सामर्थ्यस्य लघुत्वात्। ७. तथापि हेतुप्रयोगवचने पुनरुक्तता स्यात्; अर्थादापन्नस्यापि पुनर्वचनं पुनरुक्तम् इत्यभिधानात्। ८. भो बौद्ध, एवं ब्रुषे चेत्? ९. उभयत्रसमानम्। १०. बौद्धमते हेतुस्त्रिधा। ११. पक्षवृत्ति–सपक्षसत्त्वविपक्षाद्–व्यावृत्ति–रूपास्त्रयो हेतवो द्वितीयप्रकारेण। १२. बौद्धेनेति शेषः।

अमुमेवार्थमाह–

को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति॥३२॥

को[१] वा वादी प्रतिवादी चेत्यर्थः। [२]किलार्थे वा शब्दः। युक्त्या[३] पक्षप्रयोगस्यावश्यम्भावे कः किल न पक्षयति, पक्षं न करोति? अपि तु करोत्येव। किं कृत्वा? हेतुमुक्त्वैव, न पुनरनुक्त्वेत्यर्थः। समर्थनं हि हेतोरसिद्धत्वादिदोषपरिहारेण [४]स्वसाध्य-साधन[५]-सामर्थ्य-प्ररूपण[६]-प्रवणं[७] वचनम्। तच्च[८] हेतुप्रयोगोत्तरकालं परेणाङ्गीकृतमित्युक्त्वेति वचनम्।

[९]ननु भवतु पक्षप्रयोगस्तथापि पक्षहेतुदृष्टान्तभेदेन त्र्यवयवमनुमानमिति साङ्ख्यः। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयभेदेन चतुरवयवमिति मीमांसकः। प्रतिज्ञाहेतू-दाहरणोपनयनिगमनभेदात्पञ्चावयवमिति यौगः[१०]।

प्रयोग किये बिना हेतु कहाँ रहेगा? इस प्रकार इस विषय में आप लोग जितने भी प्रश्न उठायेंगे उनका उत्तर भी समान ही होगा। अतः आप लोग जब तीन प्रकार के हेतु का प्रयोग करके भी समर्थन आवश्यक समझते हैं, जब पक्ष का प्रयोग आप लोगों को करना ही चाहिए।

अब आचार्य इसी उपर्युक्त अर्थ को उनका उपहास करते हुए कहते हैं–

सूत्रार्थ–कौन ऐसा मनुष्य है जो कि तीन प्रकार के हेतु को कह करके उसका समर्थन करता हुआ भी पक्ष का प्रयोग न करे ॥३२॥

कौन ऐसा वादी या प्रतिवादी पुरुष है, यह 'कः' पद का अर्थ है। 'वा' शब्द निश्चय के अर्थ में है। युक्ति से पक्ष का प्रयोग अवश्यम्भावी होने पर कौन ऐसा वादी या प्रतिवादी है, जो पक्ष का प्रयोग न करे, अपितु सभी करेंगे। क्या करके ? हेतु को कह के। अर्थात् हेतु के बिना कहे नहीं। हेतु के असिद्धत्व आदि दोषों का परिहार करके अपने साध्य के साधन करने की सामर्थ्य के निरूपण करने में प्रवीण वचन को समर्थन कहते हैं। यह समर्थन हेतु प्रयोग के उत्तरकाल में बौद्धों ने स्वयं अंगीकार किया है, इसलिए सूत्र में 'उक्त्वा' यह पद कहा है।

अब यहाँ पर सांख्य कहते हैं कि अच्छा पक्ष का प्रयोग करना मान लिया जाये, तथापि अनुमान के दो अवयव (अंग) नहीं, किन्तु पक्ष, हेतु और दृष्टान्त (उदाहरण) के भेद से तीन अवयव अनुमान के मानना चाहिए। मीमांसक कहते हैं कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय के भेद से अनुमान के चार अवयव मानना चाहिए। यौग कहते हैं कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन के भेद से पाँच अवयव अनुमान के मानना चाहिए। आचार्य इन सबके मतों का

---

१. लौकिकः परीक्षको वा। २. निश्चयार्थे। ३. बौद्धैः खलु हेतोः समर्थनमङ्गीक्रियते, तत्तु पक्षप्रयोगाभावे न सम्भवति, तस्यासिद्धादिदोषपरिहाररूपत्वात्। असिद्धादिदोष-परिहारस्तु पक्षप्रयोगे सत्येव सम्भवति, नासतीति युक्त्या। ४. स्वेन हेतुना साध्यं तस्य सामर्थ्यं हेतुसमर्थनोपन्याससामर्थ्यं तस्य प्ररूपणं तत्र प्रवणं वचनम्।५. साधकं पुस्तकान्तरस्थमिदं प्रतीतम्।६. प्रकटीकरण-।७. समर्थम्।८. समर्थनम्।९. सांख्यादिः।१०.एकद्वित्रिचतुःपञ्चावयवं लैङ्गिकं विदुः। सौगताऽर्हत × द्विसांख्यभाट्टयौगा* यथाक्रमम् ॥१॥ × सेश्वर-निरीश्वरभेदात्।* नैयायिक-वैशेषिकाः।

तन्मतमपाकुर्वन् स्वमतसिद्धमवयवद्वयमेवोपदर्शयन्नाह–

[१]एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं[२] नोदाहरणम्॥३३॥

एतयोः पक्षहेत्वोर्द्वयमेव नातिरिक्त[३]मित्यर्थः। एवकारेणैवोदाहरणादिव्यच्छेदे[४] सिद्धेऽपि परमतनिरासार्थं पुनर्नोदाहरणमित्युक्तम्।

[५]तद्धि किं [६]साध्यप्रतिपत्त्यर्थमुतस्विद्[७] हेतोरविनाभावनियमार्थमाहोस्विद्[८] व्याप्तिस्मरणार्थमिति[९] विकल्पान्[१०] क्रमेण दूषयन्नाह–

न हि [११]तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र[१२] यथोक्त[१३]हेतोरेव व्यापारात्॥३४॥

तदुदाहरणं साध्यप्रतिपत्तेरङ्गं कारणं नेति सम्बन्धः। तत्र साध्यप्रतिपत्तौ यथोक्तस्य साध्याविनाभावित्वेन निश्चितस्य हेतोर्व्यापारादिति।

द्वितीयविकल्पं[१४] [१५]शोधयन्नाह–

निराकरण करते हुए स्वमत-सिद्ध प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमान के अवयव हैं यह दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–ये दोनों ही अनुमान के अंग हैं, उदाहरणादिक नहीं ॥३३॥

पक्ष और हेतु ये दोनों ही अनुमान के अंग है अतिरिक्त नहीं, यह सूत्र के पूर्वार्ध का अर्थ है। सूत्र पठित 'एव' पद से उदाहरणादि का व्यवच्छेद सिद्ध होने पर भी अन्य मतों के निराकरण करने के लिए उदाहरणादिक नहीं, ऐसा पुनः कहा है।

इतने पर भी जो लोग उदाहरण का प्रयोग आवश्यक मानते हैं, आचार्य उससे पूछते हैं कि क्या साध्य का ज्ञान कराने के लिए उदाहरण का प्रयोग आवश्यक है अथवा हेतु का अविनाभाव-नियम बतलाने के लिए, अथवा व्याप्ति का स्मरण करने के लिए? इस प्रकार तीन विकल्प उठाकर आचार्य क्रम से दूषण देते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–वह उदाहरण साध्य का ज्ञान कराने के लिए कारण नहीं है; क्योंकि साध्य के ज्ञान में यथोक्त हेतु का ही व्यापार होता है ॥३४॥

वह उदाहरण साध्य की प्रतिपत्ति (ज्ञान) का अंग अर्थात् कारण नहीं है, ऐसा सूत्र के अर्थ का सम्बन्ध करना चाहिए। क्योंकि उस साध्य के ज्ञान कराने में यथोक्त अर्थात् साध्य के साथ अविनाभावरूप से निश्चित हेतु का व्यापार होता हैं।

अब आचार्य दूसरे विकल्प का शोधन करते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं–

---

१. पक्षहेतुद्वयमेव। २. कारणम्। ३. अधिकम्। ४. स्वमतनिश्चयोजायते। ५. तदुदाहरणमागत्य किं करोति ? ६. परिज्ञानार्थम्। ७. अथवा। ८. पुनरथवा। ९. गत्यन्तराभावाद्। १०. विकल्पत्रयान्। ११. उदाहरणम्। १२. साध्यपरिज्ञाने। १३. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितस्य। १४. हेतोरविनाभावनियमार्थवेति। १५. शुद्धिं कुर्वन्।

[1]तदविनाभावनिश्चयार्थं[2] वा[3] विपक्षे[4] बाधकादेव[5] तत्सिद्धेः॥३५॥

तदिति [अनु-] वर्तते, नेति च। तेनायमर्थः–तदुदाहरणं तेन साध्येनाविनाभावनिश्चयार्थं वा न भवतीति; विपक्षे[6] बाधकादेव[7] तत्सिद्धेरविनाभावनिश्चयसिद्धेः।

किञ्च[8]–[9]व्यक्तिरूपं निदर्शनं[10]तत्कथं [11]साकल्येन [12]व्याप्ति गमयेत्? व्यक्त्यन्तरेषु[13]व्याप्त्यर्थ पुनरुदाहरणान्तरं मृग्यम्। तस्यापि [14]व्यक्तिरूपत्वेन [15]सामस्त्येन व्याप्तेरवधारयितुमशक्यत्वादपरापर-[16]तदन्तरापेक्षायामनवस्था[17] स्यात्।

एतदेवाऽऽह–

व्यक्तिरूपं[18] च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि[19]
[20]तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं[21] स्याद् [22]दृष्टान्तान्तरापेक्षणात्॥३६॥

सूत्रार्थ–वह उदाहरण अविनाभाव के निश्चय के लिए भी कारण नहीं है; क्योंकि विपक्ष में बाधक प्रमाण से ही अविनाभाव सिद्ध हो जाता है ॥३५॥

इस सूत्र का अर्थ करते हुए 'तत्' और 'न' इन दो पदों की अनुवृत्ति करना चाहिए। तब यह अर्थ प्राप्त होता है कि वह उदाहरण उस साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध का निश्चय करने के लिए भी कारण नहीं है; क्योंकि विपक्ष में बाधक प्रमाण के बल से ही उसकी सिद्धि हो जाती है; अर्थात् अविनाभाव का निश्चय हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि उदाहरण एक व्यक्तिरूप होता है, वह सर्वदेशकाल के उपसंहार से व्याप्ति का ज्ञान कैसे करायेगा ? अन्य व्यक्तियों में व्याप्ति के ज्ञान कराने के लिए अन्य उदाहरण का अन्वेषण करना आवश्यक होगा ? पुनः वह अन्य उदाहरण भी व्यक्तिरूप होगा, अतः सर्व देशकाल के उपसंहार से वह भी व्याप्ति का निश्चय कराने के लिए अशक्य होगा। इस प्रकार अन्य अन्य उदाहरणों की अपेक्षा करने पर अनवस्था दोष प्राप्त होगा। अतः अविनाभाव के निश्चय के लिए भी उदाहरण की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य इसी बात को उत्तर सूत्र द्वारा प्रकट करते हैं–

---

१. साध्याविनाभाव-। २. एतदर्थं वा, नेति वाशब्दः। ३. तन्न। ४. हेतोरविनाभावसिद्धिर्विपक्षे महाह्रदे नास्तीति बाधकादेव सिद्धिर्नतूदाहरणेन। ५. वह्न्यभाववति महाह्रदे धूमत्वस्य हेतोर्बाधकसद्भावादेव। ६. जलाशयादौ। ७. तर्कादेव। ८. दूषणान्तरम्। ९. सामान्ये बहवो विशेषाः सन्ति, तेष्वेको विशेषो व्यक्तिः। विशेषरूपम्। १०.उदाहरणम्। ११.सर्वदेशकालोपसंहारेण। १२.सामान्यरूपाम् १३.अन्यविशेषेषु। १४. विशेषाधारत्वेनात्र महानसे वर्ततेऽन्यत्राप्येवमेव। १५. यत्र धूमस्तत्राग्निरित्यनेन। १६. अन्यान्योदाहरणान्तरापे-क्षायाम्। १७. व्याप्तिसन्देहापनोदाय यद्युदाहरण मृग्यं तदा तत्रापि सामान्येन व्याप्तिसन्दे-हापनोदायोदाहरणान्तरेण भवितव्यमित्येवमनवस्था स्यात्। १८. विशेषाधारत्वेन विशेषरूपम्। १९. उदाहरणेऽपि। २०. व्याप्ति-। २१. उदाहरणं व्यक्तिरूपं तत्र स्थिता व्याप्तिः सामान्यरूपा, अन्यत्र प्रदेशे ईदृशी व्याप्तिर्भविष्यति, तत्र सन्देहस्तन्निरासार्थमुदाहरणं वक्तव्यम्। तत्रापि सामान्यव्याप्तिसद्भावस्तत्परिहारार्थं पुनरुदाहरण मृग्यमेवमनवस्था। २२. अविद्यापेक्षया, न तु प्रतिपाद्यापेक्षया, तेषामुदाहरणप्रतिपादने मतिर्विश्राम्यति यतो नाग्रे प्रसरति।

[१]तत्रापि उदाहरणेऽपि तद्विप्रतिपत्तौ सामान्यव्याप्तिविप्रतिपत्तावित्यर्थः। शेषं व्याख्यातम्।

तृतीयविकल्पे दूषणमाह–

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं [२]तथाविधहेतुप्रयोगादेव [३]तत्स्मृतेः॥३७॥

[४]गृहीतसम्बन्धस्य[५] [६]हेतुप्रदर्शनेनैव व्याप्तिसिद्धिः। अगृहीतसम्बन्धस्य[७] [८]दृष्टान्तशतेनापि न [९]तत्स्मरणम् अनुभूत-विषयत्वात्स्मरणस्येति भावः।

तदेवमुदाहरणप्रयोगस्य साध्यार्थं प्रति नोपयोगित्वम्; प्रत्युत[१०] संशयहेतुत्वमेवेति दर्शयति–

तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने [११]सन्देहयति॥३८॥

सूत्रार्थ—निदर्शन (उदाहरण) व्यक्तिरूप होता है और व्याप्ति सामान्य से सर्वदेशकाल की उपसंहार वाली होती है। अतः उस उदाहरण में भी विवाद होने पर अन्य दृष्टान्त की अपेक्षा पड़ने से अनवस्था दोष प्राप्त होगा ॥३६॥

उस उदाहरण में भी, तद्विप्रतिपत्ति अर्थात् सामान्य व्याप्ति में विवाद होने पर यह अर्थ लेना चाहिए। सूत्र के शेष पदों का अर्थ पहले कहा ही जा चुका है।

अब आचार्य तीसरे विकल्प में दूषण कहते हैं–

सूत्रार्थ—व्याप्ति का स्मरण करने के लिए भी उदाहरण का प्रयोग आवश्यक नहीं है, क्योंकि साध्य के बिना नहीं होने वाले हेतु के प्रयोग से ही व्याप्ति का स्मरण हो। जाता है ॥३७॥

जिसने साध्य के साथ साधन का सम्बन्ध ग्रहण किया है, ऐसे पुरुष को तो हेतु के दिखलाने से ही व्याप्ति की सिद्धि हो जायेगी। और जिसने अविनाभाव के सम्बन्ध को ग्रहण नहीं किया है, ऐसे पुरुष को सैकड़ों दृष्टान्तों से भी व्याप्ति का स्मरण नहीं होगा; क्योंकि स्मरण तो पहले अनुभव किये हुए पदार्थ का ही होता है, ऐसा इस सूत्र का भाव है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि उदाहरण का प्रयोग साध्य के लिए उपयोगी नहीं है; प्रत्युत संशय का ही कारण है, यह बात आचार्य दिखलाते हैं–

सूत्रार्थ—उपनय और निगमन के बिना यदि केवल उदाहरण का प्रयोग किया जाये, तो वह साध्यधर्म वाले धर्मी में साध्य के सिद्ध करने में सन्देह करा देता है ॥३८॥

---

१. उदाहरणं वाच्यम्, तथाऽन्यत्र प्रदेशे तत्राप्युदाहरणं वाच्यमेवमनवस्था महानसे धूमाऽग्नययोर्व्याप्तिर्वतते तथाऽन्यत्र प्रदेशे भवितव्यम्, तत्रोदाहरणं वक्तव्यम्, पुनरन्यत्र। २.साध्याविनाभावि–। ३. व्याप्ति–।४.निश्चितसम्बन्धस्य पुरुषस्य। ५. दृष्टान्तस्तु व्याप्तिं स्मारयतीति सांख्याभिप्रायं दूषयति। गृहीतसम्बन्ध–स्यागृहीतसम्बन्धस्येति विकल्पद्वयम्। ६.साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।७. महानसे केवलं धूमाग्निसम्बन्धं जानाति, परन्त्वनियतरूपायाव्याप्तिर्यत्रधूमस्त–त्राग्निरिति सम्बन्धग्रहणं यस्य नास्ति तस्य।८. नालिकेरद्वीपायातस्य पुंस इव, उदाहरण–प्रयोगे अनेकदूषणप्रसङ्गात्; एवमुक्तन्यायेन।९. व्याप्तिस्मरणम्।१०. व्याघुट्य विशेषतः।११. हेतुप्रयोगादेव यदि साध्यसाधने सन्देहो न भवेत्तर्हि तथा। चायं तस्मात्तथेत्युपनय–निगमने किमर्थे।

तदुदाहरणं परं केवलमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यविशिष्टे धर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति सन्देहवती करोति। [1]दृष्टान्तधर्मिणि साध्यव्याप्तसाधनोपदर्शनेऽपि साध्यधर्मिणि[2] तन्निर्णयस्य[3] कर्तुम-शक्यत्वादिति शेषः।

अमुमेवार्थं व्यतिरेकमुखेन समर्थयमानः प्राह–

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने॥३९॥

[4]अन्यथा संशयहेतुत्वाभावे[5] [6]कस्माद्धेतो[7]रुपनयनिगमने प्रयुज्येते।

अपरः[8] 'प्राह–उपनयनिगमनयोरप्यनुमानाङ्गत्वमेव; तदप्रयोगे[9] निरवकरसाध्यसंवित्तेरयोगादिति। तन्निषेधार्थमाह–

न च ते तदङ्गे; साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात्॥४०॥

ते उपनयनिगमनेऽपि वक्ष्यमाणलक्षणे तस्यानुमानस्याङ्गे न भवतः; साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययो[10]

वह उदाहरण पर अर्थात् केवल कहा गया साध्यधर्मी अर्थात् साध्यविशिष्ट धर्मी में साध्य के साधन करने में सन्देह वाला कर देता है। दृष्टान्त–

धर्मी में साध्य व्याप्त साधन के दिखलाने पर भी पर्वतादिक साध्यधर्मी में साध्यव्याप्त साधन का निर्णय करना अशक्य है, इतना वाक्य सूत्र में शेष (अनुक्त) समझना चाहिए।

अब इसी ही अर्थ को व्यतिरेक–मुख से समर्थन करते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–अन्यथा उपनय और निगमन का प्रयोग क्यों किया जाता ॥३९॥

अन्यथा अर्थात् यदि उदाहरण का प्रयोग संशय का कारण न होता, तो किस कारण से उपनय और निगमन का प्रयोग किया जाता ?

यहाँ पर यौग कहते हैं कि उपनय और निगमन भी अनुमान के ही अंग हैं; क्योंकि उनका प्रयोग नहीं करने पर असंदिग्धरूप से साध्य का ठीक ज्ञान नहीं हो सकता है। उनके इस कथन का निषेध करने के लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–उपनय और निगमन भी अनुमान के अंग नहीं हैं; क्योंकि हेतु और साध्य के बोलने से ही साध्य धर्मवाले धर्मी में संशय नहीं रहता है ॥४०॥

जिनका लक्षण आगे कहा जाने वाला है, ऐसे वे उपनय और निगमन भी उस अनुमान के अंग नहीं है; क्योंकि साध्यधर्मी में हेतु और साध्य के वचन से ही सन्देह नहीं रहता है। यहाँ पर

---

१. महानसादौ। २. पर्वतादौ महानसवद् धूमदर्शनादग्निरस्ति न वेति सन्देहो भवति। अविनाभावेहेतावपि न सन्देहः, किन्तु अविनाभाविहेतुनैव व्याप्तिर्यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्तिर्धूमत्वसाधनेन, न तूदाहरणेन। पर्वतादौ। ३. साध्यव्याप्तसा-धननिर्णयस्य। ४. उदाहरणं हि यदि साध्यविशिष्टधर्मिणी साध्यसाधने सन्देहवती न करोति चेत्। ५. उदाहरणस्य। ६. किमर्थम्। ७. निमित्तात्, कारणात्। ८. यौगः प्राह। ९. निःसंशय। १०. संशयो न भविष्यति।

र्वचना-देवेत्येवकारेण [1]दृष्टान्तादिकमन्तरेणेत्यर्थः[2]।

[3]किञ्चाभिधायापि[4] दृष्टान्तादिकं [5]समर्थनमवश्यं वक्तव्यम्; असमर्थितस्याहेतुत्वादिति। तदेव[6] वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तुः साध्यसिद्धौ [7]तस्यैवोपयोगात्। नोदाहरणादिकम्। एतदेवाऽऽह–

समर्थनं [8]वा वरं [9]हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तु; साध्ये तदुपयोगात्॥४१॥

प्रथमो वाशब्द एवकारार्थे। द्वितीयस्तु पक्षान्तरसूचने। शेषं सुगमम्।

ननु दृष्टान्तादिक[10]मन्तरेण मन्दधियामवबोधयितुमशक्यत्वात् कथं पक्षहेतुप्रयोगमात्रेण[11] तेषां साध्यप्रतिपत्तिरिति ? तत्राह–

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे[12] शास्त्र एवासौ, न[13] वादेऽनुपयोगात्[14]॥४२॥

दिए गये 'एव' पद से दृष्टान्तादिक के बिना यह अर्थ लेना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि दृष्टान्त आदिक को कह करके भी आपकी मान्यता के अनुसार समर्थन अवश्य ही कहना चाहिए; क्योंकि जिस हेतु का समर्थन न हुआ हो, वह हेतु ही नहीं हो सकता। इसलिए वह समर्थन ही हेतु का उत्तम रूप है और उसे ही अनुमान का अवयव मानना चाहिए; क्योंकि साध्य की सिद्धि में उसका ही उपयोग है। उदाहरण आदि को नहीं कहना चाहिए। आचार्य इसी बात को दिखलाते हैं–

सूत्रार्थ—समर्थन ही हेतु का वास्तविक रूप है, अतः वही अनुमान का अवयव माना जाये; क्योंकि साध्य की सिद्धि में उसी का उपयोग होता है ॥४१॥

सूत्र—पठित प्रथम 'वा' शब्द एवकार के अर्थ में है और द्वितीय वा' शब्द अन्य पक्ष की सूचना करता है। शेष सूत्रार्थ सुगम है।

यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि दृष्टान्तादिक के बिना मन्दबुद्धि जनों को ज्ञान कराना अशक्य है; अतः पक्ष और हेतु के प्रयोगमात्र से उन्हें साध्य का ज्ञान कैसे हो जायेगा? आचार्य इसका उत्तर देते हैं–

सूत्रार्थ—मन्द बुद्धि वाले बालकों की व्यत्पुत्ति के लिए उन उदाहरणादि तीन अवयवों के मान लेने पर भी शास्त्र में ही उनकी स्वीकारता है, वाद में नहीं, क्योंकि वाद (शास्त्रार्थ) में उनका उपयोग नहीं है ॥४२॥

---

१. आदिपदेनोपनयनिगमने। २. साध्यसंवित्तिः। ३. संख्याविघटनदूषणमस्ति। ४. कथयित्वा। ५. विपक्षे बाधक प्रमाणसमर्थनम्। ६. समर्थनमेव। ७. समर्थनस्यहेतुरूपस्य। ८. दर्शनमेव समर्थनमेव न पक्षधर्मत्वादि। ९. हेतुरूपमेवावयवो भवतु। हेतुलक्षण कीदृशम् ? दृष्टान्तो पनयनिगमनलक्षणत्रिरूपत्व-प्रदर्शन-स्वरूपम्। १०. आदिपदेनोपनयनिगमनग्रहणम्। ११. दृष्टान्तो पनयनिगमनाभावे मात्रग्रहणम्। १२. दृष्टान्तोपनयनिगमनत्रयाभ्युपगमे। १३. उपगमः। १४. अप्रयोजनात्।

बालानामल्पप्रज्ञानां व्युत्पत्त्यर्थं तेषामुदाहरणादीनां त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ तस्योपगमो न वादे। न हि वादकाले शिष्या व्युत्पाद्याः, व्युत्पन्नानामेव [१]तत्राधिकारादिति।

बालव्युत्पत्यर्थं तत्त्रयोपगम इत्यादिना शास्त्रेऽभ्युपगतमेवोदाहरणादित्रयमुपदर्शयति–

दृष्टान्तो द्वेधा–[२]अन्वय-[३]व्यतिरेकभेदात्॥४३॥

दृष्टौ अन्तौ[४] साध्यसाधनलक्षणौ [५]धर्मौ [६]अन्वयमुखेन व्यतिरेकद्वारेण वा यत्र[७] स दृष्टान्त इत्यन्वर्थसञ्ज्ञाकरणात्। स द्वेधैवोपपद्यते।

तत्रान्वयदृष्टान्तं दर्शयन्नाह–

[८]साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः[९]॥४४॥

[१०]साध्येन व्याप्तं नियतं[११] साधनं हेतुर्यत्र दर्श्यते [१२]व्याप्तिपूर्वकतयेति भावः[१३]।

अल्पबुद्धि वाले बालकों के ज्ञान कराने के लिये उन उदाहरण, उपनय और निगमन इन तीन अवयवों के स्वीकार कर लेने पर भी शास्त्र के पठन-पाठनकाल में ही उनका उपयोग है, वाद में नहीं। वाद के समय शिष्यों को समझाया नहीं जाता; क्योंकि वाद में तो व्युत्पन्न पुरुषों का ही अधिकार होता है।

बाल-व्युत्पत्ति के लिए उन तीनों को स्वीकार किया गया है, अतः शास्त्र में स्वीकृत उन उदाहरणादिक तीनों अवयवों का स्वरूप बतलाते हैं–

सूत्रार्थ– दृष्टान्त दो प्रकार का है –अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त ॥४३॥

जहाँ पर साध्य और साधन लक्षण वाले दोनों धर्म अन्वय मुख से अथवा व्यतिरेकरूप से देखे जायें, वह दृष्टान्त कहलाता है, दृष्टान्त की ऐसी अन्वर्थ संज्ञा जानना चाहिए। वह दृष्टान्त दो प्रकार का ही सम्भव है।

उनमें से अन्वय दृष्टान्त को दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–जहाँ पर साध्य के साथ साधन की व्याप्ति दिखलाई जाये, वह अन्वय दृष्टान्त है ॥४४॥

साध्य के साथ निश्चय से व्याप्ति रखने वाला साधन जहाँ पर दिखलाया जाये वह अन्वयदृष्टान्त है। जैसे-जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोईघर।

१.वादे। २. हेतुसत्त्वे साध्यसत्त्वमन्वयः। ३.साध्याभावे हेत्वभावो व्यतिरेकः। ४.अन्तः पदार्थसामीप्य-धर्मसत्यव्यतीतिषु इति धनञ्जयः।५. धर्मः पुण्यं यमन्यायस्वभावाचारसोमपाः।६. न तत्रोपलब्धिहेतोर्विवक्षा।७. वस्तुनि।८. सामान्यतः स्वरूपं दृष्टान्तेनोक्तम्, विशेषतस्तु तत्स्वरूपं साध्यव्याप्तमित्यादिना दर्शयति।९. यथाऽग्नौ साध्ये महानसादिः।१०. जन्यजनकादिभावेन। ११.अविनाभावित्वेन निश्चितम्। १२. धूमजलयोर्व्याप्तिः स्यादिति शङ्कां परिहरति–न धूमजलयोर्व्याप्तिस्तत्र जन्यजनकत्वाभावात्। यो यज्जन्यस्तेन तस्य व्याप्तिरिति नियमात्। १३. अभिप्रायः। भावः पदार्थचेष्टात्मसत्ताभिप्रायजन्मसु।

द्वितीयभेदमुपदर्शयति–

साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः[१]॥४५॥

[२]असति असद्भावो[३] व्यतिरेकः। तत्प्रधानो दृष्टान्तो व्यतिरेकदृष्टान्तः[४]। साध्याभावे साधनस्याभाव एवेति [५]सावधारणं द्रष्टव्यम्।

क्रमप्राप्तमुपनयस्वरूपं निरूपयति–

हेतोरुपसंहार उपनयः[६]॥४६॥

पक्षे इत्यध्याहारः। तेनायमर्थः–हेतोः पक्षधर्मतयोपसंहार उपनय इति।

निगमनस्वरूपमुपदर्शयति–

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्[७]॥४७॥

उपसंहार इति [अनु–] वर्तते। प्रतिज्ञाया उपसंहारः साध्यधर्मविशिष्टत्वेन प्रदर्शनं निगमनमित्यर्थः।

अब दृष्टान्त के दूसरे भेद को बतलाते हैं–

सूत्रार्थ–जहाँ पर साध्य के अभाव में साधन का अभाव कहा जाये, वह व्यतिरेक दृष्टान्त है ॥४५॥

साध्य के अभाव में साधन का अभाव होना व्यतिरेक कहलाता है। व्यतिरेक प्रधान दृष्टान्त को व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं। जैसे जहाँ अग्नि नहीं वहाँ धूम भी नहीं होता, यथा जलाशय। इस प्रकार साध्य के अभाव में साधन का अभाव हो ही, ऐसा अवधारणरूप एवकार यहाँ पर जानना चाहिए।

अब क्रम–प्राप्त उपनय का स्वरूप–निरूपण करते हैं–

सूत्रार्थ–हेतु के उपसंहार को उपनय कहते हैं ॥४६॥

यहाँ पर पक्ष इस पद का अध्याहार करना चाहिए। तब यह अर्थ होगा है कि हेतु का पक्षधर्मरूप से उपसंहार करना अर्थात् ''उसी प्रकार यह धूमवाला'' है। इस प्रकार से हेतु का दुहराना उपनय है।

अब आचार्य निगमन का स्वरूप दिखलाते हैं–

सूत्रार्थ–प्रतिज्ञा के उपसंहार को निगमन कहते हैं ॥४७॥

इस सूत्र में उपसंहारपद की अनुवृत्ति की गई है। प्रतिज्ञा का उपसंहार अर्थात् साध्य धर्म–विशिष्टता के साथ कि धूमवाला होने से यह अग्नि वाला है, इस प्रकार प्रतिज्ञा का दुहराना

---

१. यथाऽग्नौ साध्ये महाह्रदादिः। २. साध्याभावे। ३. साधनाभावः। ४. मध्यम पदलोपी समासः। ५. एवकारः। सामान्यनियमं सावधारणम्। ६. साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टे साध्यधर्मिणि उपनीयते पुनरुच्चार्यते हेतुर्येन स उपनयः। ७. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयाः साध्यलक्षणैकार्थतया निगम्यन्ते सम्बद्ध्यन्ते येन तन्निगमनमिति।

ननु[1] शास्त्रे दृष्टान्तादयो वक्तव्या एवेति [2]नियमानभ्युपगमात्कथं[3] [4]तत्त्रयमिह सूरिभिः [5]प्रपञ्चितमिति न चोद्यम्; स्वयमनभ्युपगमेऽपि प्रतिपाद्यानुरोधेन[6] जिनमतानुसारिभिः प्रयोगपरिपाट्याः[7] प्रतिपन्नत्वात्[8]। सा[9] चाज्ञात[10]तत्स्वरूपैः[11] कर्तुं न शक्यत इति [12]तत्स्वरूपमपि शास्त्रेऽभिधातव्यमेवेति।

तदेवं मतभेदेन द्वि-त्रि-चतुः पञ्चावयवरूपमनुमानं द्विप्रकारमेवेति दर्शयन्नाह-

तदनुमानं द्वेधा॥४८॥

तद्द्वैविध्यमेवाऽऽह-

स्वार्थपरार्थभेदात्॥४९॥

स्वपरविप्रतिपत्तिनिरासफलत्वाद् द्विविधमेवेति भावः।

निगमन है।

शंका—शास्त्र में दृष्टान्त आदिक कहना ही चाहिए, ऐसा नियम नहीं माना गया है, फिर आचार्यों ने यहाँ पर उन तीनों का कथन क्यों किया है?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करना चाहिए; क्योंकि स्वयं नहीं स्वीकार करके भी प्रतिपाद्य (शिष्य) के अनुरोध से जिनमत का अनुसरण करने वाले आचार्यों ने प्रयोग की परिपाटी को स्वीकार किया है। जिन्होंने उन उदाहरणादिकों का स्वरूप नहीं जाना है, वे लोग प्रयोग-परिपाटी को कर नहीं सकते है। अतः उनको जानकारी के लिए उनका स्वरूप भी शास्त्र में कहना ही चाहिए। इसलिए यहाँ पर उदाहरणादि का स्वरूप आचार्य ने कहा है।

इस प्रकार मत-भेद की अपेक्षा दो, तीन, चार और पाँच अवयवरूप को अनुमान है वह दो प्रकार का ही है यह दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं-

सूत्रार्थ—वह अनुमान दो प्रकार का है ॥४८॥

अब आचार्य उन दोनों भेदों को बतलाते हैं-

सूत्रार्थ—एक स्वार्थानुमान और दूसरा परार्थानुमान ॥४९॥

स्व और पर के विवाद को निराकरण करना ही दोनों प्रकार के अनुमानों का फल है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

---

१. सांख्यादयः प्राहुः। २. यदा शिष्यो व्युत्पन्नो भवति तदा शास्त्रप्रति-पादनकाले दृष्टान्तादिकं प्रतिपाद्यं न भवति, प्रयोजनाभावात्। यदा तु शिष्योऽव्युत्पन्नो भवति तदा शास्त्रे तेभ्य उपदेशादिति। ३. भवतां जैनानाम्। ४. दृष्टान्तोपनयनिगमन-त्रयमिति। ५. विस्तारितम्। ६. शिष्यानुरोधेन। ७. अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमङ्ग्यते। प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः॥१॥ ८. अङ्गीकारकृतत्वात्। ९. प्रयोगपरिपाटी। १०. दृष्टान्तादीनाम्। ११. पुरुषैः। १२.अनुमान-स्वरूपमपि।

स्वार्थानुमानभेदं दर्शयन्नाह–

स्वार्थमुक्तलक्षणम्॥५०॥

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमिति प्रागुक्तं लक्षणं यस्य तत्तथोक्तमित्यर्थः।

द्वितीयमनुमानभेदं दर्शयन्नाह–

[1]परार्थं तु [2]तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्॥५१॥

तस्य स्वार्थानुमानस्यार्थः साध्यसाधनलक्षणः। तं[3] [4]परामृशतीत्येवं शीलं तदर्थपरामर्शि। तच्च तद्वचनं च तस्माज्जातमुत्पन्नं विज्ञानं[5] परार्थानुमानमिति। ननु[6] वचनात्मकं[7] परार्थानुमानं प्रसिद्धम्। तत्कथं

भावार्थ—स्व-विषयक विवाद का निराकरण करना स्वार्थानुमान का फल है और पर के विवाद का निराकरण करना परार्थानुमान का फल है।

अब स्वार्थानुमान का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ—स्वार्थानुमान का लक्षण कहा जा चुका है॥५०॥

साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं, ऐसा जो पहले अनुमान का लक्षण कह आये हैं, वही स्वार्थानुमान का स्वरूप जानना चाहिए।

भावार्थ—दूसरे के उपदेश बिना स्वतः ही साधन से साध्य का जो अपने लिए ज्ञान होता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं।

अब अनुमान के दूसरे भेद का स्वरूप बतलाने के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ—उस स्वार्थानुमान के विषयभूत अर्थ का परामर्श करने वाले वचनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं॥५१॥

उस स्वार्थानुमान का अर्थ जो साध्य-साधन लक्षण वाला पदार्थ, उसे परामर्श अर्थात् विषय करना है स्वभाव जिसका उसे तदर्थ-परामर्शि कहते हैं। ऐसे तदर्थ-परामर्शि वचनों से जो विज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है, ऐसा जानना चाहिए।

---

१. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमित्यनुमानसामान्यलक्षणस्य परार्थानुमानेऽपि सद्भावात् स्वार्थपरार्थानुमानयोः को भेद इति शङ्कायामाह। [अथवा] ननु परार्थमविशेषरूपं भवति विशेषे सामन्यं प्रवर्तनीयम्, प्रागुक्तं लक्षणमत्रापि वक्तव्यम् ? सामान्यं विहाय विशेषस्तु प्रवर्तते एवं चेत् परार्थं सुप्तार्थानुमानं भवति, इति शङ्का सा परिहर्त्तव्या ? वचनमपि साधनं न भवति, अविनाभावप्रतिपादकत्वात् साधकत्वं तत्सामान्यमागतम्। २. धूमाद्वह्निविज्ञान-मनुमानमित्यर्थपरामर्शि यद्वचनं तस्माद्वचनरूपसाधनात् (परोपदेशात्) यद्धूमाद्वह्निविज्ञानं जायते तत्परार्थानुमानम्। वचनमन्तरेण यद्धूमादिसाधना-दग्न्यादिसाध्यविज्ञानं भवति तत्स्वार्थानुमानमित्यनयोर्भेदः। ३. तदर्थम्। ४. द्योतयति विषयीकरोति। ५. पर्वतोऽयं वन्हिमान् धूमवत्वादिति वचनश्रवणादेव पूर्वे धूमज्ञानं भवति, पश्चात्ततो वन्हिविज्ञानमित्यभिप्रायः। न तु वचनस्य साक्षादनुमानत्वं वचनाज्जातस्य ज्ञानस्यानुमानत्वं वचनस्योपचारत्वे-नेतिभावः। ६. नैयायिकः प्राह। ७. पञ्चावयवरूपम्।

तदर्थप्रतिपादकवचनजनितविज्ञानस्य परार्थानुमानत्वमभिदधता[१] न संगृहीतमिति न वाच्यम्; [२]अचेतनस्य [३]साक्षात्प्रमितिहेतुत्वाभावेन [४]निरुपचरितप्रमाणभावाभावात्। [५]मुख्यानुमानहेतुत्वेन [६]तस्योपचरिता[७]नुमानव्यपदेशो[८] न वार्यत एव।

[९]तदेवोपचरितं परार्थानुमानत्वं[१०] तद्वचनस्या[११]ऽऽचार्यः प्राह–

[१२]तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्॥५२॥

उपचारो हि मुख्याभावे[१३] सति [१४]प्रयोजने निमित्ते[१५] च प्रवर्तते[१६]। [१७]तत्र वचनस्य परार्थानुमानत्वे

भावार्थ—दूसरे के वचनों के द्वारा साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है, वह परार्थानुमान है और दूसरों के वचन के बिना हो स्वयं साधन से जो साध्य का ज्ञान होता हैं, वह स्वार्थानुमान है, यही दोनों में भेद है।

शंका—नैयायिक कहते हैं कि वचनात्मक परार्थानुमान होता है यह बात प्रसिद्ध है, फिर अनुमान के विषयभूत अर्थ के प्रतिपादक वचनों से उत्पन्न हुए विज्ञान को परार्थानुमान कहने वाले आचार्य ने उक्त लक्षण का संग्रह क्यों नहीं किया ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि अचेतन वचन साक्षात् प्रमिति अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति में कारण नहीं हो सकते हैं, अतः उन वचनों के निरूपचरित (मुख्य) रूप से प्रमाणता का अभाव है। हाँ, ज्ञानरूप मुख्य अनुमान के हेतु होने से उन वचनों की उपचरित (गौण) अनुमान संज्ञा को कोई रोक नहीं सकता है। अर्थात् वचनों को गौणरूप से परार्थानुमान कहा जा सकता है।

परार्थानुमान के प्रतिपादक वचनों की उपचार से परार्थानुमान संज्ञा है, यह बतलाने के लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ—परार्थानुमान के कारण होने से परार्थानुमान के प्रतिपादक वचनों को भी परार्थानुमान कहते हैं ॥५२॥

मुख्य का अभाव होने पर, तथा प्रयोजन और निमित्त के होने पर उपचार की प्रवृत्ति होती है, ऐसा नियम है। यहाँ वचन का परार्थानुमानपने में कारणपना ही उपचार का निमित्त है। अतः

---

१. कथयता जैनेन। २. वचनस्य। ३. अज्ञाननिवृत्ति। ४. मुख्य–। ५. ज्ञानरूपानुमानस्य। ६. वचनस्य। ७. यथा विषयिधर्मस्य विषय उपचारात्– पदार्थस्यापि प्रत्यक्षता, कार्यस्य कारण उपचारादिन्द्रियस्यापि प्रत्यक्षता, यद्वा इन्द्रियार्थसंबन्धस्यापि प्रत्यक्षेणोप–चारित्वम्, अथवा घटस्यैवैकापेक्षया प्रत्यक्षत्वं तज्जन्यं भवति, तथापि तस्योपचारता, तथा वचनस्याप्युपचार–निमित्तप्रतिपादकप्रतिपाद्यापेक्षयाऽनुमानकार्यकरणत्वमिति। ८. नाम। ९. उक्तमेव। १०. मुख्यप्रमाणता ज्ञानस्यैव। मुख्यानुमानहेतुत्वादिति चेति वा। ११. परार्थानुमानप्रतिपादकवचनस्य। १२. विज्ञानलक्षण–परार्थानुमानवचनमपि परार्थानुमानं तद्धेतुत्वात्। १३. वचनेज्ञानलक्षणमुख्यानुमानस्याभाव इति मुख्यार्थबाधः। [अयमर्थः–] मुख्याभाव–प्रयोजन–निमित्तेषु त्रिषु मध्ये वचनं ज्ञानं न भवति, इति मुख्यार्थबाधः वचनज्ञानस्य निमित्तम्। १४. वचनस्यानुमानत्वे प्रयोजनमनुमानावयवाः प्रतिज्ञादय इति शास्त्रे व्यवहार एव। तात्पर्यं फलमित्यर्थस्तत्रोपचारः प्रवर्तते। १५. हेतौ। वचनं ज्ञानस्य निमित्तमिति। १६. त्रयं विहाय न प्रवर्तते। १७. मुख्याभाव–प्रयोजन निमित्तेषु।

निमित्तं तद्धेतुत्वम्। तस्य [१]प्रतिपाद्यानुमानस्य [२]हेतुस्तद्धेतु; तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्मान्निमित्तात्तद्वचनमपि परार्थानुमान-प्रतिपादकवचनमपि परार्थानुमानमिति सम्बन्धः; [३]कारणे कार्यस्योपचारात्। [४]अथवा तत्प्रतिपादकानुमानं[५] हेतुर्यस्य[६] तत्तद्धेतुः, तस्य भावस्तत्त्वम्। ततस्तद्वचनमपि[७] तथेति[८] सम्बन्धः। अस्मिन् पक्षे [९]कार्ये [१०]कारणस्योपचार इति शेषः। [११]वचनस्यानुमानत्वे च प्रयोजनमनुमानावयवाः प्रतिज्ञादय इति शास्त्रे व्यवहार एव, [१२]ज्ञानात्मन्यनंशे[१३] [१४]तद्-व्यवहारस्याशक्यकल्पनात्। तदेवं साधनात् साध्यविज्ञान-मनुमानमित्यनुमान-सामान्यलक्षणम्। तदनुमानं द्वेधेत्यादिना [१५]तत्प्रकारं च सप्रपञ्चमभिधाय साधनमुक्त[१६]लक्षणापेक्षयैक-मप्यतिसंक्षेपेण भिद्यमानं द्विविधमित्युपदर्शयति–

स[१७] हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्॥५३॥

प्रतिपाद्य जो शिष्य उसके लिए जो अनुमान सो परार्थानुमान, उसका प्रतिपादक वचन भी परार्थानुमान है, ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए। यहाँ अनुमान के कारण वचनों में ज्ञानरूप कार्य का उपचार किया गया है। अथवा परार्थानुमान का प्रतिपादक जो वक्ता पुरुष उसका स्वार्थानुमान है कारण जिसके ऐसा जो परार्थानुमान का वचन वह भी अनुमान है, ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए। इस पक्ष में कार्य में कारण का उपचार किया गया है, इतना अर्थ सूत्र में शेष है। वचन को अनुमानपना कहने में प्रयोजन यह है कि प्रतिज्ञा, हेतु आदिक अनुमान के अवयव हैं, ऐसा शास्त्र में व्यवहार है। ज्ञानात्मक और निरंश अर्थात् अवयव-रहित अनुमान में प्रतिज्ञा, हेतु आदि के व्यवहार की कल्पना करना अशक्य है। अतः वचनों के द्वारा ही प्रतिज्ञादि अवयवों के प्रयोगरूप व्यवहार की प्रवृत्ति होती है, इससे उसके प्रतिपादक वचनों को भी परार्थानुमान संज्ञा दी गई है। इस प्रकार साधन से साध्य का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान हैं, ऐसा अनुमान का सामान्य लक्षण जानना चाहिए।

वह अनुमान दो प्रकार का है, इत्यादिरूप से उसके भेदों को भी विस्तार से कहकर ऊपर कहे गये लक्षण की अपेक्षा यद्यपि वह साधन एक प्रकार का ही है. तथापि अतिसंक्षेप से भेद करने पर वह दो प्रकार का है, यह बात आचार्य उत्तर सूत्र के द्वारा दिखलाते हैं–

सूत्रार्थ–अविनाभाव लक्षणवाला वह हेतु दो प्रकार का है–एक उपलब्धिरूप हेतु और दूसरा अनुपलब्धिरूप हेतु ॥५३॥

---

१. परार्थानुमानस्य। २. प्रतिपादकत्वाद्वचनं हेतुः, निमित्तकारणमित्यर्थः। ३. अग्नौ। वचनात्मके कारणे कार्यस्य विज्ञानलक्षणस्य परार्थानुमानस्योपचारात्। ४. प्रकारन्तरेणाह। ५.प्रतिपादकज्ञानलक्षणं स्वार्थानुमानम्। ६. वचनस्य। ७. स्वार्थानुमानज्ञानस्यार्थपरामर्शि वचनमपि। ८. स्वार्थानुमानमिति सम्बन्धः, कार्ये कारणस्योपचारात्। ९. स्वार्थानुमानवचनलक्षणे कार्ये। १०. स्वार्थानुमानविज्ञान लक्षणस्य कारणस्योपचारः। ११. ज्ञानस्य प्रतिज्ञाद्यवयवा भवन्त्वित्याशङ्कायामाह। १२. अनुमाने। १३. निरवयवे। १४. प्रतिज्ञादिव्यवहारस्य। १५. अनुमानभेदम्। १६. अन्यथानुप-पन्नत्वलक्षणापेक्षया। १७. योऽधिकारापन्नोऽविनाभाव-लक्षणलक्षितः प्राक् प्रतिपादितः सः।

सुगममेतत्।

तत्रोपलब्धि[१]र्विधि[२]साधिकैव। अनुपलब्धिः[३] [४]प्रतिषेधसाधिकैवेति परस्य नियमं [५]विघटयन्नुपलब्धेरनुपलब्धेश्चाविशेषेण विधि-[६]प्रतिषेधसाधनत्वमाह-

[७]उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च॥५४॥

गतार्थमेतत्।

इदानीमुपलब्धेरपि संक्षेपेण विरुद्धाविरुद्धभेदाद् द्वैविध्यमुपदर्शयन्नविरुद्धोपलब्धेर्विधौ साध्ये विस्तरतो भेदमाह-

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ[८] षोढा-[९]व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात्॥५५॥

यह सूत्र सुगम है।

इनमें से उपलब्धि नाम विद्यमानता का है, अतः बौद्ध लोग उपलब्धिरूप हेतु को विधि अर्थात् सद्भाव का साधक मानते हैं। इसी प्रकार अनुपलब्धि नाम अविद्यमानता का है, अतः उसे वे लोग प्रतिषेध अर्थात् अभाव का ही साधक मानते हैं। आचार्य दूसरे मतावलम्बियों के उक्त नियम का निषेध करते हुए बतलाते हैं कि उपलब्धि और अनुपलब्धिरूप दोनों ही हेतु विधि और प्रतिषेध दोनों के साधक हैं-

सूत्रार्थ-उपलब्धिरूप हेतु भी विधि और प्रतिषेध दोनों का साधक है, तथा अनुपलब्धिरूप हेतु भी दोनों का साधक है ॥५४॥

इस सूत्र का अर्थ कहा जा चुका है।

भावार्थ-उपलब्धिरूप हेतु के दो भेद हैं-अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि। इनमें पहला विधिसाधक है और दूसरा प्रतिषेधसाधक। इसी प्रकार अनुपलब्धिरूप हेतु के भी दो भेद हैं-अविरुद्धानुपलब्धि और विरुद्धानुपलब्धि। इनमें से पहला निषेधसाधक है और दूसरा विधिसाधक। इस प्रकार उपलब्धि और अनुपलब्धिरूप दोनों हेतु विधि और निषेध दोनों के साधक होते हैं।

अब आचार्य उपलब्धिरूप हेतु के भी संक्षेप से विरुद्ध-अविरुद्ध के भेद से दो भेद बतलाते हुए अविरुद्धोपलब्धि के विधि को सिद्ध करने में विस्तार से भेद बतलाते हैं-

---

१. प्राप्तिः। २. अस्तित्वम्। ३. निषेधः। ४. न त्वत्रान्वयव्यति-रेकदृष्टान्तयोर्विवक्षा, किन्तु हेतोरपेक्षा। ५. निषेधयन् आचार्यः। ६. उपलब्धिर्विधिं साधयति प्रतिषेधं च। तथाऽनुपलब्धिर्निषेधं साधयति विधिं च। तस्मादुभयोरपि विधिप्रतिषेधत्वं वर्तते। ततस्तयोर्विशेषाभावः इति दर्शयति। ७. अविनाभावनिमित्तो हि साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावः। यथा चोपलब्धेर्विधौ साध्येऽविनाभावाद्गमकत्वं तथोपलब्धेः प्रतिषेधेऽपि साध्येऽविनाभावाद्गमकत्वम्। अनुपलब्धेश्च यथा प्रतिषेधे साध्येऽविनाभा-वाद् गमकत्वं तथाऽनुपलब्धेर्विधावपि साध्येऽविनाभावाद् गमकत्वमिति। ८. अस्तित्वे साध्ये। ९. शिंशपा-पलाशवृक्षस्य।

पूर्वं च उत्तरं च सह चेति द्वन्द्वः। पूर्वोत्तरसह इत्येतेभ्यश्चर इत्यनुकरणनिर्देशः, [१]द्वन्द्वात् श्रूयमाणश्चरशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तेनायमर्थः–पूर्वचरोत्तरचरसहचरा इति। पश्चाद् व्याप्यादिभिः सह द्वन्द्वः।

अत्राह सौगतः–विधिसाधनं[२] द्विविधमेव, [३]स्वभाव–[४]कार्यभेदात्? । कारणस्य तु कार्याविनाभावा-भावाद-लिङ्गत्वम्[५]। नावश्यं कारणानि[६] कार्यवन्ति भवन्तीति वचनात्। अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य[७] कार्यम्प्रति गमकत्व-मित्यपि नोत्तरम्; सामर्थ्यस्यातीन्द्रियतया[८] विद्यमानस्यापि निश्चेतुमशक्यत्वादिति। [९]तदसमीक्षि-ताभिधानमिति दर्शयितुमाह–

[१०]रसादेकसामग्र्यनुमानेन [११]रूपानुमानमिच्छद्भि[१२]रिष्टमेव [१३]किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र[१४] सामर्थ्याप्रतिबन्ध[१५]-कारणान्तरावैकल्ये[१६] ॥५६॥

सूत्रार्थ–विधि-साधन की दशा में अविरुद्धोपलब्धि छह प्रकार की है–

१. अविरुद्धव्याप्योपलब्धि, २. अविरुद्धकार्योपलब्धि, ३. अविरुद्धकारणोपलब्धि, ४. अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, ५. अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि और ६. अविरुद्धसहचरोपलब्धि ॥५५॥

सूत्र पठित पूर्व, उत्तर और सह पद का द्वन्द्व समास करना, पश्चात् पूर्व, उत्तर और सह पद के साथ चर शब्द का अनुकरण निर्देश करना। इस प्रकार द्वन्द्व समास से पीछे सुना गया चर शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। तदनुसार यह अर्थ होता है-पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर। पश्चात् व्याप्य आदि पदों के साथ द्वन्द्व समास करना चाहिए।

यहाँ पर बौद्ध कहते हैं कि स्वभावहेतु और कार्यहेतु के भेद से विधिसाधक हेतु दो ही प्रकार का है; क्योंकि कारण का कार्य के साथ अविनाभाव का अभाव होने से उसे हेतु नहीं माना जा सकता। सभी कारण कार्यवाले अवश्य होते है; ऐसा कोई नियम नहीं है, ऐसा वचन है। यदि आप जैन लोग कहें की मणि–मन्त्रादि से जिसकी सामर्थ्य रोकी नहीं गई है, ऐसा कारण कार्य के प्रति गमक होता है, सो यह भी कोई उत्तर नहीं है; क्योंकि सामर्थ्य अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रिय-गोचर नहीं है, अतः विद्यमान रहते हुए भी उसका निश्चय नहीं किया जा सकता। इसलिए कारणरूप हेतु का मानना ठीक नहीं है। उनका यह कथन सम्यक् विचार किए बिना है, यह दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

१.पश्चान्निर्देशः। २. विधिसाधनहेतुः। ३. वृक्षत्वशिंशपात्वयोः। ४. धूमाग्न्योः। ५. असाधनत्वम्। ६. दण्डादीनि। ७. मणिमन्त्रादिनाऽप्रतिहतसामर्थ्यस्य। ८. अप्रत्यक्षतया। ९. पूर्वोक्तम्। १०. अन्धकारावगुण्ठिते प्रदेशे आस्वाद्यमानो रसः स्वसमानसमय–कारणकार्यो भवति, एवंविधरसत्वात्, साम्प्रतिकरसवत्, इति रूप–रसयोः एकसामग्र्यनुमानम्। ११. इदानीं रूपानुमानं विचारापन्ने मातुलिङ्गे रससमानकालीनं रूपमस्ति, एकसामग्र्यधीनत्वात् सम्प्रतिपन्नरसवत्। पूर्वरूपक्षणं सजातीयमुत्तररूप क्षणं जनयन्नेव विजातीयमुत्तर–रसक्षणं जनयति, कारणक्षणत्वाद् अनुभूतरसक्षणवत्। आस्वाद्यमानो रसः स्वसमान कालीनपूर्वरूपक्षण–सहकृत–समनन्तररसक्षणजन्यः, कार्यक्षणत्वाद् अनुभूयमानरसक्षणवत्। १२. सौगतैरिति शेषः। १३. विशिष्टम्; नानुकूलादिरूपम्। १४. कारणे। १५. मन्त्रौषधादिना प्रतिबन्धः। १६. पूर्वक्षणमुत्तरक्षणस्य

आस्वाद्यमानाद्धि रसात्तज्जनिका [१]सामग्र्यनुमीयते। ततो[२] रूपानुमानं भवति। [३]प्राक्तनो हि रूपक्षणः सजातीयं रूपक्षणान्तरं कार्यं कुर्वन्नेव विजातीयं रसलक्षणं कार्यं करोतीति रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं[४] हेतुः प्राक्तनस्य रूपलक्षणस्य सजातीयरूपक्षणान्तराव्यभिचारात्। [५]अन्यथा रससमानकाल-रूपप्रतिपत्तेरयोगात्[६]। न[७] ह्यनुकूल[८] [९]मात्रमन्त्यक्षणप्राप्तं[१०] वा कारणं[११] लिङ्गमिष्यते; येन[१२] मणिमन्त्रादिना सामर्थ्यप्रतिबन्धात्कारणान्तर[१३]वैकल्येन वा कार्यव्यभिचारित्वं[१४] स्यात्। [१५]द्वितीयक्षणे कार्य[१६]प्रत्यक्षीकरणेनानु-

---

सूत्रार्थ—रस से एक सामग्री के अनुमान-द्वारा रूप का अनुमान स्वीकार करने वाले बौद्धों ने कोई विशिष्ट कारणरूप हेतु माना ही है, जिसमें कि सामर्थ्य का प्रतिबन्ध नहीं है और दूसरे कारणों की विकलता नहीं है ॥५६॥

आस्वाद्यमान रस से उसकी उत्पादक सामग्री का अनुमान किया जाता है कि इस रस की उत्पादक सामग्री उत्पन्न हो चुकी है, अन्यथा इस समय रस का स्वाद न आता। तत्पश्चात् उससे रूप का अनुमान होता है। वह यह कि पूर्वकालीन रूपक्षण सजातीय अन्य रूपक्षणरूप कार्य को उत्पन्न करता हुआ ही विजातीय रस-लक्षण कार्य को करता है, इस प्रकार से रूप का अनुमान स्वीकार करने वाले बौद्धों ने कोई कारणरूप हेतु माना ही है; क्योंकि पूर्वकालवर्ती रूपक्षण का सजातीय उत्तरकालवर्ती अन्य रूपक्षण के साथ कोई व्यभिचार नहीं पाया जाता। अन्यथा (यदि व्यभिचार पाया जाता तो रस के समकाल में ही रूप का ज्ञान नहीं हो सकता था। हम जैन लोग केवल अनुकूल, अथवा अन्त्यक्षण-प्राप्त अर्थात् कार्य उत्पन्न होने के अव्यवहित पूर्वरूपक्षण वाले कारण को लिंग (हेतु) नहीं मानते, जिससे कि मणि-मन्त्रादि के द्वारा सामर्थ्य के प्रतिबन्ध से, अथवा अन्य सहकारी कारणों की विकलता से वह कार्य के साथ व्यभिचारपने को प्राप्त हो। अथवा द्वितीय क्षण में कार्य के प्रत्यक्ष करने से अनुमान की व्यर्थता हो; क्योंकि हमने कार्य के

कारणमन्त्वक्षणो यदान्यक्षणोत्पादको न भवति तदा वैकल्यं पूर्वक्षणापेक्षयाऽन्त्यक्षणः कारणान्तरं तदेव यदा विकलमिति। सहकारिणां क्षित्यादीनां वैकल्यमित्यर्थः।

१. रसादेकसामग्र्यनुमानेनरूपानुमानमिति योजना। २. पश्चात्। ३. पूर्वरूपक्षणः सजातीयोत्तररूपक्षणं जनयन्नेव विजातीयोत्तररसक्षणं जनयति कारणक्षणत्वादनुभूतरसक्षणवदिति। ४. कारणं हेतुं साधनमङ्गीकर्तव्यम्। ५. व्यभिचरति चेत्। ६. रूपरसयोः समानकालीनप्रतिपत्तेर-योगात्। ७. बौद्धमतममूद्य जैनाः कथयन्ति। ८. दण्डादि। ९. मात्रग्रहणेन कार्येण सह कारणस्यविनाभावनिराकरणत्वमिति। १०. द्वितीयक्षणम्, कार्याव्यवहितपूर्वक्षणप्राप्तं तन्तुसंयोगरूपमिति। ११. यथा प्रदीपेक्षणा बहवो जायन्ते विनश्यन्ति च, तथापि प्रदीपस्य विनाशकाले योऽसावन्त्यक्षण उत्तरक्षणं न जनयति तादृग्विधस्याङ्गीकारो नास्ति। १२. कथम् ? १३. यथा बीजं कारणान्तरविकलं क्षितिपवन-सलिलातपयोगरहितमङ्कुरं न प्रोरोहतीत्यर्थान्तरम्। १४. तदेव नाङ्गीक्रियतेऽत उक्तदूषणं न। १५. बौद्धमतमनूद्य दूषयति। १६. कारणेन कार्यं प्रत्यक्षं भविष्यतीति।

मानानर्थक्यं[1] वा; कार्याविनाभावितया निश्चितस्य विशिष्टकारणस्य [2]छत्रादेर्लिङ्गत्वेनाङ्गीकरणात्[3]। यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धः कारणान्तरावैकल्यं निश्चियते, तस्यैव लिङ्गत्वं; नान्यस्येति नोक्तदोषप्रसङ्गः।

साथ अविनाभावरूप से निश्चित विशिष्ट कारणरूप छत्रादि को लिंगरूप से स्वीकार किया है। जिसमें सामर्थ्य का अप्रतिबन्ध और कारणान्तरों की अविकलता निश्चित की जाती है, उसके ही लिंगपना माना है, अन्य के नहीं; इस प्रकार उक्त दोष का प्रसंग प्राप्त नहीं होता।

विशेषार्थ—यह पहले बतला चुके हैं कि बौद्ध लोग कारणरूप हेतु को नहीं मानते। आचार्य ने उनकी मान्यता के अनुसार यह सिद्ध किया है, कि वे लोग ही कारणरूप हेतु को मानते ही हैं। उनकी मान्यता यह है कि वर्तमानकालवर्ती रस से उसकी एक सामग्री (उत्पादक सामग्री) का अनुमान होता है और एक सामग्री के अनुमान से रस-समान-कालवर्ती रूप का अनुमान होता है। उत्तररसक्षण और उत्तररूपक्षण दोनों की सामग्री एक ही है; क्योंकि दोनों ही पूर्वरसक्षण और पूर्वरूपक्षण से उत्पन्न होते हैं। उत्तर रूपक्षण की उत्पत्ति में पूर्वरूपक्षण उपादान कारण और पूर्वरसक्षण सहकारी कारण है। इसी प्रकार उत्तररसक्षण की उत्पत्ति में पूर्वरसक्षण उपादान कारण और पूर्वरूपक्षण सहकारी कारण है। आचार्य उनके द्वारा मानी गई इस व्यवस्था से ही कारण हेतु को उनके द्वारा माना जाना सिद्ध करते हैं। वह इस प्रकार कि किसी व्यक्ति ने गहन अन्धकार में आम को चखा। वह उसके मीठे रस के स्वाद से विचारता है कि इसका रूप पीला होना चाहिए। यहाँ वर्तमानरसक्षण पूर्वरसक्षणरूप उपादान कारण से और पूर्वरूपक्षणरूप सहकारी कारण से उत्पन्न हुआ है। यतः पूर्वरूपक्षण सजातीय उत्तररूपक्षणरूप कार्य को उत्पन्न करता हुआ ही विजातीय उत्तररसक्षणरूप कार्य की उत्पत्ति में सहकारी होता है, अतः कारणभूत पूर्वरूपक्षण से कार्यस्वरूप उत्तररूपक्षण का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार बौद्ध रस से एक सामग्री के अनुमान-द्वारा रूप का अनुमान करते हैं, इसलिए उन्हीं की मान्यता से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने भी कारणरूप हेतु को माना ही है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध मत में प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनश्वर है, अतः वे प्रतिक्षणवर्ती वस्तु का 'क्षण' नाम से व्यवहार करते हैं।

इस प्रकार रस से तज्जनक सामग्री का और कारणरूप सामग्री से रूप का अनुमान मानने वाले बौद्धों ने कारण रूप हेतु स्वयं माना ही है जहाँ पर कि कारण की सामर्थ्य किसी मणि-मन्त्रादि से रोकी न गई हो, अथवा अन्य किसी सहकारी कारण की कमी न हो। जहाँ कारण की शक्ति किसी मणि-मन्त्रादि से रोक दी जायेगी, अथवा किसी सहकारी कारण की कमी होगी, वहाँ कारण कार्य का गमक नहीं होगा, अन्यथा अवश्य ही गमक होगा।

---

१. किं कारणमवलम्ब्यानुमानानर्थक्यं ब्रूषे ? तदेव कारणं नास्ति बौद्धेन त्वयाऽनुमान-भङ्गात्कारणस्य लिङ्गत्वं नाङ्गीक्रियते, अस्ति चाङ्गीकारस्त्वन्मते अनुमानस्य च नास्ति वैयर्थ्यमिति। २. आदिपदेन चन्द्रवृद्धेः। ३. अनुमानं वर्तते, वैयर्थ्यं न।

इदानीं पूर्वोत्तरचरयोः स्वभावकार्यकारणेष्वनन्तर्भावाद्[१] भेदान्तरत्वमेवेति दर्शयति–

न च [२]पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं[३] [४]तदुत्पत्तिर्वा, काल[५]व्यवधाने [६]तदनुपलब्धेः[७]॥५७॥

तादात्म्यसम्बन्धे साध्यसाधनयोः स्वभावहेतावन्तर्भावः, तदुत्पत्तिसम्बन्धे च कार्ये कारणे वाऽन्तर्भावो विभाव्यते। न च [८]तदुभयसम्भवः; कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः। सहभाविनोरेव तादात्म्यसम्भवात्, [९]अनन्तरयोरेव पूर्वोत्तरक्षणयोर्हेतुफलभावस्य[१०] दृष्टत्वात्; व्यवहितयोस्तदघटनात्[११]।

अब पूर्वचर और उत्तरचर हेतु भी भिन्न ही है; क्योंकि उनका स्वभाव हेतु, कार्य और कारण हेतुओं में से भी अन्तर्भाव नहीं होता, यह बात आचार्य दिखलाते हैं–

सूत्रार्थ–पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का साध्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, अतः स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव नहीं होता। तथा तदुत्पत्तिसम्बन्ध भी नहीं है, अतः कार्य हेतु और कारण हेतु में भी अन्तर्भाव नहीं होता; क्योंकि ये दोनों सम्बन्ध काल के व्यवधान (अन्तराल) में नहीं होते हैं ॥५७॥

साध्य-साधन में तादात्म्य सम्बन्ध के होने पर स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव होता है और तदुत्पत्ति सम्बन्ध के होने पर कार्य या कारण हेतु में अन्तर्भाव होता है। किन्तु पूर्वचर हेतु और उत्तरचर हेतु में परस्पर न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध सम्भव है; क्योंकि काल के व्यवधान होने पर ये दोनों सम्बन्ध नहीं पाये जाते हैं। साथ रहने वाले दो अभिन्न पदार्थों में तादात्म्य सम्बन्ध होता है और काल के व्यवधान से रहित पूर्वक्षण और उत्तरक्षण में कारण और कार्यपना देखा जाता है। किन्तु जिनमें काल का व्यवधान होता है, उनमें तादात्म्य और कार्य-कारण सम्बन्ध घटित नहीं होता है।

भावार्थ–ज्ञान और आत्मा जैसे दो अभिन्न पदार्थों में जो सम्बन्ध होता है, उसे तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं। एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति को तदुत्पत्ति सम्बन्ध कहते हैं। एक मुहूर्त के बाद रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा; क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है, यह पूर्वचर हेतु का उदाहरण है। एक मुहूर्त्त के पूर्व ही भरणी का उदय हो चुका है, क्योंकि अभी कृत्तिका उदय हो रहा है, यह उत्तरचर हेतु का उदाहरण है। इन दोनों ही उदाहरणों में एक नक्षत्र के

---

१. अन्तर्भावाभावादिति वा पाठः। २. साध्यसाधनयोः। पूर्वोत्तरकालवर्त्तिनोरिति वा पाठान्तरम्। ३. तत्साधनमात्मा स्वरूपं यस्य साध्यस्यासौ तदात्मा, तस्य भावस्तादात्म्यमिति। ४. तस्मात्कारणादुत्पत्तिर्यस्य कार्यस्यासौ तदुत्पत्तिः। ५. साध्यसाधनयोः परस्परम्। ६. तादात्म्यतदुत्पत्त्योः। ७. तादात्म्यतदुत्पत्ती कृत्तिकोदय-शकटोदययोर्न भवतः, शकटोदयकालेऽनन्तरं वा कृत्तिकोदयानुपलब्धेः। यद्यत्का-लेऽनन्तरं वा नास्ति, न तस्य तेन तादाम्यं तदुत्पत्तिर्वा। यथा भविष्यच्छङ्खचक्रवर्त्तिकाले रावणादेस्तादात्म्यत-दुपत्त्यसतः। नास्ति च शकटोदयकालेऽनन्तरं वा कृत्तिकोदयादिकं तस्मात्तयोस्तादात्म्य तदुत्पत्ती न स्तः। ८. तादात्म्यतदुत्पत्ति । ९.अव्यवहितयोः। १०. कारणकार्यभावस्य। ११. तादात्म्य कार्य कारणभावयोर-घटनात्।

[१]ननु कालव्यवधानेऽपि कार्यकारणभावो दृश्यत एव; यथा [२]जाग्रत्प्रबुद्धदशा[३]-भाविप्रबोधयोर्मरणा-रिष्टयो[४]र्वेति। [५]तत्परिहारार्थमाह-

[६]भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ[७]प्रति[८]हेतुत्वम्[९]॥५८॥

उदय से दूसरे नक्षत्र के उदय में एक मुहूर्त्तकाल का व्यवधान है, अतः इनमें न तो तादाम्य सम्बन्ध सम्भव है कि जिससे उनका स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव किया जा सके। और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध ही सम्भव है कि जिससे उनका कार्य हेतु या कारण हेतु में अन्तर्भाव किया जा सके। यहाँ पूर्वचर और उत्तरचर ये दोनों हेतु भिन्न ही हैं, यह सिद्ध हुआ।

यहाँ बौद्धों का कहना है कि काल के व्यवधान में भी कार्य-कारणभाव देखा ही जाता है, जैसे कि जाग्रतदशा प्रबुद्धदशा भावी प्रबोध (ज्ञान) में तथा मरण और अरिष्ट में कार्य कारणभाव देखा जाता है। आचार्य उनके इस कथन का परिहार करने के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं-

सूत्रार्थ—भावी मरण और अतीत जाग्रतबोध के भी अरिष्ट और उद्बोध के प्रति कारणपना नहीं है ॥५८॥

भावार्थ—बौद्धों का अभिप्राय यह है कि रात्रि में सोते समय का ज्ञान प्रातःकाल के ज्ञान में कारण होता है और आगामी काल में होने वाला मरण इस समय में होने वाले अरिष्टों (अपशकुनों और उत्पातों) का कारण है, इससे सिद्ध है कि काल के व्यवधान में भी कार्य कारणभाव होता है। आचार्य ने उनका परिहार करते हुए यह कहा है कि दोनों में जो आप कार्य कारणभाव बतला रहे हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि कार्य कारणभाव तभी सम्भव है जबकि कारण के सद्भाव में कार्य उत्पन्न हो। जब सोने से पूर्व समय का ज्ञान नष्ट ही हो गया है, तब वह प्रातःकाल के प्रबोध का कारण कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार आगामी काल में होने वाला मरण जब अभी हुआ ही नहीं है, तब वह इस समय होने वाले अपशकुनादि का भी कारण कैसे हो सकता है ? क्योंकि आपके द्वारा दिये गये दोनों उदाहरणों में काल का अन्तराल बीच में पाया जाता है और जहाँ काल का अन्तराल पाया जाता है वहाँ पर कार्य-कारणभाव हो नहीं सकता।

---

१. बौद्धः प्राह। २. निशि जाग्रदवस्थायां किमपि कार्यं विचारितं तत्कारणम्, पश्चात्प्रभाते प्रबुद्धावस्थायां तत्कार्यं करोति तत्कार्यम्; इति कालव्यवधानेऽपि कारणभावः कार्यभावश्च दृश्यते। पूर्वं जाग्रदवस्थायां ज्ञानं तदेव प्रबुद्धावस्थानन्तरज्ञानस्य कारणमिति भावः। स्वापात्पूर्वावस्था जाग्रदवस्था , स्वापात् पश्चादवस्था प्रबुद्धावस्था। ३. अवस्था। ४. मारणात्पूर्वमरिष्टं भवति, तत्र मरणं कारणं तस्मादरिष्टं कार्यं जातमत्रापि तथा। अरिष्टमुत्पात इत्यर्थः। ५. तस्य, व्यवहितयोः कार्य कारणभावदर्शनस्य। ६. भाविमरणस्यातीतजाग्रदवस्थाबोधस्य च। ७. उद्बोधः प्रबुद्धावस्थाबोधः। ८. अरिष्टंप्रबुद्धावस्थाज्ञानं च प्रति न कारणत्वम्। ९. बौद्धस्य।

सुगममेतत्।

[1]अत्रैवोपपत्तिमाह–

[2]तद्व्यापाराश्रितं हि [3]तद्भावभावित्वम्॥५९॥

हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्मात्तस्य कारणस्य भावे कार्यस्य भावित्वं तद्भावभावित्वम्। तच्च तद्व्यापाराश्रितम्, तस्मान्न [4]प्रकृतयोः कार्यकारणभाव इत्यर्थः। अयमर्थः–अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि[5] [6]सर्वत्र कार्यकारणभावः। तौ च कार्यम्प्रति कारणव्यापारसव्यपेक्षावेवोपपद्येते[7] कुलालस्येव[8] कलशम्प्रति। न चातिव्यवहितेषु[9] तद्व्यापाराश्रितत्त्वमिति।

सहचरस्याप्युक्त[10]हेतुष्वनन्तर्भावं दर्शयति–

[11]सहचारिणोरपि [12]परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च[13]॥६०॥

यह सूत्र सुगम है।

आचार्य इसी विषय में युक्ति देते हैं–

सूत्रार्थ–कारण के व्यापार के आश्रित ही कार्य का व्यापार हुआ करता है ॥५९॥

सूत्रोक्त 'हि' शब्द 'यस्मात्' के अर्थ में है। यतः कारण के सद्भाव में कार्य के होने को तद्भावभावित्व कहते हैं और कार्य का होना कारण के व्यापार के आधीन है, अतः प्रकृत जो अतीत जाग्रद्बोध और भावी उद्बोध तथा भावी मरण और वर्तमान अरिष्ट इनमें कार्य कारण भाव नहीं है। कहने का आशय यह है कि सर्वत्र कार्य-कारणभाव अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है। सो ये दोनों कार्य के प्रति कारण के व्यापार की अपेक्षा में ही घटित होते हैं। जैसे कि कुलाल (कुम्भकार) का कलश (घट) के प्रति अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है, अर्थात् कुम्भकार के होने पर ही कलश की उत्पत्ति होती है और कुम्भकार के अभाव में कलश की उत्पत्ति नहीं होती है किन्तु जिन पदार्थों में काल का अति व्यवधान होता है, उनमें कारण के व्यापार का आश्रितपना नहीं होता है। इसलिए न तो सोते समय के ज्ञान और प्रातःकाल उठते समय के ज्ञान में कार्य कारणभाव है और न मरण और अरिष्ट में ही; ऐसा जानना चाहिए।

अब सहचर हेतु का भी उक्त हेतुओं में अन्तर्भाव नहीं है आचार्य यह दिखलाते हैं–

१.हेतुत्वाभावे। २.कारण-। ३. कार्य-। ४. पूर्वोत्तरप्रकरण-योर्मरणारिष्टयोर्जाग्रद्बोध-भाविबोधयोः, किन्त्वविनाभावमेवायातम् ? ५. निश्चयेन। ६. बीजाङ्कुरादौ। ७. घटेते। ८. यथा कुलालस्य कलशं प्रत्यन्वयव्यतिरेकत्वं वर्तते, यतः सतिकुलाले कलशस्योत्पत्तिर्जायते, अन्यथा न जायते व्यापारसव्यपेक्षौ यथा। ९.पदार्थेषु। १०. स्वभावकार्य कारणेषु। ११. सह युगपदेकस्मिन् काले चरतः प्रर्वतेत इत्येवंशीलौ प्रकरणाद् रूपरसौ, तयोः। १२.सहभाविनोरेव तादात्म्यमिति नियमाद् रूपरसयोरपि तादात्म्यं ततश्च स्वभावहेतावन्तर्भावः स्यादिति शङ्कापरिहारार्थं परस्परपरिहारेणावस्थानादित्युक्तम्। रूपरसयोर्हि स्वरूपभेदपरस्परपरिहारेणा-वस्थानान्न तादाम्यम्, तदभावे न स्वभावहेतावन्तर्भावः। १३. अनन्तरपूर्वोत्तरक्षणभाविकारणकार्ययोर्धूमधूमध्वजयोरनन्तर्भावार्थं सहोत्पादादिति पदोपादानमिति।

हेत्वन्तरत्वमिति शेषः। अयमभिप्रायः–परस्परपरिहारेणोपलम्भात्तादात्म्या[१]-सम्भवात्स्वभावहेतावनन्त-र्भावः। [२]सहोत्पादाच्च न कार्ये कारणे वेति। न च समानसमयवर्तिनोः[३] कार्यकारणभावः, सव्येतरगोविषाणवत्[४]। कार्यकारणयोः[५] प्रतिनियमाभावप्रसङ्गाच्च। तस्माद्धेत्वन्तरत्वमेवेति[६]।

इदानीं व्याप्यहेतुं क्रमप्राप्तमुदाहरन्नुक्तान्वयव्यतिरेकपुरस्सरं [७]प्रतिपाद्याशयवशात्प्रतिपादितप्रतिज्ञाद्यवयव-पञ्चकं प्रदर्शयति–

सूत्रार्थ–सहचारी पदार्थ परस्पर के परिहार से रहते हैं, अतः सहचर हेतु का स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। और वे एक साथ उत्पन्न होते हैं, अतः उसका कार्य हेतु और कारण हेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है ॥६०॥

सूत्र में 'हेत्वन्तरत्व' यह पद शेष है अर्थात् सहचर हेतु को भिन्न ही हेतु मानना चाहिए। सूत्र का अभिप्राय यह है कि जिन दो पदार्थों की परस्पर परिहाररूप से विभिन्नता पाई जाती है, उनमें तादात्म्य सम्बन्ध असम्भव है, अतः उनका स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। तथा सहचारी पदार्थों के एकसाथ उत्पन्न होने से कार्य हेतु अथवा कारण हेतु में भी अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। जैसे गाय के समान समयवर्ती अर्थात् एक काल में होने वाले सव्य (वाम) और इतर (दक्षिण) विषाण (सींग) में कार्य-कारणभाव नहीं माना जाता। इसी प्रकार फलादिक में एकसाथ उत्पन्न होने वाले रूप और रस में भी कार्य-कारणभाव नहीं माना जा सकता। यदि एक साथ उत्पन्न होने वाले गाय के दोनों सींगों में और रूप-रस में कार्य-कारण-भाव माना जाये, तो फिर कार्य-कारण के प्रतिनियमरूप व्यवस्था के अभाव का प्रसंग आयेगा। अर्थात् उनमें, यह कार्य है और यह उसका कारण है, ऐसी व्यवस्था का कोई नियम नहीं बन सकेगा। इसलिए सहचर हेतु को भिन्न ही हेतु मानना चाहिए।

अब आचार्य क्रम-प्राप्त अविरुद्धव्याप्योपलब्धिरूप व्याप्य हेतु का उदाहरण देते हुए उक्त अन्वय-व्यतिरेक पूर्वक शिष्य के आशय (अभिप्राय) के वश से प्रतिज्ञा, हेतु आदिक पाँचों अवयवों को दिखलाते हैं–

---

१. शिंशपा-वृक्षत्वयो रेककालीनत्वाद्यथा तादात्म्यं न तथा रूपरस-योर्यतो वृक्षत्वपरिहारेण यथा शिंशपात्वस्या-नुपलब्धिर्न तथा रूपरसयोरूपलब्धिभिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात्तयोः। रसनेन्द्रियग्राह्यो हि रसो रूपं तु चक्षुरिन्द्रियग्राह्यमिति। २. एककालोत्पादात्। ३. रूपरसयोः। ४. समसमयभाविनोः सव्येतरगोविषाणयोर्नहि कार्यकारणभावत्वं विद्यते, तथा रूपरसयोरपि न सम्भवति। ५. कार्यं विहाय कारणं तिष्ठति, न च तथाऽत्र वर्तते, तत्सहचारिणोः कारणेऽनन्तर्भावः। ६. सहचारिणोः कारणान्तरत्वमिति। ७. शिष्याभिप्रायवशात्।

[1]परिणामी शब्दः[2]; कृतकत्वात्[3]। य एवं स एवं दृष्टो[4] यथा घटः[5]। कृतकश्चायम्[6], तस्मात्परिणामीति[7]। यस्तु न परिणामी, स न कृतको दृष्टो[8] यथा वन्ध्यास्तनन्धयः[9]। कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी॥६१॥

स्वोत्पत्तावपेक्षितव्यापारो हि भावः[10] कृतक[11] उच्यते। तच्च कृतकत्वं न[12] कूटस्थनित्यपक्षे[13], नापि [14]क्षणिकपक्षे। किन्तु परिणामित्वे सत्येवेत्यग्रे[15] वक्ष्यते।

सूत्रार्थ—शब्द परिणामी है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह कृतक है (हेतु)। जो कृतक होता है, वह परिणामी देखा जाता है, जैसे घट (अन्वय दृष्टान्त)। कृतक यह शब्द है (उपनय)। इसलिए परिणामी है (निगमन)। जो परिणामी नहीं होता, वह कृतक भी नहीं देखा जाता है, जैसे कि बन्ध्या का पुत्र (व्यतिरेक दृष्टान्त)। कृतक यह शब्द है (उपनय)। अतः वह परिणामी है (निगमन) ॥६१॥

जो पदार्थ अपनी उत्पत्ति में अन्य के व्यापार की अपेक्षा रखता है, वह कृतक कहलाता है। यह कृतकपना न तो कूटस्थ नित्यपक्ष में सम्भव हैं और न क्षणिक पक्ष में। किन्तु पदार्थ को परिणामी मानने पर ही सम्भव है, यह बात आगे कहेंगे।

भावार्थ—ऊपर कृतक का जो स्वरूप कहा गया है, उसका परिणामित्व के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है जो अल्प देश में रहे, उसे व्याप्य कहते हैं। और जो बहुतदेश में रहे उसे व्यापक कहते हैं। कृतकत्व केवल पुद्गलद्रव्य में रहने से व्याप्य है और परिणामित्व आकाशादि सभी द्रव्यों में पाये जाने से व्यापक है। जो प्रतिसमय परिणमनशील होकर भी अर्थात् पूर्व आकार का परित्याग कर और उत्तर आकार को धारण करते हुए भी दोनों अवस्थाओं में अपने स्वत्व को कायम रखता है, उसे परिणामी कहते हैं। ऐसा परिणामीपना न तो सांख्याभिमत सर्वथा कूटस्थ नित्य रहने वाले पदार्थों में सम्भव है और न बौद्धाभिमत सर्वथा क्षणिक पदार्थों में ही सम्भव है। किन्तु उत्पाद-व्यय के होते हुए भी ध्रुव (स्थिर) रहने वाले जैनाभिमत पदार्थों में ही सम्भव है। प्रकृत सूत्र में कृतकत्वहेतु के द्वारा शब्द के परिणामित्व सिद्ध किया गया है। यतः कृतकत्व व्याप्य है, अतः यह व्याप्य हेतु अपने व्यापक परिणामित्व साध्य को सिद्ध करता है।

---

१. पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति-स्थितिलक्षणः परिणामः, सोऽस्यास्तीति स परिणामी। पूर्वावस्थामप्यजहन् संस्पृशन् धर्ममुत्तरम्। स्वस्मादप्रच्युतो धर्मी परिणामी स उच्यते ॥१॥ २. पक्षः। ३. हेतुः। ४.अन्वयव्याप्तिः। ५.अन्वयदृष्टान्तः। ६.उपनयः। ७. निगमनम्। ८.व्यतिरेकव्याप्तिः। ९. व्यतिरेकदृष्टान्तः। १०. पदार्थः। ११. एतल्लक्षणप्रतिपादनेन कार्यत्वं स्वकारणसत्तासमवायः स्यादभूत्वाभावित्वं अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वं कारणव्यापारानुविधायित्वं निरस्तं भवति। एवं कृतक-त्वस्यार्थोऽत्र प्रतिपादतः सर्वत्र ज्ञातव्यः। १२. एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थ इत्यमरः। एकस्वभावरूपतया यो बालाद्यवस्थाराहित्येन भूतभविष्यद्वर्तमानकालव्यापी तस्याऽऽत्मादेः नाम कूटस्थ इति भावः। १३. एकस्वभावे नित्यपक्षे। १४. तदानीं नष्टत्वात् पूर्वाकारग्रहणाभावाच्च। प्रतिक्षणविनाशि क्षणिकमिति। १५. विषयपरिच्छेदे सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय इत्यस्मिन् सूत्रव्याख्यानावसरे।

कार्यहेतुमाह–

अस्त्यत्र देहिनि [१]बुद्धिर्व्याहारादेः[२]॥६२॥

कारणहेतुमाह–

अस्त्यत्रच्छाया छत्रात्[३]॥६३॥

अथ पूर्वचरहेतुमाह–

उदेष्यति शकटं[४] कृत्तिकोदयात्[५]॥६४॥

मुहूर्त्तान्ते इति सम्बन्धः।

अथोत्तरचरः–

अब आचार्य अविरुद्धकार्योपलब्धिरूप हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–इस देही (शरीरधारक प्राणी) में बुद्धि है; क्योंकि बुद्धि के कार्य वचनादिक पाये जाते हैं। यहाँ पर बुद्धि साध्य है और उसका अविरोधी कार्य वचनादिक हेतु है, वह अपने साध्य की सिद्धि करता है यह अविरुद्धकार्योपलब्धि का उदाहरण है ॥६२॥

अब अविरुद्धकारणोपलब्धिरूप हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–यहाँ छाया है, क्योंकि छाया का अविरोधी कारण छत्र पाया जाता है। अतः यह अविरुद्धकारणोपलब्धिरूप हेतु का उदाहरण है ॥६३॥

अब अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धिरूप हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–यहाँ मुहूर्तान्त पद का अध्याहार करना चाहिए। शकट नाम रोहिणी नक्षत्र का है। अतः यह अर्थ हुआ कि एक मुहूर्त्त के पश्चात् रोहिणी का उदय होगा; क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है ॥६४॥

भावार्थ–प्रतिदिन क्रम से एक-एक मुहूर्त्त के पश्चात् अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य आदि नक्षत्रों का उदय होता है। जब जिसका उदय विवक्षित हो, तब उसके पूर्ववर्ती नक्षत्र को पूर्वचर और उत्तरवर्ती नक्षत्र को उत्तरचर जानना चाहिए। प्रकृत में रोहिणी का उदय साध्य है, वह उसके पूर्वचर कृत्तिका के उदयरूप हेतु से सिद्ध किया जा रहा है, अतः यह अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि हेतु का उदारहण है।

अब अविरुद्धउत्तरचरोपलब्धि हेतु को कहते हैं–

---

१. बुद्धिपदेनाऽऽत्मा बोद्धव्यः। २. व्याहारो वचनम्, व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः इत्यमरः। आदिशब्दात् व्यापाराकारविशेषादिपरिग्रहः। वचनचातुर्यादेव। ३. कारणकारणादेरत्रैवान्तर्भावस्तथाहि–महोऽत्रत्यानां कण्ठविक्षेपकारी धूमवदग्नि मत्वात्। कण्ठादिविक्षेपस्य कारणं धूमस्तस्य कारणं वह्निरिति। ४. रोहिणी। ५. पूर्वपूर्वचराद्यनेनैव संगृहीतम्, तथाहि–उदेष्यति कृत्तिकाऽश्विन्युदयात्। कृत्तिकायाः पूर्वचरो भरण्युदयस्तत्पूर्वचरोऽश्विन्युदय इति।

उद्गाद् भरणिः प्राक्तत एव[1]॥६५॥

अत्रापि मुहूर्तात्प्रागिति सम्बधनीयम्; तत एव कृत्तिकोदयादेवेत्यर्थः।

सहचरलिङ्गमाह–

अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात्[2]॥६६॥

विरुद्धोपलब्धिमाह–

विरुद्धतदुपलब्धिः[3] प्रतिषेधे[4] तथा[5]॥६७॥

प्रतिषेधे साध्ये प्रतिषेध्येन[6] विरुद्धानां[7] सम्बन्धिनस्ते व्याप्यादय[8]स्तेषामुपलब्ध इत्यर्थः। तथेति षोढेति

सूत्रार्थ—भरणी का उदय एक मुहूर्त के पूर्व ही हो चुका है, क्योंकि कृत्तिका का उदय पाया जाता है॥६५॥

यहाँ पर भी 'मुहूर्तात् प्राक्' पद का अध्याहार करना चाहिए। तथा 'तत एव' पद से कृतिकोदय का अर्थ लेना चाहिए। तदनुसार यह अर्थ हुआ कि एक मुहूर्त के पूर्व ही भरणी का उदय हो चुका हैं; क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय हो रहा है। यतः भरणी से कृत्तिका नक्षत्र उत्तरचर है, अतः यह अविरुद्धउत्तरचरोपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अब अविरुद्धसहचरोपलब्धि हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ—इस मातुलिंग (विजौरा) में रूप है; क्योंकि उसका अविरोधी सहचर रस पाया जा रहा है। अतः यह अविरुद्धसहचरोपलब्धि हेतु का उदाहरण है ॥६६॥

अब आचार्य विरुद्धोपलब्धि के भेद कहते हैं–

सूत्रार्थ—प्रतिषेध सिद्ध करने वाली विरुद्धोपलब्धि के भी छह भेद हैं ॥६७॥

प्रतिषेध साध्य करने पर प्रतिषेध्य से विरुद्ध पदार्थों के सम्बन्धी जो व्याप्यादिक है, उनकी उपलब्धियाँ तथा अर्थात् छह प्रकार की होती हैं, ऐसा सूत्र का भाव जानना चाहिए।

भावार्थ—अविरुद्धोपलब्धि के समान विरुद्धोलब्धि के भी छह भेद हैं–

१. विरुद्धव्याप्योपलब्धि, २. विरुद्धकार्योपलब्धि, ३.विरुद्धकारणोपलब्धि, ४. विरुद्धपूर्वचरोप-लब्धि, ५. विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि और६. विरुद्धसहचरोपलब्धि। ये सभी हेतु

---

१. उत्तरोत्तरचराद्यनेनैव संगृहीतम्, तथाहि–उदगाद्भरणिः शकटोदयात्। भरण्युत्तरचरः कृत्तिकोदयः, तदुत्तरचरः शकटोदय इति। २. साध्यसमकालस्य संयोगिन एकार्थसमवायिनश्चात्रैवान्तर्भावो भवति। संयोग लिङ्गं यथाऽऽत्मनोऽत्रास्तित्वं विशिष्टशरीरात्। आत्मनः संयुक्तं शरीरं तदात्मनोऽस्तित्वं ज्ञापयति संयोगिलिङ्गस्य नैयायिकमतानुसरणे तु कार्यहेतावन्तर्भाव इति। ३. प्रतिषेध्येन साध्येन यद्विरूद्धं तत्सम्बन्धिनां तेषां व्याप्यादीनामुपलब्धिरिति। ४. नास्तित्वे साध्ये। ५. षोढा, अविरुद्धोपलब्धिवत् षट्प्रकारा। ६. प्रतिषेद्धुं योग्यं वस्तु प्रतिषेध्यं तेन सह। ७. पदार्थानाम्। ८. आदिशब्देन कार्यकारण-पूर्वोत्तरसहचराः परिगृह्यन्ते।

भावः।

तत्र साध्यविरुद्धव्याप्योपलब्धिमाह–

नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात्॥६८॥

शीतस्पर्शप्रतिषेध्येन[1] हि विरुद्धोऽग्निः, तद्व्याप्य[2]मौष्ण्यमिति।

विरुद्धकार्योपलम्भमाह–

नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात्॥६९॥

अत्रापि प्रतिषेध्यस्य साध्यस्य शीतस्पर्शस्य विरुद्धोऽग्निः, तस्य कार्यं धूम इति। विरुद्धकारणोपलब्धिमाह–

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात्॥७०॥

सुखविरोधि दुःखम्; तस्य कारणं हृदयशल्य[3]मिति।

विरुद्धपूर्वचरमाह–

नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात्॥७१॥

प्रतिषेध के साधक हैं।

अब साध्य से विरुद्धव्याप्योपलब्धि हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–यहाँ पर शीतस्पर्श नहीं है; क्योंकि उष्णता पाई जाती है ॥६८॥

यहाँ शीतस्पर्श प्रतिषेध्य है, उसकी विरोधी अग्नि है उसकी व्याप्य उष्णता पाई जा रही है, अतः यह विरुद्धव्याप्योपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अब विरुद्धकार्योपलब्धि हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–यहाँ पर शीतस्पर्श नहीं है; क्योंकि धूम है ॥६९॥

यहाँ भी प्रतिषेध के योग्य साध्य जो शीतस्पर्श उसकी विरुद्ध जो अग्नि उसका कार्य धूम पाया जाता है, अतः यह विरुद्धकार्योपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अब विरुद्धकारणोपलब्धि का उदाहरण कहते हैं–

सूत्रार्थ–इस प्राणी में सुख नहीं है; क्योंकि हृदय में शल्य पाई जाती है ॥७०॥

सुख का विरोधी दुःख है, उसका कारण हृदय में शल्य पाये जाने से यह विरुद्धकारणोपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अब विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी का उदय नहीं होगा; क्योंकि अभी रेवती नक्षत्र का उदय हो रहा है ॥७१॥

---

१. शीतस्पर्शसाध्येन सह। २. सहभावात्कारणे हेतौ कार्ये हेतौ वाऽनन्तर्भावाद् व्यतिरिक्तो व्याप्यहेतुरिति। ३. वाणफलकः।

शकटोदयविरुद्धो ह्यश्विन्युदयः, तत्पूर्वचरो रेवत्युदय इति।

विरुद्धोत्तरचर लिङ्गमाह–

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पुष्योदयात्[१]॥७२॥

भरण्युदयविरुद्धो हि पुनर्वसूदयः, तदुत्तरचरः पुष्योदय इति।

विरुद्धसहचरमाह–

नास्त्यत्र भित्तौ [२]परभागाभावोऽ[३]र्वाग्भागदर्शनात्॥७३॥

परभागाभावस्य [४]विरुद्धस्तद्भावः[५], तत्सहचरोऽर्वाग्भाग इति।

[७]अविरुद्धानुपलब्धिभेदमाह–

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे[८] सप्तधा–
स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात्॥७४॥

यहाँ पर शकट (रोहिणी) के उदय का विरोधी अश्विनी का उदय है, उसका पूर्वचर रेवती नक्षत्र है उसका उदय पाये जाने से यह विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अब विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय नहीं हुआ है; क्योंकि अभी पुष्य नक्षत्र का उदय पाया जा रहा है॥७२॥

यहाँ पर भरणी के उदय का विरोधी पुनर्वसु नक्षत्र का उदय है, उसका उत्तरचर पुष्य नक्षत्र का उदय पाये जाने से यह विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अब विरुद्धसहचरोपलब्धि हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–इस भित्ति (दीवाल) में पर भाग (उस ओर के भाग) का अभाव नहीं है; क्योंकि अर्वाग्भाग (इस ओर का भाग) दिखाई दे रहा है॥७३॥

यहाँ पर दीवाल के परभाग के अभाव का विरोधी उसका सद्भाव है, उसका सहचारी इस ओर का भाग पाया जाता है, अतः यह विरुद्धसहचरोपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अब आचार्य अविरुद्धानुपलब्धि के भेद कहते हैं–

सूत्रार्थ–प्रतिषेध अर्थात् अभाव को सिद्ध करने वाली अविरुद्धानुपलब्धि के सात भेद हैं– १. अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि, २. अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि, ३. अविरुद्धकार्यानुपलब्धि, ४. अविरुद्धकारणानुपलब्धि, ५. अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि, ६. अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि और ७.

---

१. किन्तु यामात्पूर्वमुदगात्। २. द्वितीय–। ३.प्रथम–। ४. अभावस्तु निषेध्यस्तद्विरुद्धो भावः। ५. परभागसद्भावः। ६. अस्तित्व–। ७. प्रतिषेध्येन साध्येनाविरुद्धस्यानुप–लब्धिः। प्रतिषेध्ये साध्येऽनुपलब्धिर्विरुद्धा न भवति। ८. अभावसाध्ये।

स्वभावादिपदानां द्वन्द्वः, तेषामनुपलम्भ इति पश्चाच्छष्ठीतत्पुरुषसमासः[१]।

[२]स्वभावानुपलम्भोदाहरणमाह–

नास्त्यत्र भूतले [३]घटोऽनुपलब्धेः[४]॥७५॥

अत्र पिशाच–[५]परमाण्वादिभिर्व्यभिचारपरिहारार्थमुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे सतीति विशेषणमुन्नेयम्[६]।

व्यापकानुपलब्धिमाह–

नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः॥७६॥

अविरुद्धसहचरानुपलब्धि ॥७४॥

सूत्र–पठित स्वभाव, व्यापक आदि पदों का पहले द्वन्द्व समास करना, पीछे उनका अनुपलम्भ पद के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास करना चाहिए।

अब पहले अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि हेतु का उदाहरण कहते हैं–

सूत्रार्थ–इस भूतल पर घट नहीं है; क्योंकि उपलब्धि योग्य स्वभाव के होने पर भी वह नहीं पाया जा रहा है ॥७५॥

यहाँ पर पिशाच और परमाणु आदिक से व्यभिचार के परिहारार्थ ''उपलब्धिलक्षण प्राप्ति के योग्य होने पर भी'' इतना विशेषण ऊपर से लगाना चाहिए।

भावार्थ–यदि कोई ऐसा कहे कि यहाँ पर भूत-प्रेतादि नहीं हैं अथवा परमाणु नहीं है; क्योंकि उनकी अनुपलब्धि है; तो यह अनुपलब्धिरूप हेतु व्यभिचारी है अर्थात् सन्दिग्धानैकान्तिक है। सम्भव है कि वे भूत-पिशाचादि या परमाणु आदि यहाँ पर हों और उनका अदृश्य या सूक्ष्म स्वभाव होने से हमें उनकी उपलब्धि न हो रही हो। अतः इस प्रकार के व्यभिचार के दूर करने के लिए आचार्य ने उक्त विशेषण लगाने को कहा है। यतः घट का स्वभाव उपलब्धि के योग्य है, फिर भी वह घट यहाँ उपलब्ध नहीं हो रहा हैं, अतः यह अविरुद्धस्वभावानुपलब्धिरूप हेतु का उदाहरण है।

अब अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–यहाँ पर शीशम नहीं है; क्योंकि वृक्ष नहीं पाया जा रहा है ॥७६॥

---

१. पश्चात्तास इति पाठान्तरम्। तत्रायमर्थः–'ता' इत्युक्ते षष्ठी 'स' इत्युक्ते समासः षष्ठीसमास इत्यभिप्रायः। ता इति षष्ठीविभक्तेः संज्ञा जैनेन्द्रे (व्याकरणे) स इति समासस्य च। २. केवलं घटरहितस्वभावभूतलं दृष्ट्वाऽनुमिनोतीति स्वभावानुपलब्धिः। ३. प्रतिषेध्यस्य घटस्याविरुद्धस्त्स्वभावस्तस्यानुपलम्भात्। ४. दृश्यस्वभावत्वे सत्यनुपलब्धेरिति। ५. ये उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे सति नोपलभ्यन्ते त एव निषेध्याः, न पुनः पिशाचादयस्तेषामुप-लब्धिलक्षणप्राप्तित्वायोगात्। तथा सति प्रभाववता योगिना पिशाचादिना वा प्रतिबन्धाद् घटादेरनुपलब्धिर्न विरुध्यते। ६. निश्चेतव्यम्।

शिंशपात्वं हि वृक्षत्वेन व्याप्तम्; तदभावे तद्व्याप्यशिंशपाया अप्यभावः।

कार्यानुपलब्धिमाह–

नास्त्यत्राप्रतिबद्ध[1]सामर्थ्योऽ[2]ग्निर्धूमानुपलब्धेः[3]॥७७॥

अप्रतिबद्धसामर्थ्यं[4] हि [5]कार्यम्प्रत्यनुपहत[6]शक्तिकत्वमुच्यते। तदभावश्च कार्यानुपलम्भादिति।

कारणानुपलब्धिमाह–

नास्त्यत्र धूमो[7]ऽनग्नेः॥७८॥

पूर्वचरानुपलब्धिमाह–

न भविष्यति[8] मुहूर्त्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः॥७९॥

शिंशपात्व वृक्षत्व के साथ व्याप्त है अर्थात् शिंशपात्व व्याप्य है और वृक्षत्व व्यापक है। जब यहाँ पर व्यापक वृक्षत्व का ही अभाव है, तो उसके व्याप्य शिंशपात्व का भी अभाव है। इस प्रकार शिंशपात्व के व्यापक वृक्षत्व के नहीं पाये जाने से यह अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अविरुद्धकार्यानुपलब्धि हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–यहाँ पर अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाली अग्नि नहीं है; क्योंकि धूम नहीं पाया जाता है ॥७७॥

जिसकी सामर्थ्य अप्रतिबद्ध है, ऐसा कारण अपने कार्य के प्रति अनुपहत (अप्रतिहत) शक्तिवाला कहा जाता है, अर्थात् वह अपने कार्य करने में समर्थ समझा जाता है। यहाँ पर अप्रतिहत शक्तिवाली अग्नि का अभाव उसके अविरोधी कार्य धूम के नहीं पाये जाने से सिद्ध है, अतः यह अविरुद्धकार्यानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अब अविरुद्धकारणानुपलब्धि हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–यहाँ पर धूम नहीं है; क्योंकि धूम के अविरोधी कारण अग्नि का अभाव है, अतः यह अविरुद्धकारणानुपलिब्ध हेतु का उदाहरण है ॥७८॥

अब अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–एक मुहूर्त्त के पश्चात् रोहिणी का उदय नहीं होगा; क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय नहीं पाया जाता। यहाँ पर रोहिणी के उदय का अविरोधी पूर्वचर जो कृत्तिका का उदय है, उसके नहीं पाये जाने से यह अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है ॥७९॥

---

१. आर्द्रेन्धनसंयोग सति। २. अत्र धूमरूपकार्य कारित्वमेव सामर्थ्यम्। ३. आर्द्रेन्धनसंयोगे सत्यपि धूमस्यादर्शनात्। ४. यद्विशेषणम्। ५. धूमम्। ६. अग्नेः। ७. कुतः। ८. नोदेष्यतीति वा पाठः।

उत्तरचरानुपलब्धिमाह–

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्त्तात्प्राक् तत एव॥८०॥

तत एव कृत्तिकोदयानुपलब्धेरेवेत्यर्थः।

सहचरानुपलब्धिः प्राप्तकालेत्याह–

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो[१] [२]नामानुपलब्धेः॥८१॥

विरुद्धकार्याद्यनुपलब्धिर्विधौ सम्भवतीत्याचक्षाणस्तद्भेदास्त्रय एवेति तानेव प्रदर्शयितुमाह–

[३]विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ[४] त्रेधा–[५]विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात्॥८२॥

विरुद्धकार्याद्यनुपलब्धिर्विधौ सम्भवतीति विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिरिति।

तत विरुद्धकार्यानुपलब्धिमाह–

अब अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि हेतु का उदाहरण कहते हैं–

सूत्रार्थ–एक मुहूर्त से पहले भरणी का उदय नहीं हुआ है; क्योंकि अभी उसके उदय के अविरोधी उत्तरचर कृत्तिका का उदय नहीं पाया जाता है। अतः यह अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है ॥८०॥

यहाँ सूत्रपठित 'तत एव' पद से कृत्तिका के उदय की अनुपलब्धि का अर्थ लिया गया है।

अब अविरुद्धसहचरानुपलब्धि हेतु के कहने का काल प्राप्त हुआ है अतः उस कहते हैं–

सूत्रार्थ–इस सम तुला अर्थात् समान (ठीक) तौलने वाली ताखड़ी या तराजू में उन्नाम (एक ओर ऊँचापन) नहीं है; क्योंकि उन्नाम का अविरोधी सहचर नाम (दूसरी ओर नीचापन) नहीं पाया जाता। अतः यह अविरुद्धसहचरानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है ॥८१॥

विरुद्धकार्यानुपलब्धि आदि हेतु विधि में संभव है, अर्थात् सद्भाव के साधक है, और उसके भेद तीन ही हैं, यह बतलाने के लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–विधि (सद्भाव) के सिद्ध करने में विरुद्धानुपलब्धि के तीन भेद हैं–

१. विरुद्धकार्यानुपलब्धि, २. विरुद्धकारणानुपलब्धि और ३. विरुद्धस्वभावानुपलब्धि ॥८२॥ साध्य से विरुद्ध पदार्थ के कार्य का नहीं पाया जाना विरुद्धकार्यानुपलब्धि है। साध्य से विरुद्ध पदार्थ के कारण का नहीं पाया जाना विरुद्धकारणानुपलब्धि है। और साध्य से विरुद्ध पदार्थ के स्वभाव का नहीं पाया जाना विरुद्धस्वभावनुपलब्धि है। यतः ये तीनों ही हेतु अपने साध्य के सद्भाव को सिद्ध करते हैं, अतः उन्हें विधिसाधक कहा गया है।

उनमें से पहले विरुद्धकार्यानुपलब्धि हेतु को कहते हैं–

---

१. उच्चत्वम्। २. नम्रता। यदोन्नामस्तदाऽवनाम इति सहचरत्वम्। ३. विधेयेन साध्येन विरुद्धस्य कार्यादेरनुपलब्धिः। ४. साध्ये। ५. विरुद्धशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धते।

यथाऽस्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति; निरामयचेष्टानुपलब्धेः[१]॥८३॥

व्याधिविशेषस्य हि विरुद्धस्तदभावः, तस्य कार्यं निरामयचेष्टा, तस्या अनुपलब्धिरिति।

विरुद्धकारणानुपलब्धिमाह–

अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात्॥८४॥

दुःखविरोधि सुखम्, तस्य कारणमिष्टसंयोगस्तदनुपलब्धिरिति।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धिमाह–

अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः[२]॥८५॥

अनेकान्तात्मकविरोधी नित्याद्येकान्तः, न पुनस्त[३]द्विषयविज्ञानम्[४], तस्य[५] मिथ्या[६]ज्ञानरूपतयोपलम्भ–

सूत्रार्थ–जैसे इस प्राणी में व्याधिविशेष है; क्योंकि निरामय (रोग रहित) चेष्टा नहीं पाई जाती है ॥८३॥

व्याधिविशेष के सद्भाव का विरोधी उसका अभाव है, उसका कार्य निरामय चेष्टा अर्थात् निरोगीपना है, उसकी यहाँ पर अनुपलब्धि है, अतः यह विरुद्धकार्यानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अब विरुद्धकारणानुपलब्धि हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–इस प्राणी में दुःख है; क्योंकि इष्ट संयोग का अभाव है ॥८४॥

दुःख का विरोधी सुख है, उसका कारण इष्ट-संयोग है। उसकी विवक्षित प्राणी में अनुपलब्धि है, अतः यह विरुद्धकारणानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अब विरुद्धस्वभावानुपलब्धि हेतु को कहते हैं–

सूत्रार्थ–वस्तु अनेकान्तात्मक है, अर्थात् अनेक धर्म वाली है, क्योंकि वस्तु का एकान्तस्वरूप पाया नहीं जाता ॥८५॥

अनेकान्तात्मक साध्य का विरोधी नित्यत्व आदि एकान्त है, न कि एकान्तपदार्थ को विषय करने वाला विज्ञान; क्योंकि मिथ्याज्ञान के रूप से उसकी उपलब्धि सम्भव है। नित्यादि एकान्तरूप

---

१. अनुपलब्धिरूपो हेतुरूपलब्धिं साधयति। २. वस्तु नित्यमेवानित्यमेवेति वस्तुन एकान्तरूपस्यानुपलब्धेः। ३. एकान्तपदार्थविषयं ज्ञानं न एकान्तात्मकं, तस्योपलब्धित्वात्। ४. यदि नित्याद्येकान्तस्वरूपपदार्थो नास्ति, तर्हितद्विषयं विज्ञान कथं सम्भवतीति शङ्कां परिहरति। ५. एकान्तपदार्थविज्ञानस्य। ६. नित्याद्येकान्तवस्तुनोऽनुपलब्धिर्वर्तते, न पुनर्नित्याद्येकान्तावस्तुविषयं करोति यद् ज्ञानं तस्यानुपलब्धिस्तस्य विपरीतादिमिथ्याज्ञानरूपतया सम्भवात्। यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानमिति। तत्र शुक्तिका शुक्तिकैव, न रजतम्। परन्तु तत्र रजतज्ञानं भवति। तथा पदार्थोऽनेकान्तस्वरूपः, परन्तु तत्र नित्याद्येकान्तरूपमिथ्याज्ञानं जायते। यथा वा विलक्षणा स्त्री इत्युक्तम्, तदा पुरुषापेक्षया, न पुरुषज्ञानापेक्षया वा। किन्तु पुरुषापेक्षयैव। तथाऽत्र पदार्थापेक्षया तदज्ञानमपि नित्याद्येकान्तरूपं भवति, किन्तु विशेषतस्तन्मिथ्या ज्ञानस्योपलब्धिर्वर्तते; न तु एकान्तरूपलक्षणपदार्थस्योपलब्धिः साधनरूपस्य।

सम्भवात्। [१]तस्य स्वरूपमवास्तवा[२]कारस्तस्यानुपलब्धिः।

ननु च [३]व्यापकविरुद्धकार्यादीनां[४] परम्परयाऽविरोधिकार्यादिलिङ्गानां च[५] बहुलमुपलम्भसम्भवात्तान्यपि किमिति नाचार्यैरुदाहृतानीत्याशङ्कायामाह–

परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम्॥८६॥

अत्रैवैतेषु कार्यादिष्वित्यर्थः।

तस्यैव साधनस्योपलक्षणार्थ[६]मुदाहरणद्वयं प्रदर्शयति–

पदार्थ का स्वरूप अवास्तविक है अतः उसकी अनुपलब्धि है, इससे यह विरुद्धस्वभावानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

भावार्थ–यहाँ टीकाकार ने अनेकान्तात्मक पद का विरोधी नित्याद्येकान्त को कहा है, न कि एकान्त के विषय करने वाले ज्ञान को। इसका अभिप्राय यह है कि नित्यैकान्त या क्षणिकैकान्तरूप वस्तुओं को विषय करने वाला मिथ्याज्ञान पाया जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को सीप में चाँदी का ज्ञान हुआ। यहाँ वह सीप तो वास्तविक सीप ही है, अतः वह अनेकान्तात्मक ही है। किन्तु उसमें जो चाँदी का ज्ञान हुआ है, वह मिथ्या है। प्रकृत में वस्तु का अनेकान्तात्मक स्वभाव विवक्षित है, उसका विरोधी एकान्त स्वभाव पाया नहीं जाता, अतः यह विरुद्धस्वभावानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि व्यापक विरुद्धकार्यादि हेतु और परम्परा से अविरोधी कार्यादि हेतुओं का पाया जाना बहुलता से सम्भव है। आचार्यों ने उनके उदाहरण क्यों नहीं दिये? सूत्रकार उसकी शंका का समाधान करते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–परम्परा से जो साधनरूप हेतु सम्भव हैं, उनका इन ही हेतुओं में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए॥८६॥

'अत्रैव' का अर्थ इन ही उपर्युक्त कार्यादिहेतुओं में लेना चाहिए।

अब आचार्य उन्हीं हेतुओं के उपलक्षण के लिए दो उदाहरण दिखलाते हैं–

---

१. नित्याद्येकान्तरूपस्य पदार्थस्य। २. असत्यभूतः। अवस्तु–सम्बन्धीत्यर्थः। ३. कारणविरुद्धकार्यादीनामित्यर्थः। ४. नास्त्यत्र शीतस्पर्श सामान्यव्याप्तः शीतस्पर्शविशेषो धूमात्, निषेध्यस्य शीतस्पर्शविशेषस्य हि व्यापकं शीतस्पर्शसामान्यं कार्यमौष्ण्यं तस्य तद्विरुद्धोऽग्निस्तस्य कार्यं धूम इति। ५.नास्त्यौष्ण्यं रोमाञ्चात्। व्यापकोऽग्निस्तदविरुद्धं कार्यमौष्ण्यं तस्य विरुद्धं कार्यशैत्यं तस्य परम्परया कार्य रोमाञ्चः, तस्य बहुलमुपलम्भसम्भवात्। ६. परिज्ञानार्थम्। स्वस्य स्वसदृशस्य च ग्राहकमुपलक्षणम्। स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतर–प्रतिपादकत्वं वा, स्वार्थबोधकत्वे सतीतरार्थबोधकत्वं वा। अन्तर्भावनीयार्थमिति।

अभूदत्र चक्रे शिवकः[1] स्थासात्॥८७॥

[2]एतच्च किंसञ्ज्ञिकं[3] क्वान्तर्भवतीत्यारेकायामाह–

कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ॥८८॥

अन्तर्भावनीयमिति सम्बन्धः। शिवकस्य हि कार्यं छत्रकम्, तस्य कार्यं स्थास इति।

दृष्टान्तद्वारेण द्वितीयहेतुमुदाहरति–

नास्त्यत्र गुहायां मृगकीडनं मृगारिसंशब्दनात्। कारणविरुद्धकार्यं [4]विरुद्धकार्योपलब्धौ[5] यथा[6] ॥८९॥

सूत्रार्थ—इस चक्र पर शिवक हो गया है; क्योंकि स्थास पाया जा रहा है ॥८७॥

भावार्थ—जब कुम्भकार घड़े को बनाता है, तब घड़ा बनने से पहले शिवक छत्रक, स्थान, कोश, कुशूल आदि अनेक पर्यायें पैदा होती हैं, अन्त में घड़ा रूप पर्याय उत्पन्न होती है। उनमें से सबसे पहले कुम्भकार मिट्टी के पिण्ड को चाक पर रखता है, उस पिण्डाकार पर्याय का नाम शिवक है, उसके पीछे वाली पर्याय का नाम छत्रक है और उसके पश्चात् होने वाली पर्याय का नाम स्थास है। इसी व्यवस्था को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने उदाहरण प्रस्तुत किया है कि इस चाक पर शिवकरूप पर्याय हो चुकी है; क्योंकि अभी स्थासरूप पर्याय विद्यमान है। इसका अर्थ यह हुआ कि शिवक का कार्य छत्रक है और उसका कार्य स्थास है, अतः यह स्थास शिवक के कार्य का परम्परा से कार्य है, साक्षात् नहीं, क्योंकि साक्षात् कार्य तो छत्रक है।

उक्त हेतु की क्या संज्ञा है और किस हेतु में उसका अन्तर्भाव होता है, ऐसी आशंका होने पर आचार्य उत्तर देते हैं–

सूत्रार्थ—कार्य के कार्यरूप उक्त हेतु का अविरुद्धकार्योपलब्धि में अन्तर्भाव करना चाहिए ॥८८॥

यहाँ 'अन्तर्भावनीयम्? पद का अध्याहार करना चाहिए। उक्त उदाहरण में शिवक का कार्य छत्रक है और उसका कार्य स्थास है। इस प्रकार यह स्थास शिवक के कार्य का अविरोधी कार्य होने से परम्परया अविरुद्धकार्योपलब्धि में अन्तर्भूत होता है।

अब आचार्य दृष्टान्त के द्वारा परम्परा हेतु का दूसरा उदाहरण देते हैं–

सूत्रार्थ—पर्वत की इस गुफा में मृग की क्रीड़ा नहीं है; क्योंकि मृग के शत्रु सिंह का गर्जन सुनाई दे रहा है। यह कारण-विरुद्धकार्यरूप हेतु है, सो विरुद्धकार्योपलब्धि में इसका अन्तर्भाव करना चाहिए ॥८९॥

---

१. शिवकच्छत्रस्थास-कोशकुशूलाः घटस्य पूर्वपर्यायाः। २. इदं लिङ्गं। ३. कार्यकार्यसञ्ज्ञिकमिति। ४. साधनम्। ५. अन्तर्भावः। ६. तथा कार्यकार्य कार्याविरुद्धोप-लब्धावन्तर्भावनीयामिति सम्बन्धः।

मृगक्रीडनस्य हि कारणं मृगस्तस्य विरोधी मृगारिस्तस्य कार्यं तच्छब्दनमिति। इदं यथा विरुद्धकार्योपलब्धावन्तर्भवति, तथा[१]प्रकृतमपीत्यर्थः।

बालव्युत्पत्यर्थं पञ्चावयवप्रयोग इत्युक्तम्। व्युत्पन्नम्प्रति कथं प्रयोगनियम इति शङ्कायामाह–

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु [२]तथोपपत्त्याऽ[३]न्यथानुपपत्त्यैव वा॥९०॥

व्युत्पन्नस्य व्युत्पन्नाय वा प्रयोगः, क्रियत इति शेषः। तथोपपत्त्या तथा साध्ये सत्येवोपपत्तिस्तयाऽन्यथानुपपत्त्यैव वाऽन्यथा साध्याभावेऽनुपपत्तिस्तया।

तामेवानुमानमुद्रामुन्मुद्रयति[४]–

अग्निमानयं देशस्तथैव[५] धूमवत्त्वोपपत्ते[६]र्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा[७]॥९१॥

ननु तदतिरिक्त–[८]दृष्टान्तादेरपि व्याप्तिप्रतिपत्तावुपयोगित्वात् व्युत्पन्नापेक्षया कथं तदप्रयोग इत्याह–

मृग कीड़ा का कारण मृग है, उसका विरोधी मृगारि (सिंह) है, उसका कार्य उसकी गर्जना है। यह उदाहरण जैसे परम्परा से विरुद्धकार्योपलब्धि में अन्तर्भूत होता है, उसी प्रकार से पूर्वोक्त कार्य कार्यरूप हेतु का अविरुद्धकार्योपलब्धि में अन्तर्भाव जानना चाहिए।

यहाँ कोई कहते है कि बाल–व्युत्पत्ति के लिए अनुमान के पाँचों अवयवों का प्रयोग किया जा सकता है, ऐसा आपने कहा है। व्युत्पन्न पुरुष के प्रति प्रयोग का क्या नियम है?

ऐसी शंका होने पर आचार्य उत्तर देते हैं–

सूत्रार्थ–व्युत्पन्न प्रयोग तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्ति के द्वारा करना चाहिए ॥९०॥

सूत्र पठित 'व्युत्पन्न–प्रयोग' इस पद का समास व्युत्पन्न का प्रयोग ऐसा षष्ठीतत्पुरुष, अथवा व्युत्पन्न के लिए प्रयोग ऐसा चतुर्थी तत्पुरुष करना चाहिए। सूत्र में 'क्रियते' यह पद शेष है। साध्य के होने पर ही साधन के होने को तथोपपत्ति कहते हैं और साध्य के अभाव में साधन के अभाव को अन्यथानुपपत्ति कहते हैं।

सूत्रार्थ–यह प्रदेश अग्निवाला है; क्योंकि तथैव अर्थात् अग्निवाला होने पर ही धूमवाला हो सकता है। अथवा अग्नि के अभाव में धूमवाला हो नहीं सकता ॥९१॥

भावार्थ–जो न्यायशास्त्र में व्युत्पन्न (प्रवीण) हैं, उनके लिए अनुमान का प्रयोग प्रतिज्ञा के साथ तथोत्पत्ति या अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु से ही करना चाहिए; क्योंकि उनके लिए उदाहरणादिक शेष अवयवों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि साध्य–साधन के अतिरिक्त दृष्टान्त आदि का प्रयोग भी

---

१. कार्यकार्यलिङ्गं, कारणकारणादिनामहेतुः। २. अन्वयव्याप्त्या। ३. व्यतिरेकव्याप्त्या। अग्निमानयं देशो धूमत्वान्यथानुपपत्तेरिति। ४. प्रकटयति, प्रकटीकरोति। ५. अग्निमत्वे सत्येव। ६. अन्वयव्याप्तिः। ७. व्यतिरेकव्याप्तिः। ८. साध्यसाधनादतिरिक्तस्य दृष्टान्तादेः।

हेतुप्रयोगो[1] हि यथा व्याप्तिग्रहणं[2] विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते[3]॥९२॥

हि शब्दो यस्मादर्थे। यस्माद्यथा व्याप्तिग्रहणं व्याप्तिग्रहणानतिक्रमेणैव हेतुप्रयोगो विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैस्तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्या वाऽवधार्यते दृष्टान्तादिकमन्तरेणैवेत्यर्थः। यथा दृष्टान्तादेर्व्याप्तिप्रतिपत्तिम्प्रत्यनङ्गत्वं[4] तथा [5]प्राक्-प्रपञ्चितमिति नेह पुनः प्रतन्यते।

नापि दृष्टान्तादिप्रयोगः साध्यसिद्ध्यर्थं फलवानित्याह–

तावता च साध्यसिद्धिः॥९३॥

चकार एवकारार्थे। निश्चितविपक्षासम्भवहेतुप्रयोगमात्रेणैव साध्यसिद्धिरित्यर्थः।

तेन[6] पक्षप्रयोगोऽपि सफल इति दर्शयन्नाह–

व्याप्ति के ज्ञान कराने में उपयोगी है, फिर व्युत्पन्न पुरुषों की अपेक्षा से उनका अप्रयोग क्यों ? अर्थात् प्रयोग क्यों नहीं करते ? आचार्य इसका उत्तर देते हैं–

सूत्रार्थ–जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति निश्चित है, ऐसे ही हेतु का प्रयोग किया जाता है; अतः उतने मात्र से अर्थात् उस प्रकार के हेतु के प्रयोग से दृष्टान्तादिक के बिना ही व्युत्पन्न पुरुषव्याप्ति का निश्चय कर लेते हैं ॥९२॥

सूत्र-पठित 'हि' शब्द 'यस्मात्' इस अर्थ में है। यतः जैसे व्याप्ति का ग्रहण हो जाये, उस प्रकार से अर्थात् तथोपपत्ति, अथवा अन्यथानुपपत्ति के द्वारा अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति के ग्रहण का उल्लंघन न करके ही हेतु का प्रयोग किया जाता है, अतः उतने मात्र से अर्थात् दृष्टान्तादिक के बिना ही व्युत्पन्न पुरुष व्याप्ति का अवधारण कर लेते हैं। जिस प्रकार से दृष्टान्तादिक व्याप्ति की प्रतिपत्ति के लिए कारण नहीं है, उस प्रकार का कथन पहले ''एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्'' इत्यादि सूत्र की व्याख्या करते समय कर आये हैं, अतः यहाँ पर उनका पुनः विस्तार नहीं किया जाता है।

दृष्टान्तादिक का प्रयोग साध्य की सिद्धि के लिए फलवान् नहीं है, आचार्य इस बात को बतलाने के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–उतने मात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है ॥९३॥

सूत्रोक्त 'च' शब्द एवकार के अर्थ में है। उतने मात्र से अर्थात् जिसका विपक्ष में रहना निश्चितरूप से असम्भव है, ऐसे हेतु के प्रयोग मात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है। अतः उसके लिए दृष्टान्तादिक का प्रयोग कोई फलवाला नहीं है।

और इसी कारण से पक्ष का प्रयोग भी सफल है, यह बतलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

---

१. यत्र धूमस्तत्राग्निरिति हेतुप्रयोगः। २. हसः (अव्ययीभावसमासः)। तत्कथम् ? व्याप्तिग्रहणमनतिक्रम्य वर्तत इति यथा व्याप्तिग्रहणमिति। ३. निश्चीयते। ४. अहेतुकत्व-मकारणत्वमित्यर्थः। ५. एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणमित्यत्र। ६. यथोक्तसाधनेन साध्यसिद्धिर्येन।

तेन पक्षस्तदाधार[1]-सूचनायोक्तः॥९४॥

यतस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिप्रयोगमात्रेण व्याप्तिप्रतिपत्तिस्तेन हेतुना[2] पक्षस्तदाधारसूचनाय साध्यव्याप्त-साधनाधारसूचनायोक्तः। ततो यदुक्तं परेण[3]-

[4]तद्भावहेतुभावौ[5] हि दृष्टान्ते[6] तदवेदिनः[7]।
[8]ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः॥२२॥

इति तन्निरस्तम्; व्युत्पन्नं प्रति यथोक्तहेतुप्रयोगोऽपि पक्षप्रयोगाभावे साधनस्य [9]नियताधारतानवधारणात्।

अथानुमानस्वरूपं प्रतिपाद्येदानीं क्रमप्राप्तमागमस्वरूपं निरूपयितुमाह-

---

सूत्रार्थ—इसी कारण से साध्य के बिना नहीं होने वाले साधन का आधार सूचित करने के लिए पक्ष कहा जाता है ॥९४॥

यतः तथोपपत्ति और अन्यथानुपत्तिरूप हेतु के प्रयोग मात्र से व्याप्ति की प्रतिपत्ति हो जाती है, इस कारण तदाधार-सूचनार्थ अर्थात् साध्य के साथ व्याप्ति के रखने वाले साधन का आधार बतलाने के लिए पक्ष का प्रयोग किया जाता है। इसलिए बौद्धों ने जो यह कहा है-

जो पुरुष साध्य-व्याप्त साधन को नहीं जानते हैं, उनके लिए विज्ञजन दृष्टान्त में तद्-भाव को या हेतुभाव को कहते हैं। किन्तु विद्वानों के लिए तो केवल एक ही हेतु कहना चाहिए॥२२॥

विशेषार्थ—बौद्ध लोग साध्य और साधन में तादात्म्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध मानते हैं। जहाँ पर स्वभाव हेतु होगा, वहाँ पर साध्य-साधन में तादात्म्य-सम्बन्ध होगा और जहाँ पर कार्य हेतु होगा, वहाँ पर साध्य-साधन में तदुत्पत्ति-सम्बन्ध होगा। कारिका में प्रयुक्त 'तद्भाव ' पद से स्वभाव हेतु और 'हेतुभाव' पद से कार्य हेतु का अभिप्राय है। दृष्टान्त में अज्ञजनों को साध्य साधन-गत इन दोनों ही सम्बन्धों का ज्ञान कराया जाता है। अतः अज्ञजनों के लिए तो हेतु और दृष्टान्त का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु विज्ञजन तो साध्य-साधन के सम्बन्ध से परिचित होते हैं, अतः उसके लिए केवल एक हेतु का ही प्रयोग करना चाहिए।

उनका यह कथन निराकरण कर दिया गया है, क्योंकि व्युत्पन्न पुरुष के प्रति यथोक्तहेतु का प्रयोग भी पक्ष-प्रयोग के अभाव में साधन के निश्चित नियत आधारता का निश्चय नहीं करता है।

इस प्रकार अनुमान के स्वरूप का प्रतिपादन करके अब आचार्य क्रमप्राप्त आगम के स्वरूप का निरूपण करने के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं-

---

१. साधनव्याप्तसाध्याधार-। २. कारणेन। ३. बौद्धेन। ४. साध्यसाधन-भावौ। ५. पक्षहेतुभावौ। स्वभावहेतौ साध्यस्य तद्भावः साधनस्वभावत्वम्। कार्यहेतौ साध्यस्यहेतुभावः कारणत्वमित्यर्थः। ६. महानसादौ। ७. साध्यव्याप्तसाधनावेदिनः अव्युत्पन्नस्येत्यर्थः। ८. विद्वद्भिः कथ्येते। ९. पर्वतो वा महानसो वेति।

[१]आप्तवचनादि[२]-निबन्धनमर्थज्ञानमागमः[३]॥९५॥

यो यत्रावञ्चकः स तत्राऽऽप्तः। आप्तस्य वचनम्। आदिशब्देनाङ्गुल्यादिसंज्ञापरिग्रहः। आप्तवचन-

सूत्रार्थ–आप्त के वचन आदि के निमित्त से होने वाले अर्थ-ज्ञान को आगम कहते हैं ॥९५॥

विशेषार्थ–किसी किसी प्रति में 'आप्तवाक्यादि-निबन्धन' ऐसा भी पाठ मिलता है पर उससे अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि वचनों के समुदाय को ही वाक्य कहते हैं। सूत्रोक्त पदों की सार्थकता इस प्रकार है–अर्थज्ञान आगम है; इतना लक्षण कहने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भी लक्षण चला जाता; क्योंकि उनसे भी पदार्थों का ज्ञान होता है; इतः इस अतिव्याप्ति दोष के परिहारार्थ 'वचननिबन्धन' या 'वाक्यनिबन्धन' यह पद दिया। वचन-निबन्धन या वाक्यनिबन्धन अर्थज्ञान आगम है, ऐसा लक्षण करने पर जिसी-किसी छली-कपटी या सुप्त-उन्मत्त आदि पुरुषों के वचनों से उत्पन्न होने वाला अर्थज्ञान आगम कहलाने लगता। अतः इस प्रकार के अतिव्याप्ति दोष के निराकरणार्थ सूत्र में आप्त पद का ग्रहण किया। आप्तवचननिबन्धनज्ञान आगम है, ऐसा लक्षण कहने पर यतः आप्त के वचन कानों से सुने जाते हैं, अतः श्रवणेन्द्रियजनित मतिज्ञानरूप सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष से अतिव्याप्ति होती है, उसके परिहार के लिए सूत्र में 'अर्थ' यह पद ग्रहण किया है। 'आप्त-वचन-निबन्धन अर्थज्ञान आगम है' इतना लक्षण करने पर भी परार्थानुमान में उक्त लक्षण के चले जाने से अतिव्याप्ति होती, अतः उसके निराकरण के लिए सूत्र में 'आदि' पद को ग्रहण किया। आदि पद से शिर, नेत्र, हस्त, पाद आदि के द्वारा किया जानेवाला संकेत ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार आप्त पद से वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी व्यक्ति का अर्थ लेना चाहिए। तदनुसार यह अर्थ हुआ कि आप्त के वचन और उसके संकेत आदि से जो पदार्थों का ज्ञान होता है, वह आगम कहलाता है।

जो जहाँ अवञ्चक है, वह वहाँ आप्त है, अर्थात् जो निष्कपट है, जिसके वचन किसी को ठगने या धोखा देने वाले नहीं है, वह आप्त कहलाता है। यहाँ अवञ्चक पद उपलक्षण है, अतः

१. अर्थज्ञानमागम इत्येतावत्युच्यमाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिः; अतस्तत्परिहारार्थं वाक्यनिबन्धनमिति। वाक्यनिबन्धनमर्थ-ज्ञानमागम इत्युच्यमानेऽपि यादृच्छिकसंवादिषु विप्रलम्भवाक्यजनेषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरे फलसंसर्गादिज्ञानेष्वति-व्याप्तिः स्यादत उक्तमाप्तेति। आप्तवचननिबन्धनज्ञानमागम इत्युच्यमानेऽप्याप्त-वाक्यकर्मके श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः, अतस्तत्परिहारार्थमुक्तमर्थेति। अर्थस्तात्पर्यरूढः प्रयोजनरूढ इति यावत्। तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्तवचनाद्वचसां प्रयोजनस्य प्रतिपादकत्वात्। आप्तवचननिबन्धनमर्थज्ञानमागम इत्युच्यमाने परार्थानुमानेऽतिव्याप्तिः अतस्तत्परिहारार्थ-मादिपदमिति। २. वाक्यादि, इत्यादि पाठः। शिरोनयनपादादयः। सामीप्येऽर्थव्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा। आदिशब्दं तु मेधावी चतुर्थेषु लक्षयेत् ॥१॥ ३. शब्दादुदेति यज्ज्ञानमप्रत्यक्षेऽपि वस्तुनि। शाब्दं तदिति मन्यन्ते प्रमाणान्तरवादिनः॥२॥

मादिर्यस्य तत्तथोक्तम्। तन्निबन्धनं यस्यार्थज्ञानस्येति। आप्तशब्दोपादानादपौरुषेयत्वव्यवच्छेदः[१]। अर्थज्ञान-मित्यनेनान्यापोह[२]ज्ञानस्या[३]भिप्रायसूचनस्य[४] च निरासः।

जो राग, द्वेष, मोह, अज्ञान आदि दोषों से रहित है, पर-हित का प्रतिपादन करना ही जिसका एक मात्र कार्य है, ऐसा पुरुष ही आप्त कहलाने के योग्य है। आप्त के वचन को 'आप्तवचन' कहते हैं। आदि शब्द से हाथ की अंगुली आदि का संकेत ग्रहण करना चाहिए। आप्त के वचनादि जिस अर्थज्ञान के कारण हैं, वह आगम प्रमाण कहलाता है, ऐसा सूत्र का अर्थ है। सूत्र में दिये गये आप्त शब्द से मीमांसकों के द्वारा माने गये अपौरुषेयरूप वेद को आगमपने का व्यवच्छेद किया गया है। सूत्रोक्त 'अर्थज्ञान' इस पद से बौद्धाभिमत अन्यापोह के और अभिप्रायसूचक शब्द-सन्दर्भ के आगमपने का निषेध किया है।

विशेषार्थ—मीमांसक लोग वेदों को आगम प्रमाण मानते हैं और उन्हें अपौरुषेय कहते हैं अर्थात् वेद किसी पुरुष के बनाये हुए नहीं है, किन्तु सदा से-अनादिकाल से-इसी प्रकार के चले आ रहे हैं। उनकी इस मान्यता का आगे विस्तार से खण्डन किया जायेगा। सूत्र में आप्त पद के देने से वेद न अपौरुषेय है और न इस कारण वह आगम है, यह सूचित किया गया है। बौद्ध लोग अन्यापोह ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। विवक्षित पदार्थ से अन्य पदार्थ के अपोह अर्थात् व्यावृत्ति या निराकरण करने को अन्यापोह कहते हैं। उनका कहना है कि 'गो' शब्द विधिरूप से गाय का बोध नहीं कराता है, किन्तु 'अगो' की व्यावृत्ति करता है, अर्थात् यह गायरूप पदार्थ अश्व नहीं, गज नहीं, इत्यादिक रूप से अन्य का निषेध कहते हुए व्यतिरेक रूप से जो पदार्थ का ज्ञान कराता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार की व्यावृत्ति तो तुच्छ अभाव रूप है किसी अर्थ के रूप नहीं है, अतः उसे आगम प्रमाण नहीं माना जा सकता। आगे टीकाकार ने इस अन्यापोह का विस्तार से खण्डन किया है। इसी प्रकार कितने ही लोग शब्द से सूचित होने वाले अभिप्राय को ही आगम प्रमाण मानते हैं। जैसे किसी ने कहा 'घड़ा लाओ'; यह सुनकर कोई सोचता है कि जल पीने के लिए घड़ा मंगाया है, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर वह घड़ा ले आता है। आचार्य कहते हैं कि उसका यह अभिप्रायरूप ज्ञान भी आगम प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि सम्भव है कि घड़ा मंगाने वाले का अभिप्राय जल भरने के घट से भिन्न किसी अन्य पदार्थ से रहा हो। अतः सूत्रोक्त लक्षण ही आगम का यथार्थ लक्षण जानना चाहिए।

---

१. मीमांसकमतनिरासः। आगमस्तु आप्तपुरुषेण प्रतिपादितो भवतीत्यर्थः। २. अन्यस्मात्पदार्थादन्यस्य पदार्थस्यापोहो निराकरणं तस्य व्यावृत्तिरूपोऽपोहविषय एव शब्दो न त्वर्थ विषय इति बौद्धः। ३. अगोव्यावृतिर्गौः, व्यावृत्तिस्तुच्छाऽर्थरूपा न भवति। ४. शब्दसंदर्भस्य। यथा केनचिदुक्तम् 'घटमानयेति', तदा जलानयनार्थाभिप्रायं मनसि कृत्वाऽऽनयति, तदा तदभिप्रायस्यार्थत्वं नास्ति।

[1]नन्वसम्भवीदं लक्षणम्; शब्दस्य[2] नित्यत्वेनापौरुषेयात्वादाप्तप्रणीतत्वायोगात्[3]। तन्नित्यत्वं[4] च तदवयवानां वर्णानां व्यापकत्वान्नित्यत्वाच्च। न च तद्व्यापकत्वमसिद्धम्; एकत्र[5] प्रयुक्तस्य गकारादेः प्रत्यभिज्ञया[6] देशान्तरेऽपि ग्रहणात्। स एवायं गकार इति नित्यत्वमपि तयैवावसीयते[7], कालान्तरेऽपि तस्यैव गकारादेर्निश्चयात्। [8]इतो वा नित्यत्वं शब्दस्य [9]सङ्केतान्यथानुपपत्तेरिति।

तथाहि[10]–गृहीतसङ्केतस्य शब्दस्य प्रध्वंसे सत्यगृहीतसङ्केतः शब्द इदानीमन्य एवोपलभ्यत इति [11]तत्कथमर्थप्रत्ययः स्यात्? न चासौ न[12] भवतीति स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्यान्यत्रापि[13] सुलभत्वाच्च[14]।

यहाँ मीमांसक कहते है कि आगम का यह लक्षण असंभव दोष से युक्त है क्योंकि शब्द नित्य होने से अपौरुषेय है, अतः उसके आप्तप्रणीतपना बन नहीं सकता है। शब्दों के नित्यता उसके अवयवभूत वर्णों के व्यापक और नित्य होने से सिद्ध है। और वर्णों के व्यापकपना असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि एक देश में प्रयुक्त गकार आदि वर्ण का प्रत्यभिज्ञान से अन्य देश में भी ग्रहण किया जाता है कि यह वही गकार है, जिसे मैंने पहले सुना था, इस प्रकार से वर्णों की नित्यता भी उसी प्रत्यभिज्ञान के द्वारा जानी जाती है; क्योंकि इसी प्रत्यभिज्ञान के द्वारा कालान्तर में भी उसी गकारादि वर्ण का निश्चय किया जाता है, अर्थात् यह वही वर्ण है, जिसे आज से छह मास पूर्व मैंने सुना था। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान से शब्द की व्यापकता और नित्यता सिद्ध है। अथवा इस शब्द से यह पदार्थ ग्रहण करना चाहिए, इस प्रकार का संकेत अन्यथा हो नहीं सकता। इस अन्यथानुपपत्ति से भी शब्द की नित्यता सिद्ध है।

आगे मीमांसक अपने उपर्युक्त कथन का और भी स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यदि शब्द को अनित्य माना जाये, तो जिस पुरुष ने जिस शब्द का संकेत ग्रहण किया था, कालान्तर में वह शब्द तो नष्ट हो गया और इस समय जो शब्द सुना जा रहा है वह अन्य ही है जिसमें संकेत ग्रहण किया नहीं गया है। तब उस अगृहीत संकेत वाले शब्द से अर्थ का ज्ञान कैसे हो सकेगा? और अर्थ का ज्ञान न होता हो, ऐसा है नहीं, अर्थात् अर्थ का ज्ञान होता ही है। इससे सिद्ध है कि शब्द नित्य है। तथा यह वही शब्द है, इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान अन्यत्र अर्थात् वर्णों के समान शब्दों में सुलभ है। यदि कहा जाये कि वर्णों के अथवा शब्द के नित्यता मानने पर सभी लोगों का

---

१. मीमासंकः प्राह। २. वर्णात्मकास्तु ये शब्दा नित्याः सर्वगतास्तथा। पृथग्द्रव्यतया ते तु न गुणाः कस्यचिन्मताः॥१॥ ३. रागद्वेषादिकालुष्यं पुरुषेषूपलभ्यते। अतो प्रामाण्यशङ्काऽपि निष्कलङ्के प्रसज्यते ॥२॥ ४. शब्दनित्यत्वम्। ५. एकस्मिन् देशे। ६. यस्तत्र मया श्रुतो गकारः स एव मयाऽत्र श्रूयत इति भावः। ७. ज्ञायते। ८. प्रकारान्तरेण नित्यत्वं व्यवस्थापयन्नाह। ९. खुर-ककुद लाङ्गूल-सास्नादिमत्यर्थे गोशब्दस्य सङ्केतोऽन्यथा न भवति तस्मान्नित्यत्वं शब्दस्य। १०. एतदेव विवृणोति-यदि अनित्यत्वं ब्रूषे तर्हि दूषणमापतति। ११. अगृहीतसङ्केतशब्दात्। १२. किन्त्वर्थप्रत्ययो भवतीत्यर्थः, नित्यत्वाच्छब्दस्य। १३. वर्णेष्विवशब्देऽपि। १४. यथा प्रत्यभिज्ञानस्यवर्णानां नित्यत्वे सुलभत्वं तथाशब्दनित्यत्वेऽपि सुलभत्वमिति।

[१]न च वर्णानां शब्दस्य[२] वा नित्यत्वे [३]सर्वैः सर्वदा श्रवणप्रसङ्गः; सर्वदा [४]तदभिव्यक्तेरसम्भवात्। [५]तदसम्भवश्चाभिव्यञ्जकवायूनां [६]प्रतिनियतत्त्वात्[७]। न च [८]तेषामनुपपन्नत्वम्[९]; प्रमाणप्रतिपन्नत्त्वात्[१०]। तथाहि–वक्तृमुखनिकटदेशवर्त्तिभिः[११] स्पर्शनेनाध्यक्षेण[१२] व्यञ्जका वायवो गृह्यन्ते। दूरदेशस्थितेन[१३] मुखसमीप-स्थिततूल[१४]चलनादनुमीयन्ते। [१५]श्रोतृश्रोत्रदेशे शब्दश्रवणान्यथानुपपत्ते[१६]रर्थापत्त्यापि [१७]निश्चीयन्ते।

किञ्च[१८]–[१९]उत्पत्तिपक्षेऽपि समानोऽयं दोषः। तथाहि–वाय्वाकाशसंयोगादसमवायि[२०]कारणादा-काशाच्च [२१]समवायिकारणाद्दिग्देशाद्यविभागेनोत्पद्यमानोऽयं शब्दो न सर्वैरनुभूयते, अपि तु नियत-दिग्देश-

---

सर्वदा उनके सुनने का प्रसंग आयेगा, सो ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि वर्णों की या शब्दों की अभिव्यक्ति सर्वदा असम्भव है। उनकी अभिव्यक्ति की असम्भवता का कारण यह है कि वर्णों और शब्दों की अभिव्यञ्जक वायु प्रतिनियत है। अर्थात् प्रत्येक वर्ण अपने तालु, ओष्ठ आदि भिन्न-भिन्न स्थानों से उत्पन्न होता है, अतः तत्सम्बन्धी वायु भी भिन्न-भिन्न ही है। जब जिस शब्द या वर्ण की अभिव्यञ्जक वायु होती है तब उस वर्ण या शब्द की अभिव्यक्ति होती है, अन्यथा नहीं। यदि कहा जाये कि वर्णों और शब्दों की अभिव्यञ्जक वायु पाई नहीं जाती, सो कह नहीं सकते; क्योंकि उनका अस्तित्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। मीमांसक आगे इसी को सिद्ध करते हैं–शब्द या वर्ण जब बोले जाते हैं, तब उनकी अभिव्यञ्जक वायु वक्ता के मुख के समीप बैठे हुए पुरुष स्पर्शन प्रत्यक्ष से ग्रहण करते हैं। वक्ता से दूर बैठे हुए पुरुष द्वारा वक्ता के मुख के समीप स्थित वस्त्रादि के हिलने से उनका अनुमान किया जाता है। तथा श्रोता के कर्णप्रदेश में शब्द का श्रवण अन्यथा हो नहीं सकता; इस अर्थापत्ति के द्वारा भी उनका निश्चय किया जाता है।

यहाँ मीमांसक नैयायिक को सम्बोधन करके कहते हैं कि आपने जिस प्रकार हमारे अभिव्यक्ति पक्ष को लेकर वर्ण और शब्दों के नित्यता मानने पर उनके सर्वदा सुने जाने का दूषण दिया है, सो यह दोष तो आपके उत्पत्ति पक्ष में अर्थात् शब्दों के अनित्यता मानने में भी समान है। देखो –जिस प्रकार वायु और आकाश के संयोगरूप असमवायि कारण से तथा आकाशरूप समवायिकारण से दिशा-देश आदि के अविभाग से उत्पन्न होने वाला यह शब्द सभी जनों को सुनने में नहीं आता है, अपितु नियत दिशा और देश में स्थित पुरुषों के द्वारा ही वह सुना जाता है। उसी प्रकार अभिव्यञ्जक

१.नैयायिकांना शङ्कामनूद्य दूषयति। २. तटस्थस्य शङ्का। ३. जनैः। ४. वर्णानां शब्दस्य वा। ५. वर्णानां शब्दस्य वाऽभिव्यक्त्यसम्भवश्च। ६. प्रतिवर्णे ताल्वोष्ठपुटादिसम्बन्धि-वायोर्भिन्नत्वात्। ७. यदा वायुर्वर्तते तदा तदभि-व्यक्तिर्भवति, अन्यथा न; ताल्वोष्टपुटादिव्यापारे सत्येव वायूनामुत्पत्तिरिति भावः। ८. तदभिव्यञ्जकवायूनाम्। ९. अप्राप्तित्वम्। १०. प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धत्वात्। ११. पुरुषैः। १२. स्पर्शनेन्द्रिय-जन्यप्रत्यक्षेण। १३. पुरुषेण। १४. वस्त्र। १५. पुरुष-। १६. वर्णाभिव्यञ्जकवायुं विना शब्दश्रावणं न घटत इत्यर्थः। १७. तदभिव्यञ्जकवायवः। १८.भो नैयायिक? त्वयाऽभिव्यक्तिपक्षे वर्णशब्दानां नित्यत्वे सर्वदा सर्वेषां श्रवणं भवत्वितिदूषणमभव मुद्भावितं तर्ह्युत्पत्तिपक्षेऽपि मया तथैवोद्भाव्यते। १९.अनित्यपक्षेऽपि। २०. सहकारिकारणात्। २१. उपादानकारणात्।

स्थैरेव[१]। [२]तथाऽभिव्यज्यमानोऽपि। नाप्यभिव्यक्तिसाङ्कर्यम्[३]; उभयत्रापि[४] समानत्वादेव। तथाहि–अन्यै-स्ताल्वादि- संयोगैर्यथाऽन्यो[५] वर्णो न क्रियते, [६]तथा [७]ध्वन्यन्तरसारिभि[८]स्ताल्वादिभिरन्यो [९]ध्वनि–र्नारभ्यते[१०]। इत्युत्पत्त्यभिव्यक्तयोः समानत्वे[११] नैकत्रैव पर्यनुयोगावसर[१२] इति सर्वं सुस्थम्।

[१३]माभूद्वर्णानां तदात्मकस्य वा शब्दस्य कौटस्थ्यनित्यत्वम्[१४]। तथाप्यनादिपरम्पराऽऽयातत्वेन[१५] वेदस्य [१६]नित्यत्वात् [१७]प्रागुक्तलक्षणस्याव्यापकत्वम्[१८]। न च [१९]प्रवाहनित्यत्वमप्रमाणकमेवास्येति[२०] युक्तं

वायु के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला भी शब्द सभी को सुनने में नहीं आता है। किन्तु नियत दिशा और देश में स्थित पुरुष को वह सुनने में आता है। यदि कहा जाये कि शब्दों को नित्य मानकर उनकी अभिव्यक्ति मानने पर उनकी अभिव्यक्ति का सांकर्य हो जायेगा, अर्थात् जैसे अन्धकार में स्थित घटादि पदार्थ दीपक के प्रकाश में एक साथ प्रकाशित हो जाते हैं, उसी प्रकार यदि वर्ण और शब्द नित्य हों, तो अभिव्यञ्जक कारणों के मिलते ही उन सबकी अभिव्यक्ति भी एक साथ ही हो जाना चाहिए; सो नहीं कह सकते; क्योंकि ऐसा अभिव्यक्ति सांकर्य तो उभयत्र समान है, अर्थात् आपके अनित्य पक्ष में भी लागू होता है। देखो–जिस प्रकार अन्य तालु आदि के संयोग से अन्य वर्ण उत्पन्न नहीं किया जा सकता, किन्तु नियत तालु आदि के संयोग से निश्चित वर्ण ही उत्पन्न किया जाता है, उसी प्रकार अन्य ध्वनि का अनुसरण करने वाले तालु आदिकों से अन्य ध्वनि भी अभिव्यक्त नहीं की जा सकती; किन्तु नियत ध्वनि ही अभिव्यक्त की जा सकती है। इस प्रकार उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों पक्षों में समानता होने से किसी एक पक्ष में प्रश्न या आक्षेप का अवसर नहीं है, इसलिए मीमांसक कहते हैं कि हमारा सर्व कथन ठीक है।

पुनः मीमांसक कहते हैं कि वर्णों के अथवा वर्णात्मक शब्द के कूटस्थ नित्यता न भी रहे, तथापि अनादि–परम्परा से आया हुआ होने के कारण वेद के नित्यता है अतः आपके आगम का पूर्वोक्त लक्षण अव्यापक है। और, वेदरूप आगम की प्रवाह–नित्यता अप्रामाणिक है, ऐसा आप जैन लोग कह नहीं सकते। इसका कारण यह है कि अभी वर्तमानकाल में तो वेद के कर्ता का

---

१. जनैः। २. यथोत्पद्यमानः शब्दो न सर्वैरनुभूयते, तथाऽभिव्यज्यमानोऽपि न सर्वैरपि तु नियतदिग्देशस्थैरेव। व्यक्तिपक्षेऽपि तथैव भो यौग। यदि नित्यः शब्दोऽभिव्यक्त्या व्यक्तो भवति चेद् युगपत् सर्वे शब्दा व्यक्ता भवन्तु चेदुभयत्र समानम्। ३. युगपद् यथा प्रदीपस्यान्धकारप्रदेशवर्त्तिघट–पटादिप्रकाशकत्वं तथाऽभिव्यक्तेः श्रोत्रदेशवर्त्तिसकलशब्द–राशिप्रकाशकत्वं न साङ्कर्यम्। ४. अनित्यपक्षेऽपि। ५. उच्चार्यमाणो नान्यः। ६. यं शब्दमनुसरति तमभिव्यनक्ति ताल्वादिः। ७. वाद्यान्तरसारिभिः। ८. कारणान्तर–सारिभिस्ताल्वोष्टपुटादि–सम्बन्धिवायुभिरुच्चार्यमाण एव वर्ण आरभ्यते, नान्यो ध्वनिरिति। ९. अन्यस्मिन् ज्ञानसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत्। गोशब्दे ज्ञानसम्बन्धे नाश्वशब्दो ही वाचकः ॥१॥ १०. नाभिव्यज्यते। ११. यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि तादृशः नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थनिरूपणे ॥२॥ इति वचनात्। १२. प्रश्नावसरः। १३. अर्धाङ्गीकारेण मीमांसको ब्रूते। १४. एकस्वभावनित्यत्वम्। १५. परमार्थतया। १६. अपौरुषेयत्वात्। १७. आप्तवचनादिनिबन्धनस्य। १८. दूषणम्। १९.परम्परया तत्वम्। २०.आगमस्य, वेदस्य।

वक्तुम्। अधुना[१] [२]तत्कर्तुरनुपलम्भादतीतानागतयोरपि कालयोस्तदनुमापकस्य[३] लिङ्गस्याभावात्। [४]तदभावोऽपि सर्वदाप्य-यीन्द्रियसाध्य[५]साधनसम्बन्धस्येन्द्रियग्राह्यत्वायोगात्। प्रत्यक्षप्रतिपन्नमेव हि लिङ्गम्। 'अनुमानं हि [६]गृहीत-सम्बन्धस्यैकदेशसन्दर्शनात्, [७]असन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः इत्यभिधानात्। नाप्यर्थापत्ते-स्तत्सिद्धिः[८], अनन्यथाभूतस्यार्थस्याभावात्। [९]उपमानोपमेययोरप्रत्यक्षत्वाच्च नाप्युपमानं साधकम्। केवलमभाव[१०]-प्रमाणमेवावशिष्यते[११]; तच्च[१२] [१३]तदभावसाधकमिति। न च [१४]पुरुषसद्भाववदस्यापि[१५] दुःसाध्य-त्वात्संशयापत्तिः[१६]; तदभावसाधकप्रमाणानां सुलभत्वात्[१७]। अधुना[१८] हि [१९]तदभावः प्रत्यक्षमेव[२०]। अतीता-नागतयोः कालयोरनुमानं तदभावसाधकमिति। तथा च-

---

अनुपलम्भ (अभाव) है, तथा अतीत और अनागतकाल में उसके अनुमापक लिंग (हेतु) का अभाव है। उसका अभाव भी इसलिए है कि अतीन्द्रिय साध्य और साधन का सम्बन्ध कभी भी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। कहने का भाव यह कि वेद कर्तारूप साध्य जब आज है ही नहीं, तब यह हमारे इन्द्रियों के विषय से परे होने के कारण अतीन्द्रिय है और इसी कारण उसका अविनाभावी लिंग भी अतीन्द्रिय है। लिंग (साधन) तो प्रत्यक्ष के द्वारा परिज्ञात ही होता है। जिसने साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध को ग्रहण किया है अर्थात् जाना है ऐसे पुरुष के ही साधनरूप एक देश के देखने से असन्निकृष्ट अर्थात् इन्द्रियों के सम्बन्ध से रहित ऐसे परोक्ष पदार्थ में जो बुद्धि होती है, उसे अनुमान कहते हैं, ऐसा कहा गया है। अर्थापत्ति से भी वेद के कर्ता की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि अनन्यथाभूत अर्थ का अभाव है। उपमान और उपमेय के अप्रत्यक्ष होने से उपमान-प्रमाण भी वेदकर्ता के अभाव का साधक नहीं है। केवल एक अभाव-प्रमाण ही अवशिष्ट रहता है, सो वह वेदकर्ता के अभाव का ही साधक है। यदि कहा जाये कि वेदकर्तारूप पुरुष का सद्भाव सिद्ध करना दुःसाध्य है, उसी प्रकार वेद के कर्ता का अभाव सिद्ध करना भी दुःसाध्य है, अतः संशय की आपत्ति आती है, सो ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि वेदकर्ता के अभाव के साधक अनेक प्रमाण सुलभ हैं। देखो-वर्तमानकाल में वेद के कर्ता का अभाव तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है, क्योंकि आज किसी को भी वेद का कर्ता दृष्टिगोचर नहीं होता।

---

१. वर्तमानकाले। २. वेदकर्तुः। ३. कर्तुरनुमापकस्य। ४. कुतो लिङ्गाभावः। ५. अतीतानागतवेदकर्ता साध्यः, स त्वतीन्द्रिय स्तस्यसाधनमप्य-तीन्द्रियमिति। ६. पुरुषस्य। ७. परोक्षे। ८. वेदकर्तुः सिद्धिः। ९.उपमानमीश्वरस्तच्छब्द उपमेयभूतः किञ्चिज्ज्ञो न भवतीत्युपमेयस्य सादृश्यात्। १०. प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते। वस्त्वसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥१॥ ११. उद्ध्रियते। १२. अभावप्रमाणम्। १३. कर्तुरभाव-। १४. यथैकस्य वेदकर्तुः पुरुषस्य साधकमेकमपि प्रमाणं न, तथाऽन्यकर्तुः साधकप्रमाणा-भावात् संशय प्राप्तिर्न कर्तुरभावसाधकानि प्रमाणानि बहूनि सन्ति। १५. कर्तुरभावस्यापि। १६. भो मीमांसक! आप्तपुरुषसद्भावो दुःसाध्यः प्रतिपादितः, तद्वद्वेदस्यापि अपौरुषेयत्वेऽपि संशयस्तद्-ग्राहकप्रमाणाभावात् इति शङ्कामनूद्य दूषयति। १७. यथा वेदस्य कर्तुः पुरषस्य साधकमेकमपि प्रमाणं नास्ति, तथा तदभाव-साधकानि प्रमाणानि न सन्तीति चेन्न, तदभावसाधकानां बहूनां प्रमाणानां सद्भावात्। एतदेव विवृणोति। १८. वर्तमान-काले। १९. पुरुषाभावे वेदकर्तृभावः। २०. प्रमाणप्रत्यक्षमेव।

अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ।
कालशब्दाभिधेयत्वादिदानीन्तनकालवत्[१]॥२३॥
वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययन पूर्वकम्[२]।
वेदाध्ययनवाच्यत्वाद धुनाध्ययनं यथा॥२४॥ इति

तथा अपौरुषेयो वेदः, [३]अनवच्छिन्नसम्प्रदायत्वे [४]सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादाकाशवत्। [५]अर्थापत्तिरपि प्रामाण्यलक्षणस्यार्थस्यानन्यथाभूतस्य दर्शनात्तदभावे[६] निश्चीयते[७]; धर्माद्यतीन्द्रियार्थविषयस्य वेदस्या-र्वाग्दर्शिभिः[८] कतुर्मशक्यात्। [९]अतीन्द्रियार्थदर्शिनश्चा-भावात्प्रामाण्यमपौरुषेयतामेव [१०]कल्पयतीति।

अत्र प्रतिविधीयते[११]–यत्तावदुक्तं वर्णानां व्यापित्वे नित्यत्वे च प्रत्यभिज्ञान प्रमाणमिति, तदसत्;

तथा अतीत और अनागतकाल में वेदकर्ता के अभाव का साधक अनुमान प्रमाण पाया जाता है, जो कि इस प्रकार है–

अतीत और अनागतकाल वेदकार से अर्थात् वेद को बनाने वाले पुरुष से रहित है, क्योंकि वे 'काल' शब्द के वाच्य हैं, जैसे कि इस समय का वर्तमान काल। यदि पूछा जाये कि फिर वेद का अध्ययन कैसे सम्भव है तो उसका उत्तर यह है कि वेद का अध्ययन, तदध्ययन-पूर्वक है, क्योंकि वह वेदाध्ययन का वाच्य है। जैसे कि वर्तमानकाल का अध्ययन ॥२३-२४॥

तथा वेद अपौरुषेय है; क्योंकि विच्छेद-रहित सम्प्रदाय (परम्परा) के होने पर भी उसके कर्ता का अस्मरण है, अर्थात् वेद के पठन-पाठन की परम्परा सदा से चली आ रही है, तथापि उसके कर्ता का न किसी को स्मरण है, न किसी ने देखा, सुना या कहा है। जैसे आकाश के कर्ता का किसी को स्मरण नहीं है। अर्थापत्ति भी प्रामाण्य लक्षण अनन्यथाभूत अर्थ के दर्शन से अर्थात् सद्भाव से वेद के कर्ता का अभाव निश्चय कराती है; क्योंकि धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को विषय करने वाले वेद का अल्पज्ञ पुरुषों के द्वारा प्रणयन करना अशक्य है। दूसरे धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों के दर्शी सर्वज्ञ का अभाव होने से वेद की प्रमाणता उसकी अपौरुषेयता को ही सिद्ध करती है। इस प्रकार मीमांसक ने आप्तप्रणीत आगम की प्रमाणता का निषेध करके वेद की अपौरुषेयता और प्रमाणता की सिद्धि की।

अब आचार्य उपर्युक्त कथन का प्रतिवाद करते हैं–सर्वप्रथम आपने जो कहा कि वर्णों के व्यापित्व और नित्यत्व सिद्ध करने में प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है; सो यह कहना असत्य है; क्योंकि वर्णों

---

१. वर्तमानकालवत्। २. वेदाध्ययनपूर्वकम्; कर्तुः प्रणीतं न, परम्परागतत्वात्। ३. अविनष्टोपदेशपारम्पर्ये सति नवाभावे जीर्णकूपादिना व्यभिचारः स्यात्, गगनं गगनमित्युपदेशपरम्परा। ४. अस्मर्यमाणकर्तकत्वादित्युक्ते जीर्णकूपप्रासादादि-भिर्व्यभिचारस्तद्व्यवच्छेदार्थं अनवच्छिन्नसम्प्रदायत्वे सतीत्युक्तम्। ५. अपोरुषेयो वेदः प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरित्य-र्थापत्त्यापि वेदकर्तुरभावो निश्चीयते। ६. वेदकर्तुरभावे। ७. साधिका इति। ८. किञ्चिज्ज्ञैः पुरुषैः। ९. सर्वज्ञस्य। १०. साधयति। ११. उत्तरं दीयते।

प्रत्यभिज्ञायास्तत्र[१] प्रमाणत्वायोगात्। [२]देशान्तरेऽपि [३]तस्यैव वर्णस्य सत्त्वे खण्डशः प्रतिपत्तिः स्यात्[४]। न हि सर्वत्र व्याप्त्या [५]वर्तमानस्यैकस्मिन् प्रदेशे सामस्त्येन ग्रहणमुपपत्तियुक्तम्[६]; [७]अव्यापकत्वप्रसङ्गात्। [८]घटादेरपि व्यापकत्वप्रसङ्गश्च[९]। शक्यं हि वस्तुमेवम्–घटः सर्वगतश्चक्षुरादिसन्निधानादनेकत्र देशे प्रतीयत इति।

[१०]ननु [११]घटोत्पादकस्य [१२]मृत्पिण्डादेरनेकस्योपलम्भादनेकत्वमेव[१३]। तथा महदणुपरिमाणसम्भवाच्चेति। [१४]तच्च वर्णेष्वपि[१५] समानम्; तत्रापि प्रतिनियतताल्वादिकारणकलापस्य [१६]तीव्रादिधर्मभेदस्य च सम्भवाविरोधात्। ताल्वादीनां व्यञ्जकत्वमत्रैव निषेत्स्यत इत्यास्तां तावदेतत्।

के व्यापित्व या नित्यत्व सिद्ध करने में प्रत्यभिज्ञान के प्रमाणता नहीं है। यदि प्रत्यभिज्ञान को वर्णों के व्यापित्व और नियत्व में प्रमाण माना जाये, तो इस देश के समान अन्यदेश में भी उसी एक वर्ण का सत्त्व मानने पर उसकी खण्ड-खण्डरूप से प्रतिपत्ति (प्राप्ति) होगी? किन्तु खण्डशः प्रतिपत्ति होती नहीं हैं; क्योंकि एक देश में एक वर्ण अपने अखण्डरूप से ही ग्रहण करने में आता है। यदि वर्ण सर्वत्र व्याप्ति से वर्तमान हो, अर्थात् सर्व-व्यापक हो, तो एक प्रदेश में उसका सामस्त्य रूप से ग्रहण युक्तियुक्त नहीं हो सकता। और यदि आप एक प्रदेश में वर्ण का अपने पूर्णरूप से ग्रहण करना मानते हैं, तो अव्यापकपने का प्रसंग आता है, अर्थात् फिर वर्ण को व्यापक नहीं माना जा सकता। यदि इतने पर भी आप वर्ण को व्यापक मानेंगे, तो घटादिक के भी व्यापकपने का प्रसंग आता है। अर्थात् जैसे एक वर्ण के एक देश में पूर्णरूप से सुने जाने पर भी उसके अन्य देश में भी पूर्णरूप से सुने जाने पर व्यापकपना बन जाता है, उसी प्रकार से घट का भी व्यापकपना सिद्ध हो जायेगा। फिर ऐसा कहना शक्य है कि घट सर्वव्यापक है; क्योंकि नेत्रादि के सन्निधान (सामीप्य) से वह एक होते हुए भी अनेक स्थानों पर प्रतीति में आता है।

मीमांसक कहते हैं कि घट की सर्वव्यापकता घटित नहीं होती; क्योंकि घट के उत्पादक मृत्पिण्ड, चक्र, कुम्भकार आदि अनेक कारण पाये जाते हैं; और बड़ा-छोटा परिमाण भी पाया जाता है, अतः घट के अनेकता ही है। आचार्य इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह कारण की विभिन्नता तो अकारादि वर्णों में भी समान हैं; क्योंकि उनमें भी प्रतिनियत तालु कण्ठ आदि कारण-कलाप (समूह) के और तीव्र-मन्द, उदात्त-अनुदात्त-आदि धर्म भेद के सम्भव होने में कोई विरोध नहीं है। यदि कहें कि तालु आदि तो वर्णों के व्यञ्जक हैं, उत्पादक नहीं, सो तालु आदिक की व्यञ्जकता का हम इसी

---

१. वर्णानां व्यापित्वे नित्यत्वे च। २. यदि प्रत्यभिज्ञायास्तत्र व्यापित्वे नित्यत्वे च प्रमाणत्वं तर्हि। ३. पूर्वं व्यापित्वपक्षमवलम्ब्य दूषयति। ४. नास्ति च खण्डशः प्रतिपत्तिः। ५. वर्णस्य। ६. युक्तियुक्तम्। ७. अन्यथा। ८. वर्णस्य व्यापकत्वेऽप्येकस्मिन् प्रदेशे सर्वात्मना वर्तते चेत्। ९. यथा शब्दे एकस्मिन् प्रदेशे स्थिते पुनरन्यस्मिन् शब्देऽन्यस्मिन् देशे श्रूयमाणे सति व्यापकत्व तथा घटस्यापि स्यादिति समः समाधिः। १०. मीमांसकः प्राह। ११. घटोदाहरणं घट ते, यतो घटोत्पादककारणभेदेन घटस्यानेकत्वम्, वर्णस्यैकत्वमिति। १२. चक्रचीवरकुलालादेः। १३. यत्त्वनेकं तद्व्यापकमिति। १४. कारणभेदत्वम्। १५. अकारादिवर्णेष्वपि। १६. उदात्तानुदातस्वरित्तह्रस्वदीर्घप्लुतरूप।

अथ[1] व्यापित्वेऽपि सर्वत्र सर्वात्मना[2] वृत्तिमत्वान्न [3]दोषोऽयमिति चेन्नः तथा[4] सति सर्वथैकत्वविरोधात्[5]। न हि देशभेदेन युगपत्सर्वात्मना [6]प्रतीयमानस्यैकत्वमुपपन्नम्; प्रमाणविरोधात्[7]। तथा च प्रयोगः-प्रत्येकं गकारादिवर्णोऽनेक एव; [8]युगपद्भिन्नदेशतया तथैव[9] सर्वात्मनोपलभ्यमानत्वात्, घटादिवत्। न सामान्येन व्यभिचारः[10], तस्यापि[11] सदृश[12]परिणामात्मकस्यानेकत्वात्[13]। नापि पर्वताद्यनेकप्रदेशस्थतया युगपदनेकदेश-स्थितपुरुषपरिदृश्यमानेन चन्द्रार्कादिना व्यभिचारः, [14]तस्यातिद विष्ठ[15]तयैकदेशस्थितस्यापि

प्रकरण में आगे निषेध करेंगे, अतः यह कथन यहीं समाप्त करते हैं।

पुनः मीमांसक कहते हैं कि वर्णों के व्यापकता मानने पर भी उनके सर्वत्र सर्वात्मरूप से अर्थात् पूर्णस्वरूप से पाये जाने पर खण्डशः प्राप्तिरूप आपके द्वारा दिया गया दोष नहीं आता है। आचार्य कहते हैं कि आपका यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि व्यापक और सर्वत्र सर्वात्मरूप से वृत्तिमत्व मानने पर वर्ण की सर्वथा एकता का विरोध आता है। कहने का भाव यह है कि व्यापक वस्तु चाहे, वह वर्ण हो, या अन्य कोई पदार्थ हो वह यदि एक स्थान पर पूर्णरूप से रहे और दूसरे स्थान पर भी पूर्णरूप से रहे, तो उसकी अनेकता स्वतः सिद्ध है। देश-भेद से एक साथ सर्वात्मरूप से प्रतीत होने वाले वर्ण की एकता बन नहीं सकती; क्योंकि वैसा मानने में प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरोध आता है। उसका अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है-गकार आदि प्रत्येक वर्ण अनेक ही हैं; क्योंकि एक साथ भिन्न-भिन्न देशों में प्रत्येक वर्ण अपने पूर्ण रूप से पाया जाता है। जैसे कि घटादिक पदार्थ भिन्न-भिन्न देश में अपने पूर्णरूप से पाये जाने से अनेक हैं। यदि आप कहें कि सामान्य नामक पदार्थ एक होते हुए भी सर्वत्र प्रतीति में आता है, अतः उससे उक्त हेतु में व्यभिचार आता है, सो ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि हम जैन लोग सदृशपरिणात्मक उस सामान्य को भी अनेक ही मानते हैं, यौगों के समान एक नहीं मानते। यदि कहें कि पर्वतादि अनेक प्रदेश स्थितरूप से एक साथ अनेक देशस्थ पुरुषों के द्वारा दिखाई देने वाले एक चन्द्र या एक सूर्य आदि से आपके हेतु में व्यभिचार आता है; सो ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि अति दूरवर्ती होने से

---

१. मीमांसक प्राह। २. साकल्येन। ३. खण्डशः प्रतिपत्तिलक्षणः। किन्तु नैयायिकाभिमतसामान्ये खण्डशः प्रतिपत्तिलक्षणमिदं दूषणं भवतु, तन्मते तस्यैकत्वे सत्यनेकसमवायित्वात्। न तु मम भो जैन ४. व्यापित्वेऽपि सर्वत्र सर्वात्मना। वृत्तिमत्वे। ५. यदि व्यापकं एकस्मिन्, प्रदेशे सर्वात्मना वर्तते, पुनरन्यत्र प्रदेशे सर्वात्मना वर्तते, तर्ह्यनेकत्वमागत्। ६. वर्णस्य। ७. एक एव घटः प्रत्यक्षेणैकस्मिन् देश उपलभ्यमाने न हि स एव तदैवान्यत्रोपलभ्यते तथा वर्णोऽपीति प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधः। ८. एकस्यैव घटस्य सर्वत्रानुक्रमेण प्रवृत्तिः सर्वात्मनाऽस्ति, तथापि युगपत् प्रवृत्तिनास्तीति व्यभिचारनिवृत्यर्थ युगपद्-ग्रहणमिति। ९. प्रत्येकम्। १०. सामान्यस्यापि प्रतिव्यक्ति भेदात्। यत एकमेव सामान्यं अनेकत्र प्रतीयते। ११. सामान्यस्यापि। १२. सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्। १३. विशेषं विशेषभूतं सामान्यं पृथगेवं जैनमतम्। यतः खण्डमुण्डादिषु सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यं प्रतिव्यक्तिः भिन्नमेव। १४. चन्द्रार्कादेः। १५. अतिदूरतया।

भ्रान्ति-वशादनेकदेशस्थत्वेन प्रतीतेः। न चाभ्रान्तस्य[१] भ्रान्तेन व्यभिचारकल्पना युक्तेति। नापि जलपात्र-प्रतिबिम्बेन[२], तस्यापि[३] चन्द्रार्कादिसन्निधिमपेक्ष्य [४]तथापरिणममानस्यानेकत्वात्। तस्मादनेकप्रदेशे युगपत्सर्वात्मनोपलभ्य-मानविषयस्यैक[५]स्यासम्भाव्यमानत्वात्तत्र[६] प्रवर्तमानं प्रत्यभिज्ञानं न प्रमाणमिति स्थितम्।

तथा नित्यत्वमपि न प्रत्यभिज्ञानेन निश्चीयत इति। नित्यत्वं हि [७]एकस्यानेकक्षणव्यापित्वम्। तच्चान्तराले[८] सत्तानुपलम्भेन[९] न शक्यते निश्चेतुम्। न च प्रत्यभिज्ञानबलेनैवान्तराले [१०]सत्तासम्भवः, [११]तस्य [१२]सादृश्यादपि सम्भवाविरोधात्। न[१३] च घटादावप्येवं प्रसङ्गः, [१४]तस्योत्पत्तावपरापरमृत्पिण्डान्तर-

---

एक देशस्थ भी चन्द्र-सूर्यादिक की भ्रान्ति के वश से अनेक देशस्थ रूप से प्रतीति होती है। और अभ्रान्त को भ्रान्त से व्यभिचार-कल्पना करना युक्त नहीं है। अर्थात् गकारादि वर्णों की एक साथ भिन्न-भिन्न देशों में अपने पूर्ण रूप से जो अनेकत्व की प्रतीति होती है, वह अभ्रान्त है। किन्तु चन्द्र-सूर्यादि की भिन्न-भिन्न देशों में जो अनेकता की प्रतीति होती है, वह भ्रान्त है, अतः भ्रान्त प्रतीति से अभ्रान्त प्रतीति में व्यभिचार नहीं दिया जा सकता है। और न जल से भरे हुए पात्र में दिखाई देने वाले चन्द्र-सूर्यादि के प्रतिबिम्ब से व्यभिचार आता है; क्योंकि चन्द्र-सूर्यादि के सामीप्य की अपेक्षा कर जल के तथा रूप से परिणत उस प्रतिबिम्ब के भी अनेकता है। इसलिए अनेक प्रदेश में एक साथ सर्वात्मरूप से उपलब्ध होने वाले गकारादि का एक होना असम्भव है; अतः उसके व्यापित्व में प्रवर्तमान प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

जिस प्रकार वर्णों की व्यापकता प्रत्यभिज्ञान से सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार उनकी नित्यता भी प्रत्यभिज्ञान से निश्चित नहीं होती है। इसका कारण यह है कि एक वस्तु के अनेक क्षेत्रों मे रहने को नित्यता कहते हैं। सो गकारादि वर्णों की वह नित्यता उच्चारण किये गये और उच्चारण किये जाने वाले वर्णों के अन्तराल में सत्ता के नहीं पाये जाने से निश्चय नहीं की जा सकती है। और प्रत्यभिज्ञान के बल से अन्तराल में वर्णों की सत्ता का पाया जाना सम्भव नहीं है; क्योंकि सादृश्य से भी प्रत्यभिज्ञान के सम्भव होने में कोई विरोध नहीं आता और घटादिक में भी ऐसा

---

१. गकारादिवर्णस्य युगपद्भिन्नदेशत्वेन सर्वात्मनोपलभ्यमानत्वमभ्रान्तम्, सुर्यस्य तु दविष्ठतया नानात्वेनोप-लभ्यमानत्वं भ्रान्तम्; अतो न तस्य तेन व्यभिचार इति। २. भो मीमांसक? सर्वेषु जलाशयेषु चन्द्रप्रतिबिम्बं पृथक् पृथक् वर्तते तदा। तानि प्रतिबिम्बानि बहूनि भवन्ति, तदा तानि प्रतिबिम्बानि चन्द्राः न वा? चन्द्राश्चेत्पृथक् चन्द्राः, न भवन्ति चेत् किं भ्रान्तत्वमायातम्? तथैकः शब्दो व्यापकश्चेत्, अन्यत्र श्रूयमाणाः शब्दाः शब्दा भवन्ति चेदनेकत्वम्। न भवन्ति चेद्-भ्रान्ता एव। किञ्च-जनैरुच्चार्यमाणः शब्दः पृथगेव। ३.प्रतिबिम्बस्यापि। ४. चन्द्राद्याकारेण प्रतिबिम्बरूपेण। ५. शब्दादेर्वस्तुनः। ६. व्यापित्वे। ७. गकारादेः। ८. उच्चार्यमाणोच्चरिष्यमाणानां गकारादीना-मन्तराले। ९. गकारादीनां सद्भावानुपलम्भेन। १०. सत्तोपलम्भस्य। ११. प्रत्यभिज्ञानस्य। प्रत्यभिज्ञासादृश्ये सम्भवति यतस्तर्हि सादृश्यं साधयति। १२. गोसदृशोऽयं गवय इत्यादिवत्सादृश्येऽपि सम्भवति प्रत्यभिज्ञानं यतः। १३. एकं दृष्ट्वा दिनान्तरे तमेव पश्यतोऽपि पुरुषस्य सादृश्यप्रत्यभिज्ञानबलादेव सम्भवे तस्यापि नान्तराले सत्तासम्भव इत्याशङ्कायामाह। १४. घटस्य।

लक्षणस्य कारणस्यासम्भाव्यमानत्वेनान्तराले[१] सत्तायाः साधयितुं शक्यत्वात्। अत्र[२] तु कारणानामपूर्वाणां व्यापारे सम्भावनाऽतो नान्तराले सत्तासम्भव[३] इति।

यच्चान्यदुक्तम्–'सङ्केतान्यथानुपपत्तेः शब्दस्य नित्यत्वमिति', इदमप्यनात्मज्ञभाषितमेव; अनित्येऽपि[४] योजयितुं शक्यत्वात्। [५]तथाहि–गृहीतसङ्केतस्य दण्डस्य प्रध्वंसे सत्यगृहीतसङ्केत इदानीमन्य एव दण्डः समुपलभ्यत इति दण्डीति न स्यात्[६]। तथा धूमस्यापि गृहीतव्याप्तिकस्य नाशे अन्यधूमदर्शनाद्वह्नि–

प्रसंग नहीं आता, क्योंकि घट की उत्पत्ति में अन्य अन्य मृत्पिण्डरूप लक्षण वाले कारण की असम्भावना से अन्तराल में सत्ता सिद्ध करना शक्य है। किन्तु शब्द में अपूर्व कारणों के व्यापार की सम्भावना है, अतः अन्तराल में वर्णों की सत्ता सम्भव नहीं है।

भावार्थ–किसी व्यक्ति ने प्रातःकाल किसी घट को देखा, पुनः सायंकाल उसी घट को देखा, तब वह एकत्वप्रत्यभिज्ञान से निश्चय करता है कि यह वही घट है। इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान में वह घट एक ही है, अतः प्रातः से सायंकाल तक के अन्तराल में उसकी सत्ता बनी रहती है। किन्तु शब्द के विषय में ऐसा नहीं है, प्रातःकाल जो 'गौ' आदि शब्द सुना, वह अपने कारणों से उत्पन्न हुआ था और सायंकाल जो वही शब्द पुनः सुन रहे हैं, वह अपने अन्य ही कारणों से उत्पन्न हुआ सुन रहे हैं, प्रातःकाल का शब्द तो बोलने के अनन्तर ही नष्ट हो चुका है, उसकी सत्ता सायंकाल तक के अन्तराल में नहीं बनी रह सकती, अतः अन्तराल में उसकी सत्ता सम्भव नहीं है। सायंकाल जो ऐसी प्रतीति होती है कि यह वही शब्द है, जो मैंने प्रातःकाल सुना था, वह उसके एकत्व से नहीं होती, किन्तु सादृश्य से होती है। अतः वर्णों को एक नित्य और व्यापक न मानकर अनेक, अनित्य और अव्यापक ही मानना चाहिए, तभी सर्व व्यवस्था ठीक बन सकती है, अन्यथा नहीं।

और जो आपने कहा कि संकेत अन्यथा हो नहीं सकता, अतः शब्द के नित्यता है, सो यह भी आपका कथन अनात्मज्ञ–भाषित के समान ही है; क्योंकि यह बात तो अनित्य दण्डादि में भी लगाई जा सकती है। तथाहि–जिसका संकेत ग्रहण किया था, उस दण्ड के विनष्ट हो जाने पर जिसका संकेत ग्रहण नहीं किया गया है, ऐसा अन्य ही दण्ड इस समय पाया जाता है, इसलिए उस पुरुष को यह दण्डी है, ऐसा व्यपदेश नहीं होना चाहिए तथा जिस धूम के साथ व्याप्ति ग्रहण की थी उसके नाश हो जाने पर कालान्तर में अन्य धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान नहीं होना चाहिए।

---

१. प्रभातकाले यो घटो दृष्टस्तमेव मध्याह्नकाले पश्यति जन इत्यन्तराले घटसत्तासम्भवः। २. शब्दे। ३. प्रभातकाले शब्दः श्रुतः, पश्चान्मध्याह्नकाले कारणान्तरेणोत्पद्यमानोऽन्य एव शब्दः श्रूयते न तु घटवद् यदा मृत्पिण्डादेर्घट उत्पन्नस्तदा तदनंतर कालान्तरे प्रत्यभिज्ञानेनान्तराले सत्ता ज्ञायते, कारणान्तरेण अनुत्पद्यमानत्वात्। इति न घटवदन्तराले शब्दसत्ताप्रसङ्गः। ४. दण्डादावपि। ५. एतदेव विवृणोति। ६. अस्ति च दण्डीति व्यपदेशः।

विज्ञानाभावश्च[१]। [२]अथ सादृश्यात्तथा[३] प्रतीतेर्न दोष इति चेदत्रापि[४] सादृश्यवशादर्थप्रत्यये[५] को दोषः? येन[६] नित्यत्वेऽत्र[७] दुरभिनिवेश आश्रीयते[८]। तथा [९]कल्पनायामन्तराले [१०]सत्त्वमप्यदृष्टं[११] न[१२] कल्पितं[१३] स्यादिति।

यच्चान्यदभिहितम्–[१४]व्यञ्जकानां [१५]प्रतिनियतत्वान्न युगपत् श्रुतिरिति, तदप्यशिक्षितलक्षितम्; [१६]समानेन्द्रियग्राह्येषु [१७]समानधर्मसु [१८]समानदेशेषु [१९]विषयिविषयेषु[२०] नियमायोगात्[२१]। तथाहि–[२२]श्रोत्रं समानदेश-समानेन्द्रियग्राह्य-समानधर्मापन्नानामर्थानां[२३] ग्रहणाय [२४]प्रतिनियतसंस्कारक[२५] संस्कार्यं[२६] न

यदि कहा जाये कि सादृश्य से दण्डी आदि की प्रतीति होती है अर्थात् जैसा दण्ड उस पुरुष के पास पहले था, इस समय उसके पास वैसा ही अन्य दण्ड पाया जाता है, अतः उसे दण्डी कहा जाता है। और, जैसा धूम व्याप्ति-ग्रहण के काल में देखा था, वैसा ही धूम इस समय भी दिखाई दे रहा है, अतः उससे अग्नि का ज्ञान हो जाता है, इसलिए आपने जो दोष दिया है वह लागू नहीं होता। यदि ऐसा आप कहते हैं, तो यहाँ पर भी अर्थात् शब्द में भी सादृश्य के वश से अर्थ के निश्चय में क्या दोष है? जिससे कि यहाँ आप शब्द की नित्यता में दुराग्रह का आश्रय कर रहे हैं और सादृश्य के वश से अर्थ के निश्चय की कल्पना कर लेनेपर फिर अन्तराल में नहीं दिखाई देने वाले शब्द के सत्त्व की कल्पना भी नहीं करना पड़ेगी। कहने का सारांश यह कि शब्द के नित्य मानने पर ही आपको इस प्रकार की अदृष्ट कल्पनाएँ करना पड़ती हैं।

और जो आपने कहा–कि व्यञ्जक वायुओं के प्रतिनियत होने से शब्दों का सुनना एक साथ नहीं होता, इत्यादि। सो यह भी आपका कथन अशिक्षित पुरुष के कथन के समान प्रतीत होता है, क्योंकि समान एक श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले, उदात्त-अनुदात्त आदि समान धर्म वाले, आकाशरूप समान देश वाले विषय-विषयी में अर्थात् शब्द और श्रोत्रेन्द्रिय में प्रतिनियत कारणों से अभिव्यक्ति का नियम नहीं बन सकता। अतः उनका एक साथ ही ग्रहण होना चाहिए। आचार्य आगे यही बात अनुमान-प्रयोग से स्पष्ट करते हैं–श्रोत्रेन्द्रिय समान देश, समान इन्द्रिय-ग्राह्य और समान धर्म वाले अर्थों अर्थात् गकारादि शब्दों के ग्रहण करने के लिए प्रतिनियत पृथक्-पृथक्

---

१. अस्ति च वह्निज्ञानमिति। २. मीमांसकः प्राह। ३. पूर्वदण्डदृष्टेऽपि तत्सदृशान्यदण्डनिमित्ताद्दण्डीति प्रतीतिर्भवति। ४. शब्देऽपि। ५. अर्थनिश्चये। ६. येन कारणेन। ७. शब्दे। ८. अस्तीति करोति। ९. सादृश्यवशादर्थकल्पनायाम्। १०. वर्णसत्त्वम्। ११. इन्द्रियागोचरम्। १२.नामधातुः परमार्थभूतं न स्यात्। १३. येनापि प्रकारेण सत्ता कल्पिता स्यात्, न तु स्वभावतः सत्ता वर्तते तेनापि न कल्पितं स्यात्। १४. वायूनाम्। १५. प्रतिवर्णनिश्चितत्वात्। १६. श्रोत्रेन्द्रिय-। १७.उदात्तादिसमानधर्मयुक्तेषु। १८. आकाशलक्षणैकप्रदेशाभिव्यक्तेषु। १९. विषयि इन्द्रियम्। २०. विषयाः शब्दाः। २१. प्रतिनियतकारणाद-भिव्यक्तेर्नियमायोगाद्युगपद्ग्रहणं भवति। २२. विकल्पद्वयम्–प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं श्रोत्रं वा, शब्दाः वा ? २३. गकारादीनां शब्दानाम्। २४.पृथक्पृथक् वायुलक्षणम्। २५. एकेनैव संस्कारेण संस्कृतं सत् अर्थानां ग्राहकंभवतीति नियमः। २६. वर्णं वर्णं प्रति नियतो निश्चितोऽभिव्यञ्जको वायुः स एव संस्कारकस्तेन।

भवति, इन्द्रियत्वात्, चक्षुर्वत्। [१]शब्दा वा [२]प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्या न भवन्ति, समानदेश-समानेन्द्रियग्राह्य-समानधर्मापन्नत्वे[३] सति युगपदिन्द्रियसम्बद्धत्वात्; घटादिवत्। [४]उत्पत्तिपक्षेऽप्ययं दोषः समान[५] इति न वाच्यम्; मृत्पिण्ड-दीपदृष्टान्ताभ्यां कारक-[६]व्यञ्जकपक्षयोर्विशेषसिद्धे[७]रित्यलमतिजल्पितेन।

लक्षण वाली वायु के संस्कार से संस्कारित नहीं होती है; क्योंकि वह इन्द्रिय है। जो-जो इन्द्रियाँ हैं, वे-वे अपने विषयभूत पदार्थों को ग्रहण करने के लिए प्रतिनियत संस्कारों से संस्कारित नहीं होती है, जैसे कि नेत्रेन्द्रिय एक ही अंजनादिक के संस्कार से अपने विषय रूप को ग्रहण करती है उसे भिन्न-भिन्न रूपों के देखने के लिए भिन्न-भिन्न संस्कारों की आवश्यकता नहीं होती। यह अनुमान श्रोत्रेन्द्रिय को पक्ष बनाकर दिया है। अब शब्द को पक्ष बनाकर अनुमान का प्रयोग करते हैं-शब्द प्रतिनियत संस्कारों से संस्कारित नहीं होते हैं; क्योंकि समान देश, समान इन्द्रिय-ग्राह्य और समान धर्मवाले होकर एक साथ श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। जैसा कि घटपटादि पदार्थ विभिन्न या विशिष्ट संस्कारों से संस्कारित हुए बिना ही समान देशादि में स्थित होने पर एक चक्षुरादि इन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं। यदि कहा जाये कि उत्पत्ति पक्ष में भी ये उपर्युक्त दोष समान हैं, सो ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि मृत्पिण्ड और दीपक के दृष्टान्त से कारक और व्यञ्जक पक्ष में विशेषता (विभिन्नता) सिद्ध है; अतः इस विषय में अधिक कहने से विराम लेते हैं।

भावार्थ—मीमांसक कहते हैं कि जिस प्रकार एक अभिव्यञ्जक वायु से प्रतिनियत शब्द के अभिव्यक्त होने पर अन्य समस्त शब्दों की अभिव्यक्ति का जो संकर दोष आपने प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार से एक घट के उत्पादक कारण से अन्य सभी घटरूप कार्यों की एक साथ उत्पत्तिरूप संकर दोष का प्रसंग आपको भी प्राप्त होता है, इसलिए शब्दों के कारक और व्यञ्जकपक्ष में दोष समान ही हैं। आचार्य ने उनके इस कथन का निराकरण करने के लिए मृत्पिण्ड और दीपक का दृष्टान्त दिया है। जैसे एक घड़ा बनाने की इच्छा से कुम्भकार ने मिट्टी का एक पिण्ड चाक पर रखा, तो उससे घड़ारूप एक ही कार्य उत्पन्न होगा, अन्य नहीं। और जैसे किसी ने अन्धकार में रखे हुए किसी एक घड़े को ढूँढ़ने के लिए दीपक जलाया, वह दीपक उस

---

१. पूर्वानुमाने श्रोत्रमिन्द्रियं पक्षः; अत्र तु शब्दा पक्षः। २. पृथक् पृथक् लक्षणम्। ३. पिशाचादीनां व्यभिचारपरिहारार्थम्। ४. यथा युगपत् सर्ववर्णश्रावणमापादितं तथा युगपदुत्पत्तिः स्यादिति दूषणं कारकव्यञ्जकपक्षयोः समानं न भवति। ५. यथैकेनाभिव्यञ्जकेन वायुना युगपदभिव्यज्यमानानां प्रकटीक्रियमाणानां शब्दानां युगपत् श्रवणदूषणं सङ्करश्च प्रतिपादितः, तथैकेनोत्पादकारणेन सर्वेषां कार्याणां घटादीनां युगपदुत्पत्तिः सङ्करश्च भवेत्। इति कारक-व्यञ्जकयोः समानं दूषणम्। ६. एको हि मृत्पिण्डः कर्तुरिच्छावशेन घटाद्यन्यतममेव कार्यमारभते। व्यञ्जकस्तु प्रदीपः कटप्रकाशेच्छया प्रेरितः स्वसंयुक्तं घटादिकमपि प्रकटयत्येव। ७. मृत्पिण्डस्तु युगपत् घटाद्यन्यतमवस्तुकारकः। प्रदीपस्तु विद्यमानस्य घटादेः सर्वस्याभिव्यञ्जक इत्युत्पत्त्यभिव्यञ्जकयोः समानत्वं कुतः ? किन्तु विशेषसिद्धिर्वर्तते, यत एकमृत्पिण्डादेक एव घट उत्पद्यते, न तथा दीपादेक एव प्रकाशते।

यच्चान्यत्–प्रवाहनित्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वमिति[१] तत्र [२]किं शब्दमात्रस्यानादिनित्यत्वमुत [३]विशिष्टानामिति? आद्यपक्षे य एव शब्दाः लौकिकास्त एव वैदिका इत्यल्पमिदमभिधीयते वेद एवापौरुषेय इति। किन्तु सर्वेषामपि शास्त्राणामपौरुषेयति। [४]अथ विशिष्टानुपूर्विका[५] एव शब्दा[६] अनादित्वेनाभिधीयन्ते; तेषामवगतार्थानामनवगतार्थानां वा अनादिता स्यात्? यदि तावदुत्तरः [७]पक्षस्तदाऽज्ञानलक्षणमप्रामाण्यमनुषज्यते। अथ आद्य[८] पक्ष आश्रीयते, तद्व्याख्यातारः किञ्चिज्ज्ञा भवेयुः सर्वज्ञा वा? प्रथमपक्षे [९]दुरधिगमसम्बन्धानामप्यन्यथा[१०]ऽप्यर्थस्य कल्पयितुं शक्यत्वात् मिथ्यात्वलक्षणमप्रामाण्यं स्यात्। तदुक्तम्–

घड़े को तो प्रकाशित करेगा ही, साथ ही समीप में रखे हुए अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करेगा। कहने का भाव यह कि एक मृत्पिण्ड एक काल में एक ही घट का कारण है, किन्तु दीपक विद्यमान सभी पदार्थों का प्रकाशक या अभिव्यञ्जक है। इसी प्रकार शब्द की व्यञ्जक एक वायु जब उसे अभिव्यक्त करे, तब सभी शब्दों की अभिव्यक्ति एक साथ होना चाहिए, सो होती नहीं है। इस प्रकार यह दोष केवल अभिव्यक्ति पक्ष में ही आता है, उत्पत्ति पक्ष में नहीं आता। अतः उत्पत्ति और अभिव्यक्ति या व्यञ्जक और कारक पक्ष में समानता नहीं है, किन्तु विभिन्नता ही सिद्ध होती है।

और जो आप मीमांसक के प्रवाह की नित्यता से वेद के अपौरुषेयता कही, सो वेद की इस अपौरुषेयता के विषय में हम आपसे पूछते हैं कि आप शब्द मात्र के अनादि नित्यता मानते हैं कि कुछ विशिष्ट शब्दों के ? प्रथम पक्ष के मानने पर तो जो शब्द लौकिक हैं, वे ही वैदिक हैं, इसलिए सभी को नित्य मानना चाहिए, फिर आप यह अल्प (कम) ही कहते हैं कि वेद ही अपौरुषेय है और लौकिक शब्द अपौरुषेय नहीं। किन्तु संसार के सभी सच्चे-झूठे शास्त्रों को अपौरुषेय कहना चाहिए। यदि आप विशिष्ट आनुपूर्वी से आये हुए विशिष्ट शब्दों को ही अर्थात् वैदिक शब्दों को ही अनादिरूप से कहते हैं, तो हम पूछते हैं कि जिन शब्दों का अर्थ जान लिया है ऐसे वैदिक शब्दों के अनादिता है; अथवा जिनका अर्थ जाना नहीं हैं, ऐसे शब्दों के अनादिता है? इनमें से यदि दूसरा पक्ष मानते हैं, तब तो आपके अज्ञानरूप अप्रमाणता का प्रसंग प्राप्त होता है। यदि पहला पक्ष स्वीकार करते हैं तो हम पूछते हैं कि उन विशिष्ट शब्दों के व्याख्यान करने वाले अल्पज्ञ हैं या सर्वज्ञ हैं? प्रथम पक्ष के मानने पर तो जिन वैदिक वाक्यों के अर्थ का सम्बन्ध दुरधिगम है, अर्थात् बड़ी कठिनता से जाना जा सकता है, वे अल्पज्ञ व्याख्याता लोग उनके अर्थ को अन्यथा भी कल्पना कर सकते हैं; अतः फिर भी मिथ्या स्वरूप वाला अप्रामाण्य प्राप्त होता है। जैसा कि कहा है–

---

१. अभिहितं मीमांसकेन। २. वेदस्यापौरुषेयत्वे। ३. विशेषशब्दानाम्। ४. मीमांसकस्य द्वितीयः पक्षः। ५. विशिष्टानुक्रमायाताः। ६.वैदिका इति भावः। ७. पक्षीक्रियते। सूचीकटाहन्यायेनोत्तरपक्षस्य प्रथमतः प्रतिपादनम्। ८. विशिष्टानुपूर्विका ये शब्दास्तेषामवगतानामेवानादिता स्यात्। ९. वेदवाक्यानाम्। १०. विपरीतत्वेनापि।

अयमर्थो नायमर्थ इति शब्दा वदन्ति न।
कल्प्योऽयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिविप्लुताः[१]॥२५॥

किञ्च–किञ्चिज्ज्ञव्याख्यातार्थाविशेषाद्[२] 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यस्य 'खादेच्छ्वामांसम्' इत्यपि वाक्यार्थः किं न स्यात् संशयलक्षणमप्रामाण्यं वा[३]।

[४]अथ सर्वविद्विदितार्थ[५] एव वेदोऽनादिपरम्पराऽऽयात[६] इति चेत् 'हन्त[७] धर्मे[८] चोदनैव[९] प्रमाणम्' इति हतमेतत्; अतीन्द्रियार्थप्रत्यक्षीकरणसमर्थस्य पुरुषस्य सद्भावे च तद्वचनस्यापि[१०] चोदनावत्तदवबोधकत्वेन[११]

मेरा यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है, ऐसा शब्द स्वयं नहीं बोलते हैं। शब्दों का यह अर्थ तो पुरुषों के द्वारा ही कल्पना किया जाता है। और यतः पुरुष रागादि दोषों से पीड़ित या दूषित होते हैं अतः वे राग–द्वेषादि के वशीभूत होकर शब्दों के अर्थ की अन्यथा भी कल्पना कर सकते हैं॥२५॥

दूसरी बात यह है कि अल्पज्ञ पुरुष के द्वारा व्याख्यान किये गये अर्थ–विशेष से ''स्वर्ग की इच्छा वाला पुरुष अग्निहोत्र का हवन करे'' इस वेद–वाक्य का अर्थ–कुत्ते का मांस खाये, ऐसा भी क्यों न सम्भव मान लिया जाये?

भावार्थ—अल्पज्ञपुरुष रागादि के वशीभूत होकर उक्त वेद–वाक्य का ऐसा अर्थ कर सकता है कि अग्नि को जो हने वह 'अग्निहा' अर्थात् कुत्ता है, उसका अर्थ जो मांस उसे जुहुयात् अर्थात् खाये। अथवा 'अगति गच्छति' इस निरुक्ति के अनुसार जो चले उसे अग्नि अर्थात् कुत्ता कहते हैं। 'हूयते अद्यते खाद्यते यत्तत् होत्रं' इस निरुक्ति के अनुसार होत्र का अर्थ मांस है। अग्नि अर्थात् कुत्ते के मांस को खाये, इस प्रकार भी वही अर्थ निकल आता है। किन्तु ऐसा अर्थ आपको भी मान्य नहीं होगा, अतः अल्पज्ञ व्याख्याता का मानना ठीक नहीं है।

अथवा अल्पज्ञ पुरुष के द्वारा व्याख्यात अर्थ में संशय हो सकता है कि इसने जो अर्थ किया है, वह ठीक है या नहीं ? इस प्रकार संशय लक्षणवाली अप्रमाणता भी प्राप्त हो सकती है।

यदि दूसरा पक्ष अंगीकार करें कि वेद–वाक्यों के अर्थ के व्याख्याता सर्वज्ञ हैं और सर्वज्ञ के द्वारा वेद का विदित या व्याख्यात अर्थ ही अनादि परम्परा से आ रहा है; तब तो महान् खेद की बात है कि ''यज्ञादि धर्म–कार्य में वेदवाक्य ही प्रमाण है'' आपका यह कथन नष्ट हो जाता है। क्योंकि धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों के प्रत्यक्ष करने में समर्थ पुरुष के सद्भाव मान लेने पर उसके वचन भी वेद–वाक्य के समान ही अतीन्द्रिय धर्मादि पदार्थों के अवबोधक हो जाने से प्रमाणता को प्राप्त हो

---

१. रागद्वेषमोहैर्बाधिताः। २. अग्निं हन्तीति अग्निहा श्वा, तस्योत्रं मांसं जुहुयात्खादेत्। अथवाऽगति गच्छतीत्यग्निः श्वा, हूयतेऽद्यते खाद्यते यत्तत् होत्रं मांसम्। अग्नेर्होत्रमित्यग्निहोत्रं श्वमांसं तज्जुहुयात्खादेत्स्वर्गकामः पुमान् द्विजः। ३. किं न स्यादिति शेषः। ४. द्वितीयः पक्षः। ५. सर्वज्ञेन विदितोऽर्थो यस्येति। सर्वज्ञज्ञातार्थ एव। ६. अर्थ–पाठाभ्यामभ्यस्तः। ७. खेदे। ८. यज्ञादौ। ९. प्रेरणैव वेदवाक्यस्था वेदवाक्य मेवेत्यर्थः १०.अतीन्द्रियार्थप्रत्यक्षीकरणसमर्थपुरुष–वचनस्यापि। ११. अतीद्रियार्थधर्मावबोधकत्वेन।

प्रामाण्या[१]द्वेदस्य पुरुषाभावसिद्धेस्त[२]त्प्रतिबन्धकं स्यात्।

अथ तद्व्याख्यातॄणां किञ्चिज्ज्ञत्वेऽपि[३] यथार्थव्याख्यानपरम्पराया अनवच्छिन्नसन्तानत्वेन सत्यार्थ एव वेदोऽवसीयत इति चेन्न; किञ्चिज्ज्ञानामतीन्द्रियार्थेषु[४] निःसंशयव्याख्यानायोगादन्धेनाऽऽकृष्यमाण-स्यान्धस्यानिष्टदेशपरिहारेणाभिमतपथप्रापणानुपपत्तेः[५]।

किञ्च[६]–अनादिव्याख्यानपरम्पराऽऽगतत्वेऽपि वेदार्थस्य गृहीतविस्मृतसम्बन्धवचनाकौशलदुष्टाभि-प्रायतया[७] व्याख्यानस्यान्यथैव[८] करणादविसंवादा[९]योगादप्रामाण्यमेव स्यात्। दृश्यन्ते ह्यधुनातना[१०] अपि ज्योतिःशास्त्रादिषु रहस्यं यथार्थमवयन्तोऽपि[११] [१२]दुरभिसन्धेरन्यथा व्याचक्षाणाः। केचिज्जानन्तोऽपि वचना-

---

जायेंगे, तब आप लोग जो वेद को अपौरुषेय कहते हैं सो वेद की इस पुरुषाभाव सिद्धि रूप अपौरुषेयता का प्रतिबंधक अर्थात् विघातक यह प्रमाणभूत सर्वज्ञ का वचन ही हो जाता है।

यदि वेद की अपौरुषेयता समाप्त न हो जाये इस भय से वेद-वाक्यों के व्याख्याता सर्वज्ञ न मानकर अल्पज्ञ ही मानें और कहें कि उनके द्वारा कही गई यथार्थ (वास्तविक) अर्थ की व्याख्यान-परम्परा अनादिकाल से लगातार अविच्छिन्न सन्तानरूप से चली आ रही है, अतः आज भी वेद का सत्य अर्थ ही जाना जा रहा है, ऐसा हमारा निश्चय है। सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि अल्पज्ञ पुरुष धर्मादिरूप अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में असन्दिग्ध रूप से व्याख्यान नहीं कर सकते हैं। जैसे कि एक अन्धे के द्वारा आकृष्यमाण (खींचा जाता हुआ) अन्धा अनिष्ट देश को छोड़कर कभी भी अभीष्ट देश को नहीं पहुँच सकता। अर्थात् वह तो कहीं न कहीं मार्ग से विमुख होकर गड्ढे में गिरेगा ही। इसी प्रकार अल्पज्ञ पुरुष के द्वारा व्याख्यात अर्थ में भी कहीं न कहीं कुछ न कुछ चूक अवश्य होगी।

दूसरे, थोड़ी देर के लिए वेद का अर्थ अनादिकाल से चली आ रही व्याख्यान परम्परा द्वारा आया हुआ मान भी लें, तो भी गुरु से गृहीत अर्थ का सम्बन्ध विस्मृत हो जाने से, या वचन की अकुशलता से, अथवा दुष्ट अभिप्राय से यदि अर्थ का व्याख्यान अन्यथा (विपरीत) कर दिया जाये, तो उसमें यथार्थ तत्त्व की प्रकाशकता का अभाव हो जाने से अविसंवादकता न रहेगी और इसलिए वह व्याख्यात अर्थ अप्रमाण ही हो जायेगा। आज-कल ऐसे व्याख्याता देखे जाते हैं जो ज्योतिषशास्त्रादि के यथार्थ रहस्य को जानते हुए भी दुष्ट अभिप्राय से उसका अन्यथा व्याख्यान करते हैं। कितने ही व्याख्याता यथार्थ अर्थ को जानते हुए भी वचनों की कुशलता न होने से

---

१. ततश्च। २. प्रमाणभूतसर्वज्ञवचनम्। ३. अनेन कर्मणा स्वर्गो भवतीति ज्ञात्वा प्रतिपादितश्चेद्योग्यम्। ४. यागादिजनितधर्मादिषु। ५. देशपरिप्रापणानुपपत्तेरिति पुस्तकान्तरे पाठः। ६. दूषणान्तरं दीयते। ७. गृहीतविस्मृतसम्बन्धतया वचनाकौशलतया दुष्टाभिप्रायतया। ८. विपरीतत्वेनैव। ९. अविप्रतिपत्ययोगात्, तत्त्वप्रकाशकायोगात्। १०. एतत्कालसम्बन्धिनोऽपि व्याख्यातारः। ११. जानन्तोऽपि। १२. दुष्टाभिप्रायत्वात्।

कौशलादन्यथोपदिशन्तः। केचिद्विस्मृतसम्बन्धा अयाथातथ्यमभिदधाना इति। कथमन्यथा[१] भावना-[२]विधि[३]नियोग[४] [५]वाक्यार्थ[६]विप्रतिपत्तिर्वेदे स्यान्मनु-याज्ञवल्क्यादीनां [७]श्रुत्यर्थानुसारिस्मृतिनिरूपणायां वा[८]। [९]तस्मादनादिप्रवाहपतितत्त्वेऽपि वेदस्यायथार्थत्वमेव स्यादिति स्थितम्।

यच्चोक्तम्'अतीतानागतावित्यादि' तदपि [१०]स्वमतनिर्मूलनहेतुत्वेन विपरीतसाधनात्तदाभासमेवेति[११]।

अन्यथा उपदेश देते हुए देखे जाते हैं। तथा कितने ही व्याख्याता वाक्यार्थ का सम्बन्ध भूल जाने से अयाथातथ्य अर्थात् यथार्थ अर्थ से रहित जिस किसी भी प्रकार का अर्थ कहते हुए देखने में आते हैं। यदि ऐसा न माना जाये, तो वेद में भावना, विधि और नियोगरूप वाक्यार्थ का विवाद कैसे सम्भव था? अथवा, मनु, याज्ञवल्क्य आदि की श्रुति (वेदवाक्य) के अर्थ का अनुसरण करने वाली स्मृति की निरूपणाओं में विभिन्नता कैसे होती? इसलिए अनादिकालीन आचार्य-परम्परारूप प्रवाह से समागत होने पर भी वेद के अयथार्थता ही है, यह स्थित (निश्चित) हुआ।

भावार्थ—वेद में यज्ञ-यागादि के विधायक जो वाक्य पाये जाते हैं वे प्रायः लिङ्, लोट् लकार वाले और तव्यप्रत्ययान्त पाये जाते हैं। यथा जुहुयात् जुहोतु और होतव्यम्। भावनावादी भाट्ट लोगों का कहना है कि इन विभिन्न लकारों में प्रयुक्त होने पर भी सबका अर्थ भावना-परक ही लेना चाहिए। पर नियोगवादी प्राभाकरों का कहना है कि इन सबका अर्थ नियोग अर्थात् आज्ञा रूप ही है अर्थात् स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छावाले पुरुषको यज्ञ करनेका आदेश ''अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः'' इत्यादि वाक्यों के द्वारा दिया गया है। किन्तु विधिवादी जैमिनियों का कहना है कि उक्त वाक्यों का अर्थ विधि-परक ही ग्रहण करना चाहिए, भावना और नियोग के रूप में नहीं। इस प्रकार वेद के वाक्यार्थ के विषय में इन सबका मतभेद पाया जाता है। इसी प्रकार मनु, याज्ञवल्क्य आदि ने वेदवाक्यों के परस्पर भिन्न अर्थ किये हैं। इस प्रकार परम्परागत मानने पर भी अर्थ में विषमता या विभिन्नता देखी जाती है, अतः उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता।

---

१. अन्यथा प्रतिपादनं नास्ति चेत्कथं विवादः परस्परम् ? २. भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषो भावना। तेन (वाक्येन) भूतिषु (यागक्रियासु) कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः (द्रष्टव्यादेः)। प्रयोजकक्रिया-माहुर्भावनां भावनाबिदः ॥१॥ सा द्विविधा-शब्दभावना, अर्थभावना च। शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव लिङ्गादयः। इयं त्वन्यैव सर्वार्था सर्वाख्यातेषु विद्यते ॥२॥ भाव्यकर्तृकार्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना। ३. ब्रह्म परमपुरुष एव विधिः। परमपुरुषव्यतिरिक्तमन्यद्वस्तु नास्ति विधिवादिनो मते। ४. निरवशेषो हि योगो नियोगः, नियुक्तोऽहमनेना-ग्निष्टोमादिवाक्येन यागादौ कर्मणीति। ५. पूर्वाचार्यो हि धात्वर्थं वेदे भट्टस्तु भावनाम्। प्रभाकरो नियोगं तु शङ्करो विधिमब्रवीद् ॥१॥ भावनावादी भाट्टः, विधिवादी ब्रह्माद्वैतवादी, नियोगवादी प्रभाकरः। ६. तत्किमर्थं भाट्टानां भावनैव वाक्यार्थं, ब्रह्माद्वैतवादिनां विधिरेव वाक्यार्थः, प्राभाकराणां नियोग एव वाक्यार्थः? ७. वेदार्थ। ८. विप्रतिपत्तिः कथं स्यात्। अकिञ्चिज्ज्ञत्वात् तेभ्योऽपि मनु-यज्ञवल्क्यादिभ्यः पूर्वं वेदस्य सद्भावात् तेषामपि परिज्ञानभेदादन्यथा। प्रतिपादितमस्ति। ९. यतोऽयथार्थत्वं सर्वत्र। १०. मीमांसकमत-। ११. अनुमानाभासमिति।

तथाहि–

अतीतानागतौ कालौ वेदार्थज्ञविवर्जितौ।
[१]**कालशब्दाभिधेयत्वादधुनातनकालवत्॥२६॥** इति

किञ्च–कालशब्दाभिधेयत्वमतीतानागतयोः कालयोर्ग्रहणे सति भवति। तद्[२]ग्रहणं च [३]नाध्यक्षतस्तयो[४]रतीन्द्रियत्वात्। [५]अनुमानतस्तद्ग्रहणेऽपि न साध्येन[६] सम्बन्धस्तयो[७]र्निश्चेतुं पार्यते[८]; प्रत्यक्षगृहीतस्यैव[९] [१०]तत्सम्बन्धाभ्युपगमात्[११]। न च कालाख्यं द्रव्यं [१२]मीमांसकस्यास्ति। [१३]प्रसङ्गसाधनाददोष इति चेन्न;[१४]

और जो आपने ''अतीतानागतौ कालौ'' इत्यादि श्लोक को प्रमाणरूप से उपस्थित कर अतीत-अनागतकाल को वेद के कर्ता से रहित बतलाया, सो आपका यह कथन भी आपके ही मत के निर्मूलन करने का अर्थात् जड़-मूल से उखाड़ने का कारण है, अतः विपरीत अर्थ का साधन करने से अनुमानाभास ही है; क्योंकि हम उसे इस प्रकार से भी कह सकते हैं–

अतीत और अनागतकाल वेदार्थ के जानने वाले से रहित है; क्योंकि अतीत और अनागतकाल काल शब्द के वाच्य हैं। जो काल शब्द का वाच्य होता है, यह वेदार्थज्ञ से रहित होता है, जैसे कि वर्तमानकाल वेदार्थज्ञ से रहित है ॥२६॥

दूसरी बात यह है कि अतीत और अनागत कालों के ग्रहण करने पर ही वे काल शब्द के वाच्य हो सकते हैं। किन्तु अतीत और अनागत कालों का ग्रहण प्रत्यक्ष से तो होता नहीं है; क्योंकि वे दोनों ही अतीन्द्रिय हैं। यदि कहा जाये कि अनुमान से उन दोनों कालों का ग्रहण होता है। यथा-अतीत और अनागत काल हैं, क्योंकि उनमें कालपना पाया जाता है, जैसे कि वर्तमान काल में कालपना पाया जाता है। और चूँकि मध्यवर्ती वर्तमानकाल देखा जाता है; अतः उसके पहले और पीछे होने वाले अतीत और अनागतकाल का भी सद्भाव सिद्ध है। इस प्रकार के अनुमान से काल का ग्रहण हो जानेपर भी उन दोनों कालों का वेदकार-विवर्जितरूप से साध्य के साथ सम्बन्ध निश्चित करना शक्य नहीं है; क्योंकि साध्य और साधन का सम्बन्ध प्रत्यक्ष गृहीत साधन के ही स्वीकार किया गया है। वह यहाँ पर नहीं; अतः यह कैसे माना जा सकता है कि

---

१. साधनं हेतुः। २. अतीतानागतकालग्रहणम्। ३. भवतीति शेषः। ४. अतीतानागतकालयोः। ५. अथानुमानतस्तयोर्ग्रहणं भवति। तथाहि–अतीतानागतकालौ स्तः, कालत्वाद्वर्तमान-कालवत्। मध्यवर्तिवर्तमानकालदर्शनादुभयोर्ग्रहणम्। ६. वेदकारविवर्जिताविति साध्यम्। ७. अतीतानागतकालयोः। ८. कालशब्दाभिधेयमस्ति, अतीतानागतकालत्वाद्वर्तमान-कालवत्, इत्यनुमानेन साध्येन कालशब्दाभि-धेयेनातीतानागत-कालत्वस्य सम्बन्धो निश्चेतुं न शक्यते। ९. साधनस्य। १०. साध्यसाधनसम्बन्धस्य। ११. तथा तत्र नास्ति। १२. मीमांसकमते कालद्रव्यस्यास्वीकारादतीतानगतकालौ वेदकार-विवर्जितौ कालशब्दाभिधेयत्वादित्यनुमाने कालशब्दाभिधेयस्य स्वरूपेणैवा-सत्त्वात्स्वरूपासिद्धोऽयं हेतुरिति भावः। १३. साध्यसाधनयोः व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमानान्तरीय-कोऽनादिभूतो यत्र कथ्यते तत्प्रसङ्गसाधनम्। परेष्ट्याऽनिष्टापादनं प्रसङ्गसाधनमिति। १४. एवं ब्रूषे चेन्नं, युक्तं न भवति।

[1]परम्प्रति [2]साध्यसाधनयोर्व्याप्य[3]व्यापकभावाभावात्। [4]इदानीमपि देशान्तरे वेदकारस्याष्टकादेः[5] [6]सौगतादिभिरभ्युपगमात्[7]।

यदप्यपरं–'वेदाध्ययनमित्यादि' तदपि विपक्षेऽपि[8] समानम्–

भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
तदध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा॥२७॥ इति

अतीत और अनागत काल वेद के कर्ता से रहित थे। और मीमांसक के मत में तो काल नामक द्रव्य माना ही नहीं गया है। (अतः ''अतीतानागतौ कालौ'' इत्यादि अनुमान में प्रयुक्त ''कालशब्दाभिध्येयत्वरूप'' साधन का स्वरूप से ही अभाव होने से वह हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है।) यदि कहें कि प्रसंग-साधन से कोई दोष नहीं, सो ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि पर के प्रति साध्य और साधन में व्याप्य और व्यापक भाव का अभाव है।

भावार्थ–जो लोग वेद का कर्ता मानते हैं, वे लोग काल-शब्दाभि ध्येयत्वरूप वेदार्थज्ञ विवर्जितत्वरूप साधक के साथ व्याप्य-व्यापकरूप सम्बन्ध नहीं मानते हैं, अतः उनके लिए उक्त साधन अपने साध्य की सिद्धि नहीं करता है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

यदि कहें कि वर्तमानकाल के दृष्टान्त के बल से व्याप्य-व्यापक भाव बन जायेगा; सो भी नहीं कह सकते; क्योंकि इस समय भी देशान्तर में सौगत आदि ने अष्टक आदि को वेद का कर्ता स्वीकार किया है।

भावार्थ–मीमांसक का यह कहना था कि जैसे आज वेद का कर्ता नहीं पाया जाता, वैसे ही भूतकाल में भी कोई वेद का कर्ता नहीं हुआ है, क्योंकि किसी को भी वेद के कर्ता का स्मरण नहीं है। इसके प्रतिवाद में आचार्य बतला रहे हैं कि आज भी बौद्ध लोग अष्टकदेव को वेद का कर्ता मानते हैं, काणाद (वैशेषिक-नैयायिक) ब्रह्मा को और जैन लोग कालासुर को वेद के कर्तारूप से स्मरण करते हैं; अतः उनका उक्त हेतु ठीक नहीं है।

और जो आप मीमांसकों ने 'वेदाध्ययनं सर्वं' इत्यादि श्लोक को प्रमाणरूप से उपस्थित कर वेदाध्ययन की अनादिपरम्परा को सिद्धकर अपौरुषेयता सिद्ध करना चाही है, सो यह कथन विपक्ष में भी अर्थात् पौरुषेयपक्ष में भी समान है। क्योंकि हम कह सकते हैं कि–

---

१. वेदस्य कर्ताऽस्तीति वादिनं प्रति। २. वेदकार-विविर्जितत्वकाल-शब्दाभिधेयत्वयोः। ३. अधुनावेदकर्तुरग्रहणं चेत् अतीतानागतयोरपि कर्तुरग्रहणं कार्यम्। ४. इदानीन्तनकालदृष्टान्तबलेन व्याप्यव्यापकभावो भवत्येवेत्यत आह। ५. देवविशेषस्य। ६. बौद्धमते अष्टकदेवेन बौद्धमताश्रयेण वेदः कृतो वर्तते। सोऽप्ययमेव वेद एवं कथ्यते। कारणवादिनस्तत्कर्तारं चतुराननं जैनाः कालासुरं बौद्धाश्चाष्टकं तत्कर्तारं स्मरन्त्येव। तत्कर्तारं हि काणादाः स्मरन्ति चतुराननम्। जैनाः कालासुरं बौद्धाश्चाष्टकात्सकलाः सदा ॥१॥ इति श्लोकवार्तिके निरूपितत्वात्। ७. इदानीन्तन-कालवदिति दृष्टान्तः प्रतिवाद्यसिद्धः, सौगतैरधुनापि तत्कर्तुः स्वीकारादिति भावः। ८. पौरुषेयेऽपि।

यच्चान्यदुक्तम्–'अनवच्छिन्नंसम्प्रदायत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिति', [१]तत्र [२]जीर्णकूपारामादिभिर्व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमनवच्छिन्नसम्प्रदायत्वविशेषणेऽपि विशेष्यस्यास्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य विचार्यमाणस्यायोगादसाधनत्वम्। कर्तुरस्मरणं हि वादिनः प्रतिवादिनः सर्वस्य वा? वादिनश्चेदनुपलब्धेरभावाद्वा[३] आद्ये पक्षे पिटकत्रयेऽपि[४] [५]स्यादनुपलब्धेरविशेषात्। तत्र[६] परैः[७] [८]तत्कर्तुरङ्गीकारान्नो[९] चेदत एवात्रापि[१०] न तदस्तु[११]।

महाभारत का सर्व अध्ययन गुरु के अध्ययन पूर्वक है; क्योंकि वह अध्ययन पद का वाच्य है; जैसे कि वर्तमानकाल का अध्ययन ॥२७॥

इस प्रकार आपका सभी कथन विपक्ष में समान है।

और जो आपने कहा कि 'वेदाध्ययन की अविच्छिन्न सम्प्रदाय (परम्परा) होने पर भी उसके कर्ता का स्मरण नहीं है; इत्यादि, सो इस हेतु में जीर्ण-शीर्ण कूप, उद्यान आदि से होने वाले व्यभिचार की निवृत्ति के लिए अनवच्छिन्नसम्प्रदायत्व विशेषण के लगाने पर भी विशेष्य पद जो अस्मर्यमाणकर्तृकत्व है, वह विचार किये जानेपर सिद्ध नहीं होता, अतः उसके समीचीन साधनपना (हेतुपना) नहीं है। इस विषय में हम आपसे पूछते हैं कि वेद के कर्ता का स्मरण वादी को नहीं, या प्रतिवादी को नहीं, अथवा सभी को नहीं ? यदि वादी को नहीं, तो क्या उसकी उपलब्धि नहीं होने से वादी को कर्ता का अस्मरण है अथवा अभाव होने से वादी को कर्ता का स्मरण नहीं है? इनमें से पहला पक्ष मानने पर बौद्धों के पिटकत्रय में भी अपौरुषेयता प्राप्त हो जायेगी; क्योंकि वेद के समान उसके कर्ता की भी अनुपलब्धि है।

भावार्थ—बौद्धों के यहाँ अभिधम्मपिटक सुत्तपिटक और विनयपिटक ये तीन पिटकत्रय कहलाते हैं। टिप्पणकार ने ज्ञानपिटक, वन्दनपिटक और चैत्यपिटक को पिटकत्रय कहा है। इन तीनों पिटकों के कर्ता आज अनुपलब्ध हैं। अतः जैसे कर्ता की अनुपलब्धि से मीमांसक वेद की अपौरुषेयता सिद्ध करना चाहते हैं, वैसे ही पिटकत्रय की भी अपौरुषेय मानना चाहिए, यह आचार्य ने उन्हें दूषण दिया है।

यदि कहा जाये कि पिटकत्रय का तो बौद्धों ने कर्ता स्वीकार किया है अतः उन्हें अपौरुषेय नहीं माना जा सकता। तो हम भी कहते हैं कि काणाद आदि ने भी वेद का कर्ता स्वीकार किया है, अतः वेद को भी अपौरुषेय नहीं मानना चाहिए। यदि अभावरूप दूसरा पक्ष लिया जाये कि

---

१. हेतौ। २. यतो जीर्णकूपादौ विच्छिन्नसम्प्रदायत्वं वर्तते। ३. वा शब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः। तेनायमर्थः सम्पादितो भवतियदभावाद्वा वादिनः कर्तुरस्मरणमनुपलब्धेर्वा कर्तुरस्मरणमिति। ४. बौद्धग्रन्थविशेषेऽपि। ज्ञानपिटक-वन्दनपिटक-चैत्यपिटकानां त्रयमिति पिटकत्रयम्। ५. अपौरुषेयत्वम्। ६. पिटकत्रये। ७. बौद्धैः। ८. पिटकत्रयस्य कर्ताऽस्ति, परन्तु स्मरणं नास्तीस्ति बौद्धैः स्वीकारात्। तेषां कर्तुरस्मरणं न, इति चेत्स्मरणमस्त्येवेति भावः। ९.अनुपलब्धेरविशेषादपि पिटकत्रयेऽपौरुषेयत्वं मा भूदिति चेत् अनुपलब्धिमाश्रित्य कर्तुस्मरणं प्रतिपाद्यते चेत् पिटकवद्वेदेऽप्या-पतितम्। १०. वेदेऽपि। ११. अनुपलब्ध्या विशेषात् पिटकत्रय-वद्वेदेऽप्यपौरुषेयत्वं मास्तु।

अभावादिति चेदस्मा[१] त्तदभाव[२] सिद्धावितरेतराश्रयत्वम्–सिद्धे हि तदभावे[३] तन्निबन्धनं[४] [५]तदस्मरण-मस्माच्च[६] तदभाव[७] इति। [८]प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेस्तदभावान्नेतरेतराश्रयत्वमिति चेन्न; [९]प्रामाण्येनाप्रामाण्य-कारणस्यैव पुरुषविशेषस्य निराकरणात् [१०]पुरुषमात्रस्यानिराकृतेः। [११]अथीतीन्द्रियार्थदर्शिनो[१२]ऽभावादन्यस्य[१३] च प्रामाण्यकारणत्वानुपपत्तेः सिद्ध एव सर्वथा पुरुषाभाव इति चेत्कुतः[१४] सर्वज्ञाभावो विभावित[१५]? [१६]प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति[१७] चेदितरेतराश्रयत्वम्[१८]। कर्तुरस्मरणादिति चेच्चक्रकप्रसङ्गः[१९]।

कर्ता का अभाव होने से स्मरण नहीं है; तो कर्ता के अस्मरण से वेद के कर्ता का अभाव सिद्ध करने में इतरेतराश्रय दोष प्राप्त होता है। यथा–जब वेद के कर्ता का अभाव सिद्ध हो जाये, तब उसके निमित्त से वेद के कर्ता का अस्मरण सिद्ध हो और जब वेद के कर्ता का अस्मरण सिद्ध हो जाये, तब वेद के कर्ता का अभाव सिद्ध हो। यदि कहा जाये कि प्रामाण्य की अन्यथानुपपत्ति से वेद के कर्ता का अभाव है, अर्थात् यदि वेद का कर्ता माना जाये, तो उसके प्रमाणता नहीं बन सकती, अतः इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि प्रमाणता की अन्यथानुपति से तो अप्रमाणता के कारणभूत पुरुष–विशेष का ही निराकरण किया गया है, उससे पुरुषमात्र का निराकरण नहीं होता।

पुनः मीमांसक कहते हैं कि अतीन्द्रिय पदार्थों को देखने वाले सर्वज्ञ का अभाव है और अन्य अल्पज्ञ पुरुष के प्रमाणता का कारणपना नहीं बनता है; अतः पुरुषमात्र का ही अभाव है? इस पर आचार्य उनसे पूछते हैं कि आपने सर्वज्ञ का अभाव कैसे जान लिया ? प्रामाण्यान्यथानुपपत्ति से कहें, तो इतरेतराश्रय दोष आता है। अर्थात् जब सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो जाये,तब वेद की प्रामाण्यान्यथानुपपत्ति सिद्ध हो और जब वह सिद्ध हो जाये, तब सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो। यदि वेद के कर्ता का स्मरण नहीं होने से सर्वज्ञ का अभाव कहें, तो चक्रकनाम के दोष का प्रसंग आता है।

विशेषार्थ–किसी एक बात के तीन बार या बार–बार आवृत्ति करने अर्थात् दुहराने को चक्रकदोष कहते हैं। जैसे गाड़ी का चक्र घूमने पर उसके मध्यवर्ती आरे बार–बार सामने आते हैं,

---

१. कर्तुरस्मरणात्। २. वेदकर्तुरभावसिद्धौ। ३. वेदकर्तुरभावे। ४. अभावकारणकम्। ५.वेदकर्तुरस्मरणम्। ६. वेदकर्तुरस्मरणाच्च। ७. वेदकर्तुरभाव इति। ८. कर्त्रभावे सिद्धे हि वेदस्य प्रामाण्यसिद्धिरिति। ९. वेदकर्तुरभावात् अपौरुषेयत्वम्। १०. प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरित्यनेनाप्रामाणिकनिरासः कृतो भवति, न तु सामान्य पुरुषनिराकरणम्। ११. प्रामाण्यकारणस्य। १२. सर्वज्ञस्य। १३. किञ्चिज्ज्ञस्य, असर्वज्ञस्य। १४.हेतोः। १५. ज्ञातः। १६. वेदस्य। १७. सामान्यपुरुषकृतत्वेन। १८. सिद्धे हि सर्वज्ञाभावे प्रामाण्यान्यथानुपपत्तिस्तत्सिद्धौ च सर्वज्ञाभाव इति। १९. त्रितयादिसिद्धावव्यवधानेन त्रितयाद्यपेक्षा चक्रकत्वम्। अथवा पूर्वस्य पूर्वापेक्षितमध्यमापेक्षितोत्तरापेक्षितत्वम्। अथवा स्वापेक्षणीया–पेक्षितसापेक्षत्वनिबन्धनप्रसङ्गत्वमिति। वेदकर्तुरस्मरणात्सर्वज्ञाभावः सिद्ध्येत्, सर्वज्ञाभावे सिद्धे वेदप्रमाण्यान्यथानुपपत्तिः सिद्ध्येत्। तस्यां च सिद्धायां कर्तुरभावः सिद्ध्येदिति पुनः पुनः प्रसङ्गान्नैकस्यापि सिद्धिरिति चक्रकप्रसङ्गः। त्रिभिरावर्तनं चक्रकदूषणमिति।

[१]अभावप्रमाणादिति चेन्न; [२]तत्साधकस्यानुमानस्य प्राक्[३] प्रतिपादित्वादभावप्रमाणोत्थानायोगात् प्रमाणपञ्चकाभावे[४]ऽभावप्रमाणप्रवृत्तेः।

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
[५]वस्त्वसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥२८॥

इति परै[६]रभिधानात्। ततो न वादिनः कर्तुरस्मरणमुपपन्नम्। नापि प्रतिवादिनोऽसिद्धेः। तत्र[७] हि प्रतिवादी स्मरत्येव कर्तारमिति। नापि सर्वस्य, वादिनो वेदकर्तुरस्मरणेऽपि प्रतिवादिनः स्मरणात्।

उसी प्रकार जब कोई नवीन युक्ति न दी जाये और एक से आश्रित दूसरी और दूसरी से आश्रित तीसरी युक्ति कही जाये और उसकी सिद्धि के लिए पुनः पहली युक्ति और उसकी सिद्धि के लिए फिर उन्हीं युक्तियों का प्रयोग किया जाये, तब चक्रकदोष माना जाता है। प्रकृत में आचार्य ने वेद-कर्ता के अस्मरण से सर्वज्ञ का अभाव मानने पर चक्रकदूषण दिया है कि वेद के कर्ता का जब अस्मरण सिद्ध हो जाये, तब सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो, जब सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो जाये, तब वेद की प्रामाण्यान्यथानुपपत्ति सिद्ध हो और जब वह सिद्ध हो जाये तब वेद के कर्ता का अभाव सिद्ध हो। कहने का सारांश यह कि बार-बार उन्हीं बातों को दुहराने पर किसी एक की भी सिद्धि नहीं होती है।

यदि मीमांसक कहें कि अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होता है, सो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ के साधक अनुमान का पूर्व में अर्थात् दूसरे अध्याय के अन्त में 'सावरणत्वे करणजन्यत्वे' इत्यादि सूत्र की व्याख्या में प्रतिपादन किया जा चुका है. इसलिए सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करने के लिए तो अभाव प्रमाण का उत्थान ही नहीं हो सकता है; क्योंकि प्रत्यक्ष आदि पाँचों प्रमाणों के अभाव में अभाव-प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। जैसा कि आप मीमांसकों ने स्वयं कहा है-

जिस वस्तु के स्वरूप में प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती है, वहाँ वस्तु की असत्ता जानने के लिए अभाव-प्रमाण की प्रमाणता है ॥२८॥

इसलिए वादी के कर्ता का अस्मरण तो बनता नहीं है। और न प्रतिवादी के ही बनता है; क्योंकि उनके हेतु असिद्ध है, अर्थात् प्रतिवादी तो वेद के कर्ता का स्मरण करते ही हैं। यदि तीसरा पक्ष लें कि सभी के अर्थात् वादी और प्रतिवादी दोनों के ही कर्ता का स्मरण नहीं है, सो यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि वादी के वेद-कर्ता का अस्मरण होने पर भी प्रतिवादी के तो वेद के कर्ता का स्मरण है ही।

---

१. सर्वज्ञाभावः। २. सर्वज्ञसाधकस्य। ३. सावरणत्वे करणजन्यत्वे चेत्यादिस्थले सर्वज्ञसद्भावज्ञापकमनुमानं प्रयुक्तम्। तत्सम्भवादभावस्याप्रवृत्तिरिति। ४. पूर्वं सर्वज्ञसद्भावेऽनुमानं प्रतिपादितम्, तत्सम्भवादभावस्याप्रवृत्तिः। ५.केवलभूतलसत्तावबोधार्थम्। ६. मीमांसकैः। ७. वेदे।

[१]ननु प्रतिवादिना वेदेऽष्टकादयो बहवः कर्तारः स्मर्यन्ते, अतस्तत्स्मरणस्य[२] विवादविषयस्याप्रामाण्याद्भवेदेव सर्वस्य कर्तुरस्मरणमिति चेन्न; कर्तृविशेषविषय एवासौ विवादो न [३]कर्तृसामान्ये। अतः सर्वस्य कर्तुरस्मरणमप्यसिद्धम्। [४]सर्वात्मज्ञानरहितो[५] वा कथं सर्वस्य कर्तृरस्मरणमवैति? तस्मादपौरुषेयत्वस्य वेदे व्यवस्थापयितुमशक्यत्वान्न [६]तल्लक्षणस्याव्यापकत्वमसम्भवितत्वं वा सम्भवति। पौरुषेयत्वे पुनः प्रमाणानि बहूनि सन्त्येव।

[७]सजन्ममरणर्षिगोत्र[८]चरणादिनामश्रुते-[९]
[१०]रनेकपदसंहतिप्रतिनियमसन्दर्शनात्[११]।
[१२]फलार्थिपुरुषप्रवृत्ति[१३]निवृत्तिहेत्वात्मनां,
श्रुतेश्च मनुसूत्रवत्पुरुषकर्तृकैव[१४] श्रुतिः॥२९॥ इति वचनात्[१५]

शंका—यतः प्रतिवादी के द्वारा वेद के अष्टक आदि बहुत से कर्ता स्मरण किये जाते हैं, अतः विवाद का विषयभूत उनका स्मरण अप्रामाण्य होने से सभी के कर्ता का अस्मरण ही मानना चाहिए।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि कर्ता-विशेष के विषय में ही वह विवाद है, न कि कर्ता-सामान्य के विषय में। अतः सभी के कर्ता का अस्मरण कहना असिद्ध है।

और सर्व आत्माओं के ज्ञान के जानने से रहित यह असर्वज्ञ मीमांसक सभी के कर्ता का स्मरणर कैसे जानता है? इसलिए वेद में अपौरुषेयता की व्यवस्था करना अशक्य होने से हमारे जैनों के द्वारा कहे गये पूर्वोक्त आगम के लक्षण के अव्यापकता और असम्भवतारूप दोष सम्भव नहीं हैं और वेद के पौरुषेयता के विषय में बहुत से प्रमाण पाये ही जाते हैं; क्योंकि-

जन्म और मरण से सहित ऋषियों के गोत्र, आचरण आदि के नाम वेद सूक्तों में सुने जाते हैं; अनेक पदों के समूहरूप पृथक्-पृथक् छन्द रचना आदि के प्रतिनियम भी वेद में देखें जाते हैं, फलार्थी पुरुषों के लिए स्वर्ग का इच्छुक अग्निष्टोम से यज्ञ करे, इत्यादि प्रवृत्तिरूप और 'पलाण्डु (प्याज, कांदा) न खाये, सुरा (मदिरा) न पीये' इत्यादि निवृत्तिरूप वचन भी वेद में सुने जाते हैं। इसलिए मनुसूत्र (मनुस्मृति) के समान श्रुति अर्थात् वेदवाक्य भी पुरुषकर्तृक ही हैं॥२९॥ ऐसा पात्रकेसरी स्वामी का वचन है।

१.मीमांसकः प्राह। २. कर्तृस्मरणस्य सर्वज्ञवादिनां नैयायिक-सौगत-जैनानां परस्परविवादादप्रामाण्यं तस्मादस्मरणम्। ३. सर्वज्ञसामान्ये विवादो न। ४. सर्वप्राणिनां ज्ञानं तस्य विज्ञानं तेन रहितः। ५. मीमांसकः। ६. पूर्वोक्ताऽऽगमलक्षणस्य। ७. जन्मसहितमरण। ८. स्वर्गादिफलानाम्। ९.श्रवणात्। १०.ऋषिस्वरूपप्रतिपादनात्तेऽपि सादिकालीनाः। ११.छन्दोरूपेण वाक्यरचनादर्शनात्, रचनाविशिष्ट त्वात्पटवत्। १२. स्वर्गादिफलार्थिपुरुष-। १३.'अग्निष्टोमेन यजेत्स्वर्गकामः' इत्यादि प्रवृत्तिवाक्यानि; पलाण्डुं न भक्षयेत्, सुरां न पिबेत्, गौर्न पदात्स्पृष्टव्येत्यादिनिवृत्तिवाक्यानि। पुनर्मीमांसकैरेकेन भवतीत्युच्यते, एकेन नास्तीत्युच्यते। अतो विवादसद्भावाद प्रामाण्यम्। १४. वेदः। १५. बृहत्पञ्चनमस्काराख्यस्तोत्रे पात्रकेसरिणोक्तम्।

अपौरुषेयत्वेऽपि वा न प्रामाण्यं वेदस्योपपद्यते; तद्धेतूनां गुणानामभावात्।

ननु[१] न गुणकृतमेव[२] प्रामाण्यम्; किन्तु दोषाभावप्रकारेणापि। स[३] च दोषाश्रयपुरुषाभावेऽपि निश्चीयते, न गुणसद्भाव एवेति। तथा चोक्तम्–

शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितम्।
[४]तदभावः[५] क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः॥३०॥
तद्गुणैरपकृष्टानां[६] शब्दे सङ्क्रान्त्यसम्भवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः॥३१॥

इति तदप्ययुक्तम्; [७]पराभिप्रायापरिज्ञानात्। [८]नास्माभिर्वक्तुरभावे वेदस्य प्रामाण्याभावः समुद्भाव्यते; किन्तु [९]तद्व्याख्यातॄणामतीन्द्रियार्थदर्शनादिगुणाभावे। [१०]ततो दोषाणामनपोदितत्वान्न[११] प्रामाण्यनिश्चय इति। [१२]ततोऽपौरुषेयत्वेऽपि वेदस्य प्रामाण्यनिश्चयायोगान्नानेन[१३] [१४]लक्षणस्याव्यापित्वमसम्भवितत्त्वं

अथवा थोड़ी देर के लिए आपके सन्तोषार्थ जिस किसी प्रकार से अपौरुषेयता मानने पर भी उसके प्रमाणता नहीं बन सकती है; क्योंकि प्रमाणता के कारणभूत जो गुण हैं, उनका वेद में अभाव है।

शंका—प्रमाणता गुणकृत ही नहीं होती, किन्तु दोष के अभावरूप प्रकार से भी प्रमाणता होती है। और वह दोष का अभाव दोष के आश्रयभूत पुरुष के अभाव में भी निश्चय किया जाता है; न कि गुण के सद्भाव में ही। जैसा कि कहा है–

शब्द में दोष का उत्पन्न होना तो वक्ता के अधीन है, यह बात सिद्ध है। दोषों का अभाव कहीं पर गुणवान् वक्तापने के अधीन है, क्योंकि वक्ता के गुणों से दूर किये गये दोषों का पुनः शब्द में आना असम्भव है। अथवा वक्ता के अभाव से दोषों का अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि दोष निराश्रय नहीं रह सकते हैं ॥३०-३१॥

समाधान—आपका यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि आपने पर अर्थात् जैनों के अभिप्राय को नहीं समझा है। हम लोग वक्ता के अभाव में वेद को प्रमाणता का अभाव नहीं कहते हैं; किन्तु उस वेद के व्याख्याताओं के अतीन्द्रिय पदार्थों को देखने आदि के गुणों का अभाव है और गुणों के अभाव से दोषों का निराकरण सम्भव नहीं है; अतः वेद की प्रमाणता का निश्चय नहीं किया जा सकता। इसलिए अपौरूषेयता होने पर भी वेद की प्रमाणता का निश्चय न होने से इस अपौरूषेय वेद के द्वारा हमारे आगम के लक्षण के न अव्यापकत्व दोष है और न असम्भवित्वदोष है। अतः

---

१. मीमासंकः प्राह। २. वेदे। ३. दोषाभावः। ४. दोषाभावः। ५. वेदे। ६. निराकृतानां दोषाणाम्। ७. जैनाभिप्राय। ८. जैनैः। ९. वेद-। १०. गुणाभावात्। ११. अनिराकृतत्वात्। १२. तस्मात् कारणात्। १३. अपौरूषेयवेदेन। १४. आगमलक्षणस्य 'आप्तवचनादि-निबन्धनस्य'।

वेत्यलमति-जल्पितेन।

[१]ननु [२]शब्दार्थयोः [३]सम्बन्धाभावा[४]दन्यापोह[५]मात्राभिधा[६]यित्वादाप्तप्रणीतादपि शब्दात्कथं वस्तुभूतार्थावगम[७] इत्यत्राह-

सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः॥९६॥

सहजा स्वभावभूता योग्यता शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकशक्तिः, [८]तस्यां [९]सङ्केतस्तद्वशाद् हि स्फुटं शब्दादयः[१०] प्रागुक्ता[११] वस्तुप्रतिपत्तिहेतव इति।

उदाहरणमाह-

यथा मेर्वादयः सन्ति॥९७॥

[१२]ननु य एव शब्दाः सत्यर्थे दृष्टास्त एवार्थाभावेऽपि[१३] दृश्यन्ते तत्कथ[१४]मर्थाभिधायकत्वमिति[१५]?

अधिक कहने से विराम लेते हैं।

यहाँ पर बौद्ध लोग कहते हैं कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अभाव है, अतः शब्द अन्य के निषेध मात्र का अभिधायक है; इसलिये आप्त-प्रणीत भी शब्द से वस्तुभूत अर्थ का ज्ञान कैसे हो सकता है, इस प्रकार की शंका का समाधान करने के लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं ॥९६॥

सूत्रार्थ—सहज योग्यता के होने पर संकेत के वश से शब्दादिक वस्तु के ज्ञान कराने के कारण है॥९६॥

सहज अर्थात् स्वाभाविक योग्यता जो शब्द और अर्थ की वाच्य-वाचक-भावरूप शक्ति, उसके होने पर 'इस पद से यह अर्थ जानना चाहिए ? इस प्रकार के संकेत के वश से निश्चयतः पहले कहे गये आप्त-प्रणीत शब्दादिक वस्तु के ज्ञान कराने में कारण होते हैं।

आचार्य इसका उदाहरण कहते हैं-

सूत्रार्थ—जैसे मेरू आदिक शब्द अपने वाच्यभूत अर्थ के ज्ञान कराने में कारण हैं ॥९७॥

शंका—जो ही शब्द पदार्थ के होने पर उनके वाचक देखे जाते हैं वे ही शब्द पदार्थ के अभाव में भी गगनारविन्द आदि के वाचक देखे जाते हैं, अतः शब्दों के अर्थ का वाचकपना कैसे माना जाये ?

---

१. इदानीं बौद्धो जल्पति। २. नामजात्यादियोजनात्मकोऽर्थो नास्ति। ३. पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः (वाच्यवाचकरूपः) सिद्धे (वस्तुनि) का परतन्त्रता। तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः॥१॥ ४. सम्बन्धाभावः। कुत इत्यत आह। ५. अस्मिन् घटादावन्यस्य घटादेरपोहो व्यावृत्तिरभावः। ६. ततश्च। ७. सत्यार्थभूतार्थावगमः। ८. तस्या इति पाठान्तरम्। ९. वाच्यवाचकसम्बन्धः सङ्केतः। अस्मात्पदा दयमर्थोबोद्धव्य इत्याकारकः सङ्केतः। यथा पृथुबुध्नोदराकारे मृत्पिण्डे घट इति सङ्केतः। १०. आदिशब्देनाङ्गुलिसंज्ञादयः। ११. आप्तनिबन्धनेन समर्थिताः। १२. बौद्धः कथयति। १३. गगनारविन्दादौ। १४. मेरुरूपोऽर्थो न विद्यते, कृतः प्रवृत्तिः। १५. शब्दानाम्।

[१]तदप्ययुक्तम्; अनर्थकेभ्यः शब्देभ्योऽ[२]र्थवतामन्यत्वात्[३]। न [४]चान्यस्य व्यभिचारेऽ[५]न्यस्यासौ[६] युक्तोऽति-प्रसङ्गात्। अन्यथा[७] गोपालघटिकान्तर्गतस्य धूमस्य पावकस्य व्यभिचारे पर्वतादिधूमस्यापि [८]तत्प्रसङ्गात्। 'यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते' इत्यन्यत्रापि[९] समानम्। सुपरीक्षितो हि शब्दोऽर्थे न व्यभिचरतीति।

[१०]तथा चान्यापोहस्य[११] शब्दार्थत्वकल्पनं प्रयासमात्रमेव। न चान्यापोहः शब्दार्थो व्यवतिष्ठते, [१२]प्रतीतिविरोधात्। न हि गवादिशब्दश्रवणादगवादिव्यावृत्तिः[१३] प्रतीयते। [१४]ततः सास्नादिमत्यर्थे प्रवृत्तिदर्शनाद-गवादिबुद्धिजनकं [१५]तत्र शब्दान्तरं[१६] मृग्यम्[१७]। अथैकस्मादेव[१८] गोशब्दादर्थ[१९]द्वयस्यापि सम्भावनान्नार्थः शब्दान्तरेणेति चेन्नैवम्; एकस्य[२०] परस्परविरुद्धार्थ[२१]द्वयप्रतिपादनविरोधात्[२२]। किञ्च [२३]गोशब्द-

---

समाधान—यह शंका ठीक नहीं; क्योंकि अर्थ-रहित शब्दों से अर्थ वाले शब्द भिन्न होते हैं। और अन्य के व्यभिचार पाये जानेपर अन्य के व्यभिचार कहना युक्त नहीं है; अन्यथा अतिप्रसंग दोष प्राप्त होगा। यदि अन्य के व्यभिचार में अन्यत्र व्यभिचार को कल्पना करेंगे, तो इन्द्रजालिये के घड़े के अन्तर्गत धूम के सद्भाव में भी पावक का अभाव होने से व्यभिचार होने पर पर्वतादि से निकलने वाले धूम के भी व्यभिचार का प्रसंग प्राप्त होगा।

यदि कहा जाये कि यत्न से परीक्षा किया गया कार्य अपने कारण का उल्लंघन नहीं करता है, तो यह बात अन्यत्र भी समान है अर्थात् सुपरीक्षित शब्द अपने वाच्यभूत अर्थ का व्यभिचारी नहीं होता।

तथा आचार्य बौद्धों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि अन्यापोह के अर्थात् अन्य के निषेध के शब्दार्थपने की कल्पना करना तो आपका प्रयास मात्र ही है। विचार करने पर अन्यापोह शब्द का अर्थ नहीं ठहरता है; क्योंकि अन्य के निषेध को शब्द का अर्थ मानने पर प्रतीति से विरोध आता है। गो आदि शब्द के सुनने से अगवादि की व्यावृत्ति प्रतीति नहीं होती है; क्योंकि व्यावृत्ति (निषेध) तो तुच्छाभावरूप है। इसलिए गो शब्द के सुनने पर सास्ना (गलकम्बल) आदि वाले गो पदार्थ में प्रवृत्ति देखे जाने से अगवादि विषयक बुद्धि का उत्पादक अन्य ही शब्द इस विषय में ढूँढ़ना चाहिए। यदि कहें कि एक ही गो शब्द से विधि और निषेधरूप दोनों ही अर्थों का जानना सम्भव है, अतः भिन्न शब्द के अन्वेषण से कोई प्रयोजन नहीं है, सो ऐसा कह नहीं सकते;

---

१. रामादयो न सन्ति, तथापि तद्वाचकाः शब्दाः वर्तन्त इति कथमर्थाभिधायिकत्वं-शब्दानामिति चेन्न; न हि तैः तेषामस्तित्वं साध्यते, किन्तु स्वरूपं प्रतिपाद्यत इति न दोषः। २. शब्दानाम्। ३. पृथक्त्वात्। ४. अनर्थकशब्दस्य। ५. अर्थवतः। ६. व्यभिचारः। ७. अन्यस्य व्यभिचारेऽप्यन्यत्र परिकल्पनायाम्। ८. व्यभिचार। ९. शब्देऽपि। १०. व्यभिचाराभावे च। ११. अन्योऽपोह्यते व्यावर्त्यतेऽनेनाभावेनेति। १२. घटमानय इत्युक्ते घटमानयति, अन्यापोहत्वे प्रतीतिविरोधः। यत्र हि प्रतीति-प्रवृत्ति प्राप्तयः समधिगम्यन्ते स शब्दस्यार्थो नान्यः। १३. व्यावृत्तौ तु कोऽपि न प्रवर्तते, यतो व्यावृत्तिः तुच्छाभावरूपा सामान्या च। १४. गवादिशब्दश्रवणात्। १५. गवादौ। १६. गोशब्दाद्भिन्नः शब्दः। १७. सास्नादिमतोऽर्थस्यातोऽप्रतीतिः। १८. शब्दान्तरात्। १९. विधि-निषेधरूप। २०. शब्दस्य। २१. गवाद्यस्तित्वगवादिव्या-वृतिरूपार्थद्वयस्य। २२. एकान्तवादिनाम्, न तु स्याद्वादिनाम्। २३. गोशब्दस्य गोपिण्डरूपो भावार्थो विषयो नास्ति चेत्।

स्यागो[१]व्यावृत्तिविषयत्वे[२] प्रथममगौरिति प्रतीयते[३]। न [४]चैवम्, अतो[५] नान्यापोहः शब्दार्थः।

किञ्च–अपोहाख्यं सामान्यं [६]वाच्यत्वेन प्रतीयमानं पर्युदासरूपं[७] प्रसज्यरूपं[८] वा? [९]प्रथमपक्षे गोत्वमेव नामान्तरेणोक्तं स्यात्; अभावाभावस्य[१०] भावान्तरस्वभावेन व्यवस्थितत्त्वात्[११]। कश्चायमश्वादिनिवृत्तिलक्षणो [१२]भावोऽभिधीयते[१३]? न तावत्[१४]स्वलक्षणरूपस्तस्य [१५]सकल[१६]विकल्प[१७]वाग्गोचरातिक्रान्तत्वात्। [१८]नापि शाबलेयादिव्यक्तिरूपः; [१९]तस्यासामान्यत्वप्रसङ्गात्[२०]। तस्मात् सकलगोव्यक्तिष्वनुवृत्त[२१]प्रत्ययजनकं तत्रैव

क्योंकि एक ही शब्द के परस्पर विरोधी दो अर्थों का प्रतिपादन मानने में विरोध आता है। यदि गो शब्द को अगोव्यावृत्ति का विषय करने वाला माना जाये, तो गो शब्द के सुनने पर पहले अगो की प्रतीति होना चाहिए। किन्तु अगो की प्रतीति नहीं होती; प्रत्युत गो शब्द के सुनने से गोरूप अर्थ की ही प्रतीति होती है; अतः अन्यापोह शब्द का अर्थ सिद्ध नहीं होता है।

दूसरी बात यह है कि जिस अपोह नाम के सामान्य को आप लोग वाच्यरूप से प्रतीत होता हुआ मानते हैं वह पर्युदासरूप हैं, अथवा प्रसज्यरूप है ? प्रथम पक्ष मानने पर तो गोत्व ही नामान्तर से कहा गया है, क्योंकि अभाव का अभाव भावान्तर-स्वभाव से व्यवस्थित होता है, अर्थात् गाय के अभाव का अभाव शब्दान्तर से गाय का सद्भाव ही है। यदि कहें कि गो शब्द से अश्व आदि की निवृत्ति लक्षण वाला पदार्थ कहा जाता है, तो हम आपसे पूछते हैं कि यह अश्वादि निवृत्तिरूप पदार्थ क्या वस्तु है? स्वलक्षणरूप अर्थात् क्षणिक, निरंश, निरन्वयरूप तो वह पदार्थ माना नहीं जा सकता; क्योंकि वह स्वलक्षण समस्त विकल्परूप वचनों का विषय होने से अतिक्रान्त है अर्थात् वचन-अगोचर है। शाबलेय (कबरी) धवली आदि व्यक्तिरूप गोपदार्थ भी अपोह का विषय नहीं माना जा सकता; अन्यथा अपोह के असामान्यपने अर्थात् विशेषपने का

---

१. अश्वादि। २. अगोर्निवृत्तेः पूर्वम्। ३. भवदभिप्रायेण। ४. प्रतीयते। ५. अगौरिति प्रतीत्यभावात्। लोके प्रथमं अगोशब्दस्य प्रतीतिस्तु नास्ति, गौरेव प्रतीयते। अतो भो बौद्ध! ६. गोशब्दस्यार्थत्वेन। ७-८ पर्युदासः प्रसज्यश्च द्वौ नञौ गदिताविह। पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥१॥ प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता। प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्''॥२॥ उदाहरणमाह-ब्राह्मणमानय। ९. अन्यापोहस्य शब्दार्थत्वेन वाच्यत्वंचेत् सिद्धसाध्यता। यतो यदेवानिवृत्तिलक्षणं सामान्यं गोशब्देन भवतोच्यते, तदेवास्माभिर्गोत्वाख्यं भावलक्षणं सामान्यं गो शब्दवाच्यमित्यभिधीयते। १०. अगौरित्युक्ते महिषादयस्तेषामभावो व्यावृत्तिर्गोपदार्थरूपो भवति, नञ्द्वयस्य प्रकृतार्थसद्भावरूपत्वादिति। ११.अगोनिवृत्ति-लक्षणोऽभावो भावान्तरेण गोत्वेन व्यवतिष्ठते। १२.गोपिण्डरूपः पदार्थ एव पदार्थः। १३.अपितु न कोऽप्यभावः, किन्तु भाव एव। अगोशब्देन महिषादयस्तेषामभावो व्यावृत्तिः नाभिधीयते, किन्तु गौरेव। १४. क्षणिकनिरंशनिरन्वयरूपः। १५.स्वलक्षणस्य। १६. निर्विकल्पकज्ञानविषयं वस्तु स्वलक्षणरूपमिदं प्रतिपादनानन्तरम्। १७. विकल्पो वाग्गोचरः। १८. भवन्मते परस्परव्यावृत्ताः विशेषा एव तत्त्वम्। १९. अपोहस्य। २०. सामान्यस्यापोहस्याभावोऽसामान्यं तस्य प्रसङ्गात्। परन्त्वपोहः सामान्यस्वरूपः। तदुक्तम्-अगोनिवृत्तिः। सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम्। गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम् ॥१॥ अनिष्टा पादनं सामान्यं मास्तु, अस्ति च सामान्यम्। २१. गौरयं गौरयमित्यादि।

[१]प्रत्येकं परिसमाप्त्या[२] वर्तमानं [३]सामान्यमेव गो[४]शब्दवाच्यम्। तस्यापोह इति नामकरणे नाममात्रं भिद्येत, नार्थत[५] इति, अतो नाद्यः पक्षः[६] श्रेयान्। [७]नापि [८]द्वितीयः; गोशब्दादेः[९] क्वचिद्बाह्येऽर्थे प्रवृत्त्ययोगात्। [१०]तुच्छाभावाभ्युपगमे [११]परमतप्रवेशानुषङ्गाच्च[१२]।

[१३]किञ्ज–गवादयो ये सामान्यशब्दा[१४] ये च [१५]शाबलेयादयस्तेषां [१६]भवदभिप्रायेण पर्यायता[१७] स्यात्; [१८]अर्थभेदाभावाद् [१९]वृक्षपादपादिशब्दवत्। न खलु तुच्छाभावस्य[२०] भेदो [२१]युक्तः; [२२]वस्तुन्येव [२३]संसृष्टत्वैकत्व–नानात्वादि[२४]विकल्पानां[२५] प्रतीतेः। भेदे [२६]वा [२७]अभावस्य वस्तुतापत्तिः; [२८]तल्लक्षणत्वाद्

प्रसंग प्राप्त होता है; क्योंकि बौद्धों ने अपोह का सामान्यरूप माना है और कबरी, धवली आदि रूपपना तो गोव्यक्ति–विशेष के ही होते हैं। इसलिए समस्त प्रकार की गोव्यक्तियों में 'यह गाय है' यह इस प्रकार के अनुवृत्त प्रत्यय (ज्ञान) को उत्पन्न करने वाला और उन्हीं में ही एक–एक व्यक्ति के प्रति पूर्णरूप से वर्तमान गोत्व सामान्य को ही गो शब्द का वाच्य मानना चाहिए। उसका 'अपोह' ऐसा नाम करने पर नाममात्र का ही भेद रहेगा, किन्तु अर्थ से कोई भेद नहीं रहेगा। अतः पर्युदासरूप प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। और न प्रसज्यरूप द्वितीय पक्ष भी ठीक है, क्योंकि गो शब्द आदि की किसी बाहरी पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। और अपोह को तुच्छाभावरूप मानने पर आप बौद्धों के पर–मत अर्थात् नैयायिक मत के प्रवेश का प्रसंग प्राप्त होगा।

दूसरी बात यह भी है कि गो आदिक जो सामान्य–वाचक शब्द है और शाबलेय आदिक जो विशेष–वाचक शब्द है उन सबके आपके अभिप्राय से पर्यायवाचीपना प्राप्त होगा क्योंकि उनके अर्थ में कोई भेद नहीं रहेगा, जैसे कि वृक्ष और पादप के अर्थ में कोई भेद नहीं है। तुच्छाभावरूप अपोह के भेद का मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि यथार्थ वस्तु में ही अन्य से संयुक्तपना, एकत्वपना, नानापना आदि विकल्पों की प्रतीति होती है। यदि अभाव में भी भेद

१.सास्नादिमत्त्वम्। २. सर्वात्मना। ३.अनेन पृथग्विशेषणेन नैयायिकाभिमतसामान्यनिरासः, तन्मते सामान्यं नित्यमेकमनेकसमवायि। जैनमते तु विशेषं विशेषं प्रतिसामान्यं पृथगेव। ४. गोत्वम्। ५. किन्तु नामजात्यादि–योजनारूपपदार्थो भवतीत्यायातम्। ६. निषेधतात्पर्यत्वात्। ७. अन्यस्य निरपेक्षत्वात् निषेधकृतत्वात् प्रसज्यस्तु नान्यमर्थमपेक्षते। तर्हि पिण्डरूपोऽर्थो नास्ति, तत्र प्रवृत्तिरपोहस्य। ८.प्रसज्यवृत्तिभाक्। ९.गोशब्दादेः किञ्चिद्वस्तु वाच्यं न स्यात्पर्युदास–स्यानपेक्षत्वादित्यतः प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावप्रसङ्ग इतिभावः। १०. अत्यन्ताभावस्य। ११. नैयायिकमत। १२.अन्यापोहस्य प्रसज्यरूपस्य तुच्छाभावाङ्गीकारे परमतप्रवेशः। १३. किञ्च इति दूषणान्तरम्। १४. सामान्य–स्याभिधायकाः। १५. विशेषशब्दाः। १६. द्रव्यगुणक्रियारूपाणां भेदोऽस्ति। शाबलेयत्वं नाम गुणस्तस्माद् भेदो भवतीति लोकव्यवहारः, परन्तु भवतामभिप्रायेण तुच्छाभावरूपेण भेदो नष्ट एव। १७. एकार्थता। १८. यतो व्यावृत्तिरेव शब्दार्थोऽस्ति, यदर्थभेदो लोकव्यवहारे दृश्यते, तन्नष्ट एव। १९. वृक्ष–पादपादिशब्दानामर्थभेदाभावे यथा पर्यायता। २०. निःस्वभावापोहस्य। प्रसज्यप्रतिषेधस्तु तुच्छाभावं प्रतिपादयति यतः। २१. तथा भवतां मते वस्तु नास्ति, प्रसज्यप्रति–षेधस्याङ्गीकारात्। २२. न तुच्छाभावरूपे। २३. अन्येन संयुक्तत्वम्। २४. आदिना प्रमेयत्वादि। २५. भेदानाम्। २६. अभावे भेदश्चेत्। २७. अपोहस्य। २८. भेद।

वस्तुत्वस्य। न[1] चापोह्य[2]लक्षण[3]सम्बन्धिभेदाद् [4]भेदः; [5]प्रमेयाभिधेयादिशब्दा[6]नामप्रवृत्तिप्रसङ्गात्[7]। [8]व्यवच्छेद्य-स्यातद्रू[9]पेणाप्यप्रमेयादिरूपत्वे[10] ततो[11] व्यवच्छेदायोगात्[12] कथं तत्र[13] सम्बन्धिभेदाद् भेदः?

किञ्च-[14]शाबलेयादिष्वेकोऽपोहो न प्रसज्येत[15]; किन्तु प्रतिव्यक्ति[16] भिन्न एव स्यात्। अथ शाबलेया-दयस्त[17]न्न भिन्दन्ति, तर्ह्यश्वादयोऽपि भेदका माभूवन्। यस्यान्तरङ्गाः[18] शाबलेयादयो न भेदकास्तस्याश्वादयो

मानेंगे तो अपोहरूप अभाव के वस्तुपने की आपत्ति प्राप्त होगी; क्योंकि भेदात्मकता ही वस्तुत्व का लक्षण है। यदि कहें कि अपोह्यलक्षणसम्बन्धी केभेद से अभाव में भेद हो जायेगा। अर्थात् गोशब्द के कहने पर निषेध के योग्य अगो और शाबलेय का अपोह्य अशाबलेय आदि के भेद से अभाव में भेद मान लेंगे; सो ऐसा आप कह नहीं सकते; अन्यथा प्रमेय, अभिधेय आदि शब्दों के भी अप्रवृत्ति का प्रसंग प्राप्त होगा।

भावार्थ—आप बौद्धों की व्यवस्था के अनुसार अप्रमेय की व्यावृत्ति से प्रमेय का, अनभिधेय की व्यावृत्ति से अभिधेय का ज्ञान होना चाहिए। किन्तु अप्रमेय और अनभिधेयरूप अपोह्य पदार्थों का तो असत्त्व है, फिर उनके सम्बन्ध से अपोह में भेद कैसे माना जा सकेगा। और भेद के अभाव में प्रमेय अभिधेय आदि विधिरूप शब्दों की प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी?

अतः प्रमेय आदि शब्दों का व्यवच्छेद-योग्य जो अप्रमेयत्व आदि है वह यदि अतद्रूप से अर्थात् अप्रमेय आदि रूप से भी अप्रमेय है, तो फिर अप्रमेयादि से प्रमेय आदि का व्यवच्छेद नहीं बन सकेगा; इसलिए प्रमेय, अभिधेय इत्यादि शब्द-वाच्य अपोह में सम्बन्धी के भेद से भेद कैसे माना जा सकेगा? अर्थात् नहीं माना जा सकेगा।

और विशेष बात यह है कि शाबलेय (कबरी) आदि गायों में एक ही अपोह (प्रसज्यरूप अभाव) नहीं रह सकेगा, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के प्रति भिन्न-भिन्न ही अपोह मानना पड़ेगा। यदि कहें कि शाबलेय आदि गायें अपोह में भेद नहीं करती हैं, तो हम कहेंगे कि फिर अश्वादिक भी अपोह में भेद करने वाले नहीं होना चाहिए। जिस अगोव्यावृत्ति रूप अपोह के अंतरंग शाबलेय आदिक भेदक नहीं, उसके बहिरंग अश्वादिक भेदक हैं, यह कहना तो अतिसाहस है। जब

---

१. इति न वाच्यम्। २. व्यावर्तनीयपदार्थाः अश्वादयः। ३. गौरित्यत्रागोव्यावृत्तिरश्वादिभिस्तद्भेदादभावभेद इत्यनूद्य दूषयति। ४. अभावे। ५. अन्यथा अपोह्यलक्षणसम्बन्धिभेदाद्भेदे सतीति भावः। ६. अप्रमेयाद् व्यावृत्तं प्रमेयम्, अनभिधेयाद् व्यावृत्तमभिधेयमित्यत्राप्रमेयानभिधेयादिरूपा पोह्यानामसत्त्वात्कथं सम्बन्धिभेदाद्भेदः? तदभावे च कथं प्रमेयादिशब्दानां प्रवृत्तिरिति। ७. 'प्रवर्तमानानां अप्रवृत्तिताऽस्तु' इति अनिष्टापादनम्। ८. अप्रमेयत्वस्य। ९. यतोऽप्रमेयं स्वरूपेण नास्ति। १०. अप्रमेयाद् व्यावृत्तं प्रमेयम्। इदं प्रमेयं न भवतीति ज्ञात्वा अप्रमेयत्वम् तदा प्रमेयत्वं न भवति ज्ञानविषयं भवति तदपेक्षयाऽप्रमेय-रूपेण प्रमेयता। अपोहस्याप्रमेयादेः। ११. अप्रमेयादित्वतः। १२. अभिधेयादिशब्दानाम्। १३. प्रमेयाभिधेयशब्दवाच्येऽपोहेऽभावे। १४. गौरित्यत्रागोरश्वादेर्व्यावृत्तिस्तया शाबलेयादावपि कथमन्यव्यावृत्तिः भवतु। १५. अनेके भवन्तु परन्तु तथा नास्ति। १६. अव्ययीभावः। १७. अपोहम्। १८.अव्यभिचारिप्रति-नियतमन्तरङ्गम्।

भेदका इत्यतिसाहसम्। [१]वस्तुनोपि सम्बन्धिभेदाद् भेदो नोपलभ्यते, [२]किमुतावस्तुनि[३]। तथाहि–एक एव देवदत्तादिः कटककुण्डलादिभिरभिसम्बद्ध्यमानो न नानात्वमास्तिघ्नुवानः[४] समुपलभ्यत इति। भवतु वा सम्बन्धिभेदाद् [५]भेदस्तथापि न [६]वस्तुभूत[७] सामान्यमन्तरेणान्यापोहाश्रयः [८]सम्बन्धी [९]भवतां भवितुमर्हति। तथाहि–यदि शाबलेयादिषु वस्तुभूतसारूप्याभावो[१०]ऽश्वादिपरिहारेण[११] तत्रैव[१२] विशिष्टाभि[१३]–धानप्रत्ययौ[१४] कथंस्याताम्[१५]। ततः[१६] सम्बन्धिभेदाद् भेदमिच्छतापि[१७] सामान्यं वास्तवमङ्गीकर्तव्यमिति।

किञ्च–[१८]अपोहशब्दार्थपक्षे सङ्केत[१९] एवानुपपन्नः; तद्ग्रहणोपायासम्भवात्। न प्रत्यक्षं तद्[२०]ग्रहणसमर्थम्, तस्य[२१] वस्तुविषयत्वात्। अन्यापोहस्य चावस्तुत्वात्। अनुमानमपि न [२२]तत्सद्भावमवबोधयति; तस्य[२३] कार्यस्वभावलिङ्गसम्पाद्यत्वात्[२४]। अपोहस्य [२५]निरुपाख्येयत्वेनानर्थक्रियाकारित्वेन[२६] च स्वभाव–कार्ययोर–

सम्बन्धी के भेद से वस्तु के भी भेद नहीं पाया जाता है, तब अपोहरूप अवस्तु में भेद कैसे सम्भव हो सकता है। आगे इसे ही स्पष्ट करते हैं–एक ही देवदत्त आदि पुरुष कटक–कुण्डल आदि से सम्बन्ध को प्राप्त होकर नानापने को प्राप्त होता हुआ नहीं पाया जाता है; किन्तु वह एक ही रहता है। अथवा थोड़ी देर के लिए सम्बन्धी के भेद से अपोह में भेद मान भी लिया जाये, तथापि वह (वास्तविक) गोत्वादि सामान्यरूप पदार्थ के माने बिना अन्यापोह का आश्रयभूत सम्बन्धी आप बौद्धों के यहाँ होने योग्य नहीं है। उसका खुलासा यह है कि यदि शाबलेय आदिकों में वास्तविक सामान्य का अभाव है, तो अश्व आदि के परिहार से उसी ही गौ में विशिष्ट शब्द का उच्चारण और ज्ञान ये दोनों कैसे हो सकेंगे ? अर्थात् नहीं हो सकेंगे। किन्तु कबरी आदि विशेष शब्द का उच्चारण और ज्ञान होता है; इसलिए सम्बन्धी के भेद से भेद चाहने वाले बौद्धों को सामान्य नाम का वास्तविक पदार्थ अंगीकार करना चाहिए।

और अपोह ही शब्द का अर्थ है, ऐसा पक्ष मानने पर शब्द और अपोह में वाच्य–वाचक सम्बन्धरूप संकेत ही नहीं बन सकता है; क्योंकि उस अपोह के ग्रहण करने का उपाय असम्भव है। प्रत्यक्ष प्रमाण तो उस अपोह के ग्रहण करने में समर्थ है नहीं, क्योंकि वह प्रत्यक्ष वस्तु को विषय करता है और अन्यापोह अवस्तुरूप है। अनुमान भी उस अपोह के सद्भाव का ज्ञान नहीं कराता है; क्योंकि अनुमान कार्य और स्वभावरूप लिंग (हेतु) से उत्पन्न होता है। और अपोह के निःस्वभाव होने से स्वभावहेतु असम्भव है। तथा अर्थक्रियाकारिता के न पाये जाने से कार्यहेतु

१.पदार्थस्य। २. 'किं पुनरवस्तुनि' इत्यपि पाठः। ३. अपोहे। ४.आस्कन्दमानः। ५.अपोहस्य। ६.परमार्थरूप। ७. गोत्वादि। ८. शाबलेयादिः। ९. बौद्धानाम्। १०. सामान्याभावः। ११. व्यावृत्या। १२. गव्येव। १३. अभिधानं गोशब्दोच्चारणम्। प्रत्ययश्च प्रतीतिर्ज्ञानम्। १४. अयं सास्नादिमान् गौरिति विशिष्टशब्दज्ञाने। १५. अपि तु न स्याताम्, किन्तु वर्तते। १६. सामान्यानभ्युपगमे विवक्षितोऽपोहाश्रयः सम्बन्धी न सिद्धयति यतः। १७. सौगतेन। १८. अपोह एव शब्दार्थस्तस्य पक्षे। १९. शब्दापोहयोर्वाच्यवाचकसम्बन्धः। २०. अपोह–। २१. प्रत्यक्षस्य। २२. अपोह। २३.अनुमानस्य। २४.जन्यत्वात्। २५. निःस्वभावत्वेन स्वभावलिङ्गाभावः। २६. जलधारणाद्यर्थक्रियाकारित्वाभावेन कार्यलिङ्गाभावः।

सम्भवात्। किञ्च गोशब्दस्यागोपोहाभिधायित्वे[१]गौरित्यत्र गोशब्दस्य[२] किमभिधेयं स्यात्? [३]अज्ञातस्य [४]विधिनिषेधयोरनधिकारात्। [५]अगोव्यावृत्तिरिति चेदितरेतराश्रयत्वम्–अगोव्यवच्छेदो[६] हि गोनिश्चये भवति, स चागौर्गोनिवृत्त्यात्मा गौश्चागोव्यवच्छेदरूप इति। अगौरित्यत्रोत्तरपदार्थो[७]ऽप्यनयैव दिशा[८] चिन्तनीयः। नन्वगौरित्यत्रान्य एव विधिरूपो[९] गोशब्दाभिधेयस्तदाऽपोहः शब्दार्थ इति विघटेत। तस्मादपोहस्योक्तयुक्त्या विचार्यमाणस्यायोगान्नान्यापोहः शब्दार्थ इति स्थितम्–'सहजयोग्यतासङ्केतवशाच्छब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः' इति।

असम्भव है। दूसरी बात यह है कि गोशब्द को अगो की व्यावृत्ति का वाचक मानने पर 'अगौ' ऐसे वाक्यप्रयोग के समय गोशब्द का क्या वाच्य होगा ? क्योंकि अज्ञात पदार्थ के विधि और निषेध का अधिकार नहीं होता है। कहने का भाव यह कि किसी वस्तु की प्राप्ति पूर्वक ही निषेध होता है। जब गोपदार्थ का परिज्ञान ही नहीं है, तब, 'अगौ' ऐसा कहा ही कैसे जा सकता है। इतने पर भी यदि आप बौद्ध लोग 'अगौ' में गोशब्द की अगोव्यावृत्तिरूप अर्थ ग्रहण करेंगे तो इतरेतराश्रय दोष आता है; क्योंकि अगो का व्यवच्छेद गो के निश्चय होने पर ही हो सकता है और वह अगौ गोनिवृत्तिरूप है तथा गौ अगोव्यवच्छेदरूप है। और, 'अगौ' इस प्रकार के वाक्य-प्रयोग में गो यह उत्तरपद है, सो उसका भी अर्थ इस ही दिशा से विचारना चाहिए-कि गो की व्यावृत्ति से अगो का निश्चय हो और अगो की व्यावृत्तिसे गो का निश्चय हो, इस प्रकार यहाँ पर भी इतरेतराश्रय दोष आता है। यदि कहा जाये कि अगौ ऐसा कहने पर गोशब्द का वाच्यविधिरूप अन्य ही है, जो कि अगो की निवृत्तिरूप नहीं है, तब तो शब्द का वाच्य अपोह है, ऐसी आपकी मान्यता विघटित हो जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त युक्तिसे विचार किया गया अपोह सिद्ध नहीं होता; इसलिए अन्य का अपोह (अभाव) शब्द का अर्थ नहीं है, यह स्थित (सिद्ध) हुआ। अतः सूत्रकार ने बहुत ही ठीक कहा है कि गो आदिक शब्द अपनी स्वाभाविक योग्यता और पुरुषकृत संकेत के वश से वस्तु का ज्ञान कराने में कारण हैं।

---

१. अगोव्यावृत्त्यभिधायित्वे। २. गोशब्दो वर्ततेऽतस्तस्य किं वाच्यं स्यादिति। ३. पदार्थस्य। ४. प्राप्तिपूर्वको हि निषेधः, अगौरित्यत्र गौरित्यस्य परिज्ञानं नास्ति, कथमगौरिति वदति। ५. दूषणान्तरमाह–भो बौद्ध, एवं ब्रूषे। ६. गौर्निश्चिता भवतीति चेत्पूर्वं गोसकाशात्। ७. गोशब्दार्थः। ८. अनयैव रीत्या गोव्यावृत्त्या अगोनिश्चयः, अगोव्यावृत्त्या गोनिश्चयः। ९. नागोनिवृत्त्यात्मा।

स्मृतिरनु[१]पहतेयं प्रत्यभिज्ञानवज्ञा[२],
प्रमिति[३]निरतचिन्ता[४] लैङ्गिकं सङ्गतार्थम्[५]।
[६]प्रवचनमनवद्यं[७] निश्चितं देववाचा[८]
[९]रचितमुचितवाग्भि[१०]स्तथ्यमेतेन[११] गीतम्॥९॥

इति परीक्षामुखस्य लघुवृत्तौ परोक्षप्रपञ्चस्तृतीयः समुद्देशः।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि स्मृति निर्दोष है, प्रत्यभिज्ञान आदरणीय है, तर्क प्रमाण के फलरूप, प्रमिति के ज्ञान कराने में निरत है, लैगिंक अर्थात् अनुमान संगत अर्थ वाला है और प्रवचन (आगम) अनवद्य (दोष-रहित) है। इन पाँचों परोक्ष प्रमाणों का निश्चय अकलंकदेव के वचनों से माणिक्यनन्दि आचार्य ने किया और उचित वचनों से उन्होंने सूत्ररूप से रचा, तथा मैंने (अनन्तवीर्य ने) यह तथ्य उपर्युक्त प्रबन्ध से गाया, अर्थात् विशदरूप से विवरण किया।

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में परोक्षप्रमाण का विवेचन करने वाला तृतीय समुद्देश समाप्त हुआ।

---

१. निर्दोषा। २. उपादेया। ३. पाठान्तरम्- कृदिह=फलज्ञानकृत्। ४. तर्कः। ५. याथातथ्यम्। ६. आगमः। ७. निर्दोषम्। ८. अकलङ्कदेववाचा। ९. गणधरदेवैः। १०. माणिक्यनन्दिदेवैः। ११. अनन्तवीर्येण।

चतुर्थः समुद्देशः

अथ स्वरूपसङ्ख्याविप्रतिपत्तिं निराकृत्य विषयविप्रतिपत्तिनिरासार्थमाह–

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः॥१॥

तस्य प्रमाणस्य ग्राह्योऽर्थो विषय इति यावत्। स एव विशिष्यते[१] सामान्यविशेषात्मा। सामान्य-विशेषौ वक्ष्यमाणलक्षणौ, तावात्मानौ यस्येति विग्रहः। तदुभयग्रहणमात्मग्रहणं च केवलस्य सामान्यस्य विशेषस्य तदुभयस्य वा स्वतन्त्रस्य[२] प्रमाणविषयत्वप्रतिषेधार्थम्।

[३]तत्र सन्मात्रदेहस्य[४] परमब्रह्मणो[५] [६]निरस्तत्त्वात्तदित[७]रद्विचार्यते। तत्र साङ्ख्यैः [८]प्रधानं सामान्यमुक्तम्–

प्रमाण के स्वरूप और संख्या की विप्रतिपत्ति का निराकरण करके आचार्य अब विषय की विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है ॥१॥

उस प्रमाण के ग्राह्य पदार्थ को तदर्थ कहते हैं, वह प्रमाण का विषय है। वही पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक विशेषण से विशिष्ट है। सामान्य और विशेष के लक्षण आगे कहे जाने वाले हैं, वे दोनों ही जिसके आत्मा अर्थात् स्वरूप हैं, उसे सामान्य-विशेषात्मा कहते हैं, ऐसा इस पद का विग्रह है। सामान्य और विशेष इन दोनों पदों का ग्रहण तथा आत्मपद का ग्रहण केवल सामान्य, केवल विशेष और स्वतन्त्र सामान्य विशेष की प्रमाण-विषयता के प्रतिषेध के लिए है।

भावार्थ–अद्वैतवादी और सांख्यमतावलम्बी पदार्थ को सामान्यात्मक ही मानते हैं। बौद्ध पदार्थ को विशेषरूप ही मानते हैं। नैयायिक वैशेषिक सामान्य को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते है, विशेष को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं और उनका द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध मानते हैं। इस प्रकार प्रमाण के विषयभूत पदार्थ के विषय में जो मतभेद हैं, उन सबके निराकरण के लिए सूत्र में सामान्य-विशेषात्मा ऐसा विशेषण पदार्थ के लिए दिया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि पदार्थ न केवल सामान्यरूप है, न केवल विशेष रूप है और न स्वतन्त्र उभयरूप है; अपितु उभयात्मा है।

उपर्युक्त तीनों मतों में से सत्तामात्र ही जिसका देह अर्थात् स्वरूप है, ऐसे परमब्रह्म का दूसरे समुद्देश में निराकरण किया जा चुका है, अतः उससे भिन्न जो प्रकृतिरूप सामान्य है, उसका विचार किया जाता है। सांख्यों ने प्रकृतिरूप प्रधान को सामान्य कहा है–

---

१. विशेषरूपेण क्रियते। २. इतरनिरपेक्षस्य। ३. त्रिषु मध्ये। ४. सामान्यस्वरूपस्य। सा सत्ता सा महासत्ता यामाहुस्त्वतलादयः।५. ब्रह्माद्वैतस्य।६. सावरण-मित्यादिसूत्रव्याख्यानावसरे पूर्वमीमांसकेन सह सर्वज्ञवादे ज्ञातव्यम्। ७. सन्मात्र-स्वरूपपरमपुरुषातिरिक्तं सांख्याभिमतं प्रकृतिरूपम्।८. सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानमित्यर्थः।

[१]त्रिगुणमविवेकि[२] विषयः[३] [४]सामान्यमचेतनं[५] प्रसवधर्मि[६]।
व्यक्तं तथा[७] प्रधानं [८]तद्विपरीतस्तथा[९] च पुमान्[१०]॥३२॥ इति वचनात्[११]

सांख्यमतानुसार प्रधान अर्थात् कारणभूत प्रकृति अव्यक्त है, किन्तु महान्-अहंकारादि कार्यरूप प्रकृति व्यक्त है। यह व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही प्रकार का प्रधान त्रिगुणात्मक है, अर्थात् सत्त्व रज और तम इन तीन गुणों वाला है; क्योंकि इन तीनों गुणों की समान अवस्था को ही प्रकृति कहते हैं। और वह दोनों प्रकार का प्रधान अविवेकी है, अर्थात् प्रकृति से अभिन्न है; क्योंकि कारण से कार्य अभिन्न ही है, सर्वथा भिन्न नहीं। अथवा यह प्रधान सामान्य-विशेष के या भिन्न-अभिन्न के विचार से रहित है। और वह प्रधान विषयरूप है, अर्थात् ज्ञान का विषय है। सामान्य है, अर्थात् सर्व पुरुषों का भोग्य है। अचेतन है, अर्थात् चैतन्य-रहित जड़ है। और वह प्रधान प्रसवधर्मी है, क्योंकि प्रधान से बुद्धि और बुद्धि से अहंकारादि कार्य उत्पन्न होते हैं। किन्तु पुरुष उक्त प्रकार के प्रधान से विपरीत स्वभाव वाला है, अर्थात् वह सत्त्वादि गुणों से रहित, विवेकी, चेतन, अविषय और अनेक होते हुए भी अप्रसवधर्मा है। यद्यपि इस प्रकार पुरुष प्रकृति से उक्त बातों में विपरीत स्वभाव वाला है, तथापि अहेतुमत्त्व, नित्यत्व, व्यापित्व आदि धर्मों की अपेक्षा वह प्रधान के समान सदृशधर्म वाला भी है।

विशेषार्थ—सांख्य लोग संसार के समस्त पदार्थों की उत्पत्ति प्रकृति से मानते हैं और उसे अचेतन या जड़ात्मक कहते हैं। इस प्रकृति का ही दूसरा नाम प्रधान है। प्रकृत कारिका के प्रारम्भिक तीन चरणों में इसी प्रकृति या प्रधान का स्वरूप कहा गया है। यह प्रकृति संसार को

---

१. सुख-दुःख-मोहरूपाः सत्त्वरजस्तमोलक्षणास्त्रयो गुणा अस्येति त्रिगुणम्। एतेन सुखादिकानामात्मगुणत्वं निराकृतम्। २. यथाप्रधानं न स्वतो विविच्यते एवं महदादयोऽपि न प्रधानाद्विविच्यन्ते, तदात्मकत्वात्। अथवा सम्भूय-कारिताऽत्राविवेकिता, न हि किञ्चिदेकं पर्याप्तं स्वकार्ये; अपि तु सम्भूय। तत्र नैकस्माद्यस्य कस्यचित् केनचित्सम्भवः। महदादेर्न विविच्यत इत्यविवेकि, अभिन्नमेकरूपंसामान्यविशेष-भिन्नाभिन्न-विचाररहितम्। ३. विषयः ग्राह्यः प्रमाणगोचरः, विज्ञानाद्बहिरिति यावत्। 'ज्ञानाद् ग्राह्यो बहिर्विषय' इति वचनात्। एतेन विज्ञानाद्वैतवादिनां योगाचाराणां मतं निराकृतम्। ४. साधारणं घटादिवदनेकैः पुरुषैर्गृहीतमित्यर्थः। भोग्यत्वेन सर्वपुरुषान् प्रति साधारणम्। ५. सर्व एव प्रधानबुद्ध्यादयोऽचेतनाः, न तु विज्ञानवादिवच्चैतन्यं बुद्धेरित्यर्थः। ६. प्रसव आविर्भावः। प्रसवरूपो धर्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि। प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीयः प्रत्ययः प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातुम्। सरूप-विरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यत इत्यर्थः। तत्त्वान्तरेण परिणामो विरूपपरिणामः, सत्त्वरजस्तमोरूपेण परिणामः सरूपपरिणामः। ७. महदादिकार्यम्, हेतुमन्नित्यमव्यापि महदादेर्लक्षणम्। व्यक्तवृत्तमत्यक्तेऽतिदिशति 'तथा प्रधानम्' इति। यथा व्यक्तं तथाऽव्यक्तमित्यर्थः। ८. त्रैगुण्यादिरहितः पुरुषः। ९. तथा व्यक्तं तेन प्रकारेणसर्वविषयः। यद्यप्यत्रैगुण्यादि वैधर्म्यमस्ति, तथाप्यहेतुमत्वनित्यत्वादिप्रधानसाधर्म्यं पुरुषस्यास्तीति द्योतनार्थं तथा चेति पाठः। १०. आत्मा। ११. व्यक्ताव्यक्तयोरेव विविधलक्षणत्वे सति।

[१]तच्च केवलं[२] प्रधानं महदादिकार्यनिष्पादनाय प्रवर्तमानं किमप्यपेक्ष्य प्रवर्तते, निरपेक्ष्य वा। प्रथमपक्षे तन्निमित्तं[३] वाच्यम्, यदपेक्ष्य प्रवर्तते। ननु[४] पुरुषार्थ एव तत्र[५] कारणम्; पुरुषार्थेन हेतुना[६] प्रधानं[७] प्रवर्तते।

उत्पन्न करती है, परन्तु वह स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती। वह व्यापक है, एक है, अवयव-रहित है और अनाश्रित है अर्थात् वह स्वतन्त्र है, अपने कार्यरूप व्यापार के लिए किसी के ऊपर आश्रित नहीं है। सृष्टि के प्रारम्भकाल में प्रकृति अपने भीतर से ही सारे संसार को उत्पन्न करती है और प्रलय काल में सारे तत्त्वों को अपने भीतर लय कर लेती है। यह स्वयं किसी अन्य से उत्पन्न नहीं होती, अतः अजन्मा है, अर्थात् महान् अहंकार आदि अन्य तत्त्वों की जननी हो करके भी स्वयं किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं होती। इसका मूलस्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः इसे अव्यक्त कहते हैं और इसके कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, अतः इसे व्यक्त कहते हैं। पुरुष को छोड़कर शेष समस्त तत्त्वों के उत्पन्न करने का प्रधान कारण होने से इसको प्रधान भी कहते हैं। पुरुष अर्थात् आत्मा इससे विपरीत स्वरूप वाला है, अर्थात् वह सत्त्वादि गुणों से रहित है, विवेकवान् है, अन्य का विषय नहीं, किन्तु अन्य को विषय करने वाला है; सामान्य अर्थात् एक नहीं किन्तु अनेक है, अचेतन नहीं, किन्तु चेतन है; अन्य तत्त्वों को उत्पन्न नहीं करता अर्थात् कूटस्थ नित्य है, इस पुरुष की सत्ता अनुभव-सिद्ध है। प्रत्येक पुरुष को अपने आपकी अनुभूति प्रतिक्षण होती ही रहती है कि ''यह मैं हूँ, यह मेरी वस्तु है।'' इस प्रकार की अनुभूति से प्रत्येक शरीर में पुरुष (आत्मा) की विभिन्नताओं की सिद्धि सर्व-विदित है। जिस प्रकार रथ के संचालन के लिए सारथी और गाड़ी चलाने के लिए गाड़ीवान का होना आवश्यक है, उसी प्रकार इस जड़ प्रकृति के संचालनार्थ पुरुष का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार सांख्य लोग मूल में दो ही तत्त्व मानते हैं-एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। प्रकृति को सामान्य तत्त्व भी कहते हैं। आगे आचार्य इसी का खण्डन कर रहे हैं।

सांख्यमत में तत्त्वव्यवस्था उक्त प्रकार की है। जैन लोग उनसे पूछते हैं कि बिना किसी दूसरे की सहायता के वह केवल यानि अकेला प्रधान अर्थात् प्रकृतिरूप जड़ तत्त्व महत् आदि कार्यों के उत्पादन के लिए प्रवर्तमान होता हुआ क्या किसी की अपेक्षा लेकर प्रवर्तित होता है, अथवा बिना अपेक्षा ही प्रवर्तित होता है ? प्रथम पक्ष के मानने पर वह निमित्त कहना चाहिए कि जिसकी अपेक्षा लेकर वह महत् आदि कार्यों के उत्पादन के लिए प्रवर्तित होता है? इसके उत्तर में सांख्यों का कहना है पुरुषार्थ अर्थात् पुरुष का प्रयोजन ही उक्त प्रवृत्ति में कारण है; अतः पुरुषार्थरूप हेतु से प्रधान अपने कार्य में प्रवृत्त होता है। पुरुषार्थ दो प्रकार का होता है-एक तो शब्द, रूप

---

१. जैनः प्राह। २. अद्वितीयम्। ३. यत्किञ्चिदपेक्ष्य प्रवर्तते तन्निमित्तं प्रतिपादनीयम्। ४. सांख्यः प्राह। ५. प्रवृत्तौ। ६. कारणेन। ७. महदादिकार्य निष्पादनाय।

पुरुषार्थश्च द्वेधा; [१]शब्दाद्युपलब्धि[२]र्गुणपुरुषान्तर[३]विवेकदर्शनं वा; इत्यभिधानादिति चेत्सत्यम्। तथा[४] प्रवर्तमानमपि [५]बहुधानकं पुरुषकृतं किञ्चिदुपकारं समासादयत्प्रवर्तेत, अनासादयद्वा? प्रथमपक्षे स उपकार[६]स्तस्माद्भिन्नोऽभिन्नो वा? यदि भिन्नस्तदा तस्येति व्यपदेशाभाव:[७] [८]सम्बन्धाभावात् तदभावश्च[९]; [१०]समवायादेरनभ्युपगमात्[११]। [१२]तादात्म्यं च [१३]भेदविरोधीति। अथाभिन्न उपकार इति पक्ष आश्रीयते तदा प्रधानमेव तेन[१४] कृतं स्यात्[१५]। अथोपकारनिरपेक्षमेव[१६] प्रधानं [१७]प्रवर्तते, तर्हि मुक्तात्मानम्प्रत्यपि प्रवर्ततेताविशेषात्[१८]। एतेन[१९] [२०]निरपेक्षप्रवृत्तिपक्षोऽपि प्रत्युक्तस्तत[२१] एव। किञ्च सिद्धे प्रधाने सर्वमेतदुपपन्नं

आदि विषयों को ग्रहण करना और दूसरा गुण और पुरुषान्तर के विवेक को देखना अर्थात् प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक भेद का दर्शन करना, ऐसा हमारे आगम का वचन है। इस पर आचार्य कहते हैं कि आपका कहना सत्य है; किन्तु यह बतलाइए कि इस प्रकार से अर्थात् दोनों प्रकार के पुरुषार्थों की अपेक्षा करके प्रवृत्ति करता हुआ भी वह बहुधानक (प्रधान) पुरुषकृत किसी उपकार को लेकर के प्रवृत्ति करता है कि पुरुषकृत किसी उपकार को नहीं लेकर प्रवृत्ति करता है ? प्रथम पक्ष के मानने पर वह उपकार प्रधान से भिन्न है, या अभिन्न है? यदि भिन्न है, तो यह उपकार प्रधान का है ऐसा व्यपदेश (कथन) नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाये कि प्रधान का उपकार से सम्बन्ध है, सो सांख्यों ने समवाय, संयोग आदि किसी सम्बन्ध को माना नहीं है, अत: सम्बन्ध के अभाव होने से उपकार का अभाव रहेगा। यदि कहें कि प्रधान और उपकार में तादात्म्य सम्बन्ध है सो वह भेद का विरोधी है, अत: प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। और यदि प्रधान से उपकार अभिन्न है यह दूसरा पक्ष आश्रय करते हैं, तब उसके अर्थात् पुरुष के द्वारा प्रधान ही किया गया ठहरता है और ऐसी दशा में उसके नित्यपने की हानि होती है। यदि कहें कि पुरुषकृत उपकार की अपेक्षा के बिना ही प्रधान महत् आदि कार्यों के निष्पादन के लिए प्रवृत्ति करता है, तो फिर उस प्रधान को मुक्त-आत्मा के प्रति भी प्रवृत्ति करना चाहिए; क्योंकि वहाँ पर भी उपकार निरपेक्षता समान ही है। इससे अर्थात् पुरुषकृत उपकार की अपेक्षा के बिना ही प्रधान प्रवृत्ति करता है, इस पक्ष के निराकरण से निरपेक्ष प्रवृत्तिरूप दूसरा पक्ष भी निराकृत कर दिया गया समझना चाहिए, क्योंकि उससे इसमें कोई विशेषता ही नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि प्रधान नामक तत्त्व के सिद्ध होने

---

१. आदिशब्देन रूपरसगन्धस्पर्शा:। २. प्रधान –। ३. प्रकृति-पुरुषयोर्भेदवि ज्ञानदर्शनम्। ४. पुरुषार्थद्वयमपेक्ष्य। ५. प्रकृति:। ६. बहुधानकात्। ७. तदा उपकारो बहुधानकस्येति व्यपदेशस्य कथनस्याभाव:, प्रधानस्यायमुपकार इति वक्तुं न शक्यत इति भाव:। ८. सम्बन्धाभावश्च कथं सिद्ध्येदिति चेन्न, प्रमाणसिद्धत्वात्। ९. उपकाराभावश्च। १०. आदिपदेन संयोगादे:। ११. सांख्यै:। १२. तादात्म्यं चेत्। १३. तन्मते तादात्म्यरूपसम्बन्ध:। अयमुपकार इदं प्रधानमिति भेदो न स्यात्। १४. पुरुषेण। १५. तदा नित्यत्वहानिरिति। १६. पुरुषकृतोपकारनिरपेक्षमेव। १७. महदादिकार्यनिष्पादनाय पुरुषार्थे। १८. उपकारनिरपेक्षत्वस्याविशेषात्। १९. पुरुषकृतोपकारनिरपेक्षमेव प्रधानं प्रवर्तते इत्यस्य निराकरणेन। २०. महदादिकार्यनिष्पादनाय निरपेक्ष्य वा प्रधानं प्रवर्तत इति द्वितीयविकल्पं दूषयति। २१. अविशेषादेव।

स्यात्। न च तत्सिद्धिः [१]कुतश्चिन्निश्चीयत इति।

[२]ननु [३]कार्याणामेकान्वय[४]दर्शनादेककारणप्रभवत्त्वं भेदानां[५] [६]परिमाणदर्शनाच्चेति। तदप्यचारुचर्वितम्; सुखदुःखमोहरूपतया[७] घटादेरन्वयाभावादन्तस्तत्त्वस्यैव[८] तथोपलम्भात्[९]। अथान्तस्तत्त्वस्य[१०] न सुखादि-परिणामः, किन्तु तथापरिणममानप्रधानसंसर्गादात्मनोऽपि [११]तथा प्रतिभास इति। तदप्यनुपपन्नम्; अप्रतिभास-मानस्यापि[१२] संसर्गकल्पनायां[१३] तत्त्वेयत्ताया[१४] निश्चेतुमशक्तेः। तदुक्तम्–

संसर्गादविभाग[१५]श्चेदयोगोलकवह्निवत्[१६]।
भेदाभेदव्यवस्थैवमुच्छिन्ना[१७] सर्ववस्तुषु॥३३॥ इति

पर आपका यह सर्व कथन युक्ति-युक्त सिद्ध हो सके। किन्तु उसकी सिद्धि किसी भी प्रमाण से निश्चित नहीं है।

सांख्य–कार्यों के एकरूप अन्वय के देखे जाने से तथा महत् आदि भेदों का परिमाण पाये जाने से उनका एक कारण से उत्पन्न होना सिद्ध है। अर्थात् जैसे घट, घटी, सरावा आदि के एक मिट्टी का अन्वयपना देखा जाता है और उनमें छोटा-बड़ा आदि के रूप से परिमाण भी पाया जाता है; इसी प्रकार महत्-अहंकार आदि कार्यों के भी एक प्रकृत्ति का अन्वय देखे जाने से, तथा भेदों में परिमाण पाये जाने से प्रधान की भी सिद्धि होती है।

जैन–आपका यह कथन सुन्दर नहीं है, क्योंकि सुख, दुःख और मोह रूपपने से घटादि के अन्वय का अभाव है अर्थात् घटादि अन्वय का अभाव है अर्थात् घटादि जड़ पदार्थों के सुख-दुःखादि की प्रतीति नहीं होती है; किन्तु अन्तस्तत्त्वरूप आत्मा या चेतन पुरुष के ही सुख-दुःखादि की उपलब्धि होती है। यदि कहें कि चेतनरूप जो अन्तस्तत्त्व है, उसके सुखादि परिणाम नहीं है, किन्तु सुख-दुःखादिरूप से परिणमन करने वाले प्रधान के संसर्ग से आत्मा के भी वैसा प्रतिभास होता है अर्थात् सुख-दुःखादि की प्रतीति होती है, सो आपका यह कथन भी युक्ति-संगत नहीं है; क्योंकि अप्रतिभासमान भी प्रधान की आत्मा के साथ संसर्ग की कल्पना करने पर तत्त्वों की संख्या का निश्चय करना अशक्य हो जायेगा। जैसा कि कहा है–

---

१. प्रमाणात्। २. सांख्यः प्राह। ३.महदादीनाम्। ४. एकानुगमदर्शनात्। भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च। कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य ॥१॥ महदादिव्यक्त-मेककारणसम्भूतमेकान्वयदर्शनात्, घटघटी-सरावोदञ्चनादिवत्। लघुमहदाद्युभयत्राप्ययं दृष्टान्तः। यथा घटघटीसरावोदञ्चनादिभेदपरिणाममदर्शनं मृदेककारण-प्रभवम्। प्रधानमस्ति कार्याणामेककारणप्रभवत्वात्, घटघटीसरावोदञ्चनानां मृत्पिण्डम्। ५. कार्याणाम्। ६. महदादिकमेककारणसम्भूतमेकरूपान्वितत्वात्। महदादिकव्यक्तमेककारणसम्भूतं परिमाणदर्शनात्, घटादिवत्। ७. सत्त्वरजस्तमसामुदयाज्जायमानाः परिणामाः सुखादयः प्रधानस्य। ८. चित्तस्याऽन्तरात्मन एव। ९. सुख-दुःख-मोहरूपतयोपलम्भात्। १०. चेतनस्य। ११. सुखदुःखादिरूपतया। १२. प्रधानस्य। वस्तुनोऽपि स्वभावतः प्रतिभासभेदाभावात्। १३. आत्मना सह संसर्गकल्पनायामविभागो जात एवेति चेत्। १४. तत्त्वसङ्ख्यायाः। १५. अभेदः। प्रधानात्मनोरेकत्वं भवतु। १६. दाहस्फोटकाग्निवत्। १७. विनष्टा।

यदपि परिमाणाख्यं साधनम्, तदप्येकप्रकृतिकेषु[१] घटघटीशरावोदञ्जनादिष्वनेकप्रकृतिकेषु[२] पटकुटमकुटशकटादिषु [३]चोपलम्भादनैकान्तिकमिति[४] न ततः[५] [६]प्रकृतिसिद्धिः। तदेवं प्रधानग्रहणोपाया-सम्भवात्सम्भवे वा ततः[७] [८]कार्योदयायोगाच्च। यदुक्तं परेण[९]–

[१०]प्रकृतेर्महान्[११] [१२]ततोऽहङ्कार[१३]स्तस्माद् गणश्च षोडशकः[१४]।
[१५]तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि[१६]॥३४॥

यदि लोहे के गोला और अग्नि के समान संसर्ग से प्रधान और आत्मा में अविभाग अर्थात् एकत्व माना जाये तो सर्व वस्तुओं में भेद और अभेद की व्यवस्था ही विनष्ट हो जायेगी ॥३३॥

इस प्रकार तत्त्वों की संख्या का कोई नियम नहीं रहेगा।

और आपने प्रधान की सिद्धि के लिए जो परिमाण नामक हेतु दिया है; वह मिट्टीरूप एक-प्रकृतिक घट, घटी, सरावा, उदञ्चन आदिकों में तथा अनेक प्रकृतिक पट, कुट, मुकुट आदिकों में पाये जाने से अनैकान्तिक है; अतः उससे प्रधान की सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार प्रधान के ग्रहण का उपाय असम्भव है। अथवा किसी प्रकार सम्भव भी मान लिया जाये तो उस प्रधान से महत् आदि कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। और जो सांख्यों ने कहा है –

प्रकृति अर्थात् प्रधान से महान् उत्पन्न होता है। (सृष्टि से लेकर प्रलयकाल तक स्थिर रहने वाली बुद्धि को महान् कहते हैं।) महान् से अहंकार (अभिमान) उत्पन्न होता है। अहंकार से

---

१. एककारण केषु। २. भिन्नकारणकेषु। ३. परिणामोपलम्भात्। ४. महदादिव्यक्तमेककारणकं परिणामोपलम्भादित्यनुमाने परिणामोपलम्भस्य हेतोरेककारणकेषु घटादिषु भिन्नभिन्नकारणकेषु पटकुण्डलादिषूपलम्भाद् व्यभिचारि साधनम्। ५. परिणामोपलम्भ-साधनात्। ६. प्रकृतेः प्रधानस्य। ७. प्रकृतेः। ८. घटादि –। ९. सांख्येन। १०. प्रधानस्य कार्याणि कानीत्युक्ते। प्रकृतिरव्यक्तम्, ततो महत्तत्त्वमुत्पद्यते। ११. आसर्गप्रलयस्थायिनी बुद्धिः महान्। अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥१॥ सर्वो व्यवहर्ता 'अहमत्राधिकृतः' इत्यध्यवस्याति। ततश्च प्रवर्तत इति लोकसिद्धम्। योऽयं कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चिचतिसन्निधानादापन्नचैतन्याया बुद्धेः सोऽध्यवसायः बुद्धेरसाधरणो व्यापारस्तदभेदा बुद्धिः। स च बुद्धेर्लक्षणम्, समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात्। १२. बुद्धेः। १३. अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद्विविधः प्रवर्तते सर्गः। एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥१॥ १४. अहङ्कारादेका-दशेन्द्रियाणि तन्मात्राणि च पञ्च, सोऽयं षोडशसंख्यापरिमितो गणः षोडशकः। १५. श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणलक्षणानि बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च, पायूपस्थ-(मलद्वार-योनि-लिङ्ग) वचः पाणिपादाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनोरूपरसगन्ध-स्पर्शशब्दाः पञ्च तन्मात्राणि। तदुक्तम्-बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि। वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥२॥ मनश्चेत्येकादशेन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्च तन्मात्राणि। तस्मादपि षोडशकादपकृष्टेभ्यः पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि। तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्। शब्दतन्मात्र-सहितात्स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणः। शब्दस्पर्शसहिताद् रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणम्। शब्दस्पर्शसहिताद्-रूपतन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद्गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायते। तदुक्तम्-रूपात्तेजो रसादापो गन्धाद् भूमिः स्वरान्नभः। स्पर्शाद्वायुस्तथैवं च पञ्चभ्यः पञ्चभूतकम् ॥१॥ १६. अचेतनान्येव।

इति सृष्टिक्रमः,

[१]मूलप्रकृतिरविकृति[२]र्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः[३] सप्त।
[४]षोडशकस्तु[५] विकारो[६] न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥३५॥

सोलह गण पैदा होते हैं। (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वचन, हस्त, पाद, पायु (मल-द्वार) और उपस्थ (मूत्रद्वार) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, तथा स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पाँच तन्मात्राएँ, ये सोलह गण कहलाते हैं।) इस सोलह गण के अन्तर्गत जो पञ्च तन्मात्राएँ, उनसे पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं ॥३४॥

विशेषार्थ—सांख्यों ने मूल में दो तत्त्व माने हैं-एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। प्रकृति को वे अचेतन या जड़ मानते हैं और पुरुष को चेतन। पुनः प्रकृति से महान्, अहंकार और सोलह गण क्रमशः उत्पन्न होते हैं उन सोलह गणों में से भी शब्दतन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है, अतः उसमें एक शब्द गुण पाया जाता है। शब्दतन्मात्रा सहित स्पर्शतन्मात्रा से वायु उत्पन्न होती है, अतः उसमें शब्द और स्पर्श ये दो गुण पाये जाते हैं। शब्द और स्पर्श सहित रूपतन्मात्रा से तेज (अग्नि) उत्पन्न होती है, अतः उसमें शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण पाये जाते हैं। शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्रासहित रसतन्मात्रा से अप् (जल) पैदा होता है, अतः उसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चार गुण पाये जाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप और रस सहित गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न होती है, अतः उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुण पाये जाते हैं। इस प्रकार एक प्रकृति अपरनाम प्रधानतत्त्व से तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं। प्रकृति-सहित ये चौबीस तत्त्व अचेतन हैं और पुरुषतत्त्व चेतन है। इस प्रकार अभेदरूप से दो और भेदरूप से पच्चीस तत्त्वों को सांख्य मतावलम्बी मानते हैं। वे वस्तुतः किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति या विनाश नहीं मानते, सबको नित्य मानते हैं। अतः उनके मतानुसार उत्पत्ति का नाम आविर्भाव और विनाश का नाम तिरोभाव है।

सांख्यमतानुसार जगत् की सृष्टि का यह उक्त क्रम है।

मूलप्रकृति विकृति-रहित है, महान् आदिक सात तत्त्व प्रकृति और विकृतिरूप हैं। सोलह गण विकृतिरूप हैं। पुरुष न प्रकृतिरूप है और न विकृतिरूप है ॥३५॥

---

१. मूलञ्चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः, विश्वस्य कार्यसङ्घातस्य सा मूलम्, समर्थं प्रधानम्; न त्वस्या मूलान्तरमस्ति, अनवस्थाप्रसङ्गात्। २. अविकार्यकारणञ्च। प्रकृतिरेवेत्यर्थः। ३. प्रधानस्य विकाराः। प्रकृतिश्च विकृतयश्चेति प्रकृतिविकृतयः सप्त। महत्तत्वमहङ्कारस्य प्रकृतिः, विकृतिश्च मूलप्रकृतेः। अहङ्कारतत्त्वं तन्मात्राणामिन्द्रियाणां च प्रकृतिः, विकृतिश्च महतः। एवं पञ्च तन्मात्राणि तत्त्वानि भूतानामाकाशादीनां प्रकृतयः, विकृतयश्चाहङ्कारस्येति। ४. एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानि चेति षोडशको विकारो विकार एव। ५. 'तु' शब्दोऽवधारणे, भिन्नक्रमश्च। ६. कार्यम्।

इति स्वरूपाख्यानं च वन्ध्यासुतसौरूप्यवर्णनमिवास[१]द्विषयत्वादुपेक्षा[२]मर्हति; अमूर्त्तस्याऽऽकाशस्य मूर्तस्य पृथिव्यादेश्चैक[३]कारणकत्वायोगाच्च। अन्यथा[४] अचेतनादपि पञ्चभूतकदम्बकाच्चैतन्य-सिद्धेश्चार्वाकमत-सिद्धिप्रसङ्गात् साङ्ख्यगन्ध एव न भवेत्। [५]सत्कार्यवाद[६]प्रतिषेधश्चान्यत्र[७] विस्तरेणोक्त इति नेहोच्यते; सङ्क्षेपस्वरूपादस्येति।

विशेषार्थ—उपर्युक्त पच्चीस तत्त्वों में से मूल प्रकृति तो विकार से रहित है और अकारणक है। अर्थात् इसकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है, वह अनादि-निधन है। महान तत्त्व अहंकार की प्रकृति है और मूल प्रकृति की विकृति है। अहंकारतत्त्व पञ्चतन्मात्राओं और इन्द्रियों की प्रकृति है और महान तत्त्व की विकृति है। इसी प्रकार पञ्च तन्मात्राएँ आकाश आदि पञ्चभूतों की प्रकृति हैं और अहंकार की विकृति हैं। गणरूप सोलह तत्त्व विकृत्तिरूप ही हैं; क्योंकि ये सभी अहंकार के विकार हैं, अर्थात् अहंकार से उत्पन्न होते हैं। पुरुष न किसी से उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न करता है, अतः वह न प्रकृतिरूप ही है और न विकृतिरूप ही है।

सांख्यों के द्वारा पच्चीस तत्त्वों के स्वरूप का यह वर्णन वन्ध्यापुत्र के सौन्दर्य-वर्णन के समान असत् को विषय करने से उपेक्षा के योग्य है; क्योंकि अमूर्त आकाश और मूर्त पृथ्वी आदि का एक कारण से उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। यदि इतने पर भी अमूर्त आकाश और मूर्त पृथिव्यादि की एक कारण से उत्पत्ति की कल्पना की जायेगी तो अचेतन भी पञ्चभूत-समूह से चैतन्य की सिद्धि मानना पड़ेगी और तब चार्वाक मत की सिद्धि का प्रसंग प्राप्त होने से सांख्यमत की गन्ध भी नहीं रहेगी। सत्कार्यवाद का प्रतिषेध अन्यत्र प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि में विस्तार से किया गया है, इसलिए यहाँ पर नहीं करते हैं; क्योंकि यह ग्रन्थ संक्षेप स्वरूप वाला है।

विशेषार्थ—कार्य-कारण के विषय में सांख्यों की एक विशिष्ट मान्यता है जो सत्कार्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। उनका कहना है कि प्रत्येक कार्य अपने कारण में सदा विद्यमान रहता है। इसके लिए उनकी युक्ति यह है कि असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है। यदि तिलों में तेल न रहता होता, उन्हें कोल्हू में पेरने पर भी वह नहीं प्राप्त होता। जैसे कि वालु में तेल का अभाव है, तो वालु के पेरने पर भी तेल प्राप्त नहीं होता। यदि दूध में दही, या दही में घी का सद्भाव न होता, तो दूध के जमाने पर भी दही और दही के विलोने पर भी घी की प्राप्ति कदाचित् भी नहीं होती। अतः यही मानना चाहिए कि कारण में कार्य सत्-रूप से रहता है। इस प्रकार से उनके इस कथन का नाम ही सत्कार्यवाद है। इसके निषेध में जैनों का यह कहना है कि यदि कारण के भीतर

---

१. प्रधानमेव विषयः प्रधानविषयाभावात्प्रधानमेव नास्ति। २. माध्यस्थ्यम्। ३. प्रधान। ४. अमूर्तस्याकाशस्य मूर्तस्य पृथिव्यादेश्चैककारणकल्पनायां तु। ५. विद्यमानमेव दृश्यते, इति सांख्यो वदति। असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्व-सम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणा-त्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥१॥ ६. न सदकरणादुपादानग्रहणात्सर्व-सम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥२॥ इत्यादिना सत्कार्यवादस्य प्रतिषेधादिति। ७. प्रमेयकमलमार्तण्डे।

[1]तथा विशेषा[2] एव तत्त्वम्[3]; तेषा[4]मसमानेतर[5]विशेषेभ्योऽशेषात्मना[6] [7]विश्लेषात्मकत्वात् सामान्य-स्यैक[8]स्यानेकत्र[9] व्याप्त्या[10] वर्तमानस्य सम्भवाभावाच्च।

कार्य सत् अर्थात् विद्यमान होता, तो घड़ा बनाने के लिए कुम्भकार, उसके चाक और दंडा आदि किसी की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। यदि मिट्टी के पिण्ड में सचमुच घड़ा विद्यमान है, तो फिर वह घड़े के कार्य जल-आहरण, जल-धारण आदि को क्यों नहीं करता। दूसरे यदि कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान है, तो कार्य और कारण के भेद की कल्पना करना भी व्यर्थ है। तब तो मिट्टी और घड़ा इन दोनों के लिए एक ही नाम का प्रयोग क्यों नहीं किया जाता? यदि कहा जाये कि कार्य और कारण में आकार-गत भेद है अर्थात् दोनों का आकार भिन्न-भिन्न है, तब तो यही मानना पड़ेगा कि कुम्भकारादि सहकारी कारणों की सहायता से कारणरूप मिट्टी के लौंदे में ऐसी कोई विशेषता उत्पन्न हो गई है, जो कि मृत्पिण्डरूप मूल कारण में नहीं थी। यदि कहा जाये कि कारण के भीतर कार्य था तो पहले से ही विद्यमान, किन्तु वह आविर्भावरूप से व्यक्त नहीं था, अपितु वह उसमें तिरोभावरूप से अव्यक्त था। आचार्य का इस पर यह कहना है कि आविर्भाव और तिरोभाव की कल्पना इन्द्रजालिये के इन्द्रजाल के समान सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि मृत्पिण्डरूप कारण ही कुम्भकार आदि के सहयोग से घट के आकार से परिणत हो जाता है। ऐसा नहीं है कि मृत्पिण्डरूप कारण में कहीं घटरूप कार्य छिपा हुआ बैठा था। किन्तु कुम्भकार के प्रयत्न से वाचाकदण्ड आदि के सहयोग से वही मृत्पिण्ड अपनी उस पर्याय को छोड़कर घटरूप पर्याय से परिणत होता है और मृत्तिकारूप द्रव्य दोनों ही अवस्थाओं में ज्यों का त्यों बना रहता है। अतः वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक ही मानना चाहिए। इसका विस्तार जानने के लिए प्रमेयकमलमार्तण्ड को देखना चाहिए।

इस प्रकार सांख्यों के द्वारा माने गये प्रकृतिरूप सामान्यतत्त्व का निराकरण किये जाने पर बौद्ध कहते हैं कि पृथक्-पृथक् परमाणुरूप विशेष ही तत्त्व हैं, जो कि प्रतिक्षण विनाशशील, अनित्य और निरंश हैं; वे विजातीय और सजातीय विशेषों से सामस्त्यरूप से भिन्न स्वरूप वाले हैं; क्योंकि नैयायिकादिकों के द्वारा परिकल्पित अनेक व्यक्तियों में सर्वात्मरूप से व्याप्त होकर वर्तमान ऐसे किसी एक सामान्यरूप तत्त्व का होना सम्भव नहीं हैं। अर्थात् जबकि सामान्य एक

---

१. ननु सत्कार्यमपि तैरङ्गीकृतम्, तत् किमिति न निषिध्यत इत्याह-तथा इत्युक्तएवं सतीति कोऽर्थः ? सामान्यनिराकरणे सति बौद्धो वदति-सांख्यादिपरिकल्पितप्रधानादिनिराकरणवत्। २. यथा सामान्यं सांख्यैस्तत्त्वं प्रतिपाद्यते, तथा विशेषा एव सौगतैः परमाणव एव पर्यायाः स्वीकृताः। प्रतिक्षणं विशरारवो रगरगायमाणाः अनित्याः निरंशाः परस्परासम्बधिनः परमाणवः। ३. वस्तुनः स्वरूपम्। ४. विशेषाणाम्। ५. असमानाकारैः समानाकारेभ्यः समस्तात्मना भिन्नात्मकत्वादिति बौद्धाः। विजातीय-सजातीयविशेषेभ्यो, यथा घटे घटान्तरं सजातीयम्, पटादि विजातीयम्। ६. सामस्त्येन। ७. भिन्नात्मकत्वात्। ८. नैयायिकाभिप्रायेण सामान्यमेकम्। ९. शाबलेयादिषु व्यक्तिषु। १०. परिसमाप्त्या, सर्वरूपेण।

[१]तस्यैकव्यक्तिनिष्ठस्य[२] सामस्त्येनोपलब्धस्य[३] तथैव[४] व्यक्त्यन्तरेऽनुपलम्भप्रसङ्गात्। [५]उपलम्भे वा [६]तन्नानात्वापत्ते[७]र्युगपद् भिन्नदेशतया[८] सामस्त्येनोपलब्धेस्तद्व्यक्तिवत्[९]; [१०]अन्यथा व्यक्तयोऽपि [११]भिन्ना माभूवन्निति।[१२]ततो बुद्ध्यभेद[१३] एव सामान्यम्। तदुक्तम्–

एकत्र[१४] दृष्टो भावो[१५] हि क्वचिन्नान्यत्र[१६] दृश्यते।
[१७]तस्मान्न भिन्नमस्त्यन्यत्[१८]सामान्यं बुद्ध्यभेदतः[१९]॥३६॥ इति[२०]

[२१]ते च विशेषाः परस्परासम्बद्धा एव, [२२]तत्सम्बन्धस्य विचार्यमाणस्यायोगात्। [२३]एकदेशेन सम्बन्धे[२४]

ही है, तब वह अनेक विशेषों में अपने पूरे स्वरूप के साथ कैसे रह सकता है? जिस समय वह सामान्य एक व्यक्ति-निष्ठ होकर सामस्त्यरूप से उपलब्ध हो रहा है, उसी समय उसके उसी प्रकार ही सामस्त्यरूप से व्यक्त्यन्तर अर्थात् अन्य व्यक्ति में अनुपलम्भ का प्रसंग है, अर्थात् वह नहीं पाया जा सकता। और यदि पाया जाता है, तो उसके नानापने की आपत्ति प्राप्त होती है,क्योंकि वह एक साथ भिन्न-भिन्न देशवर्ती व्यक्तियों में सामस्त्यरूप से पाया जाता है, जैसे कि खण्डी-मुण्डी आदि गायों में एक गोत्व पाया जाता है। अन्यथा अर्थात् एक साथ भिन्न-भिन्न देशवर्ती रूप से पाये जाने पर भी व्यक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न न होवें। इसलिए सर्वत्र गोव्यक्तियों में बुद्धि का अभेद ही सामान्य है, वास्तविक सामान्य कोई वस्तु नहीं है। जैसा कि कहा है–

एक स्थान पर देखा गया पदार्थ अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता है. इसलिए अर्थात् दूसरे स्थान पर उसके दिखाई न देने से बुद्धि के अभेद से भिन्न अन्य कोई सामान्य नहीं है। कहने का भाव यह कि बुद्धि में अभेद की कल्पना ही सामान्य है ॥३६॥

पुनः बौद्ध कहते हैं कि वे विशेष परस्पर में सम्बन्ध से रहित ही हैं, क्योंकि उन विशेषों का सम्बन्ध विचार किये जाने पर सिद्ध नहीं होता है। उन परमाणुरूप विशेषों का परस्पर में सम्बन्ध एक देश से मानने पर छहों दिशाओं में स्थित छह परमाणुओं के साथ एक परमाणु का सम्बन्ध

१.सामान्यस्य। २. पदार्थ। ३. दृष्टस्य। सामस्त्येन। ४. तस्मिन्नेव क्षणे। एकस्मिन् क्षणे सामान्यस्य व्यक्त्यन्तरे। ५. सामान्यस्य। ६. सामान्यं नाना युगपद्भिन्नदेशतया सामस्त्येनोपलब्धेस्तद्व्यक्तिवदिति अनुमानेन साधितं बौद्धेन सामान्यम्। नानात्वं कुतः? ८. सामान्यस्य। ९. खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्, शाबलेयादिव्यक्तिवदिति। १०. नानात्वाभावे सामान्यस्य। युगपद्भिन्नदेशतयोपलब्धेऽपि तस्यैकत्वे। ११. एकस्य योगात्। १२. कल्पितविकल्पेनैव व्यक्त्यन्तरेऽभेद-सामान्यस्य। १३. सर्वत्र गोव्यक्तिषु बुद्ध्यभेदएव सामान्यं न तु वास्तवम्। १४. एकस्थाने। १५. धर्मस्य भावः। १६. द्वितीयस्थाने। १७. एकत्र दृष्टस्य भावस्य तदैव द्वितीयस्थानेऽदर्शनात्। १८. स्वतन्त्रम्। १९. बुद्धिभेदं विहाय। अभेदे हेतुरयम्। २०. यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः। न देश-कालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह गम्यते। इति प्रतिपादनात्। इति किल तवाभिमतमिति किल तत्सौगतमेवानुवदति। तादात्म्य-तदुत्पत्तिस्वरूपस्य। २१. नैयायिकमतं दूषयति बौद्धः। २२. विशेषाणां परस्परसम्बन्धस्य। २३. सम्बन्धश्चेदेकदेशेन सर्वात्मना वेति शङ्कायामाह। २४.सति।

अणुषट्केन युगपद् योगादणोः[१] षडंशतापत्तेः। सर्वात्मनाभिसम्बन्धे[२] पिण्डस्याणुमात्रकत्वापत्तेः[३]। अवयविनिषेधाच्चासम्बद्धत्वमेषा[४]मुपपद्यत एव। [५]तन्निषेधश्च [६]वृत्तिविकल्पादिबाधनात्। तथाहि[७] [८]अवयव अवयविनि वर्तन्त इति नाभ्युपगतम्[९]। अवयवी चावयवेषु वर्तमानः किमेकदेशेन वर्तते, सर्वात्मा वा? एकदेशेन [१०]वृत्तावयवान्तरप्रसङ्गः[११]। [१२]तत्राप्येक[१३]देशान्तरेणावयविनो वृत्तावनवस्था[१४]। सर्वात्मना वर्तमानोऽपि प्रत्यवयवं [१५]स्वभावभेदेन वर्तेत, आहोस्विदेकरूपेणेति? प्रथमपक्षे अवयविबहुत्वापत्तिः[१६]। द्वितीयपक्षे तु अवयवानामेकरूपत्वापत्तिरिति[१७]। प्रत्येकं[१८] परिसमाप्त्या[१९] वृत्तावप्यवयविबहुत्वमिति।

होने से उसके छह अंश होने की आपत्ति प्राप्त होती है। परन्तु परमाणु को निरंश माना गया है। और यदि विशेषों का सर्वात्मरूप से सम्बन्ध मानते हैं, तो उन परमाणुओं का परस्पर में प्रवेश हो जाने से पिण्ड के अणुमात्रपने की आपत्ति आती है। तथा अवयवी के निषेध से उन विशेषों के असम्बद्धपना भी प्राप्त होता है। और अवयवी का निषेध वृत्ति-विकल्प कहिए अवयवी का अवयवों में विचार करने और अनुमान से बाधा आने के कारण किया जाता है। आगे इसे ही स्पष्ट करते हैं–बौद्ध नैयायिकों से कहते हैं कि अवयव अवयवी में रहते हैं, ऐसा तो आप लोगों ने माना नहीं है। और अवयवी अवयवों में रहता हुआ क्या एक देश में रहता है, अथवा संपूर्णरूप से रहता है? एकदेश से रहने पर उसके दूसरे भी अवयव होने का प्रसंग आता है। उन दूसरे अवयवों में भी अन्य एकदेश में अवयवी की वृत्ति मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है। यदि कहें कि सम्पूर्णरूप से अवयवी अवयवों में रहता है, ऐसा मानते हैं तो हम पूछेंगे कि एक-एक अवयव के प्रति स्वभाव भेद से अर्थात् अनेक स्वभावों से रहेगा; अथवा एकरूप से रहेगा? प्रथम पक्ष मानने पर अवयवियों के बहुत होने की आपत्ति आती है। द्वितीय पक्ष मानने पर अवयवों के एकरूप होने की आपत्ति आती है। पृथक्-पृथक् एक-एक अवयव के प्रति अवयवी के सम्पूर्णरूप से वृत्ति मानने पर अवयवियों के बहुत होने की आपत्ति आती है। इस प्रकार वृत्तिविकल्प से अवयवी के मानने में बाधा आती है।

---

१. एकाणुर्निरंशः। २. परस्परानुप्रवेशात्। ३. एकाश्रितत्वात्। ४. विशेषाणाम्। ५. अवयविनिषेधश्च। ६. अवयवेषु अवयविनः प्रवर्तने तस्य वीचारः, आदिशब्देनानुमानग्रहणं ताभ्यां वृत्तिविकल्पाभ्यामुत्तरग्रन्थे निषिद्ध्यमानत्वात्। ७. वृत्तिविकल्पादिबाधनं विवृणोति। ८. बौद्धो नैयायिकं प्राह। ९.नैयायिकेन त्वया न प्रतिज्ञातम्। १०.पटाभावेऽपि तन्तुसद्भावात्। ११. एकदेशस्य। १२. अवयवान्तरेषु। १३.अवयविन एकदेशत्वात्। १४.अवयवेष्ववयविन एकदेशेन वृत्ताववयवान्तरप्रसङ्गोऽवयवान्तरेष्वेकदेशेन वृत्ताववयवान्तरप्रसङ्गः, तत्राप्येकदेशेन वृत्ताववयवान्तरप्रसङ्ग इत्यनवस्था। १५. अनेकस्वभावैः। १६. प्रत्यवयवमवयविनो हि स्वभावभेदान्नानात्वं स्यादेवेति। १७. सर्वेष्वप्यवयवेष्वेकरूपेण वर्तनादवय-वानामेकत्वं स्यादेव, स्वभावभेदाभावात्। सामान्यरूपता अङ्गुल्यादीनामस्तु। १८. अवयवमवयवं प्रति। स्वभावभेदेन वा, अभेदेन वा विकल्पौ माऽऽस्तां तथापि दूषयति। १९. साकल्येन।

तथा[१] यद्दृश्यं सन्नोपलभ्यते तन्नास्त्येव; यथा गगनेन्दीवरम्। नोपलभ्यते चावयवेष्ववयवीति। [२]तथा [३]यद्ग्रहे यद्बुद्ध्यभावस्तत्ततो नार्थान्तरम्[४], यथा वृक्षाग्रहे वनमिति। [५]ततश्च निरंशा एवान्योन्यासंस्पर्शिणो रूपादिपरमाणवः, ते च एकक्षणस्थायिनो न नित्याः; विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षणात्[६]। प्रयोगश्च[७]–यो यद्भावं[८]

अब अनुमान से बाधा दिखलाते हैं–अवयवों में अवयवी पाया ही नहीं जाता है;क्योंकि देखने योग्य होने पर भी वह उपलब्ध नहीं है। जो देखने के योग्य होते हुए भी उपलब्ध नहीं होता है, वह है ही नहीं; जैसा आकाश-कमल। इसी प्रकार अवयवों में अवयवी नहीं पाया जाता है। (इसलिए वह है ही नहीं।) इस अनुमान से यह सिद्ध किया कि अवयवों में अवयवी नहीं। अब दूसरे अनुमान से यह सिद्ध करते हैं कि अवयवों से अवयवी का भेद भी नहीं है। यथा–अवयवों से अवयवी भिन्न पदार्थ भी नहीं है; क्योंकि अवयवों के ग्रहण न होने पर ''यह अवयवी है'' ऐसी बुद्धि नहीं उत्पन्न होती है। जिसके अग्रहण में जिसकी बुद्धि का अभाव है, वह उससे भिन्न पदार्थ नहीं है। जैसे वृक्षों के ग्रहण न होने पर वन का अभाव है। इसलिए उक्त दोनों अनुमानों से यह सिद्ध हुआ कि रूपादि परमाणु निरंश और परस्पर में असंस्पर्शी (संस्पर्श या सम्बन्ध-रहित) ही हैं। और वे एकक्षण स्थायी हैं, नित्य नहीं हैं; क्योंकि वे अपने विनाश के प्रति किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखते। इसका अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है–(सर्व पदार्थ क्षणिक हैं; क्योंकि वे अपने विनाशशील स्वभाव के प्रति अन्य की अपेक्षा से रहित हैं।) जो जिस भाव के प्रति अन्य कारण की अपेक्षा से रहित है, वह तत्स्वभावनियत है, जैसे तन्तु-संयोग लक्षण वाली अन्तिम कारण-सामग्री अपने पटरूप कार्य की उत्पत्ति में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखती है।

यहाँ पर कोई शंका करता है कि हे बौद्धो, देखो घटादिक के विनाश में मुद्गरादिक अन्य पदार्थों की अपेक्षा पड़ती ही है, उसे लक्ष्य करके बौद्ध पूछते हैं कि मुद्गरादिक के द्वारा किया जाने वाला विनाश घटादिक से भिन्न किया जाता है, अथवा अभिन्न किया जाता है? विनाश के भिन्न करने पर घट की स्थिति ही रहेगी; क्योंकि वह भिन्न ही किया गया है। यदि कहा जाये कि विनाश के सम्बन्ध से ''घट नष्ट हुआ'' ऐसा कहा जाता है, तो हम पूछते हैं कि पदार्थ के सद्भाव और अभाव में क्या सम्बन्ध है? तादात्म्य सम्बन्ध तो कहा नहीं जा सकता; क्योंकि सद्भाव और अभाव में भेद है। तदुत्पत्तिसम्बन्ध भी नहीं कह सकते, क्योंकि अभाव के कार्य का आधारपना

---

१. अवयवेषु अवयवी नास्त्येव दृश्यत्वे सत्यनुपलभ्यमानत्वात्। एतावताग्रन्थेन वृत्तिविकल्पनं कृतं तेन अवयविबाधनं जातं यथा तथा व्याप्तिपूर्वकेणानुमानेनावयवी बाध्यते। २. तथाऽनुमानं अवयवेभ्योऽवयवी नार्थान्तरं अवयवनामग्रहेऽवय-विबुद्ध्यभावात्। ३. यस्याग्रहणे। ४. पूर्वानुमानेनावयवेष्ववयवी नास्तीत्यस्य सिद्धिः। अनेन त्ववयवेभ्योऽवयविनो भेदोऽनपि नास्तीति वदति। ५. प्रथमानुमानादवयवेष्वयविनोऽभावः साधितः, इति अवयविनो निषेधात्तथा। सम्बन्धनिषेधादिति हेतुद्वयाद् रूपादिपरमाणवो निरंशा एव। ६. कारणनिरपेक्षात्। ७. सर्वे भावाः क्षणिकाः तत्स्वभावं प्रत्यन्यानपेक्षणात्। ८. विनाशभावम्।

प्रत्यन्यानपेक्षः[१] स तत्स्वभावनियतः[२] यथाऽन्त्या[३] कारणसामग्री [४]स्वकार्ये। [५]नाशो हि मुद्गरादिना क्रियमाणास्ततो[६] भिन्नोऽभिन्नो वा क्रियते? भिन्नस्य करणे घटस्य स्थितिरेव स्यात्। [७]अथ विनाशसम्बन्धान्नष्ट इति व्यपदेश इति चेद्भावाभावयोः[८] कः सम्बन्धः? न तावत्तादात्म्यम्; [९]तयोर्भेदात्। नापि [१०]तदुत्पत्तिरभावस्य कार्याधारत्वाघटनात्[११]। अभिन्नस्य[१२] करणे घटादिरेव कृतः स्यात्। [१३]तस्य च प्रागेव निष्पन्नत्वाद् व्यर्थे करणमित्यन्यानपेक्षत्वं सिद्धमिति विनाशस्वभावनियतत्त्वं[१४] [१५]साधयत्येव। सिद्धे चानित्यानां[१६] [१७]तत्स्वभाव-नियतत्त्वे तदितरेषामात्मादीनां [१८]विमत्यधिकरणभावापन्नानां सत्त्वादिना साधनेन [१९]तद्-दृष्टान्ताद्भवत्येव क्षणस्थितिस्वभावत्वम्। तथाहि- [२०]यत्सत्तत्सर्वमेकक्षणस्थितिस्वभावम्; यथा घटः[२१]। सन्तश्चामी भावा[२२] इति।

घटित नहीं होता। अर्थात् जैसे भावरूप घट की मृत्पिण्ड से उत्पत्ति होती है, तो वह मृत्पिण्ड घटरूप कार्य का आधार यानि कारण कहलाता है। किन्तु अभाव तो अवस्तुरूप है; इसलिए वह किसी कार्य का आधार नहीं हो सकता। यदि कहें कि मुद्गरादिक से घट का विनाश अभिन्न किया जाता है, तो उससे घटादिक ही किये गये सिद्ध होते हैं तब विनाश और घट में भेद नहीं रहता। और घट तो पहले ही निष्पन्न हो चुका है, अतः उसका करना व्यर्थ है, इस प्रकार विनाश के अन्य की अपेक्षा-रहितता सिद्ध हो जाती है, जो कि परमाणुरूप विशेषों के विनाश स्वभाव की नियतता को साधन करती ही है। और अनित्य परमाणुओं के विनाश स्वभाव नियतता सिद्ध होने पर उनसे भिन्न विवादापन्न आत्मा आदिक पदार्थों के सत्त्व आदि हेतुओं के द्वारा घटादि विशेष के दृष्टान्त से एक क्षणस्थिति वाले स्वभावपने की सिद्धि होती ही है। आगे इसी बात को अनुमान से सिद्ध करते हैं-(सर्व पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं।) जो सत् है, वह सर्व एकक्षणस्थिति स्वभावरूप है; जैसे कि घट। (वस्तुतः घट क्षणिक ही है, उसका पृथुबुध्नोदररूप कुछ काल तक स्थिर रहने वाला जो आकार दिखलाई देता है और क्षणभंगुरता की प्रतीति नहीं होती है, उसका

---

१. कारणनिरपेक्षः। २. स विनाशस्वभावनियतः। ३. अन्त्यतन्तुसंयोगलक्षणा अन्त्या कारणसामग्री। ४. पटोत्पत्तौ। ५. अत्रापरस्य शङ्का-भो बौद्ध, घटादौ नाशेऽस्त्येवान्यापेक्षा, अन्यत एव मुद्गरादेर्नाशो भवति, इत्याशङ्क्य बौद्धो विकल्पद्वयं कृत्वा दूषयति नैयायिकम्। अथवा नैयायिकोक्ततुच्छाभावमङ्गीकृत्य तं दूषयति-विनाशे घटादौ। अन्यानपेक्षत्वमसिद्धमिति चेदाह। ६. घटादेः स्वकार्यात्। ७. नैयायिकः-भिन्नो भवति, तथापि तेन सह घटस्य सम्बन्धात् घटोऽपि नष्ट इति व्यपदेशः। ८. घटविनाशयोः। ९. भावाभावयोः। १०. नाप्यभावस्य घटादुत्पत्तिर्येन कार्यकारणभावसम्बन्धः स्यात्। ११. यथाभावरूपस्य घटस्य मृत्पिण्डादुत्पत्तिरस्ति, तदा तस्य कार्याधारित्वम्। तथाऽभावस्त्ववस्तुरूपस्तस्मात्तत्र कार्याधारित्वाघटनात्। १२. मुद्गरादिना घटादभिन्नस्याभावस्य करणे। १३. घटस्य। १४. साधनम्। १५. तदन्यानपेक्षत्वं साधनं स्वयं सिद्धं सत् विनाशत्व-स्वभावत्व-नित्यत्वे सति अनित्यत्वं साधयत्येव। १६. विशेषाणां परमाणूनाम्। १७. विनाश। १८. विवादापन्नानाम्। १९. घटादिविशेषदृष्टान्तात्। २०. सर्वे भावाः क्षणिकाः सत्त्वात्। २१. परमार्थरूपेण घटः क्षणिक एव, पृथुबुध्नोदराकारेण दृश्यमानो घटः कियत्कालस्थायी, न त्वाशु विनाशीति भ्रान्तिरेवाविद्यावशादिति। २२.तस्मात् क्षणिकाः।

[१]अथवा सत्त्वमेव विपक्षे[२] बाधकप्रमाणबलेन[३] दृष्टान्तनिरपेक्षमशेषस्य वस्तुनः क्षणिकत्व-मनुमापयति[४]। तथाहि[५]–सत्त्वमर्थक्रियया[६] व्याप्तम्, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्याम्; [७]ते च नित्यान्निवर्त्तमाने स्वव्याप्यामर्थ-क्रियामादाय निवर्तेते। सापि स्वव्याप्यं [८]सत्त्वमिति नित्यस्य क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थ-क्रियाविरोधात्[९] सत्त्वासम्भावनं विपक्षे बाधकप्रमाणमिति। न हि नित्यस्य[१०] क्रमेण युगपद्वा सा[११] सम्भवति; नित्यस्यैकेनैव[१२] स्वभावेन पूर्वापरकालभाविकार्यद्वयं कुर्वतः कार्याभेदकत्वात् [१३]तस्यैकस्वभावत्वात् [१४]तथापि कार्यनानात्वेऽन्यत्र[१५] [१६]कार्यभेदात्कारणभेदकल्पना विफलैव स्यात्। [१७]तादृशमेकमेव किञ्चित् कारणं

कारण अविद्या-जनित भ्रान्ति ही है।) और ये परमाणुरूप पदार्थ सत् हैं, इसलिए वे क्षणिक हैं। यह बहिर्व्याप्तिरूप अनुमान है।

(अब अन्तर्व्याप्तिरूप अनुमान से उक्त अर्थकी सिद्धि करते हैं–) अथवा सत्त्वरूप हेतु ही विपक्षरूप नित्य में बाधक-प्रमाण के बल से दृष्टान्त के बिना ही समस्त वस्तुओं के क्षणिकपने का अनुमान कराता है।

भावार्थ—पदार्थ नित्य नहीं है; क्योंकि उसमें क्रम से और युगपत् अर्थक्रियाकारिपने का अभाव है, इस बाधक-प्रमाण के बल से सत्त्व हेतु सर्व वस्तुओं को क्षणिक सिद्ध करता है।

आगे इसे ही स्पष्ट करते हैं–(जो वस्तु अर्थक्रियाकारी होती है वही परमार्थसत् है। नित्य पदार्थ अर्थक्रियाकारी नहीं है, इसलिए वह परमार्थसत् भी नहीं है।) इस नियम के अनुसार सत्त्व अर्थक्रिया से व्याप्त है और अर्थक्रिया क्रम तथा यौगपद्य से व्याप्त है। वे क्रम और यौगपद्य दोनों ही नित्य पदार्थ से निवृत्त होते हुए अपने साथ व्याप्त अर्थक्रिया को संग लेकर निवृत्त होते हैं। कहने का सार यह कि नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं बनती। वह अर्थक्रिया भी अपने व्याप्त सत्त्व को साथ में लेकर निवृत्तिरूप होती है। अर्थात् नित्य में सत्त्व सम्भव नहीं है। इस प्रकार नित्य पदार्थ के साथ क्रम और यौगपद्य से अर्थक्रियाका विरोध है। इसलिए अर्थक्रिया के बिना सत्त्व की असम्भावना ही नित्यरूप विपक्ष में बाधक प्रमाण है। नित्य वस्तु के क्रम से अथवा युगपत् वह अर्थक्रिया सम्भव नहीं हैं; क्योंकि नित्य के एक ही स्वभाव से पूर्वापर कालभावी दो कार्यों को करते हुए वह कार्य का भेदक नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि नित्य पदार्थ एक ही

---

१. बाहिर्व्याप्तिमुखेनानुमानम्। २. नित्ये। ३. नित्यः पदार्थो नास्ति, क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावादिति विपक्षे बाधक प्रमाणबलेन। ४. साधयति। ५. अन्तर्व्याप्तिमुखेनानुमानं दर्शयति। ६. यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्। नित्यं नार्थक्रियाकारि तन्न तत् परमार्थसत् ॥१॥ ७. क्रम-यौगपद्ये। ८. व्युत्पन्नं प्रतीदमनुमानम्। ९. नित्यः पदार्थो नास्ति, क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावात्, खरविषाणवत्। १०. नित्यमर्थक्रियाकारि न भवति, क्रमयौगपद्यरहितत्वात्। ११. अर्थक्रिया। १२. एकस्वभावेनानेकस्वभावेन वेति विकल्पद्वयं मनसि कृत्वा क्रमेण तावदर्थक्रियां निराकुर्वन्नाह। १३. नित्यस्य। १४. नित्यस्यैकस्वभावत्वे सति। १५. एकत्र सामग्र्यनुमाने प्रतिपादितमस्ति कार्यभेदात् कारणभेद इति दूषणमुद्भावितम्, तस्य का गतिस्तदेवान्यत्रोद्भावनीयम्। अनित्यवस्तुनि। १६. कारणभेदात्कार्यभेदस्याङ्गीकारात्। १७. ततश्च।

कल्पनीयं येनैकस्वभावेनैकेनैव चराचरमुत्पद्यत इति।

अथ[१] स्वभावनानात्वमेव तस्य[२] कार्यभेदादिष्यत[३] इति चेत्तर्हि ते स्वभावास्तस्य सर्वदा[४] सम्भविनस्तदा [५]कार्यसाङ्कर्यम्[६]। नो[७] चेत्[८] तदुत्पत्तिकारणं[९] वाच्यम्? [१०]तस्मादेव [११]तदुत्पत्तौ तद्स्वभावानां सदा सम्भवात्सैव कार्याणां युगपत्प्राप्तिः। [१२]सहकारिक्रमापेक्षया तत्स्वभावानां क्रमेण भावान्नोक्त दोष इति चेत्तदपि न साधुसङ्गतम्; समर्थस्य नित्यस्य [१३]परापेक्षायोगात्। [१४]तैः [१५]सामर्थ्यकरणे[१६] नित्यताहानिः। [१७]तस्माद्भिन्नमेव सामर्थ्यं [१८]तैर्विधीयत इति न नित्यताहानिरिति चेत्तर्हि नित्यमकिञ्चित्करमेव स्यात् सहकारि-जनितसामर्थ्यस्यैव

स्वभाव वाला होता है। तथापि अर्थात् नित्य के एक स्वभाव वाला होने पर भी यदि कार्यों के नानापना मानेंगे, तो अन्यत्र अर्थात् अनित्य पदार्थ में कार्य के भेद से कारण के भेद की कल्पना करना विफल ही हो जायेगी। इसलिए इस प्रकार के किसी एक ही कारण की कल्पना करना चाहिए, जिससे कि एक स्वभाव वाले एक ही पदार्थ से समस्त चराचर जगत् उत्पन्न हो जाये।

पुनः नैयायिक कहते हैं कि यदि नित्य पदार्थ के स्वभाव का नानापना ही कार्य के भेद से मानते हैं, तो हम पूछते हैं कि वे स्वभाव उस नित्य पदार्थ के सर्वदा सम्भव हैं अथवा सर्वदा सम्भव नहीं है ? यदि सर्वदा सम्भव हैं, तो जीवादि द्रव्य से उत्पन्न होने वाले नर-नारकादि पर्यायों को एक साथ उत्पत्ति का प्रसंग आने से कार्यों की संकरता प्राप्त होती है। यदि वे स्वभाव सर्वदा सम्भव नहीं हैं, तो उन स्वभावों की उत्पत्ति का कारण कहना चाहिए? उस नित्य पदार्थ से ही उन स्वभावों की उत्पत्ति मानने पर उन स्वभावों के सदा सम्भव होने से वही कार्यों की युगपत् प्राप्ति का प्रसंग आता है। यदि कहें कि सहकारी कारणों के क्रम-क्रम से मिलने की अपेक्षा नित्य पदार्थ के स्वभाव क्रम-क्रम से उत्पन्न होते हैं, अतः उपर्युक्त दोष प्राप्त नहीं होता; तो आपका यह कथन भी साधु संगत नहीं है; क्योंकि समर्थ नित्य पदार्थ को पर की अपेक्षा नहीं रहती। सहकारी कारणों के द्वारा नित्य के भी अभिन्न सामर्थ्य का करना मानने पर उसको नित्यता की हानि प्राप्त होती है। यदि कहें कि नित्य पदार्थ से भिन्न ही सामर्थ्य सहकारी कारणों के द्वारा की जाती है, तो फिर नित्य पदार्थ अकिञ्चित्कर ही हो जायेगा; क्योंकि वैसी दशा में सहकारी कारणों से उत्पन्न हुई सामर्थ्य के ही कार्यकारीपना ठहरता है। यदि कहा जाये कि सहकारी कारणों से उत्पन्न हुई सामर्थ्य के

---

१. न तु कारणभेदात्। २. नित्यस्य। ३. यदि। ४. असम्भविनो वेति विकल्पद्वयप्राप्तिः। ५. जीवादिद्रव्यादुत्पद्यमाननर-नारकादिकार्याणां युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गः। ६. सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः। तस्य भावः साङ्कर्यम्। ७. यदि कादाचित्कोऽनित्यश्चेत्। ८. ते स्वभावाः सर्वदा सम्भविनो नो चेत्। ९. स्वभावोत्पत्ति कारणम्। १०. नित्यादेव। ११. स्वभावानामुत्पत्तौ। १२. निमित्तकारण। १३. निमित्तकारणापेक्षा। १४. सहकारिभिः। १५.नित्येन सह सामर्थ्यमविनाभूतं तस्य कारणादेव तदपि क्रियते नित्यताहानिरिति चेन्नैयायिको वदति-तैः सहकारिभिर्नित्यसामर्थ्यं क्रियते, तर्हि तस्माद् भिन्नमभिन्नं वा? यद्यभिन्नं तदा नित्यताहानिः स्यात्। यदि भिन्नं तदा नित्यस्याकिञ्चित्करत्वं स्यात्। १६. नित्यवादिनि। १७.नित्यात्। १८.सहकारिभिः।

कार्यकारित्वात्। [१]तत्सम्बन्धात्तस्यापि[२] कार्यकारित्वे [३]तत्सम्बन्धस्यैकस्व-भावत्वे[४] सामर्थ्यनानात्वाभावान्न कार्यभेदः। [५]अनेकस्वभावत्वेऽक्रम वत्त्वे[६] च कार्यवत्तस्यापि[७] साङ्कर्यमिति सर्वमावर्तत[८] इति चक्रकप्रसङ्गः। तस्मान्न क्रमेण कार्यकारित्वं नित्यस्य। नापि युगपत्; अशेषकार्याणां युगपदुत्पत्तौ द्वितीयक्षणे कार्याकरणादनर्थ-क्रियाकारित्वेनावस्तुत्वप्रसङ्गात्। इति नित्यस्य क्रमयौगापद्याभावः सिद्ध एवेति सौगताः प्रतिपेदिरे[९]। तेऽपि न युक्तवादिनः; सजातीयेतरव्यावृत्तात्मनां[१०] [११]विशेषाणामनंशानां ग्राहकस्य प्रमाणस्याभावात्। प्रत्यक्षस्य

सम्बन्ध से उस नित्य के भी कार्यकारीपना बन जाता है, तो हम पूछते हैं कि वह सम्बन्ध एक स्वभाव वाला है कि अनेक स्वभाव वाला है? उस सम्बन्ध को एक स्वभाव वाला मानने पर सामर्थ्य के नानापने का अभाव होने से कार्यों के भेद नहीं बन सकेगा। यदि इस दोष के भय से सामर्थ्य के सम्बन्ध को नाना स्वभाव वाला मानेंगे तो हम पूछते हैं कि वह नाना स्वभाव वाला सम्बन्ध नित्य पदार्थ के साथ अक्रमरूप से अर्थात् युगपत् सम्बन्ध होगा कि क्रम से सम्बन्ध होगा? यदि अक्रमरूप से सम्बद्ध होना मानेंगे तो घटादि कार्यों के समान उस सामर्थ्य के भी संकरपना प्राप्त होता है। अर्थात् जड़ और चेतन सभी प्रकार के कार्यों के सामर्थ्य की युगपत् प्राप्ति का प्रसंग आता है। इस प्रकार पुनः पुनः सर्व दोषों के आवर्तन होने से चक्रकदोष का प्रसंग उपस्थित होता है। इस कारण नित्य के क्रम से कार्यकारीपना नहीं बनता है। और न युगपत् भी कार्यों का करना बनता है; क्योंकि समस्त कार्यों की एक साथ उत्पत्ति होने पर द्वितीय क्षण में कार्य के न करने से अर्थक्रियाकारिता का अभाव हो जायेगा और वैसी दशा में उसके अवस्तुपने का प्रसंग आता है। इस प्रकार नित्य पदार्थ के क्रम से और युगपत् कार्य का अभाव सिद्ध ही है, ऐसा बौद्धमती प्रतिपादन करते हैं और कहते हैं कि विशेष ही वस्तु का स्वरूप है, सामान्य वस्तु का स्वरूप नहीं। और वे विशेष परस्पर में सम्बन्ध-रहित हैं, अवयवी नहीं हैं तथा एक क्षण-स्थायी हैं; नित्य नहीं हैं।

इस प्रकार बौद्धों ने सामान्य प्रमाण का विषय नहीं हो सकता, किन्तु विशेष ही प्रमाण का विषय है, यह सिद्ध किया। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाले बौद्ध भी युक्तिवादी नहीं हैं; क्योंकि सजातीय-विजातीय पृथक्-पृथक् स्वरूप वाले अंश रहित विशेषों के ग्राहक प्रमाण का

---

१. सहकारिजनितसामर्थ्यसम्बन्धात्। २. नित्यस्यापि। ३. तेन सामर्थ्येन सह सम्बन्धो यस्य नित्यस्य स तथा, तस्य। ४. सहकारिभिः कृतं यत् सामर्थ्यं तन्नित्येनैकरूपेण सह सम्बद्ध्यते, अनेकरूपेण वा ? यद्येकरूपेण सम्बन्धस्तदा सामर्थ्यनानात्वाभावात् कार्यभेदो न स्यात्। तद्दोषभिया सामर्थ्यसम्बन्धस्तु नानास्वभावः, स नानास्वभावसम्बन्धो यदि नित्येन सह सम्बद्ध्यते तदा युगपत् क्रमेण वा ? यदि युगपत् तदा घटादिवत् सामर्थ्यस्यापि साङ्कर्यम्। ५. अनेकस्वभावो-ऽक्रमेण चेत्। ६. युगपत्त्वे। ७. सामर्थ्यस्यापि। ८. तस्मात् सम्बन्धस्य क्रमवत्त्वं स्वीकर्तव्यम्। क्रमवत्त्वे च तदुत्पत्तौ कारणं वाच्यमिति सम्बन्धः। ९. विशेषा एव वस्तुस्वरूपं न सामान्यम्। पुनर्विशेषाः परस्परासम्बधिन एवावयविनः नैवैकक्षणस्थायिनः। एवं सति सम्बन्धिनः अवयविनो नित्या नैवेति बौद्धाःस्वमतमाहुः। १०. भिन्नस्वरूपाणाम्। ११. परमाणूनाम्।

[१]स्थिरस्थूलसाधारणाकारवस्तुग्राहकत्वेन निरंशवस्तुग्रहणायोगात्। न हि परमाणवः परस्परासम्बद्धाश्चक्षुरादि-बुद्धौ[२] प्रतिभान्ति, [३]तथा सत्यविवादप्रसङ्गात्[४]।

[५]अथानुभयन्त[६] एव [७]प्रथमं [८]तथाभूताः क्षणाः[९], पश्चात्तु [१०]विकल्पवासनाबलादान्तरा[११]-दन्तराला[१२]-नुपलम्भलक्षणाद्[१३] [१४]बाह्याच्चाविद्यमानोऽपि स्थूलाद्याकारो विकल्पबुद्धौ चकास्ति[१५]। स[१६] च [१७]तदाकारेणानु-रज्यमानः[१८] स्वव्यापारं[१९] तिरस्कृत्य[२०] [२१]प्रत्यक्षव्यापारपुरःसरत्वेन प्रवृत्तत्वात् प्रत्यक्षायत[२२] इति। तदप्यतिबालविलसितम्; निर्विकल्पक[२३]बोधस्यानुपलक्षणात्[२४]। [२५]गृहीते हि [२६]निर्विकल्पकेतरयोर्भेदे [२७]अन्याकारानुरागस्यान्यत्र[२८] कल्पना[२९] युक्ता स्फटिकजपाकुसुमयोरिव, [३०]नान्यथेति।

अभाव है। प्रत्यक्ष प्रमाण तो स्थिर, स्थूल और साधारण आकार वाले पदार्थ का ग्राहक है, अतः वह निरंश वस्तु को ग्रहण कर नहीं सकता। इसका कारण यह है कि परस्पर में सम्बन्ध-रहित परमाणु चक्षु आदि इन्द्रियों की बुद्धि में प्रतिभासित नहीं होते हैं। यदि प्रतिभासित होते, तो फिर विवाद का प्रसंग ही नहीं आता, अर्थात् सभी वैसा ही मानते।

इस पर बौद्ध कहते हैं कि इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने पर सर्वप्रथम निरंश परमाणु ही प्रतिभासित होते हैं; किन्तु पीछे विकल्प की वासनारूप अन्तरंगकारण से और बाहरी अन्तराल के नहीं पाये जाने रूप बहिरंग कारण से अविद्यमान भी स्थिर-स्थूल आदि आकार विकल्प-बुद्धि में प्रतिभासित होते हैं। और वह विकल्प उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष के आकार से अनुरंजित (सम्मिश्रित) होकर अपने विकल्परूप अस्पष्ट व्यापार को तिरस्कृत कर स्पष्टरूप प्रत्यक्ष-व्यापार-पूर्वक प्रवृत्त होने से प्रत्यक्ष के समान प्रतिभासित होता है। आचार्य कहते हैं कि उनका यह कथन भी अतिबाल-विलास के समान है; क्योंकि किसी को भी निर्विकल्प ज्ञान का अनुभव नहीं होता है। निर्विकल्प और सविकल्प के भेद गृहीत होने पर ही अन्य निर्विकल्प के आकार की अन्यत्र

---

१. क्षणिकत्वव्यवच्छेदार्थं स्थिरपदम्, परमाणुत्वनिरासार्थं स्थूलपदम्, विशेषनिरासार्थं साधारणपदम्, आकारपदं तु प्रत्येकं परिसमाप्यते। २. प्रत्यक्षज्ञाने। ३. प्रतिभासन्ते चेत्। ४. प्रत्यक्षतः परमाणूनां प्रतीतौ परस्परं सर्वेषां विवादप्रसङ्गो माऽस्तु। ५. बौद्धः प्राह। ६. निर्विकल्पप्रत्यक्षबुद्धाविन्द्रियार्थसम्बन्धानन्तरं प्रतिभासन्त एव। ७. इन्द्रियार्थप्रत्यासत्त्य-नन्तरम्। ८. निरंशाः। ९. परमाणवः। १०. स्वजनित। ११. आभ्यन्तरात्। १२. मध्ये स्थिरस्थूलसाधारणाकारग्रहणमस्ति, तथा अन्यदपि सन्धानात्। १३. परमाणूनां स्फुटं परस्पर व्यवधानानुपलम्भलक्षणात्। अन्तराले ये क्षणाः नष्टास्तेषामनुप-लम्भलक्षणात्। १४. अन्तरालाद् बाह्याच्चेति विशेषस्तथाविधानां स्वरूपज्ञानाभावात्। अर्थात्। १५. शोभते, आशुवृत्त्या अलातचक्रवत्। १६. स च सविकल्पकः। १७. निर्विकल्पप्रत्यक्षाकारेण। १८. आरोप्यमाणः, सम्मिश्रितः। १९. सविकल्पकस्य आत्मव्यापारमविशदमव्यक्तमस्पष्टम्। २०. त्यक्त्वा। २१. निर्विकल्पस्य व्यापारं विशदं स्पष्टम्। २२. इति बौद्धसिद्धान्तः। २३.ज्ञानस्य। २४. अनुपलम्भात्, अननुभवनात्। २५. बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति- बौद्धलोके एवं स्थितिः। २६. निर्विकल्प-सविकल्पकयोः। २७. प्रत्यक्षानुरागस्य। २८. विकल्पे। २९. पूर्वं स्फटिकवस्तुनि निश्चिते सति स्फटिके जपाकुसुमस्य कल्पना युक्ता। ३०. निर्विकल्प-सविकल्पकयोर्भेदेऽगृहीते निर्विकल्पाकारस्य सविकल्पेऽनुरागता न युक्ता।

एतेन[१] [२]तयोर्युगपद्[३]-वृत्तेर्लघुवृत्ते[४]र्वा [५]तदेक[६]त्वध्यवसाय[७] इति निरस्तम्[८]; [९]तस्यापि कोशपान-प्रत्येयत्वादिति। केन[१०] वा [११]तयोरेकत्वाध्यवसायः[१२]? न तावद्विकल्पेन, [१३]तस्याविकल्पवार्तानभिज्ञत्वात्। नाप्यनुभवेन[१४]; तस्य [१५]विकल्पागोचरत्वात्। न च [१६]तदुभयाविषयं[१७] [१८]तदेकत्वाध्यवसाये समर्थमति-

---

(विकल्प में) कल्पना करना युक्त है जैसे कि स्फटिक और जपाकुसुम के पृथक्-पृथक् गृहीत होने पर ही स्फटिक में जपाकुसुम की कल्पना ठीक कही जाती है, अन्यथा नहीं।

इसी उपर्युक्त कथन के द्वारा निर्विकल्प और सविकल्प में युगपद्-वृत्ति से अथवा लघु अर्थात् शीघ्र वृत्ति से उस निर्विकल्प और सविकल्प की एकता का निश्चय होता है, इस कथन का भी निराकरण कर दिया गया समझना चाहिए, क्योंकि उनका यह कथन सौगन्ध (शपथ) खाने के समान ही है।

भावार्थ—सविकल्प और निर्विकल्प में एकत्व का अध्यवसाय यदि युगपद्-वृत्ति से माना जाये तो मोटी तिल पापड़ी आदि के खाते समय रूपादि पाँचों का ज्ञान युगपद् होने से उनमें भी अभेद का अध्यवसाय माना जाना चाहिए। और यदि निर्विकल्प और सविकल्प में शीघ्र वृत्ति से अभेद का अध्यवसाय माना जाये तो गधे के धीरे-धीरे रेंकने आदि के शब्दों में भी अभेद का अध्यवसाय माना जाना चाहिए। परन्तु ये दोनों ही ठीक नहीं है, अतः उनका उक्त कथन समीचीन नहीं है, किन्तु सौगन्ध खाकर जबरन विश्वास दिलाने जैसा है।

अथवा उस निर्विकल्प-सविकल्प के एकत्व-अध्यवसाय का निश्चय किस ज्ञान से होगा? विकल्पज्ञान से तो ही नहीं सकता; क्योंकि वह निर्विकल्प की वार्ता से भी अनभिज्ञ (अनजान) है। तथा अनुभवरूप निर्विकल्प प्रत्यक्ष से भी उन दोनों के एकत्व का अध्यवसाय किया नहीं जा सकता; क्योंकि अनुभव विकल्प के अगोचर है, अर्थात् उसका विषय नहीं है और उन दोनों को ही विषय नहीं करने वाला ऐसा कोई अन्य ज्ञान उन दोनों के एकत्व का अध्यवसाय करने में समर्थ नहीं है; अन्यथा अतिप्रसंग दोष आयेगा। अर्थात् फिर रसनेन्द्रिय के द्वारा रूप के जानने का

---

१. सविकल्पे निर्विकल्पस्याकारनिराकरणेन। २.निर्विकल्प-सविकल्पकयोः। ३. युगपद्वृत्तेस्तयोरेकत्वा-ध्यवसाय इति चेत्तर्हि दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानपञ्चकस्याप्यभेदाध्यवसायः स्यात्। ४. क्रमवत्त्वेऽपि। ५. निर्विकल्प-सविकल्पयोः। ६. लघुवृत्तेश्चाभेदाध्यवसाये खररटितमित्यादावप्यभेदाध्यवसायः स्यादिति। ७. निश्चयः। ८. भो जैन, कथं निरस्तम्? निर्विकल्पकादेव सविकल्पकं जायते, तस्मादेकत्वाध्यवसायः। भो बौद्ध, तदेकेन निश्चितं किमध्यवस्यति ? तदेव वक्तव्यम्। ९. युगपद्-वृत्तेर्लघुवृत्तेर्वा तदेकत्वाध्यवसायस्यापि। १०. ज्ञानेन। ११. निर्विकल्प-सविकल्पकयोः। १२. निश्चयः। १३. विकल्पज्ञानस्य। १४. प्रत्यक्षेण निर्विकल्पज्ञानेन। १५. विकल्पोऽगोचरो यस्य सः। १६. तदुभयमविषयो यस्य ज्ञानान्तरस्य। १७. ज्ञानान्तरं निर्विकल्पसविकल्पकविषयम्। १८. निर्विकल्प-सविकल्पकयोः।

प्रसङ्गात्[१]। [२]ततो न प्रत्यक्षबुद्धौ [३]तथा विधविशेषावभासः। नाप्यनुमानबुद्धौ[४], [५]तदविनाभूतस्वभावकार्य-लिङ्गाभावात्। [६]अनुपलम्भोऽसिद्ध एव, अनुवृत्ताकारस्य[७] स्थूलाकारस्य[८] [९]चोपलब्धेरुक्तत्वात्।

यदपि 'परमाणूनामेकदेशेन सर्वात्मना वा सम्बन्धो नोपपद्यत [१०]इति' [११]तत्रानभ्युपगम[१२] एव परिहारः; स्निग्धरूक्षाणां[१३] सजातीयानां विजातीयानां च [१४]द्व्यधिकगुणानां कथञ्चित्स्कन्धाकारपरिणामात्मकस्य सम्बन्धस्याभ्युपगमात्।

भी प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिए यह मानना चाहिए कि प्रत्यक्ष-ज्ञान में उस प्रकार के परस्पर असम्बद्ध परमाणुरूप विशेष प्रतिभासित नहीं होते। और, न अनुमान-ज्ञान में भी उनका प्रतिभास होता है; क्योंकि परस्पर असम्बद्ध परमाणुओं के अविनाभावी स्वभावलिंग और कार्यलिंग का अभाव है। तीसरा अनुपलम्भरूप हेतु तो असिद्ध ही है। अर्थात् यदि कहा जाये कि स्थिर-स्थूल-साधारणाकार वाले पदार्थ के नहीं पाये जाने से परमाणुरूप विशेष ही तत्त्व है, सो यह कथन भी असिद्ध है; क्योंकि अन्वयरूप अनुवृत्त आकार की और स्थूल आकार की उपलब्धि प्रत्यक्ष से होती है, यह कहा ही जा चुका है।

और भी जो बौद्धों ने कहा था कि परमाणुओं का एकदेश से अथवा सर्वदेश से सम्बन्ध नहीं बन सकता है, सो इस विषय में वैसा नहीं मानना ही हमारा परिहार है; क्योंकि हम जैन लोग तो स्निग्ध-रूक्ष, सजातीय और विजातीय दो अधिक गुणवाले परमाणुओं का कथञ्चित् स्कन्ध के आकार से परिणत होने रूप सम्बन्ध को मानते हैं।

भावार्थ—परमाणुओं में कुछ स्निग्ध गुणवाले परमाणु होते हैं और कुछ रूक्ष गुणवाले। एक रूक्ष गुणवाले परमाणु का एक स्निग्ध गुणवाले या रूक्ष गुणवाले परमाणु के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार दो स्निग्ध या रूक्ष गुणवाले परमाणु का भी परस्पर में सम्बन्ध नहीं होता है। किन्तु तीन गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु का पाँच गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु के साथ सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी बन्ध का नियम जानना चाहिए। इसलिए बौद्धों के द्वारा

---

१. रसनेन्द्रियस्य रूपग्रहणप्रसङ्गः। २. केनचिदपि प्रमाणेन तदेकत्वाध्यवसायस्य ग्रहणं न भवति यतः। ३. परस्परासम्बद्धपरमाणूनाम्। ४. परस्परासम्बद्धपरमाणूनामवभासः। ५. परस्परासम्बद्धपर-माण्वविनाभूत। ६. विशेषा एव तत्त्वं स्थिरस्थूलसाधारणाद्याकारनुपलब्धेः स्थिरादीनामनुपलब्धिरेवासिद्धा। ७. प्रत्यक्षाकारेण सामान्यादेः। ८. विशेषाकारस्य। ९. यद्यनुवृत्ताकारस्य स्थूलाकारस्यानुपलम्भबलेनानुपलब्धिः स्यात्तदा। निरंशपरमाणूनां सिद्धिः स्यात् नान्यथा। प्रत्यक्षेण हि स्थूलाद्याकारस्य प्रतीतेः। १०. उक्तम्। ११. एकदेशेन सर्वात्मना वा परमाणूनां सम्बन्धानुपपद्यमाने। १२. जैनानामनङ्गीकार एव विकल्पद्वयस्य। स्याद्वादिनां तथा अभ्युपगमो नास्ति। १३. न जघन्यगुणानाम्। १४. णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण। णिद्धस्स लुक्खेण हवेइ बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥१॥ स्निग्धमेकं रूक्षद्वयम्। एकस्य परमाणोर्गुणाद् द्वितीयस्य गुणो द्विगुणस्तस्मात्तेनैकेन सह तस्यैकस्य सम्बन्धः, द्वयोः परमाण्वोः गुणाभ्यां चतुर्गुणाश्चतुर्गुणास्तयोस्तैः सह संयोगः। द्वौ अधिकौ गुणौ येषां तेषाम्।

यच्चावयविनि वृत्तिविकल्पादि बाधकमुक्तम्; [१]तत्रावयविनो[२] वृत्तिरेव यदि नोपपद्यते; तदा न वर्तत इत्यभिधातव्यम्। नैकदेशादिविकल्पस्तस्य[३] [४]विशेषानान्तरीयकत्वात्[५]। तथाहि–'नैकदेशेन वर्तते, नापि[६] सर्वात्मना' इत्युक्ते [७]प्रकारान्तरेण [८]वृत्तिरित्यभिहितं स्यात्। अन्यथा न[९] वर्तत इत्येव [१०]वक्तव्यमिति विशेषप्रतिषेधस्य[११] शेषाभ्यनुज्ञानरूपत्वात् [१२]कथञ्चित्तादात्म्यरूपेण वृत्तिरित्यवसीयते; तत्र[१३] [१४]यथोक्त-दोषाणा-मनवकाशात्। विरोधादिदोषश्चाग्रे प्रतिषेत्स्यत इति नेह प्रतन्यते।

दिये गये षडंश आपत्तिरूप या एक परमाणुमात्रता की प्राप्ति रूप कोई भी दोष जैनों की मान्यता में नहीं आता है।

और जो बौद्धों ने अवयवी में अवयवों के वृत्तिविकल्प आदि के रूप में बाधक दूषण कहे हैं, सो इस विषय में अवयवी की वृत्ति ही यदि अवयवों में नहीं बनती है, तो अवयवी अवयवों में रहता ही नहीं है, ऐसा कहना चाहिए। एकदेश से रहता है अथवा सर्वदेश से रहता है, इत्यादि विकल्प नहीं कहना चाहिए; क्योंकि एकदेशादि विकल्प के तो अन्य विकल्प-विशेष के साथ अविनाभावपना पाया जाता है। आगे इसे ही स्पष्ट करते हैं–अवयवी अवयवों में न एकदेश से रहता है और न सर्वदेश से रहता है, ऐसा कहने पर अन्य प्रकार से रहता है, ऐसा कहा गया समझना चाहिए। अर्थात् कथञ्चित् एकदेश से और कथञ्चित् सर्वदेश से रहता है। इस प्रकार अवयव और अवयवी में कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध हम जैन लोग मानते हैं। अन्यथा यदि ऐसा न माना जाये, तो अवयवों में अवयवी सर्वथा रहता ही नहीं है, ऐसा ही कहना चाहिए; क्योंकि विशेष का प्रतिषेध शेष के अंगीकाररूप होता है इसलिए कथञ्चित् तादात्म्यरूप से अवयवी की अवयवों में वृत्ति है, ऐसा निश्चय करने में आता है। और अवयवी के अवयवों में कथञ्चित् तादात्म्यरूप से रहने में आपके द्वारा ऊपर कहे गये दोषों को अवकाश भी नहीं है। और विरोधादि दोषों की जो सम्भावना की जाती है, उसका आगे निषेध किया जायेगा; इसलिए उनका यहाँ पर विस्तार नहीं करते हैं।

---

१. अवयवेषु। २. भो बौद्ध, त्वया। प्रकारान्तरेणावयविनो वृत्तिमङ्गीकृत्य एकदेशेन सर्वात्मना चेति विकल्पः कर्तव्यः। अथवा नास्तीति विधातव्यः, तथापि वक्तुं न पार्यते, यतः प्रत्यक्षेणावयविनो वृत्तिदर्शनात्। ३. एकदेशादिविकल्पस्य। ४. एकदेशेन सर्वात्मना वेत्ति विकल्पद्वयातिरिक्तविशेषः। ५. वृत्तिविशेषाविनाभावरूपत्वात्। ६. एतदेव विवृणोति। ७. तादात्म्येन। कथञ्चिदेकदेशेन कथञ्चित्सर्वात्मना। ८. अवयवेषु अवयवी वर्तते। ९. यद्यवयवेष्ववयविनां सर्वथा वृत्तिर्नास्ति। १०. किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र प्रवर्तते। सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्व चिन्नास्ति विचारणा ॥१॥ ११. विकल्पद्वयरूपेण एकदेशेन सर्वात्मना वा तयोः प्रतिषेधस्य। १२. यदवयवेष्ववयविनां सर्वात्मनैकदेशेन वा वृत्तिप्रतिषेधो विधीयते, तेन तदतिरिक्ततादात्म्यरूपा वृत्तिः सिद्धा भवति, तदङ्गीकरणात्। १२.तादात्म्यरूपेण वृत्तौ। १३. एकदेशेन संशयत्वमित्यादिदोषाणाम्।

यच्चैकक्षणस्थायित्वे[१] साधनम्[२]–'यो यद्भावं प्रतीत्याद्युक्तम्', तदप्यसाधनम्; असिद्धादिदोषदुष्टत्वात्। [३]तत्रान्यानपेक्षत्वं तावदसिद्धम्,[४] घटाद्यभावस्य मुद्गरादिव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् तत्कारणत्वोपपत्तेः[५]। [६]कपालादिपर्यायान्तरभावो[७] हि घटादेरभावः,[८] तुच्छाभावस्य[९] सकलप्रमाणगोचरातिक्रान्तरूपत्वात्।

किञ्च[१०]–अभावो यदि स्वतन्त्रो[११] भवेत्तदाऽन्यानपेक्षत्वं [१२]विशेषणं युक्तम्। न च सौगतमते [१३]सोऽस्तीति [१४]हेतुप्रयोगानवतार एव। [१५]अनैकान्तिकं चेदम् शालिबीजस्य कोद्रवाङ्कुरजननं प्रति [१६]अन्यान-

---

और जो आप बौद्धों ने पदार्थों के (परमाणुओं के) एक क्षण स्थायी रहने में साधन (हेतु) कहा है कि जो जिस भाव के प्रति अन्य की अपेक्षारहित है, वह विनाश स्वभावी है, वह भी असाधन (अहेतु) हैं; क्योंकि वह असिद्ध आदि दोषों से दूषित है। उस अनुमान में अन्यानपेक्षत्वरूप जो हेतु कहा है, वह असिद्ध है, क्योंकि घट आदि के अभाव का मुद्गर आदि के व्यापार के साथ अन्वय-व्यतिरेकपना पाये जाने से विनाश के प्रति मुद्गरादि के व्यापार की कारणता बन जाती है। अर्थात् मुद्गरादि के प्रहार-द्वारा घटादि का विनाश देखा जाता है और मुद्गरादि के प्रहार के अभाव में घटादि का विनाश नहीं देखा जाता है, अतः यह सिद्ध होता है कि घटादिके विनाश में मुद्गरादि के प्रहार का कारणपना है। यदि कहा जाये कि मुद्गरादि का प्रहार तो कपाल आदि की उत्पत्ति में कारण है, घट के अभाव में कारण नहीं; सो ऐसा कहने वालों से जैनों का कहना है कि कपाल आदि अन्य पर्याय का होना ही घट आदि का अभाव कहलाता है; निःस्वभावरूप जो तुच्छाभाव है, वह तो सकल प्रमाणों के विषय से अतिक्रान्तरूप है, अर्थात् तुच्छाभावरूप अभाव किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है, इसलिए उसकी चर्चा करना ही व्यर्थ है।

दूसरी बात यह है कि अभाव यदि स्वतन्त्र पदार्थ होता; तब अन्यानपेक्षत्व यह हेतु का विशेषण देना युक्त था; किन्तु बौद्धमत में अभाव नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना गया है, इसलिए विनाश के प्रति अन्य की अनपेक्षता रूप हेतु के प्रयोग का अवतार ही नहीं हो सकता है, फिर उससे आपके अभीष्ट साध्य को सिद्धि कैसे हो सकती है। और, आपका यह हेतु अनैकान्तिक भी है, क्योंकि शालि (धान्य) के बीज यद्यपि कोदों के अंकुर उत्पन्न करने के प्रति अन्य की

---

१. साध्ये। २. विनाशभावित्वं प्रत्यन्यानपेक्षणादिति साधनम्। ३. अनुमाने। ४. घटविनाशो हि मुद्गरादिना भवति, अतो घटविनाशे मुद्गराद्यपेक्षासम्भवाद्विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षणादिति साधनं स्वरूपसिद्धं स्वरूपेणैवास्य हेतोर्घट-विनाशेऽनुपलम्भादिति। ५. तस्य विनाशस्य तत्कारणत्वस्य मुद्गरादिकारणत्वस्योपपत्तेः। ६. ननु कपालादेरुत्पत्तिं प्रति मुद्गरादेर्व्यापारः, न त्वभावं प्रतीत्याशङ्क्याऽऽह।७. प्राप्तिः।८. किमर्थम्? ९. अत्यन्ताभावस्य निःस्वभावस्य। १०. प्रकारान्तरेण दूषयति। ११. कारणनिरपेक्षः। १२. हेतोः। १३. स्वतन्त्ररूपोऽभावः। १४. विनाशं प्रत्यन्यान-पेक्षत्वादस्य हेतोरनवतारः अनुपपत्तिरेव। विनाशस्वभावत्वाभावेऽन्यानपेक्षत्वमपि नोपपद्यते, ततो विनाशस्वभावत्वं प्रत्यन्यान-पेक्षत्वादिति हेतुरेव न स्यात्तदभावे च कथं साध्यसिद्धिरिति भावः। १५. शालिबीजं हि कोद्रवाङ्कुरजननं प्रत्यन्यानपेक्षम्, परन्तु शालिबीजे कोद्रवाङ्कुरजननसामर्थ्यं नास्ति, अतः साध्याभावेऽपि साधनसद्भावादनैकान्तिकोऽयं हेतुः। १६.न हि शालिबीजं कोद्रवाङ्कुरजननं प्रत्यन्यमपेक्षते, तस्य तज्जननसामर्थ्याभावात्।

पेक्षत्वेऽपि [1]तज्जन-नवस्वभावानियतत्त्वात्। तत्स्वभावत्वे[2] सतीति विशेषणान्न दोष इति चेन्न; सर्वथा पदार्थानां [3]विनाश-स्वभावासिद्धेः। [4]पर्यायरूपेणैव हि [5]भावानामुत्पादविनाशावङ्गीक्रियेते, न द्रव्यरूपेण[6]।

[7]समुदेति विलयमृच्छति[8] भावो नियमेन पर्ययनयस्य[9]।
नोदेति नो विनश्यति [10]भावनयालिङ्गितो नित्यम्॥३७॥ इति वचनात्।

न हि निरन्वयविनाशे[11] पूर्वक्षणस्य ततो[12] मृताच्छिखिनः केकायितस्येवोत्तर-क्षणस्योत्पत्तिर्घटते। द्रव्यरूपेण कथञ्चिदत्यक्तरूपस्यापि[13] सम्भवात्[14] न सर्वथा भावानां विनाशस्वभावत्वं युक्तम्। न च द्रव्यरूपस्य[15] ग्रहीतुमशक्यत्वादभावः; [16]तद्ग्रहणोपायस्य[17] [18]प्रत्यभिज्ञानस्य [19]बहुलमुपलम्भात्।

अपेक्षा-रहित है, तथापि कोदों के अंकुर उत्पन्न करने के स्वभाव में नियमरूप नहीं हैं, अर्थात् शालि बीज कोदों के अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं, अतः साध्य के अभाव में भी साधन के सद्भाव होने से आपका हेतु अनैकान्तिक है। यदि कहा जाये कि 'तत्स्वभावत्त्वे सति' अर्थात् विनाश स्वभाव वाला होने पर ऐसा विशेषण अन्यानपेक्षत्व हेतु का कर देने पर कोई उक्त दोष नहीं रहेगा, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पदार्थों का सर्वथा विनाश स्वभाव असिद्ध है। हम जैन लोग पर्यायरूप से ही पदार्थों का उत्पाद और विनाश अंगीकार करते हैं, द्रव्यरूप से नहीं क्योंकि-

पर्यायार्थिक नय के नियम से पदार्थ उत्पन्न होता है और विलय (विनाश) को प्राप्त होता है। किन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा पदार्थ न उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है, किन्तु नित्य ही रहता है ॥३७॥

ऐसा आगम का वचन है। पूर्व क्षण का निरन्वय अर्थात् पूर्वापर सम्बन्ध-रहित सर्वथा विनाश मानने पर उससे उत्तर क्षण की उत्पत्ति नहीं बन सकती है, जैसे कि मरे हुए मयूर से केका अर्थात् उसकी बोली नहीं उत्पन्न हो सकती है। इसलिए पदार्थों को सर्वथा विनाश स्वभावी मानना ठीक नहीं है, किन्तु द्रव्यरूप से कथञ्चित् पूर्वरूप का परित्याग नहीं करना ही वस्तु का स्वरूप सम्भव है और यही मानना युक्तिसंगत है। यदि कहा जाये कि नित्य रूप द्रव्य के स्वरूप का ग्रहण

---

१. कोद्रवाङ्कुर। २. बौद्धः प्राह-सर्वे भावाः विनाशस्वभावनियताः, तत्स्वभावत्वे सति तद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षत्वादित्यनुमाने कृते नोक्त दोष इति। ३. न हि पदार्थानां सर्वथा विनाशस्वभावत्वं सम्भवति, तदसम्भवे च पूर्वोक्तदोषः तदवस्थ एवेति भावः। ४. पर्यायार्थिकनयेन, पर्यायो विशेषोऽस्तीति मतिरस्यासौ पर्यायार्थिकनयस्तेन। ५. पदार्थानाम्। ६. द्रव्यार्थिकनयेन, द्रव्यं सामान्यमस्तीति मतिरस्यासौ द्रव्यार्थिकनयस्तेन। ७. उत्पद्यते। ८. विनश्यति। ९. पर्यायार्थिकनयस्य। १०. द्रव्यार्थिकनयेनवक्तुरभिप्रायो नयः। द्रव्यनयालिङ्गितः। ११. निःसन्तानः अत्यन्ताभावः इत्यर्थः। साकल्येन द्रव्यरूपेण पर्यायरूपेण वा। १२. पूर्वक्षणात्। १३. पदार्थस्य। १४. घटादेः कपालादेः। १५. द्रव्यस्य स्थिराद्याकारो गृह्यते। ननु द्रव्यरूपं तदेवमनित्यमिति चेन्न, इत्याह। १६. बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति। १७. द्रव्यरूपग्रहणोपायस्य। १८. स एवायं घटो यं पूर्वमपश्यमित्यादिप्रत्यभिज्ञानस्य। बाल-वृद्ध-युवेति प्रत्यभिज्ञानेनानुवृत्ताकारं द्रव्यं व्यावृत्ताकारः पर्यायः। १९. तदेवेदं अन्वयं द्रव्य सान्वयम्।

[१]तत्प्रामाण्यस्य[२] च [३]प्रागेवोक्तत्वात्, उत्तरकार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेश्च[४] सिद्धत्वात्।

यच्चान्यत्साधनं[५] सत्त्वाख्यं[६] तदपि[७] विपक्षवत्स्वपक्षेऽपि[८] [९]समानत्वान्न साध्यसिद्धिनिबन्धनम्। तथाहि[१०]–सत्त्वमर्थक्रियया व्याप्तम्, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्याम् ते[११] च क्षणिकान्निवर्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्तेते। सा[१२] च निवर्तमाना स्वव्याप्यसत्त्वमिति[१३] नित्यस्येव क्षणिकस्यापि खरविषाणवदसत्त्वमिति न तत्र[१४] सत्त्वव्यवस्था। न च क्षणिकस्य वस्तुनः क्रम–यौगपद्याभ्यामर्थक्रिया–विरोधोऽसिद्धः, [१५]तस्य देशकृतस्य कालकृतस्य वा क्रमस्यासम्भवात्। [१६]अवस्थितस्यैकस्य हि नानादेशकाल–कला[१७]व्यापित्वं देशक्रमः[१८] [१९]कालक्रमश्चाभिधीयते। न च क्षणिक [२०]सोऽस्ति।

करना अशक्य होने से उसका अभाव है, सो कह नहीं सकते; क्योंकि द्रव्य के नित्य स्वरूप के ग्रहण करने का उपायभूत प्रत्यभिज्ञान प्रमाण बहुलता से पाया जाता है। अर्थात् यह वही घट है, जिसे मैंने वर्ष भर पहले देखा था, अथवा यह वही युवा पुरुष है, जिसे मैंने बचपन में देखा था, इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से द्रव्य की नित्यता ग्रहण करने में आती है। और प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता पहले ही तीसरे अध्याय में उसके निरूपण के स्थल पर कही जा चुकी है। और, यदि वस्तु द्रव्यरूप से समन्वित न हो, तो उत्तर कार्य की उत्पत्ति कभी हो नहीं सकती है, इस अन्यथानुपपत्ति से भी द्रव्य की नित्यता सिद्ध है।

और जो पदार्थों के क्षणिकपना सिद्ध करने के लिए सत्त्व नाम का अन्य हेतु कहा है, वह भी विपक्ष जो नित्य उसके समान स्वपक्ष क्षणिक में भी समान होने से साध्य की सिद्धि में कारण नहीं है। आगे यही बात स्पष्ट करते हैं–सत्त्व अर्थ क्रिया से व्याप्त है और अर्थक्रिया क्रम तथा यौगपद्य से व्याप्त है। वे क्रम और यौगपद्य दोनों ही क्षणिक से निवृत्त होते हुए स्वव्याप्य अर्थक्रिया को लेकर निवृत्त होते हैं और वह अर्थक्रिया निवृत्त होती हुई स्वव्याप्य सत्त्व को लेकर निवृत्त होती है। इस प्रकार नित्य के समान क्षणिक पदार्थ का भी खर–विषाणवत् असत्त्व सिद्ध है, अतएव क्षणिक पक्ष में भी सत्त्व की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती है। और क्षणिक वस्तु का क्रम तथा यौगपद्य से अर्थक्रिया का विरोध असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि क्षणिक वस्तु के देशकृत अथवा कालकृत क्रम का होना असम्भव है। अवस्थित एक पदार्थ के नाना देश में व्याप्त होकर रहने को

---

१. प्रत्यभिज्ञान। २.तेन ग्रहणं तत्प्रामाण्यं कथमित्युक्ते आह। ३. तृतीयाध्याये दर्शनस्मरणकारणकमित्यादिस्थले। ४. यदि वस्तु द्रव्यरूपेणान्वियतं न स्यात्तदोत्तरकार्योत्पत्तिरपि न स्यादित्यन्यथानुपपद्यमानोत्तर–कार्योत्पत्तेः द्रव्यरूपस्य सिद्धिः। ५. सर्वेभावाः क्षणिकाः सत्त्वादित्यत्र। ६. साधनम्। ७.नित्यवत्। ८. क्षणिकपक्षेऽपि नास्ति। यथा विपक्षे सत्त्वं नास्ति, तथा स्वपक्षेऽपीत्यर्थः। ९. नित्ये क्रम यौगपद्याभ्यामर्थक्रिया न सम्भवति, क्रमयौगपद्याभ्यामर्थ–क्रियाकारित्वाभावाच्च तत्सत्त्वाभावः, तत्सत्त्वाभावे च तदभावस्तथाऽनित्येऽपीति समानम्। १०. एतदेव विवृणोति। ११. क्रमयौगपद्ये च। १२. अर्थक्रिया। १३. आदाय निवर्तते। १४. क्षणिकवस्तुनि। १५. क्रमस्येति सम्बन्धः। १६. अक्षणिकस्य। १७. अंशाः। १८. अवस्थितस्यैकस्य नानादेशव्यापित्वं देशाक्रमः। १९. अवस्थितस्यैकस्य कालकलाव्यापित्वं कालक्रमः। २०. देशक्रमः कालक्रमो वा।

यो [1]यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावा[2]नामिह[3] विद्यते॥३८॥

इति[4] स्वयमेवाभिधानात्।

न च पूर्वोत्तरक्षणानामेकसन्तानापेक्षया क्रमः सम्भवति; सन्तानस्य [5]वास्तवत्वे तस्यापि[6] क्षणिकत्वेन [7]क्रमायोगात्। [8]अक्षणिकत्वेऽपि वास्तवत्वे तेनैव[9] सत्त्वादिसाधनमनैकान्तिकम्[10]। [11]अवास्तवत्वे न तदपेक्षः[12] क्रमो युक्त[13] इति। नापि यौगपद्येन [14]तत्रार्थक्रिया सम्भवति; युगपदेकेन[15] स्वभावेन [16]नानाकार्यकरणे

देशक्रम और नाना काल कलाओं में व्याप्त होकर रहने को कालक्रम कहते हैं। सो ऐसा देशक्रम अथवा कालक्रम क्षणिक पदार्थ में सम्भव नहीं है। क्योंकि–

जो पदार्थ जिस देश में उत्पन्न हुआ है, वह वहीं विनष्ट होता है और जो पदार्थ जिस काल में उत्पन्न हुआ है, वह भी उसी समय विनाश को प्राप्त होता है। इसलिए पदार्थों की इस क्षणिक पक्ष में देशक्रम और कालक्रम की अपेक्षा देश और काल की व्याप्ति नहीं है ॥३८॥

ऐसा स्वयं ही बौद्धों ने कहा है।

यदि कहें कि पूर्व और उत्तर कालवर्ती क्षणों का एक सन्तान की अपेक्षा क्रम सम्भव है, सो भी नहीं कह सकते; क्योंकि वह सन्तान वास्तविक है, अथवा अवास्तविक है, ऐसे दो विकल्प उत्पन्न होते हैं। सन्तान को वास्तविक मानने पर उसके भी क्षणिक होने से क्रम नहीं बनता है। और उसे अक्षणिक (नित्य) मान करके भी वास्तविक मानने पर उस सन्तान के द्वारा ही सत्त्वादि हेतु अनैकान्तिक हो जाते हैं। यदि उस सन्तान को अवास्तविक मानते हैं तो उस सन्तान की अपेक्षा क्रम युक्ति-युक्त नहीं सिद्ध होता है, अन्यथा खरविषाणादि के भी क्रम मानना पड़ेगा। और, यौगपद्य से भी क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया सम्भव नहीं है; क्योंकि इस विषय में दो विकल्प उत्पन्न होते हैं–युगपत् एक स्वभाव से क्रिया करता है कि नानास्वभाव से क्रिया करता है ? युगपत् एक स्वभाव से नाना कार्य करने पर उन कार्यों के एकपना सिद्ध होता है। नाना स्वभाव से क्रिया

---

१. यो भावो यस्मिन् क्षेत्रे उत्पद्यते स तत्रैव विनश्यति, यो यस्मिन् काले समुत्पद्यते स तस्मिन्नेव काले विनाशं याति। तस्माद्भावानामिहदेश-कालक्रमापेक्षया देशकालयोर्व्याप्तिर्नास्ति। २. पदार्थानाम्। ३. जगति। ४. सौगतैः। ५. वस्तुत्वे। कार्यकारणभावप्रबन्धेन प्रवर्तमानाः पूर्वोत्तरक्षणाः प्रतिक्षणविशरारवः प्रतिक्षणं विनश्यमानाः अपरामृष्टभेदाभेदसहिता-तथाप्यभेदे दृश्यमानाः सन्तानशब्दवाच्याः। सन्तानस्य वास्तवत्वमवास्तवत्वं चेतिविकल्प-द्वयम्। वास्तवत्वं सन्तानस्यापि क्षणिकत्वमक्षणिकत्वं वेति विकल्पद्वयम्। तत्र प्रथमपक्षे क्रियमाणे दूषयति। ६. सन्तानस्यापि। ७. यो यत्रैव स तत्रैवेत्यादि वचनात्। ८. सन्तानस्य नित्यत्वेऽपि। ९. सन्तानेनैव। १०. व्यभिचारी, अक्षणिकेऽपि विद्यमानत्वात्। सत्त्वादित्यस्य हेतोः पक्षे सत्त्वेऽपि साध्यविरुद्धविपक्षनित्यसन्ताने वर्तमानात्तेन सन्तानेन व्यभिचारः। ११. सन्तानस्य। १२. सन्तानापेक्षः। १३. खरविषाणादेरपि प्रसङ्गात्। १४. क्षणिके। १५. एकेन स्वभावेन युगपत् क्रियां करोति, अनेकेन वा स्वभावेनेतिविकल्पद्वयम्। १६.क्षणिकस्य।

तत्कार्यैकत्वं[१] स्यात्'। नानास्वभावकल्पनायां ते स्वभावास्तेन[२] व्यापनीयाः। तत्रैकेन[३] स्वभावेन[४] [५]तद्व्याप्तौ [६]तेषामेकरूपता[७]। नानास्वभावेन चेदनवस्था[८]। [९]अथै[१०]कत्रै[११]कस्योपादानभाव एवान्यत्र[१२] सहकारिभाव इति न [१३]स्वभावभेद इष्यते, [१४]तर्हि नित्यस्यैकस्यापि वस्तुनः क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसाङ्कर्यं[१५] वा माभूत्। [१६]अक्रमात्[१७] [१८]क्रमिणामनुत्पत्तेर्नैवमिति[१९] चेदेकानंश[२०]कारणाद्युगपदनेक-कारणसाध्यानेक-कार्यविरोधादक्रमिणोऽपि[२१] न क्षणिकस्य कार्यकारित्वमिति।

किञ्च–[२२]भवत्पक्षे सतोऽसतो[२३] वा कार्यकारित्वम्? सतः[२४] कार्यकर्तृत्वे सकलकालकलाव्यापि[२५]

करते हैं ऐसी कल्पना करने पर वे स्वभाव उस क्षणिक वस्तु के साथ व्याप्त होकर रहने चाहिए। सो इसमें भी पुनः दो विकल्प उत्पन्न होते हैं–कि वे एक स्वभाव से क्षणिक वस्तु में व्याप्त होकर रहते हैं, अथवा नाना स्वभाव से व्याप्त होकर रहते हैं ? उनमें एक स्वभाव से क्षणिक पदार्थ के साथ नाना स्वभावों की व्याप्ति मानने पर उन नाना स्वभावों के एकरूपता की आपत्ति प्राप्त होती है। और यदि नाना स्वभाव से क्षणिक पदार्थ के साथ नाना स्वभावों की व्याप्ति मानते हैं, तो उनकी भी अन्य नाना स्वभावों से व्याप्ति मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है। यदि कहें कि एक पूर्व-रूप क्षण में एक उत्तर क्षण का उपादानभाव ही अन्य रसक्षणादि में सहकारी भाव है, इसलिए हम बौद्ध लोग क्षणिक वस्तु में स्वभाव-भेद नहीं मानते हैं; तो फिर नित्य भी एक ही वस्तु के क्रम से नाना कार्य करने पर स्वभाव-भेद या युगपत् अनेक कार्य की प्राप्तिरूप कार्यसांकर्य भी नहीं मानना चाहिए। यदि कहा जाये कि अक्रमरूप नित्य पदार्थ से क्रमवाले कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए दोष का अभाव नहीं होता, अपितु दोष बना ही रहता है, तो हम भी कहते हैं कि एक निरंश क्षणिक रूप कारण से युगपत् अनेक कारण साध्य अनेक कार्यों के होने पर विरोध है, अतः अक्रम से भी क्षणिक पदार्थ के कार्यकारीपना नहीं बनता है, यह सिद्ध हुआ।

दूसरी विशेष बात हम आप बौद्धों से पूछते हैं कि आपके क्षणिकपक्ष में सत् के कार्यकारीपना माना है, अथवा असत् के। सत् के कार्यकारीपना मानने पर काल की समस्त कलाओं में व्याप्त

---

१. क्षणिकस्य कार्यस्यैकत्वं तस्य दीपक्षणवत्साङ्कर्यम्। २. क्षणिकेन वस्तुना कर्त्रा। ३. क्षणिकैकान्तेन स्वभावेनानेकस्वभावैर्वा व्याप्नोति। ४. क्षणिकेन नानास्वभावानाम्। ५. क्षणिकेन। ६. नानास्वभावानाम्। ७. स्वभावानामेकस्वभावतया कार्याणां साङ्कर्यम्। ८. नानास्वभावेन नानास्वभावानां व्याप्तिश्चेतेऽपि नानास्वभावाः केनव्यापनीयाः? अपरनानास्वभावेन चेदनवस्था, अपरापरनानास्वभावपरिकल्पनात्। ९. बौद्धः प्राह। १०. रूपक्षणादौ। ११. रूपक्षणादेः। १२. रसक्षणादौ। १३. क्षणिकवस्तुनि। १४. एकस्य क्षणस्यैकत्रोपादानभावेऽन्यत्र सहकारिभावे सत्यपि स्वभावभेदाभावात्। १५. युगपदनेककार्याणां सम्प्राप्तिः कार्यसाङ्कर्यम्। १६. बौद्धोद्भावितं दूषणं माऽस्तु। १७. नित्यात्। १८. कार्याणाम्। १९.न दोषाभावोऽपि तु दोषा एवेति भावः। २०. क्षणिकात्। २१. युगपदपि। २२. बौद्धपक्षे-क्षणिकपक्षे। २३. क्षणिकस्य पदार्थस्य। २४. सतः कार्यस्य। २५. कार्याणाम्।

क्षणानामेकक्षणवृत्तिप्रसङ्गः[१]। द्वितीयपक्षे खरविषाणादेरपि कार्यकारित्वम्, असत्त्वाविशेषात्। सत्त्वलक्षस्य[२] व्यभिचारश्च[३]। [४]तस्मान्न विशेषैकान्तपक्षः श्रेयान्।

नापि सामान्यविशेषौ [५]परस्परानपेक्षाविति यौगमतमपि युक्तियुक्तमवभाति, [६]तयोरन्योन्य[७] भेदे[८]द्वयोरन्यतरस्यापि[९]व्यवस्थापयितुमशक्तेः। तथाहि–[१०]विशेषास्ततावद् द्रव्यगुणकर्मात्मानः,[११] [१२]सामान्यं तु [१३]परापरभेदाद् द्विविधम्। तत्र [१४]परसामान्यात्सत्तालक्षणाद्विशेषाणां[१५] भेदे[१६]ऽसत्त्वापत्तिरिति। तथा च

होकर रहने वाले अनेक क्षणरूप कार्यों के एक क्षणवर्तीपने का प्रसंग आता है। असत् रूप द्वितीय पक्ष के मानने पर खरविषाणादि के भी कार्यकारीपना प्राप्त होता है; क्योंकि असत्पना उसमें भी समान है। और जब आप बौद्धों ने सत्त्व का लक्षण अर्थक्रियाकारीपना माना है, तब असत् के कार्यकारीपना मानने पर उसमें व्यभिचार दोष आता है। इसलिए अनित्य, निरंश और परस्पर असम्बद्ध परमाणुओं के कार्यकारीपना न बनने से विशेषैकान्त पक्ष भी श्रेष्ठ नहीं है। इस प्रकार केवल विशेष को ही प्रमाण का विषय मानने वाले बौद्धों के विशेषैकान्त पक्ष का निराकरण किया।

यौग लोग परस्पर निरपेक्ष सामान्य और विशेष को ही प्रमाण का विषय मानते हैं, सो यह यौगमत भी युक्ति-संगत नहीं प्रतिभासित होता है; क्योंकि सामान्य और विशेष के परस्पर भेद मानने पर उन दोनों में से किसी एक की भी व्यवस्था नहीं की जा सकती है। आगे इसी बात को स्पष्ट करते हैं–

विशेष तो द्रव्य, गुण और कर्म स्वरूप हैं और सामान्य पर और अपर के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से सत्ता लक्षण वाले पर-सामान्य से विशेषों के सर्वथा भेद मानने पर उनके असत्त्व की आपत्ति आती है। इसका अनुमान प्रयोग इस प्रकार है–द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों पदार्थ

---

१. एककार्यवृत्तिप्रसङ्गः। २. यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्। ३. सत्त्वस्य यदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणं तस्यासत्त्वेऽपि सम्भवात् सत्त्वलक्षणं व्यभिचारीति भावः। असत्त्वेऽपि अर्थक्रियाया घटनात्। ४. अनित्यनिरंशपरस्परासम्बद्धपरमाणूनां कार्यकारित्वाभावात्। ५. परस्परनिरपेक्षौ। ६. निरपेक्षयोः सामान्यविशेषयोः। ७. परस्परम्। ८. मध्ये। ९. केवलं सामान्यस्य विशेषस्य वा। १०. सामान्याधारभूता व्यक्तयोऽत्र विशेषशब्देन गृह्यन्ते, न तु नित्यद्रव्य-वृत्तयोऽन्त्यविशेषाः। ११. द्रव्यं गुणः कर्म चात्मा स्वरूप येषां ते द्रव्यगुणकर्मात्मानः। द्रव्यत्वस्वभावसामान्यसम्बन्धाद् द्रव्यम्। नवविधं द्रव्यम्। चतुर्विंशतिः गुणाः। पञ्चविधं कर्म। १२. नित्यत्वे सत्येकसमवेतत्वं सामान्यम्। अनेकसमवेतत्वं संयोगादीनामप्यस्ति, अत उक्तं नित्यत्वे सतीति। नित्यत्वे सति समवेतत्वं गगनपरिमाणादीनामप्यस्ति, अत उक्तमनेकेति। नित्यत्वे सति अनेकवृत्तित्वमत्यन्ताभावेऽप्यस्ति, अतो वृत्तित्वसामान्यं विहाय समवेतत्वमित्युक्तम्। १३. सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च। द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥१॥ परभिन्ना च या जातिः सैवापरतयोच्यते ! द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥२॥ व्यापकत्वात्परापि स्याद् व्याप्यत्वादपरापि च। महद्देशव्यापित्वं परत्वम्। अल्पदेशव्यापित्वमपरत्वमिति। १४. द्वयोर्मध्ये। १५. द्रव्यगुणकर्मात्मनाम्। १६. सर्वथा भेदेऽङ्गीक्रियमाणे।

प्रयोगः–द्रव्यगुणकर्माण्यसद्रूपाणि, सत्त्वादत्यन्तं भिन्नत्वात्[१] प्रागभावादिवदिति। न सामान्यविशेषसमवायै-र्व्यभिचारः[२] तत्र[३] स्वरूपसत्त्वस्याभिन्नस्य [४]परैभ्युपगमात्।

ननु[५] [६]द्रव्यादीनां [७]प्रमाणोपपन्नत्वे धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितो[८] [९]हेतुर्येन हि प्रमाणेन द्रव्यादयो निश्चीयन्ते तेन[१०] [११]तत्सत्त्वमपीति[१२]। [१३]अथ 'न प्रमाणप्रतिपन्ना द्रव्यादयस्तर्हि[१४] हेतो[१५]राश्रयासिद्धिरिति' तदयुक्तम्;

असद्-रूप हैं; क्योंकि वे सत्त्व से अत्यन्त भिन्न हैं, जैसे कि प्रागभाव आदिक सत्त्व से अत्यन्त भिन्न हैं। ''सत्त्व से अत्यन्त भिन्न हैं'', इस हेतु में सामान्य, विशेष और समवाय से व्यभिचार नहीं आता हैं; क्योंकि उनमें अभिन्न-स्वरूप सत्त्व को यौगों ने माना है।

यहाँ पर यौग कहते हैं कि द्रव्यादिक पदार्थ प्रमाण से परिगृहीत हैं, अथवा अपरिगृहीत हैं? यदि द्रव्यादिक प्रमाण से परिगृहीत हैं तो ''सत्त्व से अत्यन्त भिन्न है'' यह हेतु धर्मी को ग्रहण करने वाले प्रमाण से बाधित है, अतः वह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास हो जाता है; क्योंकि जिस प्रमाण से द्रव्यादिक निश्चय किये जाते हैं, उसी प्रमाण से उन द्रव्यादिकों का सत्त्व भी निश्चय करना चाहिए। यदि दूसरा पक्ष मानें कि द्रव्यादिक प्रमाण से परिगृहीत नहीं हैं, तो उक्त हेतु आश्रयासिद्ध हो जाता है। आचार्य कहते है कि यौगों का यह कहना अयुक्त है; क्योंकि यहाँ पर हमने प्रसंगसाधन किया है। साध्य और साधन में व्याप्य-व्यापकभाव सिद्ध होने पर व्याप्य की स्वीकारता व्याप्य की स्वीकृति के साथ अविनाभाविनी कही जाये, वहाँ पर प्रसंगसाधन माना जाता है। प्रकृत में प्रागभाव आदि में सत्त्व से जो भेद है, वह असत्त्व से व्याप्त पाया जाता है।

---

१. प्रागभावः प्रध्वंसाभावः इतरेतराभावः अत्यन्ताभावः। क्षीरे दध्यादिकं नास्ति प्रागभावः स उच्यते। नास्ति तथा पयो दध्नि प्रध्वंसस्य तु लक्षणम्। तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता-कोऽन्योन्याभावः। यथा घटः पटो नेति। त्रैकालिकसंसर्गा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः। यथेह भूतले घटो नास्तीति। २. सत्त्वादत्यन्तं भिन्नत्वादिति हेतोः। सामान्यादित्रयं निःसामान्यं तथापि सद्रूपं तेन सह व्यभिचार इति शङ्का माऽस्तु, इत्यग्रे परिहारे। सामान्यादित्रयस्य सत्तासम्बन्धरहितस्यापि सत्त्वसम्भवात्। ३. सामान्यविशेषसमवायेषु। मया जैनेन सत्त्वमङ्गीकृत्य प्रयोगः कृतः, तथा सत्त्वाभ्युपगमो भवन्मते वर्तते, तथा सति व्यभिचारो नास्ति। ४. यौगैः। ५. यौगः प्राह। ६. द्रव्यादयः प्रमाणोपपन्नाः प्रमाणानुपपन्नाः वेति विकल्पद्वयमाश्रित्य दूषयति। द्रव्यादीनि प्रमाणेन परिगृहीतानि अपरिगृहीतानि वेति विकल्पद्वयम्। प्रमाणेन परिगृहीतानि चेत्सत्त्वादत्यन्तं भिन्नत्वादित्ययं हेतुः प्रमाणबाधितः। ७. प्रमाणेन परिगृहीते सति। ८. प्रत्यक्षादिप्रमाणावधृतसाध्याभावो हेतुः कालात्ययापदिष्टः, यतः प्रमाणेन परिगृहीतानि ततः सत्त्वादत्यन्तं भिन्नानि। ९.सत्त्वादत्यन्तं भिन्नत्वादिति हेतुः कालात्ययापदिष्टः। अयं भावः–यतो येन प्रमाणेन द्रव्यादयो गृह्यन्ते तेनैव प्रमाणेन द्रव्यादिसत्त्वमपि गृह्यतामिति प्रमाणबाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तत्वाद्धेतोः कालात्ययापदिष्टत्वमिति। १०. प्रमाणेन। ११. द्रव्यादि। १२. निश्चीयतामिति शेषः। १३. यदि। १४. द्रव्यादीनां प्रमाणाप्रतिपन्नत्वात्। १५. पक्षत्वाभावाद् द्रव्याणामभावाद् हेतोरप्रवृत्तिः।

[१]प्रसङ्गसाधनात्। [२]प्रागभावादौ हि [३]सत्त्वाद् भेदोऽसत्त्वेन[४] व्याप्त उपलभ्यते, ततश्च व्याप्यस्य[५] द्रव्यादावभ्युपगमो [६]व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयक इति प्रसङ्गसाधनेऽस्य[७] दोषस्याभावात्।

एतेन[८] द्रव्यादीनामप्यद्रव्यादित्वं[९] [१०]द्रव्यत्वादेर्भेदे चिन्तितं[११] बोद्धव्यम्। कथं वा षण्णां पदार्थानां परस्परं[१२] भेदे [१३]प्रतिनियतस्वरूपव्यवस्था[१४]? द्रव्यस्य हि द्रव्यमिति व्यपदेशस्य[१५] द्रव्यत्वाभिसम्बन्धाद्विधाने[१६] ततः[१७] पूर्वं द्रव्यस्वरूपं किञ्चिद्वाच्यम्[१८] येन[१९] सह द्रव्यत्वाभिसम्बन्धः स्यात्? द्रव्यमेव स्वरूपमिति चेन्न; [२०]तद्व्यपदेशस्य द्रव्यत्वाभिसम्बन्धनिबन्धनतया स्वरूपत्वायोगात्। सत्त्वं निजं [२१]रूपमिति चेन्न; [२२]तस्यापि

इसलिए सत्त्व से भेदरूप व्याप्य का द्रव्यादिक में जो अंगीकार है, वह व्यापक जो असत्त्व उसके अंगीकार के साथ अविनाभावी है, इस प्रकार प्रसंगसाधन करने पर आपके द्वारा दिया गया प्रमाण बाधित आदि दोषों का अभाव है, अर्थात् वह दोष हमें प्राप्त नहीं होता।

इसी कथन से अर्थात् पर-सामान्य से विशेषों के भिन्न मानने पर उनके असत्त्व समर्थन से द्रव्य आदिक के भी अद्रव्यत्व आदिपना द्रव्यत्व आदि से भेद मानने पर विचार कर लिए गये जानना चाहिए। कहने का भाव यह है कि जब द्रव्यत्व-सामान्य से द्रव्य सर्वथा भिन्न है, तब उसके अद्रव्यपना स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। और जब आप यौग लोग द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन छहों पदार्थों के परस्पर भेद मानते हैं, तब यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है, इस प्रकार की प्रतिनियत स्वरूप वाली व्यवस्था कैसे हो सकेगी। अर्थात् द्रव्यत्व का सम्बन्ध द्रव्यों में ही हो और गुणादिक में न हो, ऐसा नियम नहीं बन सकेगा। यदि कहें कि द्रव्य के 'द्रव्य' ऐसा निर्देश द्रव्यत्व के सम्बन्ध से करेंगे तो हम पूछते हैं कि द्रव्यत्व के सम्बन्ध से पहले द्रव्य का क्या स्वरूप था, वह कुछ कहना चाहिए, जिसके कि साथ द्रव्यत्व का सम्बन्ध हो सके। यदि कहें कि द्रव्य का द्रव्य ही स्वरूप है, ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि उसका 'द्रव्य' ऐसा नाम तो द्रव्यत्व-सामान्य के सम्बन्ध के निमित्त से होता है, अतः वह द्रव्य का स्वरूप नहीं हो सकता है।

---

१. परेष्ट्याऽनिष्टापादनं प्रसङ्गसाधनम्। साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्यभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमानान्तरीयको यत्र कथ्यते तत्प्रसङ्गसाधनम्। २. दृष्टान्ते। ३. परसत्तातः। ४. यथा वृक्षत्वशिंशपात्वयोः अन्वयेन व्याप्तिरत्रोदाहरणार्थं प्रदर्शिता। ५. सत्त्वाद्भेदस्य। ६. असत्त्वं व्यापकः, सत्त्वाद्भेदो व्याप्यः, स च सत्त्वाद्भेदः प्रागभावादावसत्त्वेन व्याप्त उपलब्धः सन् द्रव्यादावसत्त्वं साधयत्येव; व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमानान्तरीयकमिति नियमात्। ७. पूर्वोक्तस्य। ८. परसामान्याद्विशेषाणां भेदेऽसत्त्वापत्तिसमर्थनेन। ९. द्रव्यसामान्याद् द्रव्यं भिन्नं तर्हि तस्याद्रव्यत्वापत्तिः। १०. द्रव्यत्वाद् गुणात्वात कर्मत्वात्। ११. अद्रव्यत्वं चिन्तितम्। १२. द्रव्यत्वादिम्यः। १३. इदं द्रव्यम्, अयं गुणः, इदं कर्मेति नियतिः कथम्? १४. द्रव्येभ्यो द्रव्यत्वं भिन्नं गुणाश्च भिन्नाः, तथा सति द्रव्यत्वस्य द्रव्य एव सम्बन्धः, न गुणादिष्विति प्रतिनियमाभावात् प्रतिनियतपदार्थव्यवस्था कथं स्यादिति भावः। इदं द्रव्यं अयं गुणः इदं कर्मेतिव्यपदेशः कथमपि न घटत इत्यर्थः। १५. निर्देशस्य, अभिधानस्य। १६. करणे, द्रव्यमित्यभिधानाङ्गीकारे सति। १७. द्रव्यत्वाभिसम्बन्धात्। १८. सम्बन्धादेव सत्त्वं वाच्यम्। १९. द्रव्यस्वरूपेण। २०. द्रव्यव्यपदेशस्य। २१. द्रव्यस्य सत्त्वमेव द्रव्यस्वरूपम्। २२. सत्त्वस्यापि।

सत्तासम्बन्धादेव[1] [2]तद्व्यपदेशकरणात्। [3]एवं गुणादिष्वपि वाच्यम्। केवलं सामान्यविशेषसमवायानामेव स्वरूपसत्त्वेन[4] [5]तथाव्यपदेशोपपत्तेस्तत्र[6]यव्यवस्थैव स्यात्।

ननु[7] जीवादिपदार्थानां[8] सामान्यविशेषात्मकत्वं स्याद्वादिभिरभिधीयते, [9]तयोश्च वस्तुनो[10] र्भेदाभेदाविति[11] तौ[12] च [13]विरोधादिदोषोपनितान्नैकत्र[14] सम्भविनाविति। [15]तथाहि–भेदाभेदयोर्विधि-निषेधयो[16]रेकत्राभिन्ने वस्तुन्यसम्भवः[17] शीतोष्णस्पर्शयोर्वेति[18] १। भेदस्यान्यदधिकरणमभेदस्य चान्यदिति

यदि कहें कि द्रव्य का सत्त्व ही उसका निजी स्वरूप है, सो भी नहीं कह सकते; क्योंकि द्रव्यगत सत्त्व के भी सत्ता के सम्बन्ध से ही 'सत्त्व' ऐसे नाम का व्यवहार किया जाता है अतः वह द्रव्य का निज स्वरूप नहीं हो सकता। इसी प्रकार गुणादिक में भी कहना चाहिए।

भावार्थ—गुणत्व के सम्बन्ध से पूर्वगुण का क्या स्वरूप था, कर्मत्व के सम्बन्ध से पूर्व कर्म का क्या स्वरूप था, आदि जितने प्रश्न ऊपर द्रव्य के विषय में उठाये गये हैं, वे सब गुणादि के विषय में भी लागू होते हैं। और जिस प्रकार द्रव्यत्व के योग से द्रव्य की सिद्धि नहीं होती, उसी प्रकार से गुणत्वादि के योग से गुणादि पदार्थों की भी सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार यौगाभिमत द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों पदार्थ सिद्ध नहीं होते, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

केवल सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थों के ही स्वरूप सत्त्व से अर्थात् स्वतः सत्-रूप होने से सत् नाम का व्यवहार बन जाता है, अतः सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थों की ही व्यवस्था सिद्ध होती है; छह पदार्थों की नहीं।

शंका—यहाँ पर यौगों का कहना है कि स्याद्वादी जैन लोग जीवादि पदार्थों को सामान्य-विशेषात्मक कहते हैं और उस सामान्य और विशेष का वस्तु से भेद भी कहते हैं और अभेद भी कहते हैं; इस कारण वे दोनों विरोध आदि दोषों के आने से एक वस्तु में सम्भव नहीं है। आगे उन्हीं विरोधादि दोषों का स्पष्टीकरण करते हैं–भेद और अभेद ये दोनों विधि और निषेध स्वरूप हैं, इसलिए उनका एक अभिन्न वस्तु में रहना असम्भव है; जैसे कि शीत और उष्ण स्पर्श का एक साथ वस्तु में रहना असम्भव है। इस प्रकार जीवादि पदार्थों को सामान्य-विशेषात्मक मानने पर विरोध दोष आता है १। भेद का आधार अन्य है और अभेद का आधार अन्य है, इसलिए

---

१. द्रव्ये सत्सम्बन्धादेव सत्त्वम्। २. सत्त्वव्यपदेश। ३. द्रव्यवत्। ४. एकैकस्व रूपत्वेन वा पाठः। ५. सत्त्वव्यपदेशोपपत्तेः। ६. सामान्यविशेषसमवायानाम्। ७. यौगो जल्पति। ८. जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालादीनाम्। ९. सामान्यविशेषयोः। १०. पर्यायभेदाद्भेदः, द्रव्यभेदादभेदः। ११. यदि अङ्गीक्रियेते। १२. भेदाभेदौ। १३. विरो-धवैयधिकरणानवस्था-सङ्करव्यतिकरसंशयाप्रतिपत्त्यभावा इत्यष्टौ दूषणानि। १४. एकस्मिन् वस्तुनि। १५. तदेवाष्टदोषोपनिपातित्वं दर्शयति। १६. विधिरस्तित्वं नास्तित्वं प्रतिषेधः भेदाभेदयोः। १७. यथा शीतोष्णयोरेकत्राभिन्नवस्तुन्यसम्भवः, तथा भिन्नाभिन्नयोः। तस्माद्भिन्नाभिन्नयोरेकत्र विरोधः। एकावच्छेदेनैकाधिकरण-कत्वाभावो विरोधः। १८. इवार्थे वा शब्दः।

वैयधिकरण्यम्[१] २। यमात्मानं[२] पुरोधाय[३] भेदो यं च समाश्रित्याभेदः, तावात्मानौ भिन्नौ चाभिन्नौ च। [४]तत्रापि [५]तथापरिकल्पनादनवस्था[६] ३। येन रूपेण[७] भेदस्तेन भेदश्चाभेदश्चेति सङ्करः[८] ४। येन भेदस्तेनाभेदो येनाभेदस्तेन भेद इति व्यतिकरः[९] ५। भेदाभेदात्मकत्वे च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण[१०] निश्चेतुमशक्तेः[११] संशयः[१२] ६। [१३]ततश्चाप्रतिपत्तिः[१४] ७। [१५]ततोऽभावः ८। इत्यनेकान्तात्मकमपि न सौस्थ्यमाभजतीति केचित्[१६]।

तेऽपि न प्रातीतिकवादिनः;[१७] विरोधस्य [१८]प्रतीयमानयोरसम्भवात्। अनुपलम्भसाध्यो हि विरोधः [१९]तत्रोपलभ्यमानयोः[२०] को विरोधः। यच्च शीतोष्णस्पर्शयोर्वेति[२१] दृष्टान्ततयोक्तम्, [२२]तच्च [२३]धूपदहनाद्येका-

---

वैयधिकरण्य दोष भी आता है २। जिस स्वरूप को मुख्य करके भेद कहा जाता है और जिस स्वरूप का आश्रय लेकर अभेद कहा जाता है, वे दोनों स्वरूप भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। पुनः उनमें भी भेद और अभेद की कल्पना से अनवस्था दोष प्राप्त होता है ३। जिस रूप से भेद है, उस रूप से भेद भी है, अतः संकर दोष प्राप्त होता है ४। जिस अपेक्षा से भेद है, उसी अपेक्षा से अभेद है और जिस अपेक्षा से अभेद है उसी अपेक्षा से भेद है, इस प्रकार व्यतिकर दोष आता है ५। वस्तु को भेदाभेदात्मक मानने पर उसका असाधारण आकार से निश्चय नहीं किया जा सकता, अतः संशय दोष आता है ६। और संशय होने से उसका ठीक ज्ञान नहीं हो पाता, अतः अप्रतिपत्ति नामक दोष आता है ७। और ठीक प्रतिपत्ति के न होने से अभाव नाम का दोष भी आता है ८। इस प्रकार वस्तु को अनेकान्तात्मक मानना भी स्वस्थता को प्राप्त नहीं होता है, ऐसा यौगादि कितने ही अन्य मतावलम्बियों का जैनों के अनेकान्तवाद पर आक्षेप है।

समाधान—आचार्य उपर्युक्त दोषों का परिहार करते हुए कहते हैं कि ऐसे विरोधादि दोषों का उद्‌भावन करने वाले भी यथार्थवादी नहीं हैं; क्योंकि यथार्थ स्वरूप से प्रतीत होने वाले सामान्य-विशेष या भेद-अभेद में विरोध का होना असम्भव है। विरोध तो अनुपलम्भ-साध्य होता है अर्थात् जो वस्तु जैसी दिखाई न दे, उसे वैसी मानने पर होता है। जब एक वस्तु में भेद और अभेद पाये जाते हैं, तब उनमें विरोध कैसा ? और जो आपने विरोध सिद्ध करने के लिए

---

१. भिन्नं विषयम्। २. स्वरूपम्। ३. पुरस्कृत्य। ४. द्वयोरात्मनोरपि। ५. भिन्नाभिन्नपरिकल्पनात्, तौ भिन्नौ अभिन्नौ वा, कौ वाऽऽश्रित्य जातौ भेदाभेदौ, तावपि भिन्नाभिन्नावित्यादि। ६. भेदाभेदोत्पादकयोः स्वरूपयोः प्रत्येकं भेदाभेदात्मकत्वे तत्रापि प्रत्येकं स्वरूपद्वयं तत्रापि तथा चेदनवस्था। अप्रमाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पनया विश्रान्त्यभावोऽनवस्था। ७. स्वरूपेण। ८. सर्वेषां युगपत् प्राप्तिः सङ्करः। परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः सङ्करः। ९. परस्परविषयगमनं व्यतिकरः। १०. असाधारण-स्वरूपेण। सजातीयविजातीयव्यावृत्ताकारेण। ११. इदं भेदरूपं वा, अभेदरूपं वेति निश्चयाभावात्। १२. शुक्तिकेयं रजतं चलितं प्रतिपत्तिः संशयः। १३. संशयाच्च। १४. वस्तुनः। १५. प्रतित्यभावाच्च। १६. यौगादयः। १७. प्रतीत्यनुसारिणो यथार्थवादिनः। १८. सामान्य-विशेषयोः भेदाभेदयोः। १९. एकस्मिन् वस्तुनि। २०. भेदाभेदयोः। २१. इवार्थे वाशब्दः। २२. शीतोष्णस्पर्शयोर्दृष्टान्ततया कथनम्। २३. धूपदहनादौ प्रतिपन्ने आदिशब्देन सन्ध्यायां तेजस्तिमिरयोः सहावस्था।

वयविनः शीतोष्णस्पर्शस्वभावस्योपलब्धेरयुक्तमेव; [१]एकस्य चलाचलरक्तारक्तावृतानावृतादिविरूद्धधर्माणां युगपदुप-लब्धेश्च [२]प्रकृतयोरपि न विरोध[३] इति। एतेन[४] वैयधिकरण्यमप्यपास्तम्; [५]तयोरेकाधिकरणत्वेन[६] प्रतीतेः। [७]अत्रापि प्रागुक्तनिदर्शनान्येव[८] बोद्धव्यानि। यच्चानवस्थानं दूषणं तदपि स्याद्वादिमता-नभिज्ञैरेवापादितम्[९]। तत्मतं[१०] हि सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यविशेषावेव भेदः; [११]भेदध्वनिना[१२] तयोरेवाभिधानात् [१३]द्रव्यरूपेणाभेद इति द्रव्यमेवाभेदः; [१४]एकानेकात्मकत्वाद्वस्तुनः। यदि[१५] वा भेदनयप्राधान्येन[१६] वस्तुधर्माणा-मानन्त्यान्नानवस्था। [१७]तथा हि–यत्सामान्यं यश्च विशेषस्तयो[१८]रनुवृत्त[१९]व्यावृत्ताकारेण[२०] भेदः;

शीत और उष्ण स्पर्श को दृष्टान्तरूप से कहा है सो वह कथन धूप दहन वाले घट आदि एक अवयवी के शीत और उष्णस्पर्श रूप दोनों स्वभाव की उपलब्धि होने से अयुक्त ही है; क्योंकि एक ही वस्तु के चल-अचल, रक्त-अरक्त, आवृत्त-अनावृत्त आदि विरोधी धर्मों की युगपत् उपलब्धि होती है, अतः प्रकृत में विवक्षित सामान्य-विशेष या भेद-अभेद का भी एक पदार्थ में पाया जाना विरोध को प्राप्त नहीं होता है। एक वस्तु में इसी भेद और अभेद के विरोध परिहार से वैयधिकरण्य दोष भी निराकरण किया गया समझना चाहिए: क्योंकि उन भेद और अभेद की एकाधिकरण रूप से प्रतीति होती है। यहाँ पर भी पहले कहा गया चल-अचल आदि दृष्टान्त समझना चाहिए। और जो अनवस्था नामक दूषण कहा है, वह भी स्याद्वादियों के मत को नहीं जानने वाले लोगों के द्वारा प्रतिपादित जानना चाहिए। स्याद्वादियों का यह मत है कि सामान्य-विशेषात्मक, अभिन्न वस्तु में सामान्य और विशेष ही भेद है; क्योंकि भेदरूप ध्वनि (शब्द) के द्वारा उन दोनों सामान्य-विशेषों का कथन किया जाता है। किन्तु द्रव्यरूप से अभेद है; वस्तुतः द्रव्य ऐसा कथन ही अभेदरूप है। इस प्रकार वस्तु एकानेकात्मक है। अर्थात् द्रव्यदृष्टि से वस्तु अखण्ड अभेद या एकरूप है और पर्यायदृष्टि से वह भेद या अनेकरूप है। अभेद को सामान्य और भेद को विशेष कहते हैं। अथवा भेदरूप नय की प्रधानता से वस्तु के धर्म अनन्त हैं, इसलिए अनवस्था दोष प्राप्त नहीं होता। आगे इसे ही स्पष्ट करते हैं–जो सामान्य है और जो विशेष है, उन दोनों का अनुवृत्त और व्यावृत्त आकार से भेद है और अनुवृत्त-व्यावृत्ताकार का भेद अर्थक्रिया के भेद से है। अर्थक्रिया का भेद उन दोनों की शक्तियों के भेद से है और वह शक्तिभेद भी सहकारी

---

१. वस्तुनः। २. प्रारब्धयोः सामान्यविशेषयोः भेदाभेदयोरपि। ३. एकत्रोपलब्धौ। ४. एकत्र वस्तुनि भेदाभेदयोः विरोधपरिहारेण। ५. भेदाभेदयोः। ६. धूपघटाधिकरणत्वेन शीतोष्णस्पर्शयोरधिकरण-मप्यस्ति। ७. वैयधिकरण्य-निराकरणप्रकरणेऽपि। ८. एकस्य चलाचलादिनिदर्शनानि योज्यानि। ९. स्वरूपेणाविद्यमानस्य दूषणस्य एकान्त-युक्तिबलादेव प्रतिपादितम्। १०. स्याद्वादिनां मतम्। ११. भेदशब्देन, न त्वर्थेन। भेद इत्युक्ते विशेषोऽभेद इत्युक्ते सामान्यम्। १२. सामान्य-विशेषयोरेव। १३. द्रव्यार्थिकनयप्राधान्येन। १४. द्रव्यदृष्ट्यावस्त्वेकरूपम्, पर्यायदृष्ट्या-ऽनेकरूपमिति भावः। द्रव्यरूपेण सामान्यं विशेषः पर्यायरूपेण च। १५. अथवा। १६. विवक्षया। १७. वस्तुधर्मानन्त्यप्रकारमेव प्रदर्शयति। १८. सामान्य-विशेषयोः। १९. गौर्गौरित्यनुवृत्ताकारः। २०. श्यामः शबलो न भवतीति व्यावृत्ताकारः।

[१]तयोश्चार्थ-क्रियाभेदात्, तद्भेदश्च शक्तिभेदात्[२] [३]सोऽपि सहकारिभेदादित्यनन्तधर्माणा-मङ्गीकरणात् कुतोऽनवस्था? तथा चोक्तम्-

मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्थां हि दूषणम्।
वस्त्वानन्त्येऽप्यशक्तौ[४] च नानवस्था[५] विचार्यते॥३९॥ इति

यौ च सङ्कर-व्यतिकरौ [६]तावपि मेचक[७]ज्ञाननिदर्शनेन[८] सामान्यविशेषदृष्टान्तेन [९]च परिहृतौ। [१०]अथ

कारणों के भेद से है। इस प्रकार वस्तु में अनन्त धर्मों के स्वीकार करने से अनवस्था दोष कैसे प्राप्त हो सकता है? जैसा कि कहा है-

मूल का विनाश करने वाली अनवस्था को विद्वज्जन दूषण कहते हैं। किन्तु वस्तु के अनन्तपना होने पर अथवा विचार करने की असमर्थता होने पर अनवस्था दोष का विचार नहीं किया जाता है अर्थात् अनवस्था होने पर भी उसे दोष नहीं माना जाता ॥३९॥

और जो संकर व्यतिकर दोष कहे हैं वे भी मेचकज्ञान के दृष्टान्त से तथा सामान्य-विशेष के दृष्टान्त से परिहार कर दिये गये समझना चाहिए।

भावार्थ—वस्तु में अनेक धर्मों की युगपत् प्राप्ति को संकर दोष कहते हैं। सो इस दोष का परिहार मेचकरत्न के दृष्टान्त से किया है। पाँचों वर्णवाले रत्न को मेचक कहते हैं। जैसे मेचकरत्न में नील-पीतादि अनेक वर्णों के प्रतिभास होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि जिस रूप से पीतवर्ण का प्रतिभास हो रहा है, उसी रूप से पीतवर्ण का भी प्रतिभास हो रहा है और नीलवर्ण का भी प्रतिभास हो रहा है। किन्तु भिन्न आकार से सभी का प्रतिभास हो रहा है। इसी प्रकार एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भेद और अभेद की व्यवस्था बन जाती है। अतः संकर दोष नहीं आता। परस्पर विषय की प्राप्ति को व्यतिकर दोष कहते हैं। इसके परिहार के लिए सामान्य-विशेष का दृष्टान्त दिया है। जैसे गोत्व खण्डी, मुण्डी आदि गायों की अपेक्षा सामान्य रूप है, वही भैंसा, घोड़ा आदि की अपेक्षा विशेषरूप है इसी प्रकार पर्याय की दृष्टि से वस्तु में भेद की

---

१. अनुवृत्ताकार-व्यावृत्ताकारयोः। २. अर्थक्रियायां च शक्तिभेदादभेदः। ३. शक्तिभेदोऽपि। ४. विचारयितुमिति शेषः। वस्तुविकल्पपरिसमाप्तौ। ५. अवस्थिरतेरभावोऽनवस्था। सा विद्यमानापि दूषणं नेति भावः। ६. सङ्करो मेचकज्ञाननिदर्शनेन, व्यतिकरः सामान्य-विशेषदृष्टान्तेन परिहृतः। ७. पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यम्। ८. दृष्टान्तेन। यथा मेचके नीलाद्यनेकप्रतिभासे सति न हि शक्यं वक्तुं यद्येन रूपेण पीतप्रतिभासस्तेन रूपेण पीतप्रतिभासश्च नीलप्रतिभासश्च। भिन्नाकारेण प्रतिभासञ्चास्ति। तथैकस्मिन् वस्तुनि भेदाभेदव्यवस्था सुघटा। ९.न हि येन रूपेण विशेषस्तेन रूपेण सामान्यम्, येन रूपेण सामान्यं तेन रूपेण वा विशेषः पर्यायदृष्ट्या सामान्यं तथैव भेदाभेदयोरपि योज्यमिति न व्यतिकरदोषावकाशः। सामान्यमेव विशेषो यथा गोत्वं खण्डाद्यपेक्षया सामान्यं हि महिषाद्यपेक्षया विशेष इति व्यतिकरनिरासः। द्रव्यत्वाद्यपरसामान्यं व्यावृत्तेरपि हेतुत्वाद्विशेषाख्यामभिलभते। विशेषस्य कथं गोत्वसामान्याद्विशेषः खण्डमुण्डादिषु वर्तमानत्वात् सामान्यं विशेषो भवति खण्डखण्डेयमिति। १०. यौगः।

[1]तत्र [2]तथा प्रतिभासनं परस्यापि[3] वस्तुनि[4] तथैव[5] प्रतिभासोऽस्तु; तस्य[6] पक्षपाताभावात्। निर्णीते[7] संशयोऽपि न युक्तः, तस्य[8] [9]चलितप्रतिपत्तिरूपत्वादचलितप्रतिभासे[10] दुर्घटत्वात्[11]। [12]प्रतिपन्ने वस्तुन्यप्रतिपत्तिरित्यति-साहसम्। उपलब्ध्यभिधाना[13]दनुपलम्भोऽपि न सिद्धस्ततो[14] नाभाव इति [15]दृष्टेष्टाविरुद्धमनेकान्तशासनं सिद्धम्। [16]एतेनावयवावयविनो[17]र्गुणगुणिनोः[18] [19]कर्मतद्वतोश्च कथञ्चिद् भेदाभेदौ प्रतिपादितौ बौद्धव्यौ।

[20]अथ [21]समवायवशाद्भि[22]न्नेष्वप्यभेदप्रतीतिरनुपपन्न[23]ब्रह्मतुल्याख्यज्ञानस्येति[24] चेन्न; [25]तस्यापि

और द्रव्यदृष्टि से अभेद की प्रतीति होती है। अवान्तर भेदों की अपेक्षा भेद भी अभेद कहलाने लगता है। अतः स्याद्वाद मतावलम्बियों के द्वारा मानी गई वस्तु व्यवस्था में व्यतिकर दोष भी नहीं आता।

यहाँ यौग कहते है कि मेचकरत्न में जैसे अनेक वर्णों का आकार पाया जाता है, उसी प्रकार उनका प्रतिभास (ज्ञान) होता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि हम स्याद्वादियों के यहाँ भी वस्तु में जिस प्रकार से अनेक धर्म पाये जाते हैं, उसी प्रकार से उनका प्रतिभास भी स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि, उस प्रतिभास के पक्षपात का अभाव है। और प्रतिभास के बल से निर्णीत वस्तु में संशय दोष का कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि संशय तो चलित प्रतिपत्ति (ज्ञान) रूप होता है, उसका अचलित अर्थात् स्थिर प्रतिभास में होना दुर्घट है। प्रमाण से जानी हुई वस्तु में अप्रतिपत्ति अर्थात् अजानकारी की बात कहना अतिसाहस है। इस प्रकार अप्रतिपत्ति नाम का दोष भी नहीं आता। तथा अनेक धर्मात्मक वस्तु की उपलब्धि होने से अनुपलम्भ भी सिद्ध नहीं हे, अतः अभाव नामक दोष भी नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार अनेकान्तरूप जैन शासन प्रत्यक्ष और अनुमान से अविरुद्ध और विरोधादि दोषों से रहित सिद्ध है। इसी उपर्युक्त विवेचन से अवयव-अवयवी में, गुण-गुणी में और कर्म-कर्मवान् में कथञ्चिद् भेद और कथञ्चिद् अभेद का भी प्रतिपादन किया गया समझना चाहिए।

यहाँ पर यौग कहते हैं कि जिसे ब्रह्मतुल्य ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे अल्पज्ञ पुरुष के समवाय सम्बन्ध के वश से भिन्न पदार्थों में भी अभेद की प्रतीति होती है। आचार्य कहते हैं कि

---

१. मेचके चित्रज्ञानादौ सामान्यविशेषयोर्वा। २. चित्राकारेण सामान्यविशेषरूपेण च। ३. स्याद्वादिनोऽपि। ४. अनेकान्तात्मके। ५. भेदाभेदरूपेणैव। ६. प्रतिभासस्य। ७. मेचकादौ प्रतिभासबलेन। ८. संशयस्य। ९. स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। १०. स्थिरप्रतिभासे वस्तुनि। ११. संशयस्य। १२. प्रमाणेन। १३. कथनात्। १४. अनुपलम्भाभावात्। १५. प्रत्यक्षानुमानाभ्यामविरुद्धम्। १६. विरोधादिदोषपरिहारेण, सामान्य-विशेषयोः कथञ्चिद्भेदाभेदसाधनेन। १७. कपाल-घटयोः। १८. ज्ञाना-त्मनोः। १९. क्रिया-तद्वतोः। २०. यौगो भाषते। २१. घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः। तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्त्तितः ॥१॥ अवयवावयविनोर्जाति-व्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्य-द्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवाय इति समवायवशात्। २२. वस्तुषु। २३. अनुत्पन्नं ब्रह्मतुल्याख्यं ब्रह्मसदृशं ज्ञानं यस्य तस्य किञ्चिज्ज्ञस्येति भावः। एकस्मिन्नणौ षट्पदार्थभेदज्ञानम्। २४. अनुत्पन्नातीन्द्रियज्ञानपुरुषस्य। २५. समवायस्यापि।

ततो[१] भिन्नस्य व्यवस्थापयितुमशक्तेः। तथाहि–[२]समवायवृत्तिः [३]स्वसमवायिषु वृत्तिमती[४] स्यादवृत्तिमती वा? वृत्तिमत्त्वे स्वेनैव[५] वृत्त्यन्तरेण[६] वा? तावदाद्यः[७] पक्षः, समवाये समवायानभ्युपगमात्;[८] पञ्चानां समवायित्वमिति वचनात्। वृत्त्यन्तरकल्पनायां[९] तदपि[१०] स्वसम्बन्धिषु वर्तते न वेति कल्पनायां[११] वृत्त्यन्तरपरम्पराप्राप्तेरनवस्था। वृत्त्यन्तरस्य[१२] स्वसम्बन्धिषु[१३] वृत्त्यन्तरानभ्युपगमान्नानवस्थेति चेत्तर्हि समवायेऽपि वृत्यन्तरं[१४] माभूत्। अथ[१५] समवायो न [१६]स्वाश्रयवृत्तिरङ्गीक्रियते तर्हि [१७]षण्णामाश्रितत्त्वमिति [१८]ग्रन्थो विरुध्यते। अथ समवायिषु सत्स्वेव[१९] समवायप्रतीतेस्तस्या[२०]श्रितत्वमुपलभ्यते[२१], तर्हि मूर्त्तद्रव्येषु

उनका यह कहना भी ठीक नहीं हैं; क्योंकि पदार्थों से भिन्न समवाय की व्यवस्था करना अशक्य है। आगे इसी को सिद्ध करते हैं–समवाय सम्बन्ध अपने समवायी पदार्थों में सम्बन्ध वाला है, अथवा असम्बन्ध वाला है ? यदि सम्बन्ध वाला है तो स्व से ही सम्बन्ध वाला है, अथवा अन्य सम्बन्ध से सम्बन्ध वाला है ? पहला पक्ष तो कह नहीं सकते; क्योंकि समवाय में समवाय रहता है, ऐसा आप लोगों ने माना नहीं है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थों में ही समवाय सम्बन्ध होता है, ऐसा आपके शास्त्र का वचन है। अन्य सम्बन्ध से सम्बन्ध वाला है, इस दूसरे पक्ष की कल्पना करने पर वह अन्य सम्बन्ध भी अपने सम्बन्धियों में रहता है, अथवा नहीं; इस प्रकार की और भी कल्पना करना पड़ेगी, तब अन्य-अन्य सम्बन्धों की परम्परा प्राप्त होने से अनवस्था दोष आता है। यदि कहें कि अपने सम्बन्धियों में अन्य सम्बन्ध का सम्बन्धान्तर नहीं स्वीकार किया गया है, अतः अनवस्था दोष नहीं आता है, तो हम उनसे कहते हैं कि समवाय में भी सम्बन्धान्तर नहीं रहे। यदि आप लोग कहें कि हम समवाय को स्वाश्रयवृत्ति अंगीकार नहीं करते हैं तो आकाशादि नित्य द्रव्यों को छोड़कर छह पदार्थों के आश्रितपना है, यह आपका ग्रन्थ विरोध को प्राप्त होता है। यदि कहें कि समवायियों के होने पर ही समवाय की प्रतीति होती है, अतः समवाय के आश्रितपने की कल्पना की जाती है; तो हम कहते हैं कि मूर्त द्रव्यों के होने पर

---

१. पदार्थेभ्यः। २. समवायसम्बन्धः। ३. द्रव्यादिषु पञ्चसु गुणगुण्यादिषु। ४. सम्बन्धवती। ५. समवायेनैव स्वसमवायिषु वृत्तिमती। ६. सम्बन्धान्तरेण वा स्वसमवायिषु वृत्तिमती। ७. समवायेन समवायः समवायिषु वर्तते चेद् द्रव्यादयः पञ्च भावा अनेके समवायिन इति ग्रन्थविरोधः स्यात्। न हि परैः समवाये समवायः स्वीकृतः। ८. द्वितीयपक्षमवलम्व्य दूषयति। ९. विशेषण-विशेष्यभावेन समवायः समवायिषु वर्तते च। १०. वृत्त्यन्तरमपि। ११. वृत्त्यंतरं स्वसम्बन्धिषु वर्तते न वा ? वर्तते चेत्स्वेनैव वृत्त्यन्तरेण वा ? स्वेनैव स्वसम्बन्धिषु वर्तते चेत्समवायेऽपि वृत्यन्तरं मा भूत्। वृत्त्यन्तरेण वर्तते चेत् तदपि वृत्त्यन्तरं स्वेनैव वृत्त्यन्तरेण वा स्वसमवायिषु वर्तते ? प्रथमपक्षे समवायेऽपि वृत्त्यन्तरं मा भूत। द्वितीयपक्षे परापरवृत्त्यन्तरपरिकल्पनायामनवस्था। १२. विशेषणविशेष्यभावस्य। १३. दण्ड-दण्डिषु। १४. समवायसम्बन्धान्तरम्। १५. नैयायिकः प्राहः। १६. तन्तुपटाश्रय। १७. पदार्थानाम्। १८. षण्णामाश्रितत्त्वमन्यत्र। नित्यद्रव्येभ्य इति सूत्रविरोधः। १९. द्व्यणुकादिकं परमाण्वाश्रितं गुणो गुण्याश्रितः कर्म कर्मवत आश्रितं सामान्यं सामान्यवतो विशेषो विशेषवतो द्रव्यस्य समवायः समवायवतः परमाण्वादिनित्यद्रव्याणि न भवन्त्याश्रितानि। २०. समवायस्य। २१. उपचर्यते।

सत्स्वेव [१]दिग्लिङ्ग–स्येदमतः[२] पूर्वेण इत्यादिज्ञानस्य, काललिङ्गस्य च [३]परापरादिप्रत्ययस्य सद्भावात्तयोरपि[४] [५]तदाश्रितत्वं स्यात्। तथा[६] चायुक्त[७]मेतदन्यत्र[८] नित्यद्रव्येभ्य इति[९]। किञ्च समवायस्यानाश्रितत्त्वे[१०] सम्बन्धरूपतैव न घटते। तथा च प्रयोगः[११]–समवायो न सम्बन्धः; अनाश्रितत्त्वा–द्विगादिवदिति। अत्र[१२] समवायस्य [१३]धर्मिणः [१४]कथञ्चित्तादात्म्यरूपस्यानेकस्य च परैः[१५] [१६]प्रतिपन्नत्वाद्धर्मि–ग्राहकप्रमाणबाधा[१७] [१८]आश्रयासिद्धिश्च न वाच्येति। [१९]तस्याऽऽश्रितत्त्वे[२०]ऽप्येतदभिधीयते न समवाय एकः सम्बन्धात्मकत्वे[२१] सत्याश्रितत्त्वात् संयोगवत् सत्तयाऽनेकान्त इति [२२]सम्बन्धविशेषणम्।

ही दिशारूप द्रव्य का लिंग जो यह इससे पूर्व में हैं, इत्यादि ज्ञान है; और कालद्रव्य का लिंग जो पर (ज्येष्ठ) अपर (लघु) प्रत्यय (ज्ञान) का सद्भाव है, उसके पाये जाने से दिशा और काल को भी मूर्त द्रव्यों के आश्रित मानना चाहिए। और ऐसी दशा में ''नित्य द्रव्यों को छोड़कर'' ऐसा सूत्र कहना अयुक्त ही है। दूसरी बात यह है कि समवाय के अनाश्रितपना मानने पर सम्बन्धरूपता ही घटित नहीं होती है।

उसका अनुमान–प्रयोग इस प्रकार है–समवाय सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि वह अनाश्रित है। जैसे दिशा आदि द्रव्य अनाश्रित हैं, अतः सम्बन्धरूप नहीं हैं। इस प्रयोग में समवाय धर्मी कथञ्चित् तादात्म्यरूप और अनेक है, ऐसा हम जैन स्वीकार करते हैं, अतः धर्मी को ग्रहण करने वाले प्रमाण से बाधा और आश्रयासिद्धि नहीं कहना चाहिए। उस समवाय के आश्रितपना अंगीकार करने पर भी यह दूषण कहा जा सकता है कि समवाय एक नहीं है; क्योंकि सम्बन्धात्मकपना होने पर उसके आश्रितपना है जैसे कि संयोग के सम्बन्धात्मकपना होने पर भी आश्रितपना पाया

---

१. दिशो लिङ्गं ज्ञापकं तस्य। २. एतस्मादिदं पूर्वेण पूर्वदिशोदाहरणम्। इदमस्माद्दूरं दिशोदाहरणम्। ३. वृद्धयुवादि। ४. दिक्कालयोः। ५. मूर्तद्रव्याश्रितत्वं स्यादिति। ६. एवं सति। ७. नानाश्रितत्वमस्त्विति चेत्। ८. नित्यद्रव्याणि विहायान्यत्राऽऽश्रितत्वम्। ९. योगसूत्रम्। १०. यदि समवायः स्वाश्रयवृत्तिर्न स्यात्तदा सम्बन्ध एव न स्यात्। ११. वचनात्मकमनुमानं प्रयोगः। १२. समवायः प्रमाणप्रतिपन्नोऽप्रतिपन्नो वा? प्रथमपक्षे धर्मिग्राहकप्रमाणानन्तर–हेतोः प्रयोगात् कालात्ययापदिष्टत्वमनाश्रितत्वादिति हेतोः। द्वितीयपक्षे हेतोराश्रयासिद्धिरिति यौगशङ्कां मनसि कृत्वा परिहरति जैनः। अत्र अनुमाने। १३. साध्यसाधनधर्माक्रान्तत्वाद्धर्मी समवायः। ननु समवायो धर्मी प्रमाणसिद्धो न वा? प्रमाणसिद्धश्चेत्तेनैव धर्मिग्राहकप्रमाणेनैव पक्षस्य बाधनात् कालात्ययापदिष्टो हेतुः। यदि न प्रसिद्धः, तर्हि आश्रयासिद्ध इत्याशङ्क्याऽऽह। १४. भो यौग, त्वया प्रतिपादितस्य समवायस्यानङ्गीकारात् कथञ्चित्तादात्म्य–रूपेणाङ्गीकारान्न दोषः। १५. जैनैः। १६.अभ्युपगमात्। १७.समवायोऽस्ति, समवायिषु सत्स्वेव समवायप्रतीतेः, अनेन प्रमाणेन या बाधा तया। १८. जैनमते समवायस्य धर्मिणोऽनङ्गीकारात् आश्रयासिद्धिरिति न वाच्या, भवदुक्तलक्षण–समवायस्यानङ्गीकारात्। कथञ्चित्तादात्म्य–रूपस्याङ्गीकारान्नाश्रयासिद्धिः। १९. समवायस्य। २०. प्रसङ्गसाधनकथन–लक्षणोत्तरत्वात्। दूषणभयादाश्रितत्वाङ्गीकारे तदेव दूषणमभिधीयमानं च पूर्वोक्तं समनन्तरोच्यमानम्। २१. सत्ताऽप्या–श्रिताऽनेका च तस्मात्तद्वारणाय सम्बन्धात्मकत्वे सतीति विशेषणम्। २२. द्वितीयपक्षे दूषणं दर्शयति–सत्ता नाम सामान्यं विशेषण–विशेष्यसम्बन्धः एतत्त्रितयमस्ति पृथग्रूपमेव, एवं सति सत्ता सम्बन्धरूपा न भवति, एका च, तया सहानेकान्त–दोषनिवारणार्थं विशेषणम्।

अथ संयोगे निबिड-शिथिलादिप्रत्ययनानात्वान्नानात्वं नान्यत्र[१] [२]विपर्ययादिति चेन्न, समवायेऽ[३]प्युत्पत्ति-मत्त्वनश्वरत्वप्रत्ययनानात्वस्य[४] सुलभत्वात्। सम्बन्धिभेदाद्भेदोऽन्यत्रापि[५] समान इति नैकत्रैव[६] [७]पर्यनुयोगो युक्तः[८]। तस्मात्समवायस्य [९]परपरिकल्पितस्य विचारासहत्वान्न [१०]तद्वशाद् गुणगुण्यादिष्वभेदप्रतीतिः। अथ[११] भिन्नप्रतिभासादवयवावयव्यादीनां भेद एवेति चेन्न; भेदप्रतिभासस्या[१२] भेदाविरोधात्। घटपटादीनामपि कथञ्चिद्भेदोपपत्तेः[१३], सर्वथा [१४]प्रतिभासभेदस्यासिद्धेश्च; [१५]इदमित्याद्यभेदप्रतिभासस्यापि भावात्। ततः

जाता है। सत्ता के द्वारा व्यभिचार दोष आता है, अतः उसके निवारणार्थ सम्बन्धात्मकपना होने पर ऐसा विशेषण दिया है।

यहाँ पर यौग कहते हैं कि संयोग में यह सघन संयोग है, यह शिथिल संयोग है, इत्यादि नाना प्रकार की प्रतीति होने से नानापना पाया जाता है। किन्तु समवाय में ऐसा नानापना नहीं पाया जाता; क्योंकि वह संयोग से विपरीत है, अर्थात् समवाय में संयोग के समान सघन समवाय, शिथिल समवाय आदि की प्रतीति नहीं होती। अतः वह नाना नहीं है किन्तु एक ही है। आचार्य कहते है कि आप लोगों का यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि समवाय में भी उत्पत्तिमत्त्व, विनश्वरत्त्व आदि नाना प्रकार के धर्मों की प्रतीति सुलभ है। यदि कहें कि सम्बन्धी के भेद से समवाय में नानापने का भेद प्रतीत होता है, तो संयोग के विषय में भी यह नानापना समान है, इसलिए एक ही संयोग में प्रश्न करना युक्त नहीं है। इस प्रकार यौगों के द्वारा परिकल्पित समवाय तर्क के विचार को सहन नहीं करता। अतः उस समवाय के वश से गुण-गुणी आदि में अभेद की प्रतीति नहीं मानी जा सकती है। यदि कहें कि भिन्न प्रतिभास होने से अवयव-अवयवी आदि के भेद ही सिद्ध हैं, सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि भेदरूप प्रतिभास का अभेदरूप प्रतिभास के साथ कोई विरोध नहीं है। घट-पट आदि के अपनी पर्यायों की अपेक्षा भेद होते हुए भी जड़द्रव्य की अपेक्षा कथञ्चित् अभेद बन ही जाता है और सर्वथा प्रतिभास-भेद की असिद्ध भी है, क्योंकि 'वह सत् है' इत्यादि रूप अभेद प्रतिभास का भी सद्भाव पाया जाता है। इसलिए

---

१. समवाये। २. निविडशिथिलादिप्रत्ययनानात्वाभावात्। ३. उत्पत्त्या सह नश्वरेण समवायो व्यवहारः। ४. यथा संयोगे समवाये नानात्वम्। ५. असमवायेऽपि। ६. संयोग एव। ७. प्रश्नानुपलम्भो दूषणम्। ८. यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥१॥ ९. यौग। १०. समवायः। ११. यौगः प्राह। १२. द्रव्यार्थिकं गुणं कृत्वा पर्यायार्थिकप्राधान्येनान्यो गुणोऽन्यद् द्रव्यमन्यः पर्याय इति। पर्यायार्थिकं गुणं कृत्वा द्रव्यार्थिकप्राधान्येन एकमेव सन्मात्रं तत्त्वं यतोऽनादिपरिणामिकद्रव्यस्यैव घटाद्यनेके पर्यायाः प्रतीयन्ते। न हि तद्व्यतिरिक्तं घटादिपर्यायाः गुणा वा सन्ति। १३. कथञ्चिद्भे दप्रतिभासो न सर्वथा। १४. द्रव्यत्वेन पार्थिवत्वेन च घटप्रतिभासः पटप्रतिभासः। न हि रूपादिगुणाः पुद्गलद्रव्यात्सर्वथा भिन्ना प्रतीयन्ते रूपादिगुणानां प्रतीतिस्त्वस्ति, तस्मात्कथञ्चिद्भेदोऽवसेयः, सर्वथा भेदेऽभेदे च प्रमाणविरोधात्। १५. इदं सदिति।

कथञ्चिद् भेदाभेदात्मकं द्रव्यपर्यायात्मकं सामान्यविशेषात्मकं च तत्त्वं [१]तीरादर्शिशकुनिन्यायेनाऽऽयात-मित्यलमतिप्रसङ्गेन।

इदानीमनेकान्तात्मकवस्तुसमर्थनार्थमेव हेतुद्वयमाह–

[२]अनुवृत्त[३]व्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकार[४]परिहारावाप्तिस्थिति[५]लक्षणपरिणामेनार्थ[६]क्रियोपपत्ते[७]श्च॥ २॥

अनुवृत्ताकारो हि गौर्गौरित्यादिप्रत्ययः। व्यावृत्ताकारः श्यामः शबल इत्यादिप्रत्ययः। तयोर्गोचरस्तस्य

कथञ्चित् भेदाभेदात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक तत्त्व है यह बात तीरादर्शी पुरुष के शकुनि (पक्षी) दृष्टिगोचर होने के न्याय से स्वयं ही सिद्धि को प्राप्त हो जाती है, अतएव इस प्रसंग में अधिक कहने से विराम लेते हैं।

भावार्थ–जैसे समुद्र में डूबता-उभरता कोई पुरुष तीरपाने की इच्छा को लिए हुए देख रहा था कि उसे तीर न दिखकर कोई उड़ता पक्षी दिखाई दिया। इससे उसे समुद्र के तीर सामीप्य का बोध स्वयं ही हो जाता है। इसी प्रकार यौगों के भी जिन युक्तियों से वे अपना मत सिद्ध करना चाहते थे, उन्हीं युक्तियों से नहीं चाहते हुए भी वस्तुतत्त्व की अनेकधर्मात्मकरूप या सामान्य-विशेषात्मकरूप सिद्धि स्वयं हो जाती है।

अब आचार्य अनेकान्तात्मक वस्तु के समर्थन के लिए दो हेतु कहते हैं–

सूत्रार्थ–वस्तुसामान्य-विशेषादि अनेक धर्मवाली है. क्योंकि वह अनुवृत्तप्रत्यय और व्यावृत्तप्रत्यय की विषय है। तथा पूर्व आकार का परिहार, उत्तर आकार की प्राप्ति और स्थितिलक्षण परिणाम के साथ उसमें अर्थक्रिया पाई जाती है ॥२॥

पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक, द्रव्य-पर्यायात्मक या अनेक धर्मात्मक है, इसे सिद्ध करने के लिए आचार्य ने इस सूत्र में दो हेतु दिये हैं। उनमें पहला हेतु है कि पदार्थ-अनुवृत्त और व्यावृत्त प्रत्यय का विषय है। यह गो है, यह भी गौ है, यह भी गौ है, इस प्रकार की सदृश आकार वाली प्रतीति को अनुवृत्तप्रत्यय कहते हैं। यह गाय काली है, यह चितकबरी है, इस प्रकार की विशेष

---

१. यथा तीरादर्शिनः पुरुषस्य पक्षी दृष्टिगोचरो जातस्तथा। तीरमेव तस्याश्रयो यौगस्य तथा। २. अनुवृत्ताकारप्रत्ययेन तिर्यक्सामान्यं साधितम्। ३. व्यावृत्ताकारप्रत्ययेन व्यतिरेकविशेषः साधितः। ४. पूर्वोत्तराकारौ पर्यायौ। पर्यायो विशेषः। ५.स्थितिलक्षणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यम्। ६.प्रमाणविषयः सामान्यविशेषात्मा अनुवृत्त-व्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्। यो यदाकारोल्लेखिप्रत्ययगोचरः स तदात्मको दृष्टो यथा नीलाकारोल्लेखिप्रत्ययगोचरो नीलस्वभावोऽर्थः। सामान्यविशेषाकारोल्लेख्यनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरश्चाखिलो बाह्याध्यात्मिकप्रमेयोऽर्थः। तस्मात् सामान्यविशेषात्मेति। तथा पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति-स्थितिलक्षण-परिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च प्रमाणविषयः सामान्य-विशेषात्मा सिद्ध्यतीति भावः। ७. सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय इति पूर्वसूत्रेण सह सम्बन्धः।

भावस्तत्त्वम्, तस्मात्। एतेन[१] तिर्यक्सामान्य[२]व्यतिरेकलक्षण[३]विशेषद्वयात्मकं वस्तु साधितम्। पूर्वोत्तराकारयोर्यथासंख्येन परिहारावाप्ती[४], ताभ्यां[५] स्थितिः सैव लक्षणं यस्य[६], स चासौ परिणामश्च, तेनार्थक्रियोपपत्तेश्चेत्यनेन तूर्ध्वतासामान्यपर्यायाख्यं विशेषद्वयरूपं[७] वस्तु समर्थितं भवति।

अथ प्रथमोद्दिष्टसामान्यभेदं दर्शयन्नाह–

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्॥३॥

प्रथमभेदं सोदाहरणमाह–

[८]सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्॥४॥

[९]नित्यैकरूपस्य गोत्वादेः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्–प्रत्येकं परिसमाप्त्या[१०] व्यक्तिषु[११]

आकार वाली प्रतीति को व्यावृत्त प्रत्यय कहते हैं। इन दोनों प्रकार के प्रत्ययों का गोचर कहिये विषय होना, उसके भाव को अनुवृत्त–व्यावृत्त प्रत्ययगोचरत्व कहते हैं। उससे पदार्थ अनेकान्तात्मक सिद्ध होता है। इस प्रथम हेतु के द्वारा तिर्यक् सामान्य और व्यतिरेक लक्षण विशेष इन दोनों धर्म वाली वस्तु की सिद्धि की। (यहाँ पर अनुवृत्त प्रत्यय से तिर्यक् सामान्य और व्यावृत्त प्रत्यय से व्यतिरेक विशेष का अभिप्राय है। इनका स्वरूप आचार्य स्वयं आगे कह रहे हैं।) पूर्वाकार और उत्तराकार इन दोनों पदों का यथाक्रम से परिहार और अवाप्ति इन दोनों पदों के साथ सम्बन्ध करना चाहिए। अर्थात् पूर्व आकार के परिहार को व्यय कहते हैं और उत्तर आकार की प्राप्ति को उत्पाद कहते हैं। इन दोनों उत्पाद और व्यय के साथ वस्तु की जो स्थिति है उसे ध्रौव्य कहते हैं। वही है लक्षण जिसका ऐसा जो परिणाम है, उससे अर्थक्रिया बन जाती है। इस दूसरे हेतु के द्वारा ऊर्ध्वता सामान्य और पर्याय नामक विशेष इन दोनों धर्म वाली वस्तु है, यह समर्थन किया गया। (इस ऊर्ध्वता सामान्य और पर्याय विशेष का स्वरूप आगे कहा जा रहा है।)

अब प्रथम कहे गये सामान्य के भेद दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य के भेद से सामान्य दो प्रकार का है ॥३॥

इनमें से प्रथम भेद जो तिर्यक् सामान्य है उसे आचार्य उदाहरण सहित कहते हैं–

सूत्रार्थ–सदृश अर्थात् सामान्य परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जैसे खण्डी मुण्डी आदि गायों में गोपना सामानरूप से रहता है ॥४॥

नित्य और एकरूप गोत्व आदि सामान्य के क्रम और यौगपद्य से अर्थक्रिया का विरोध है, तथा एक सामान्य के एक व्यक्ति में साकल्यरूप से रहने पर अन्य व्यक्तियों में रहना सम्भव नहीं

---

१. व्याख्यानेन। २. तिर्यक् सामान्यं च व्यतिरेकलक्षणविशेषश्च–तयोर्द्वयोः। ३. खण्डमुण्डादिः विशेषः। ४. उत्पादव्ययध्रौव्यत्वं सूचितं वर्तते। ५. सह। ६. परिणामस्य। ७. सुखःदुःखादि। ८. सास्नादिमत्त्वेन। ९. सामान्यं नित्यमेकमनेकसमवायीति तन्मतम्। १०. साकल्येन। ११. प्रत्येकं गोव्यक्तिषु खण्ड–मुण्डादिषु।

[1]वृत्त्ययोगाच्चानेकं [2]सदृशपरिणामात्मकमेवेति तिर्यक्सामान्यमुक्तम्।

द्वितीयभेदमपि सदृष्टान्तमुपदर्शयति–

[3]परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव [4]स्थासादिषु[5]॥५॥

सामान्यमिति वर्तते। तेनायमर्थः–ऊर्ध्वतासामान्यं भवति। किं तत्? द्रव्यम्। तदेव विशिष्यते परापर-विवर्त[6]व्यापीति पूर्वापरकालवर्ति [7]त्रिकालानुयायीत्यर्थः। चित्रज्ञानस्यैकस्य युगपद्भाव्यनेकस्वगतनीलाद्याकार-व्याप्तिवदेकस्य[8] [9]क्रमभाविपरिणाम[10]व्यापित्वमित्यर्थः[11]।

है, अतः अनेक और सदृशपरिणाम स्वरूप ही सामान्य है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार तिर्यक् सामान्य का स्वरूप कहा।

भावार्थ–यौगों ने सामान्य को नित्य और एक ही माना है। आचार्य ने सामान्य के नित्य मानने में यह दूषण दिया है कि नित्य पदार्थ में क्रम से या युगपत् अर्थक्रिया नहीं बन सकती है, अतः उसे सर्वथा नित्य नहीं, किन्तु कथञ्चित् नित्य मानना चाहिए। तथा सामान्य के एक मानने में यह दूषण दिया है कि वह गोत्वादिरूप सामान्य जब एक काली या धवली गाय में पूर्णरूप से रहेगा, तब अन्य गायों में उसका रहना असम्भव होने से अभाव मानना पड़ेगा। किन्तु काली धवली आदि सभी गायों में गोपने की प्रतीति समानरूप से होती है, अतः वह एक नहीं; किन्तु अनेक है और सदृशपरिणाम ही उसका स्वरूप है। इसे ही तिर्यक् सामान्य कहते हैं।

अब आचार्य सामान्य के दूसरे भेद को दृष्टान्त के साथ दिखलाते हैं–

सूत्रार्थ–पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसे स्थान, कोश, कुशूल आदि घट की पर्यायों में मिट्टी रहती है ॥५॥

यहाँ पर सामान्य पद की अनुवृत्ति होती है। उससे यह अर्थ होता है कि यह ऊर्ध्वता सामान्य है। वह क्या वस्तु है? द्रव्य है। वह द्रव्य 'परापरविवर्तव्यापि' इस विशेषण से विशिष्ट है। परापरविवर्त्तव्यापि इस पद का अर्थ है पूर्वापर कालवर्ती या त्रिकाल अनुयायी। अर्थात् जो त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों में व्याप्त होकर साथ रहता है, ऐसे द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसे एक चित्रज्ञान एक साथ होने वाले अपने अन्तर्गत अनेक नीलपीतादि आकारों में व्याप्त रहता है, उसी

---

१. नित्यैकरूपस्य सामान्यस्य गोत्वादेः। २. प्रत्येकगोव्यक्तिभिन्नं सदृशपरिणामात्मकं गोत्वाद्यनेकमिति। ३.पर्यायरूपविशेषव्यापित्वाद् व्यक्तिनिष्ठत्वमूर्ध्वतासामान्यं सिद्धम्। ४. पर्यायेषु। ५. तदेव जैनैरुपादानकारणं प्रोक्तं नैयायिकादिभिश्च समवायिकारणमुक्तमित्यर्थः। ६. पर्याय। ७. एकरूपम्। ८. द्रव्यस्य। ९. ऊर्ध्वताख्यं द्रव्यं क्रमभावा हर्षादिपरिणामाः पर्यायाः, तं तदात्मकं तिर्यग्रूपं सामान्यं विसदृशपरिणामरूपविशेषस्तदात्मकं भेदाभेदात्मकं इत्येतस्य वाक्यस्य द्रव्य-पर्यायात्मकं सामान्यविशेषात्मकमिति वाक्यद्वयं व्याख्यातम्। १०. यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा सकृद् (युगपत्)। तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात्। इति भट्टाकलङ्क-देवैरलङ्कृतत्वात्। ११. चित्रज्ञानं युगपद् व्याप्नोति, ऊर्ध्वतासामान्यं क्रमेण व्याप्नोतीति युगपद्भेदो नान्यः।

विशेषस्यापि द्वैविध्यमुपदर्शयति–

[१]विशेषश्च[२]॥६॥

द्वेधेत्यधिक्रियमाणेनाभिसम्बन्धः।

पर्यायव्यतिरेकभेदात्॥७॥

तदेव[३] प्रतिपादयति–

प्रथमविशेषभेदमाह–

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः[४] पर्याया[५] आत्मनि हर्षविषादादिवत्॥८॥

अत्रात्मद्रव्यं[६] स्वदेहप्रमितिमात्रमेव, न व्यापकम्, नापि[७] वटकणिकामात्रम्। न च कायाकारपरिणतभूत-कदम्बकमिति[८]।

प्रकार ऊर्ध्वता सामान्यरूप जो द्रव्य है, वह कालक्रम से होनेवाली पर्यायों में व्याप्त होकर रहता है।

अब आचार्य विशेष के भी दो भेद हैं, यह दिखलाते हैं–

सूत्रार्थ—विशेष भी दो प्रकार का है ॥६॥

यहाँ पर 'द्वेधा' इस पद का अधिकार से सम्बन्ध किया गया है। अब आचार्य उन दोनों भेदों का प्रतिपादन करते हैं–

सूत्रार्थ—पर्याय और व्यतिरेक के भेद से विशेष दो प्रकार का है ॥७॥

अब आचार्य विशेष के प्रथम भेद को कहते हैं–

सूत्रार्थ—एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं। जैसे आत्मा में हर्ष-विषाद आदि परिणाम क्रम से होते हैं, वे ही पर्याय हैं ॥८॥

यहाँ पर आचार्य आत्मद्रव्य के विषय में विशेष ऊहापोह करते हुए कहते हैं कि यह आत्मद्रव्य अपने शरीर के प्रमाण मात्र ही हैं; न व्यापक हैं, न वटकणिका मात्र भी है और न शरीराकार से परिणत पृथिव्यादि भूतों के समुदायरूप है।

भावार्थ—यौगादि कितने ही मतावलम्बी आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं। कितने ही मतवाले आत्मा को वट-बीज के समान अत्यन्त छोटा मानते हैं और नास्तिकमती चार्वाक

---

१. यथा द्वेधा सामान्यं तथा। विशेषश्चेत्यभिसम्बन्धः। २. चकारोऽपिशब्दार्थे। ३. द्वैविध्यमेव। ४.ज्ञानसुखवीर्यादयः। ५. ज्ञानसुखवीर्यदर्शनादय आत्मनः सहभावित्वाद् गुणाः स्युः, क्रमभावित्वाच्च ते पर्यायाश्च भवन्ति। कुतो वस्तुनोऽनेक-धर्मात्मकत्वात्। ६. अहं सुखी, अहं दुःखी, घटादिकमहं वेद्मीत्यहमहमिकया स्वदेह एव सुखादिस्वभावतया आत्मा प्रतीयते, परसम्बन्धिनि देहान्तरेऽन्तराले वा न प्रतीयते। तथापि व्यापकत्वपरि-कल्पनायां तस्य सर्वदर्शित्वं भोजनादि-व्यवहारसङ्करश्च स्यात्, तस्य सर्वैरात्मभिः सम्बन्धादिति। ७. बौद्धः। सर्वशरीरे सुखादिप्रतीतेर्विरोधान्नापि वटकणिका-मात्रमिति। ८. चार्वाकः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपभूतकदम्बक-मिति। अचेतनैः भूतकदम्बकैश्चेतनात्मन उत्पत्तिविरोधात्।

तत्र[१] व्यापकत्वे [२]परेषामनुमानम्–आत्मा व्यापकः, [३]द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वा[४]दाकाशवदिति। तत्र[५] यदि रूपादिलक्षणं [६]मूर्त्तत्वंतत्प्रतिषेधो[७]ऽमूर्त्तत्वम्, तदा [८]मनसाऽनेकान्तः। अथासर्वगत[९]द्रव्यपरिमाणं[१०] मूर्त्तत्वम्, तन्निषेधस्तथा[११] चेत्परम्प्रति[१२] साध्यसमो[१३] हेतुः। यच्चापरमनुमानम्–आत्मा व्यापकः, अणु-परिमाणानधिकरणत्वे[१४] सति नित्यद्रव्यत्वादाकाशवदिति।

आत्मद्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों के सम्मिलन से एक चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है और वह भूत-समुदाय के विघट जाने पर विनष्ट हो जाती है, अतः आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। आचार्य आगे इन ही तीनों मान्यताओं का क्रम से खण्डन कर रहे हैं।

उन तीनों मान्यताओं में से पहली मान्यता वाले आत्मा के व्यापक होने में इस प्रकार अनुमान का प्रयोग करते हैं–आत्मा व्यापक है; क्योंकि उसमें द्रव्यपना होते हुए अमूर्तपना पाया जाता है। जैसे आकाश द्रव्य होते हुए अमूर्त है अतः व्यापक है, उसी प्रकार आत्मा भी व्यापक है। आचार्य ऐसा अनुमान-प्रयोग करने वालों से पूछते हैं कि यदि आप लोग रूपादि लक्षण वाले मूर्तत्व के प्रतिषेध को अमूर्तत्व कहते हैं, तो आपके हेतु में मन से व्यभिचार आता है; क्योंकि आप लोगों ने मन को द्रव्य मान करके भी अमूर्त माना है, परन्तु उसे व्यापक नहीं माना है। यदि कहें कि असर्वगत अर्थात् अव्यापक या सीमित द्रव्यपरिमाण का नाम मूर्तत्व है और उसके निषेध को अमूर्तत्व कहते हैं, तो आपका हेतु पर जो हम जैन हैं उनके प्रति साध्यसम हो जाता है। अर्थात् फिर व्यापकपने में और अमूर्तपने में कोई भेद नहीं रहता और जैसे साध्य असिद्ध होता है, उसी प्रकार आपका हेतु भी असिद्ध हो जाता है और असिद्ध हेतु से साध्य की सिद्धि होती नहीं है।

---

१. त्रिषुमध्ये। २.यौगानाम्। ३. हर्षविषादादिभावव्यवच्छेदार्थम्। ४. अमूर्तत्वादित्युक्ते क्रियासु व्यभिचारोऽत उक्त द्रव्यत्वे सतीति। ५. द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादिति साधने। ६. रूपरसगन्धस्पर्शमयी मूर्तिः। इदं लक्षणं मूर्तस्य। ७.रूपादिलक्षणप्रतिषेधोऽमूर्तत्वम्। ८. मनसि द्रव्यत्वे सति रूपादिलक्षणप्रतिषेधरूपामूर्तत्वं वर्तते, परन्तु व्यापकत्वं नास्ति। तस्माद् द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादिति हेतोः पक्षसपक्षविपक्षवृत्तित्वादनै-कान्तिकत्वमिति। ९. अव्यापकम्। १०. अवच्छिन्नपरिमाणं मूर्तमिति जैनैरभ्युपगमात्। ११. अमूर्तत्वम्। १२. जैनं प्रति। १३. यद्यसर्वगतद्रव्यपरिमाण-निषेधोऽमूर्तत्वं तर्हि व्यापकत्वामूर्तत्त्वयोर्न कश्चिद्विशेषः स्यात्। एवं सत्यात्मा व्यापको व्यापकत्वादित्यायातमिति साध्यसमोऽयं हेतुः। यथा साध्ये विवादस्तथा। हेतावपीत्यर्थः। आत्मनो व्यापकत्वं साध्यते, अमूर्तत्वादस्यापि व्यापकत्वं जातम्। कुतोऽव्यापकद्रव्यपरिमाणं मूर्तत्वं। तन्निषेधोऽमूर्तत्वं यतः। अप्रसिद्धत्वात् असर्वगतद्रव्यपरिमाण-रहितत्वादित्ययं हेतुः साध्यसमः। १४. परमाणुभिरनेकान्तपरिहारार्थमणुपरिमाणानधिकरणत्वे सतीति विशेषणं यतः परमाणुषु नित्यत्वमस्ति, व्यापकत्वं नास्ति। अणुपरिमाणाधिकरणादन्यत्वं वा, अणुपरिमाणाधिकरणाभावो वा इति। नित्यत्वादित्युक्ते परमाणुगतरूपेण व्यभिचारस्तत्परिहार्थं द्रव्यत्वादिति। द्रव्यत्वादियुक्ते। घटादिभिर्व्यभिचारस्त-परिहारार्थे नित्यमिति। तावत्युक्ते मनसाऽनेकान्तः व्यापकं मनो यतः, अत उक्तं अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सतीति।

तदपि न साधु साधनम्। अणुपरिमाणानधिकरणत्वमित्यत्र[१] किमयं नञर्थः पर्युदास[२] प्रसज्यो[३] वा भवेत्? तत्राद्यपक्षे[४] अणुपरिमाणप्रतिषेधेन महापरिमाणमवान्तरपरिमाणं[५] परिमाणमात्रं वा[६]। महापरिमाणं चेत्साध्यसमो[७] हेतुः। अवान्तरपरिमाणं चेद् विरुद्धो[८] हेतुः, अवान्तरपरिमाणाधिकरणत्वं ह्यव्यापकत्वमेव[९] साधयतीति। परिमाणमात्र चेत् तत्परिमाणसामान्यमङ्गीकर्तव्यम्। तथा[१०] चाणुपरिमाणप्रतिषेधेन परिमाण-सामान्याधिकरणत्वमात्मन[११] इत्युक्तम्[१२]। [१३]तच्चानुपपन्नम्;[१४] [१५]व्यधिकरणासिद्धिप्रसङ्गात्। न हि परिमाण-

---

आत्मा को व्यापक सिद्ध करने के लिए आपका दूसरा अनुमान यह है– आत्मा व्यापक है; क्योंकि वह अणुपरिमाण-अधिकरण वाला न होकर नित्य द्रव्य है; जैसे आकाश।

विशेषार्थ—इस अनुमान में 'नित्य है' यदि इतना ही हेतु कहते, तो परमाणुओं के रूपादि गुणों में भी नित्यता पाई जाती है, अतः उनसे व्यभिचार दोष प्राप्त होगा, उसके परिहार के लिए द्रव्य ऐसा कहा है। यदि 'द्रव्य' इतना ही हेतु कहते, तो घट भी द्रव्य है, उससे व्यभिचार आता, अतः उसके परिहार के लिए नित्य विशेषण दिया है। यदि 'नित्य द्रव्य' ऐसा हेतु कहते तो मन से व्यभिचार आता, अतः उसके परिहार के लिए अणुपरिमाणानधिकरणत्व ऐसा हेतु का विशेषण दिया है।

आचार्य कहते हैं कि आपका यह अनुमान भी साधु नहीं है; क्योंकि अणुपरिमाणानधिकरणत्व इस हेतु के विशेषण में जो यह निषेधरूप नञर्थ है, वह पर्युदासरूप है कि प्रसज्यरूप है? उनमें से पर्युदासरूप आद्य पक्ष के मानने पर अणुपरिमाण के प्रतिषेध से महापरिमाण अभीष्ट है, अथवा अवान्तर अर्थात् मध्य परिमाण अभीष्ट है, अथवा परिमाण मात्र अभीष्ट है ? यदि महापरिमाण कहें, तो हेतु साध्यसम है, क्योंकि महापरिमाण और व्यापकपने में कोई भेद नहीं है। यदि अवान्तर परिमाण कहें, तो हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जाता है; क्योंकि अवान्तर-परिमाण का अधिकरणपना तो अव्यापकपने को ही सिद्ध करता है। यदि परिमाण मात्र रूप तीसरा विकल्प कहें, तो वह परिमाण सामान्य ही अंगीकार करना चाहिए और इस प्रकार से अणुपरिमाण के प्रतिषेध द्वारा आत्मा के परिमाण सामान्य का अधिकरणपना है, ऐसा कहना सिद्ध होता है, सो

---

१. साधने। २.भावान्तरस्वभावः। ३. तुच्छाभावरूपो वा। तदुक्तम्–पर्युदासः प्रसज्यश्च द्वौ नञौ गदिताविह। पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकः ॥१॥ ४. पर्युदासपक्षे। ५. मध्यपरिमाणम्। ६. इति विकल्पत्रयम्। ७. महापरिमाणस्यार्थो हि व्यापकत्वं तर्हि आत्मा व्यापकः, व्यापकत्वादित्यायातमिति। यथाऽनित्यः शब्दोऽनित्यत्वे सति बाह्येन्द्रिय-प्रत्यक्षत्वादित्यत्र हेतोः साध्यसमत्वं तथा प्रकृतेऽपीति भावः। महापरिमाणव्यापकत्वयोः समानार्थत्वात्। ८. व्यापकत्व-विरुद्धाव्यापकत्वेनावान्तर-परिमाणस्य हेतोर्व्याप्तत्वाद्विरुद्धत्व-मणुपरिमाणानधि-करणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वादिति हेतोः। ९. पटादिकम्। १०. परिमाणसामान्याङ्गीकारे। ११. आत्मा व्यापकः परिमाणसामान्याधिकरणत्वादाकाशवत्। १२. भवतीति शेषः। १३. परिमाणसामान्याधिकरणम्। १४. आत्मनः। १५. यथा द्रव्यत्वस्य द्रव्य एव समवायः, गुणत्वस्य गुण एव, तथा परिमाणसामान्यस्य (परिमाणत्वस्य) परिमाण एव समवायः, नात्मनीति व्यधिकरणासिद्धिरिति। आत्मनः सामान्याधिकरणत्वे सति विशेषाधिकरणस्यासिद्धिप्रसङ्गो भवति।

सामान्यमात्मनि व्यवस्थितम्; किन्तु [1]परिमाणव्यक्तिष्वेवेति। [2]न चावान्तरमहापरिमाणद्वयाधारतयाऽऽत्मन्य-प्रतिपन्ने परिमाणमात्राधिकरणता [3]तत्र निश्चेतुं शक्या[4]।

दृष्टान्तश्च[5] साधनविकलः आकाशस्य महापरिमाणाधिकरणस्य[6] परिमाण- मात्राधिकरणत्वा-योगात्। [7]नित्यद्रव्यत्वं च सर्वथाऽसिद्धम्, [8]नित्यस्य क्रमाक्रमा[9]भ्यामर्थक्रियाविरोधादिति[10]। [11]प्रसज्यपक्षेऽपि तुच्छाभावस्य[12] ग्रहणोपायासम्भवात्[13] न विशेषणत्वम्[14]। न चागृहीतविशेषणं[15] नाम; 'न चागृहीत-

---

ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि वैसा मानने में व्यधिकरणासिद्धि का प्रसंग आता है। अर्थात् जैसे आप लोग द्रव्यत्व का द्रव्य में ही समवाय मानते हैं और गुणत्व का गुण में ही समवाय मानते हैं; उसी प्रकार परिमाणत्व सामान्य का परिमाण में ही समवाय होगा, न कि आत्मा में। इस प्रकार से भिन्न अधिकरणता की सिद्धि होती है। पर परिमाण सामान्य आत्मा में व्यवस्थित नहीं है; किन्तु परिमाण विशेषों में ही व्यवस्थित है; क्योंकि सामान्य अपने विशेषों में ही रहता है। और अवान्तर परिमाण तथा महापरिमाण इन दोनों के आधाररूप से आत्मा के अनिश्चित रहने पर परिमाण मात्र की अधिकरणता भी आत्मा में निश्चित नहीं की जा सकती है।

तथा आपने उक्त अनुमान में आकाश का जो दृष्टान्त दिया है, वह साधन-विकल है; क्योंकि आकाश तो महापरिमाण का अधिकरण है, इसलिए वह परिमाण मात्र का अधिकरण हो नहीं सकता। उसी अनुमान में नित्य द्रव्यत्वरूप जो विशेष्य पद दिया है सो वह नित्य द्रव्यत्व सर्वथा असिद्ध है; क्योंकि नित्य पदार्थ के क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया होने का विरोध है। इस प्रकार पर्युदासरूप प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है। दूसरे प्रसज्य पक्ष को मानने पर भी तुच्छाभाव के ग्रहण करने का उपाय सम्भव न होने से विशेषणपना नहीं बन सकता है। क्योंकि जो अगृहीत हैं वह विशेषण नहीं हो सकता है। जैसे दण्ड के ग्रहण नहीं करने पर विशेष्य में बुद्धि नहीं उत्पन्न हो सकती है। विशेषण के नहीं ग्रहण करने पर 'दण्डी' ऐसी विशेष्य बुद्धि नहीं होती है, ऐसा न्याय का वचन है। कहने का भाव यह कि विशेषण के ग्रहण करने पर ही यह विशेष्य है, ऐसी बुद्धि

---

१. विशेषेषु। २. दूषणान्तरं दीयते। ३. आत्मनि। ४. आत्मनि परिमाणविशेषाधिकरणासिद्धे न हि परिमाणसामान्याधि-करणकल्पना युज्यते, सामान्यस्याशेष-विशेषनिष्ठत्वात्। ५. पूर्वमात्मन एवनिश्चयात्। ६. प्रतिपन्नत्वात्। ७. हेतोर्विशेष्यासिद्धिमुद्भावयति। ८. आत्मनः। ९. युगपत्। १०. कार्यकर्तृत्वायोगात्। ११.प्रसज्य एव तुच्छाभावः। १२. अत्यन्ताभावस्य। १३. सर्वथाऽभावस्य ग्राहकं प्रमाणं नास्तीति भावः। नैयायिकस्यैतन्मतम्- इह भूतले घटो नास्ति, तत्र घटस्य भूतलेऽत्यन्ताभावः। तत्प्रत्यक्षेऽपि विशेषणविशेष्यरूपसन्निकर्षः तत्रापि जैनः प्राह-एतदयुक्तम्, न तत्र भूतलविशेषणं सद्रूपम्। अत्राणुपरमाणो-रत्यन्ताभावविशेषणं असद्रूपमिति हेतोः। १४. अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सतीति हेतोर्विशेषणं यदि तुच्छाभावरूपं तर्हि तद्ग्रहणोपायाभावाद्धेतोर्विशेषणासिद्धिर्नागृहीतविशेषणं नामेति नियमात्। तदसिद्धौ च नित्यद्रव्यत्वादिति विशेष्यासिद्धिश्च 'नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः' इति नियमात्। न हि दण्डाग्रहणे दण्डिनि बुद्धिर्युज्यते। १५. अगृहीतं न भवतीति भावः।

विशेषणा[१]विशेष्ये[२] बुद्धिः'इति वचनात्। न प्रत्यक्षं [३]तद्ग्रहणोपायः, [४]सम्बन्धाभावात्। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजं[५] हि प्रत्यक्षं तन्मते[६] प्रसिद्धम्। [७]विशेषणविशेष्यभावकल्पनायामभावस्य नागृहीतस्य विशेषणत्वमिति तदेव[८] दूषणम्। [९]तस्मान्न [१०]व्यापकमात्मद्रव्यम्।

नापि वटकणिकामात्रम्, कमनीयकान्ताकुचजघनसंस्पर्शकाले [११]प्रतिलोमकूपमाह्लादनाकारस्य सुख-स्यानुभवात्। अन्यथा[१२] सर्वाङ्गीणरोमाञ्चादिकार्योदयायोगात्। [१३]आशुवृत्त्याऽऽ[१४]लातचक्रवत्क्रमेणैव तत्सुखमित्यनुपपन्नम्;[१५] परापरान्तःकरणसम्बन्धस्य[१६] तत्कारणस्य[१७] परिकल्पनायां व्यवधानप्रसङ्गात्। अन्यथा[१८] सुखस्य मानसप्रत्यक्षत्वायोगादिति।

होती है तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से उस तुच्छाभाव के ग्रहण करने का उपाय नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष के और तुच्छाभाव के सम्बन्धका अभाव है। प्रत्यक्षज्ञान तो इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, ऐसा उन यौगों के मत में प्रसिद्ध है। यदि कहा जाये कि 'यह भूतल घट के अभाव वाला है' इस प्रकार से विशेषण-विशेष्य की कल्पना करने पर तुच्छाभाव का ग्रहण किया जा सकता है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि अभाव जब तक ग्रहण न कर लिया जाये, तब तक उसके विशेषणपना नहीं हो सकता। इस प्रकार वे ही पूर्वोक्त दूषण यहाँ पर भी प्राप्त होते हैं। इसलिए आत्मा नाम का द्रव्य व्यापक नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

आत्मा वटकणिका मात्र भी नहीं है; क्योंकि सुन्दर स्त्री के स्तन और जघन के स्पर्श करने के समय रोम-रोम में अर्थात् सर्वांग में आह्लाद आकार वाले सुख का अनुभव होता है। अन्यथा अर्थात् यदि आत्मा वट-कणिका मात्र होता और सर्व शरीर में व्याप्त न होता, तो स्त्री के सुन्दर सर्व अवयवों के स्पर्शकाल में पुरुष को सर्वांग में रोमाञ्च आदि कार्य नहीं उत्पन्न होना चाहिए। यदि कहें कि आत्मा तो वटकणिका मात्र ही है, किन्तु आशुवृत्ति अर्थात् शीघ्रता से अलातचक्र के समान सर्वांग में परिभ्रमण करता है, अतः सर्वांग में रोमांच आदि कार्य देखे जाते हैं, वस्तुतः तो क्रम से ही उस सुख की अनुभूति होती है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि सुख के कारणभूत अन्तःकरण के नये-नये सन्बन्ध की कल्पना करने पर सुख के व्यवधान का प्रसंग आता

१.अगृहीतं विशेषणं यथा सा। २. दण्डिनि। ३. तुच्छाभाव। ४. सम्बन्धाभावे प्रत्यक्षं कुतो न भवतीत्याह। ५. सम्बन्धजम्। ६. यौगमते। ७. विशेषण विशेष्यभावेन तुच्छाभावं गृह्णातीति चेत्। ८. पूर्वोक्तमेव अभावरूपं विशेषणं केन प्रमाणेन गृहीतम्? न केनापि गृह्यते। ९. आत्मनो व्यापककल्पनायामनेकदोषसम्भवात्। १०. सर्वथा। ११. सर्वाङ्गीणम्। १२. यदिकमनीयकान्ताकुचजघनसंस्पर्शकाले प्रतिलोमकूपमाल्हादनाकारं सुखं न भवति चेत्। १३. शीघ्रवृत्त्या। १४. काष्ठाग्निभ्रमणवत्। १५. प्रदेशं प्रति सुखमनुक्रमेण चेत्तर्हि तत्रानुक्रमेणान्तःकरणसम्बन्धः पृथगस्तु, तदाऽन्यत्र प्रदेशे सम्बन्धो व्यवहितो भवति, तदा युगपत्सम्बन्धाभावाद् दूषणम्। १६. अन्योन्यं परापरान्तःकरणेन सह सम्बन्धः आत्मनस्तस्य। १७. सुखादिकारणस्य। १८. तत्सुखं मानसं नेति शङ्कायामाह तत्सुखस्य मानसत्वाकल्पेन। अन्तःकारणसम्बन्धेन विना चेत्सुखं, व्यवधानदूषणभियाऽन्तःकारणसम्बन्धो माऽस्तु।

नापि पृथिव्यादिचतुष्टयात्मकत्वमात्मनः सम्भाव्यते, अचेतनेभ्यश्चैतन्योत्पत्त्ययोगाद् [१]धारणेरण[२] द्रवो[३]ष्णता[४]लक्षणान्वयाभावाच्च[५]। [६]तदर्हजातबालकस्य स्तनादावभिलाषाभावप्रसङ्गाच्च[७]। अभिलाषो हि प्रत्यभिज्ञाने भवति, [८]तच्च स्मरणे, स्मरणं चानुभवे भवतीति पूर्वानुभवः[९] सिद्धः। [१०]मध्यशायां तथैव

है। अन्यथा सुख के मानस-प्रत्यक्षता नहीं ठहरती है।

भावार्थ—यदि आत्मा को वटबीज के समान मानकर शीघ्रता से उसका सारे शरीर में संचार माना जाये, तब ऐसे मानने वालों की मान्यता के अनुसार मनके माध्यम से सुख का अनुभव होगा। अतः शरीर के जिस-जिस प्रदेश में आत्मा का संचार होगा, उस समय उस प्रदेश में मन का नया-नया सम्बन्ध मानना पड़ेगा। तब ऐसी दशा में एक प्रदेश से सम्बन्ध छूट कर नवीन प्रदेश के साथ सम्बन्ध होने के अन्तराल में सुख का विच्छेद भी होना चाहिए। पर ऐसा अनुभव में नहीं आता। और यदि मनके सम्बन्ध के बिना ही सुख का अनुभव माना जायेगा, तो सुख को जो आप लोगों ने मानस प्रत्यक्ष का विषय कहा है, वह नहीं बनेगा। अतः आत्मा वटकणिका मात्र है, यह मान्यता भी ठीक नहीं है।

अब आचार्य तीसरी मान्यता का निराकरण करते हैं—आत्मा के पृथ्वी आदि चार भूतों से उत्पन्न होने की संभावना भी नहीं है, क्योंकि अचेतन भूतों से चेतन आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। और भूत-चतुष्टय का जो क्रमशः धारण, ईरण, द्रव और उष्णता लक्षण स्वभाव है, उसका चैतन्य के अन्वय नहीं पाया जाता है।

भावार्थ—अन्य मातवलम्बियों ने पृथ्वी का धारण, वायु का प्रेरण, जल का द्रवता और अग्नि का उष्णता स्वभाव माना है। यदि आत्मा इन पृथ्वी आदि चार भूतों से उत्पन्न होता है, तो उसमें उन चारों भूतों के धारण आदि स्वभाव अवश्य पाये जाने चाहिए। पर पाये नहीं जाते, इससे ज्ञात होता है कि आत्मा पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय से उत्पन्न नहीं होता।

और यदि आत्मा भूतचतुष्टय से उत्पन्न होता, तो तत्काल उत्पन्न हुए बालक के स्तनपानादि में अभिलाषा के अभाव का प्रसंग आता है। अभिलाषा तो प्रत्यभिज्ञान के होने पर होती है और प्रत्यभिज्ञान स्मरण के होने पर होता है, तथा स्मरण धारणारूप अनुभव के होने पर होता है। इस प्रकार पूर्वकालीन अनुभव का होना सिद्ध है। युवारूप मध्यवर्ती दशा में भी उसी प्रकार से अभिलाषा आदि की व्याप्ति सिद्ध है। तथा मरे हुए कितने ही जीव यक्ष-राक्षस आदि व्यन्तर देवों

---

१. धारणलक्षणा पृथिवी। २. ईरणलक्षणो वायुः। ३. द्रवलक्षणं जलम्। ४. उष्णतालक्षणोऽग्निः। ५. यथा घटे मृदन्वयः मृद् घटे परिणता प्रत्यक्षेण दृश्यते, तथा नास्ति। ६. तत्कालीनसमुत्पन्नशिशोः। ७. अस्ति चाभिलाषा। ८. प्रत्यभिज्ञानं च। ९. पूर्वमनुभवनं चेदभिलाषः। इत्यनेनाऽऽत्मनोऽनादित्वं साधितम्। १०. तर्हि मध्यमदशाया (युवावस्थायां) कथमित्याशङ्कायामाह।

[१]व्याप्तेः। मृतानां रक्षोयक्षादिकुलेषु स्वयमुत्पन्नत्त्वेन कथयतां दर्शनात्, केषाञ्चिद्, भवस्मृतेरुपलम्भाच्चानादिश्चेतनः सिद्ध एव। तथा चोक्तम्–

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः।
[२]भूतानन्वयनात्सिद्धः [३]प्रकृतिज्ञः सनातनः[४]॥४०॥ इति

न च स्वदेहप्रमितिरात्मेत्यत्रापि प्रमाणाभावात् सर्वत्र[५] संशय इति वक्तव्यम्; [६]तत्रानुमानस्य सद्भावात्। तथाहि–देवदत्तात्मा तद्देह[७] एव; तत्र सर्वत्रैव च विद्यते तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च स्वासाधारणगुणाधारतयोपलम्भात्[८]। यो यत्रैव यत्र सर्वत्रैव च स्वासाधारणगुणाधारतयोपलभ्यते स तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च विद्यते; यथा देवदत्तगृहे एव तत्र सर्वत्रैव चोपलभ्यमानः स्वासाधारणभासुरत्वादिगुणः प्रदीपः। तथा[९] चायम्। तस्मात्तथेति[१०]।

के कुलों में उत्पन्न होकर ''मैं अमुक हूँ'' इस प्रकार से कहते हुए देखे जाते हैं, कितने ही जीवों को पूर्वभव का स्मरण पाया जाता है, इन सब प्रमाणों से आत्मा एक अनादि-कालीन चेतन पदार्थ है, यह सिद्ध ही है। जैसा कि कहा है–

तत्काल जात बालक के स्तनपान की इच्छा से, व्यन्तरादिक के देखने से, पूर्वभव के स्मरण से और पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय के गुणधर्म-स्वभाव आदि का अन्वयपना नहीं पाये जाने से स्वभावतः ज्ञाता दृष्टा और सनातन अर्थात् द्रव्यरूप से नित्य आत्मा स्वयं सिद्ध है ॥४०॥

आत्मा स्वदेह-प्रमाण है, इस विषय में प्रमाण का अभाव होने से सर्वत्र संशय है, ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि इस विषय में अनुमान प्रमाण का सद्भाव है। आगे उसे ही कहते हैं– देवदत्त का आत्मा उसके देह में ही है और उसके सर्व प्रदेशों में ही विद्यमान है; क्योंकि यह उसके शरीर में और सर्व प्रदेशों में ही ज्ञान-दर्शनादि अपने असाधारण गुणों के आधाररूप से उपलब्ध होता है। जो जहाँ पर और यत्र सर्वत्र ही अपने असाधारण गुणों के आधाररूप से पाया जाता है, वह वहाँ पर और वहाँ के सर्व प्रदेशों में ही विद्यमान है। जैसे कि देवदत्त के घर में और उसके सर्व भाग में अपने असाधारण भासुरत्व आदि गुण वाला प्रदीप पाया जाता है। उसी प्रकार देह में और उसके सर्व प्रदेशो में अपने असाधारण गुणों के आधार वाला देवदत्त का आत्मा है, इसलिए वह उसके देह-प्रमाण ही है। आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य लक्षण वाले असाधारण गुण हैं

---

१. चैतन्यस्याभिलाषायाः कारणं प्रत्यभिज्ञानं तच्च सति स्मरणे, स्मरणं च सति पूर्वानुभवे, इति व्याप्तेः। २. भूतसंघातस्यान्वयाभावात्। ३. स्वभावेन ज्ञाता। ४. द्रव्यरूपतया नित्यः। ५. स्वदेहप्रमितौ व्यापके वटकणिकामात्रे च। ६. आत्मा स्वदेहप्रमितिरित्यत्र। ७. तद्देह एवेति व्यापकवादिनं प्रति। ८. अस्मिन्ननुमाने साध्यसाधनयोरात्मनो वट कणिका परिमाणप्रतिषेधार्थं तत्र सर्वत्रैवेति पदं दत्तम्। व्यापकत्वनिरासार्थ तद्देह एवेति पदंदत्तमिति। सर्वत्र सर्वेषु प्रदेशेषु। ९. तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च स्वासाधारणगुणाधारवांश्च देवदत्तात्मा। १०. तस्मात्तद्देह एव तत्र सर्वत्रैव च विद्यमानः। प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्।

[१]तदसाधारणगुणा ज्ञानदर्शनसुखवीर्यलक्षणास्ते[२] च सर्वाङ्गीणास्तत्रैव[३] चोपलभ्यन्ते।

सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे॥४१॥

इति वचनात्। [४]तस्मादात्मा देहप्रमितिरेव स्थितः।

द्वितीयं विशेषभेदमाह–

अर्थान्तरगतो[५] विसदृशपरिणामो[६] व्यतिरेको[७] गोमहिषादिवत्[८]॥८॥

[९]वैसादृश्यं हि [१०]प्रतियोगिग्रहणे सत्येव भवति। न[११] चापेक्षिक[१२]त्वाद[१३]स्यावस्तुत्वम् [१४]अवस्तु–न्यापेक्षिकत्त्वायोगात्। अपेक्षाया [१५]वस्तुनिष्ठत्वात्।

और वे आत्मा में ही सर्वांग व्याप्त पाये जाते हैं। यहाँ पर देह में ही आत्मा है, ऐसा कहने से आत्मा के व्यापकपने का निषेध किया गया है और वह उसके सर्व प्रदेशों में व्याप्त है, ऐसा कहने से वटकणिका मात्र होने का निषेध किया गया है, ऐसा विशेष जानना चाहिए।

युवा पुरुष के कान्ता के साथ समागम करने पर आल्हाद या आनन्दरूप आकार वाले सुख का, ज्ञेय पदार्थों के जाननेरूप विज्ञान का और रमणरूप क्रिया से शक्ति का अनुमान किया जाता है ॥४१॥ ऐसा वचन है।

भावार्थ—स्त्री समागम के समय आनन्द, विज्ञान और सामर्थ्य इन तीनों ही आत्म गुणों की प्रतीति होती है।

इसलिए आत्मा देह–प्रमाण ही है, यह स्थित हुआ।

अब आचार्य विशेष के दूसरे भेद को कहते हैं–

सूत्रार्थ—एक पदार्थ की अपेक्षा अन्य पदार्थ में रहने वाले, विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते है। जैसे गाय–भैंस आदि में विलक्षणपना पाया जाता है ॥८॥

विसदृशता प्रतियोगी अर्थात् प्रतिपक्षी के ग्रहण करने पर ही प्रतीत होती है। आपेक्षिक होने से इस विसदृशता को अवस्तु नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि अवस्तु में आपेक्षिकपना नहीं बन सकता है। किन्तु अपेक्षा के वस्तुनिष्ठपना है, अर्थात् अपेक्षा वस्तु में ही पाई जाती है, अवस्तु में अपेक्षा नहीं होती है।

---

१. आत्माऽसाधारणगुणाः। २. गुणाः। ३. आत्मन्येव। ४. अनुमानसामर्थ्यात्। ५. एकस्मादर्थात्सजातीयो विजातीयो वाऽर्थोऽर्थान्तरम्। तं गतोऽर्थान्तरगतः। ६. खण्डलक्षणाद्गोः सजातीयो मुण्डलक्षणो गौः, विजातीयो महिषः, खण्डापेक्षया मुण्डो विसदृशाकारो महिषापेक्षया च विसदृशाकार इत्यर्थः। ७. विशेष इति सम्बन्धः। ८. यथा गोषु खण्डमुण्डादिलक्षणो महिषेषु विशालविसंकटत्वलक्षणो गोमहिषेषु च। परस्परमसाधारणस्वरूपलक्षणो विसदृशपरिणामोऽस्ति। ९. कुतः? १०. प्रतिपक्षे। ११. अनेन बौद्धमतं निराकृतम्। १२. अपेक्षा अवस्तु न भवति, किन्तु सत्यं भवति। १३. वैसादृश्यस्य। १४. सर्वथाऽभावे। १५. द्रव्य।

[१]स्यात्कारलाच्छितमबाध्यमनन्तधर्म-
सन्दोह[२]वर्मितमशेषमपि प्रमेयम्।
[३]देवैः प्रमाणबलतो निरचायि[४] यच्च[५]
संक्षिप्तमेव [६]मुनिभिर्विवृत्तं[७] [८]मयैतत्॥१०॥

इति परीक्षामुखस्य लघुवृत्तौ विषयसमुद्देशचतुर्थः।

इस प्रकार प्रमाण के विषय का निरूपण किया।

स्यात् पद से लाञ्छित, अबाध्य, अनन्त धर्मों के समूह से संयुक्त ऐसे समस्त ही जिस प्रमेयतत्त्व को अकलंकदेव ने प्रमाण के बल से कहा और जिसे माणिक्यनन्दिदेव ने संक्षेप से सूत्ररूप में रचा, उसे ही मैंने (अनन्तवीर्य ने) यहाँ पर वृत्तिरूप से विवरण किया है ॥१०॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में प्रमाण के विषय का प्रतिपादन करने वाला चतुर्थ समुद्देश समाप्त हुआ।

---

१. अप्रयुक्तो हि स्यात्कारोऽर्थात्सर्वत्र प्रतीयते। विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत्प्रयोजकः ॥१॥ २. संयुक्तम्। ३. अकलङ्कदेवैः। ४. विरचितम्। ५. प्रमेयम्। ६. माणिक्य-नन्दिभिर्देवैः। ७. वृत्तिरूपेणाभ्यधायि। ८. अनन्तवीर्येण।

पञ्चमः समुद्देशः

अथेदानीं फलविप्रतिपत्तिनिरासार्थमाह–

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षा[1]श्च फलम्॥१॥

द्विविधं हि फलं साक्षात्पारम्पर्येणेति। साक्षादज्ञाननिवृत्तिः[2] पारम्पर्येण हानादिकमिति; प्रमेयनिश्चयोत्तर-कालभावित्वात्तस्येति।

तद्द्विविधमपि फलं प्रमाणाद्भिन्नमेवेति यौगाः। अभिन्नमेवेति सौगताः। तन्मतद्वयनिरासेन स्वमतं व्यवस्थापयितुमाह–

अब आचार्य प्रमाण के फल की विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–अज्ञान की निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा ये प्रमाण के फल हैं॥१॥

फल दो प्रकार का होता है–साक्षात् फल और पारम्पर्य फल। वस्तु सम्बन्धी अज्ञान को निवृत्ति होना यह प्रमाण का साक्षात् फल है। हान आदिक परम्परा फल है; क्योंकि वह प्रमेय के निश्चय करने के उत्तरकाल में होता है।

भावार्थ–वस्तु के जानने के साथ ही तत्काल होने वाले फल को साक्षात् फल कहते हैं। जब हम किसी अज्ञात वस्तु को प्रमाण से जानते हैं, तब तत्सम्बन्धी अज्ञान तत्काल दूर हो जाता है। यही अज्ञान की निवृत्ति प्रमाण का साक्षात् फल है। वस्तु के जानने के पश्चात् परम्परा से प्राप्त होने वाले फल को पारम्पर्य फल कहते हैं। वह हान, उपादान और उपेक्षा के भेद से तीन प्रकार का है–जानने के पश्चात् अनिष्ट या अहितकर वस्तु के परित्याग करने को हान कहते हैं। इष्ट या हितकर वस्तु के ग्रहण करने को उपादान कहते हैं। जब तक मनुष्य के राग-द्वेष लगा रहता है, तब तक वह पर पदार्थों में कभी इष्ट की और कभी अनिष्ट की कल्पना किया करता है। किन्तु जब वह राग-द्वेष से रहित वीतराग दशा को प्राप्त कर लेता है, तब उसके किसी भी पदार्थ में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नहीं रहती है। उस वीतराग दशा में किसी भी पदार्थ को जानने के पश्चात् उसमें हेय-उपादेय की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, किन्तु उपेक्षा या उदासीनतारूप माध्यस्थ्य भाव पैदा होता है, यह भी प्रमाण का पारम्पर्य फल है। राग-द्वेष दूर होने के पहले भी मनुष्य जिसे अपने लिए इष्ट-अनिष्ट नहीं समझता, ऐसे ज्ञेय पदार्थों में उपेक्षा भाव रखता है।

यह दोनों ही प्रकार का फल प्रमाण से भिन्न ही है, ऐसा यौग लोग कहते हैं। प्रमाण से फल अभिन्न ही है, ऐसा बौद्ध लोग कहते हैं। इन दोनों मतों के निराकरण के साथ अपने मत की

---

१. उदासीनता। २. प्रमाणमेव प्रमेयनिश्चयकाले अज्ञाननिवृत्तिः। अज्ञानमज्ञप्तिः स्वपररूपव्यामोहस्तस्य निवृत्तिर्यथावत्तद्रूपयोर्ज्ञप्तिः।

प्रमाणादभिन्नं[1] भिन्नं[2] च[3]॥२॥

कथञ्चिदभेदसमर्थनार्थे हेतुमाह–

यः[4] प्रमिमीते[5] स एव[6] निवृत्ताज्ञानो [7]जहात्यादत्त[8] उपेक्षते[9] चेति प्रतीतेः[10]॥३॥

अयमर्थः–यस्यैवात्मनः प्रमाणाकारेण[11] परिणतिस्तस्यैव [12]फलरूपतया परिणाम इत्येक[13]प्रमात्रपेक्षया प्रमाणफलयोरभेदः। [14]करणक्रिया[15]परिणाम[16]भेदाद् भेद इत्यस्य[17] सामर्थ्यसिद्धत्वान्नोक्तम्[18]।

व्यवस्था करने के लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–वह फल प्रमाण से कथञ्चित् अभिन्न है और कथञ्चित् भिन्न है ॥२॥

अब आचार्य कथञ्चित् अभेद के समर्थन के लिए हेतुरूप उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–जो प्रमाण से पदार्थ को जानता है, उसी का अज्ञान निवृत्त होता है, वही अनिष्ट वस्तु का त्याग करता है, इष्ट वस्तु को ग्रहण करता है और जिसे अपने लिए इष्ट-अनिष्टरूप नहीं समझता है, उसकी उपेक्षा करता है। इस प्रकार की प्रतीति होने से सिद्ध है कि प्रमाण से फल अभिन्न है ॥३॥

इसका यह अर्थ (अभिप्राय) है कि जिस ही आत्मा की प्रमाण के आकार से परिणत होती है, उसके ही फलरूप से परिणाम देखा जाता है; इसलिए एक प्रमाता की अपेक्षा से प्रमाण और फल में अभेद है। प्रमाण करणरूप परिणाम है और फल क्रियारूप परिणाम है; इस प्रकार करण और क्रियारूप परिणाम के भेद से प्रमाण और फल में भेद है। यह भेदरूप कथन सामर्थ्य से सिद्ध होने के कारण सूत्रकार ने पृथक् नहीं कहा है।

---

१. अज्ञाननिवृत्तिः प्रमाणस्याभिन्नं फलम्। अत्र कथञ्चिदभेदो द्रष्टव्यः, कारणकार्यभेदादिति। २. हानोपादानोपेक्षाश्च प्रमाणस्य भिन्न फलम्। अत्रापि कथञ्चिद्भेदौद्रष्टव्यौ, सर्वथा भेदे प्रमाणफलव्यवहारविरोधादिति। ३. भिन्नाभिन्नात्मकमित्यर्थः।४. यः प्रतिपत्ता।५. निश्चिनुते, स्वार्थग्रहणपरिणामेन परिणमते।६. स्वविषये व्यामोहरहितः। ७. अभिप्रेतप्रयोजनाप्रसाधकमर्थं जहाति। ८. अभिप्रेत प्रयोजन प्रसाधकमर्थमादत्ते। ९. उभयप्रयोजना-प्रसाधकं तूपेक्षणीयमुपेक्षते। १०. प्रमाणफलयोः कथञ्चिद्भेदाभेद व्यवस्था प्रतिपत्तव्येति सम्बन्धः। ११. करणाकारेण। १२. प्रमितिरूपतया। १३. आत्मा। १४. प्रमाणम्। १५. जानाति। १६. आत्मा कर्ता करणेन ज्ञानेन जानाति इति सैव वा फलम्। १७. भेदस्य। १८. भेदरूपफलं सूत्रेण न निबद्धम्।

पारम्पर्येण साक्षाच्च फलं द्वेधाऽभिधायि यत्।
[९]देवैर्भिन्नमभिन्नं च प्रमाणात्तदिहोदितम्[१०]॥११॥

इति परीक्षामुखलघुवृत्तौ फलसमुद्देशः पञ्चमः।

आचार्य अकलंकदेव ने और माणिक्यनन्दि ने प्रमाण के जिस फल को साक्षात् और पारम्पर्य के भेद से दो प्रकार का कहा है, वह प्रमाण से कथञ्चित् भिन्न भी है और अभिन्न भी है, वही यहाँ पर मैंने कहा है ॥११॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृति में प्रमाण के फलका वर्णन करने वाला पंचम समुद्देश समाप्त हुआ।

९. अकलङ्कदेवैर्माणिक्यनन्दिदेवैश्च। १०. अनन्तवीर्येण।

षष्ठः समुद्देशः

अथेदानीमुक्त[१]प्रमाणस्वरूपादिचतुष्टयाभासमाह–

ततोऽन्यत्तदाभासम्॥१॥

तत उक्तात् प्रमाणस्वरूपसङ्ख्याविषयफलभेदादन्यद्विपरीतं तदाभासमिति।

तत्र क्रमप्राप्तं स्वरूपाभासं दर्शयति–

[२]अस्वसंविदितगृहीतार्थ[३]दर्शनसंशयादयः[४] प्रमाणाभासाः॥२॥

अस्वसंविदितञ्च गृहीतार्थञ्च दर्शनञ्च संशय आदिर्येषां ते संशयादयश्चेति सर्वेषां द्वन्द्वः। आदिशब्देन विपर्ययानध्यवसाययोरपि ग्रहणम्?

अब आचार्य ऊपर कहे गये प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल इन चारों के आभासों को कहने के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–उनसे भिन्न तदाभास है ॥१॥

उनसे अर्थात् ऊपर जिनका वर्णन किया गया है ऐसे प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल से अन्य यानि विपरीत स्वरूप, संख्या, विषय और फल को तदाभास कहते हैं।

भावार्थ–यथार्थ स्वरूप से रहित होने पर भी उन जैसे प्रतिभासित होने वाले स्वरूपादि को तदाभास कहते हैं। प्रमाण के स्वरूप से रहित विपरीत आभास को स्वरूपाभास कहते हैं। प्रमाण की यथार्थ संख्या से विपरीत अयथार्थ संख्या को संख्याभास कहते हैं। प्रमाण के वास्तविक विषय से विपरीत विषय को विषयाभास कहते हैं और प्रमाण के वास्तविक फल से रहित फल को फलाभास कहते हैं। इस समुद्देश में आचार्य अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार इन ही चारों प्रकार के आभासों का स्वरूप कहेंगे।

अब आचार्य उनमें से क्रम-प्राप्त स्वरूपाभास को दिखलाते हैं–

सूत्रार्थ–अस्वसंविदित, गृहीतार्थ, दर्शन और संशयादिक प्रमाणाभास हैं ॥२॥

सूत्रपठित अस्वसंविदित, गृहीतार्थ, दर्शन और संशय है आदि में जिनके ऐसे संशयादि इन सभी पदों का द्वन्द्व समास करना चाहिए। आदि शब्द से विपर्यय और अनध्यवसाय का भी ग्रहण करना चाहिए।

विशेषार्थ–सूत्र में जिन अस्वसंविदित आदि ज्ञानों को प्रमाणाभास कहा गया है, उनका खुलासा इस प्रकार है–जो ज्ञान अपने आपके द्वारा अपने स्वरूप को नहीं जानता है, उसे अस्वसंविदित

---

१. प्रमाणशब्दः प्रत्येकं सम्बन्धनीयः। २. अस्वसंविदितस्य स्वग्राहकत्वाभावेनार्थप्रतिपत्त्ययोगात् प्रवृत्तिविषयोप-दर्शकत्वाभावः। ३. निर्विकल्पकं दर्शनं तस्य प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वाभावस्तज्जनितविकल्पस्यैव तदुपदर्शकत्वात्। ४. आदिशब्देन विपर्ययानध्यवसायौ ग्राह्यौ।

तत्रास्वसंविदितं ज्ञानं ज्ञानान्तरप्रत्यक्षत्वादिति नैयायिकाः। तथाहि–ज्ञानं स्वव्यतिरिक्तवेदनवेद्यम्[१]; वेद्यत्वात्[२], घटवदिति। तदसङ्गतम्; धर्मिज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वे साध्यान्तःपातित्त्वेन धर्मित्वायोगात्[३]। [४]स्वसंविदितत्वे तेनैव[५] [६]हेतोरनेकान्तात्[७]। महेश्वर[८]ज्ञानेन च व्यभिचाराद्[९], [१०]व्याप्तिज्ञानेनाप्यनेकान्तादर्थ–

ज्ञान कहते हैं। किसी यथार्थ ज्ञान के द्वारा पहले जाने हुए पदार्थ के पुनः जानने वाले ज्ञान को गृहीतार्थ ज्ञान कहते हैं। यह घट है, यह पट है, इत्यादि विकल्प से रहित निर्विकल्परूप ज्ञान को दर्शन कहते हैं। परस्पर विरोधी दो पक्षों के विषय करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। वस्तु के अन्यथा जानने को विपर्यय कहते हैं। वस्तु का यथार्थ निश्चय न होकर कुछ है, इस प्रकार के अनिश्चित ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। ये सभी प्रमाण के स्वरूपाभास हैं, क्योंकि वे प्रमाण के यथार्थ स्वरूप से रहित हैं।

नैयायिकों का कहना है कि कोई भी ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है, किन्तु अन्य ज्ञान से ही उसका प्रत्यक्ष होता है। आगे इसी बात को वे स्पष्ट करते हैं–ज्ञान अपने से अतिरिक्त अन्य ज्ञान के द्वारा जानने के योग्य है; क्योंकि वह ज्ञेय है; जैसे घट। आचार्य कहते हैं कि नैयायिकों का यह कथन असंगत है; क्योंकि धर्मी अर्थात् पक्षरूप से आपके द्वारा प्रतिपादित जो ज्ञान है, उसके अन्य ज्ञान से वेद्यपना मानने पर उसके भी साध्य के अन्तर्गत हो जाने से धर्मीपना नहीं रह सकेगा। कारण कि धर्मी तो प्रसिद्ध होता है और साध्य असिद्ध। अतः धर्मी ज्ञान के असिद्ध हो जाने से वेद्यत्व हेतु आश्रयासिद्ध हो जाता है। यदि धर्मी जो ज्ञान है, उसके स्वसंविदितपना कहें, अर्थात् अपने आपको जानने वाला माने, तो उस धर्मी ज्ञान के द्वारा ही वेद्यत्व हेतु के अनेकान्तपना प्राप्त होता है; क्योंकि धर्मी ज्ञान में वेद्यत्व तो है, परन्तु स्वव्यतिरिक्तवेदनवेद्यत्व नहीं है, इसलिए साध्य के अभाव वाले विपक्ष में भी हेतु के सद्भाव से व्यभिचार दोष आता है। तथा महेश्वर के ज्ञान से भी व्यभिचार आता है। आप लोग महेश्वर के ज्ञान को अस्वसंविदित कहेंगे तो अपने आपको न जानने से उसके सर्वज्ञता नहीं रहती है। और यदि उसके ज्ञान को स्वसंविदित कहेंगे, तो प्रथम तो आपके मत की हानि होती है। दूसरे महेश्वरज्ञान में ज्ञानान्तर वेद्यत्व तो नहीं हैं, किन्तु वेद्यत्व पाया जाता है, इसलिए उससे व्यभिचार आता है। तथा व्याप्ति के ज्ञान से भी व्यभिचार आता है;

---

१. ज्ञानान्तरवेद्यमित्यर्थः। २. प्रमेयत्वात्। ३. प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धो हि धर्मी भवति। न चात्रानुमाने धर्मिज्ञानं प्रमाणप्रसिद्ध–मस्ति। ततस्तस्य साध्यान्तः पातित्वेन धर्मित्वायोगात्, धर्मिणो ज्ञानस्यासिद्धेश्च वेद्यत्वादिति हेतुराश्रयासिद्ध इति भावः। ४. धर्मिज्ञानं स्वसंविदितं ततो न यथोक्तदोषानुषङ्ग इति शङ्कायामाह। ५. धर्मिज्ञानेनैव। ६. वेद्यत्वादिति हेतोः। ७. धर्मिज्ञाने हि वेद्यत्वमस्ति, परन्तु स्वव्यतिरिक्तवेदनवेद्यत्वं। नास्ति। ततः साध्याभाववति विपक्षेऽपि हेतोः सद्भावाद् व्यभिचारित्वमिति। यद्वेद्यं तद्वेदनान्तरवेद्यमिति व्याप्तिस्तेन व्यभिचारः। ८. महेश्वरज्ञानं अस्वसंविदितं तत्सर्वज्ञतारूपं न भवति। स्वसंविदितं चेन्मतहानिः। ९. महेश्वरज्ञाने ज्ञानान्तरवेद्यत्वं नास्ति, वेद्यत्वमस्ति, ततस्तेन व्यभिचारः। १०. ज्ञानान्तरेण व्याप्तिज्ञाने व्यवधानाभावात्।

प्रतिपत्त्ययोगाच्च[४]। न हि [५]ज्ञापकमप्रत्यक्षं ज्ञाप्यं[६] गमयति[७]; [८]शब्दलिङ्गा[९]दीनामपि तथैव[१०] गमकत्वप्रसङ्गात्। [१]अनन्तरभाविज्ञानग्राह्यत्वे [२]तस्याप्यगृहीतस्य[३] [४]पराज्ञापकत्वात्तदनन्तरं[५] कल्पनीयम्। तत्रापि[६] तदनन्तर-मित्यनवस्था। तस्मान्नायं पक्षः[७] श्रेयान्।

[८]एतेन [९]करणज्ञानस्य[१०] परोक्षत्वेनास्वसंविदितत्त्वं ब्रुवन्नपि मीमांसकः[११] प्रत्युक्तः; [१२]तस्यापि

क्योंकि व्याप्तिज्ञान में अन्य ज्ञान से व्यवधान नहीं है। तथा अस्वसंविदित ज्ञान से पदार्थ की प्रतिपत्ति अर्थात् जानकारी भी नहीं हो सकती है; क्योंकि ज्ञापक अर्थात् जानकारी कराने वाला ज्ञान ही यदि अप्रत्यक्ष हो अपने आपको न जाने तो वह जनाने के योग्य जो ज्ञाप्त वस्तु है, उसे नहीं जना सकता है; अन्यथा शब्द और लिंग आदि के भी तथैव अर्थात् स्वयं अप्रत्यक्ष रहते हुए भी गमकपने का प्रसंग आता है।

भावार्थ—यदि यह माना जाये कि ज्ञान स्वयं अप्रत्यक्ष रहते हुए भी ज्ञेय का ज्ञान कराता है, तो शब्द कान से सुने बिना ही अर्थ का ज्ञान कराने वाला ठहरता है, तथा धूमादिक लिंग (हेतु) आँखों से देखे बिना ही अग्नि आदि के ज्ञान कराने वाले सिद्ध होते हैं। पर ऐसा होता नहीं है, अतः ज्ञान को स्व-परसंवेदी मानना चाहिए।

यदि कहा जाये कि पूर्व ज्ञान के अनन्तर-भावी ज्ञान के द्वारा ग्राह्यता बन जाती है, तो उस अनन्तर-भावी अगृहीत ज्ञान के भी पर की अज्ञापकता रहने से तदनन्तर-भावी अन्य ज्ञान की कल्पना करनी चाहिए और उसके लिए भी अन्य तदनन्तरभावी ज्ञान की कल्पना करनी चाहिए, इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञान अपने आप को नहीं जानता है, किन्तु अन्य ज्ञान से जाना जाता है, यह नैयायिक का पक्ष ठीक नहीं है।

इसी कथन से अर्थात् ज्ञान की ज्ञानान्तर वेद्यता के निराकरण से करणज्ञान को परोक्ष होने से अस्वसंविदितपना कहने वाले मीमांसक भी निराकृत कर दिये गये, क्योंकि उनके भी उस

---

१. ज्ञानं स्वपरप्रकाशकं ज्ञानत्वान्महेश्वरज्ञानवत्, अव्यवधानेनार्थप्रकाशकत्वाद्वाऽर्थग्रहणात्मकत्वाद्वा महेश्वरज्ञानवत्। यत्पुनः स्वपरप्रकाशकं न भवति न तज्ज्ञानव्यवधानेनार्थप्रकाशकं अर्थग्रहणात्मकं वा, यथा चक्षुरादिः। २. ज्ञानम्। ३. ज्ञेयमर्थम्। ४. मया अप्रत्यक्षं ज्ञानं न गमयति, इत्युक्तम्। त्वया गमयति इत्युच्यते चेत् श्रवणाप्रत्यक्षः शब्दोऽर्थे गमयतु दृष्टेरप्रत्यक्षो धूमोऽग्निं गमयेत्। ५. अन्यथा। ६. यत्र धूमस्तत्राग्निः। ७. स्वयमप्रत्यक्षत्वेनैव। ८. प्रथमज्ञानस्य। एकात्मसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्यमर्थज्ञानम्। तदपि ज्ञानान्तरेण गृहीतं विलोक्यते। ९. अनन्तरभाविज्ञानस्यापि। १०. अपरज्ञानेनागृहीतस्य पूर्वज्ञानेन गृहीतुं न पार्यते। ११. प्रथमज्ञानस्य। १२. ज्ञानान्तरम्। १३. तदनन्तरज्ञानेऽपि। १४. ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वादिति पक्षः। १५. ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वनिराकरणेन। परिच्छित्तिसाधनं ज्ञानम्। १६. मीमांसकेन करणज्ञानं ज्ञानान्तरेणानुमेयम्। १७. करणप्रमाणरूपस्य। १८. भाट्टः प्रभाकरश्च। भाट्टमते आत्मा प्रत्यक्षम्, प्रभाकरमते तु फलज्ञानं प्रत्यक्षम्। १९. मीमांसकस्यापि। करणज्ञानात् अगृहीताद् इति प्रतिपादनानन्तरम्।

[१]ततोऽर्थप्रत्यक्षत्वायोगात्। [२]अथ [३]कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वादप्रत्यक्षत्वे[४] [५]तर्हि [६]फलज्ञानस्याप्रत्यक्षता तत[७] एव स्यात्। अथ[८] [९]फलत्वेन [१०]प्रतिभासनात् नो चेत् [११]करणज्ञानस्यापि[१२] करणत्वेनावभासनात् प्रत्यक्षत्वमस्तु। [१३]तस्मादर्थप्रति[१४]पत्त्यन्यथाऽनुपपत्तेः[१५] [१६]करणज्ञानकल्पनावदर्थप्रत्यक्षत्वान्यथाऽ[१७]नुपपत्तेर्ज्ञानस्यापि प्रत्यक्षत्वमस्तु[१८]। अथ करणस्य[१९] चक्षुरादेरप्रत्यक्षत्वेऽपि रूपप्राकट्याद् व्यभिचार[२०] इति चेन्न, भिन्नकर्तृकरण-स्यैव[२१] [२२]तद्व्यभिचारात्। अभिन्नकर्तृके [२३]करणे सति [२४]कर्तृप्रत्यक्षतायां तदभिन्नस्यापि[२५] करणस्य कथञ्चित्[२६]

करणज्ञान से अर्थ की प्रत्यक्षता नहीं बनती है। यदि कहा जाये कि कर्मरूप से प्रतीत न होने के कारण करणज्ञान के अप्रत्यक्षता है, तो हम कहते हैं कि इसीलिए ही अर्थात् कर्मरूप से प्रतीत न होने के कारण ही फलज्ञान के भी अप्रत्यक्षता मानी जाये। यदि कहा जाये कि फलरूप से प्रतिभासित होने के कारण फलज्ञान के परोक्षता नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षता है, तो हम भी कहते हैं कि करणज्ञान के भी करणरूप से प्रतिभासित होने के कारण प्रत्यक्षता मानी जाये। इसलिए अर्थ का ज्ञान अन्यथा नहीं हो सकने से जैसे करणज्ञान की कल्पना की जाती है, उसी के समान अर्थ की प्रत्यक्षता अन्यथा नहीं हो सकने से ज्ञान के भी प्रत्यक्षता रही आये, अर्थात् ज्ञान के भी प्रत्यक्षता मानी जाये। यदि कहा जाये कि करण चक्षु आदि इन्द्रिय के अप्रत्यक्षपना होने पर भी रूप की प्रकटता से व्यभिचार आता है, सो भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि भिन्न कर्ता वाले करण के ही वह व्यभिचार दोष प्राप्त होता है किन्तु अभिन्न कर्त्ता वाले करण के कर्त्ता होने पर कर्त्ता के प्रत्यक्ष होने की दशा में उससे अभिन्न करण के भी कथञ्चित् प्रत्यक्ष होने से अप्रत्यक्षता रूप

१. करणज्ञानतः। २. प्रभाकर आह। ३. करणज्ञानस्य। ४. यथा घटः कर्मत्वेन प्रतीयते तथा करणज्ञानं कर्मत्वेन न प्रतीयते। अतोऽप्रत्यक्षता करणज्ञानस्य। यत्कर्मत्वेन प्रतीयते तत्प्रत्यक्षम्। ५. यदि कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात्करणज्ञानस्य परोक्षता, तर्हि। ६. प्रमितिक्रियायाः। ७. कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वादेव। ८. भाट्टस्य तु कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वा-दात्मनोऽप्यप्रत्यक्षता स्यादिति। ९. क्रियात्वेन फलज्ञानस्य। १०. अतः परोक्षता नो चेदिति सम्बन्धः। ११. तर्हि। १२. करणज्ञानमस्ति यथा तथा करणज्ञानस्यापि प्रत्यक्षता साध्यते। १३. अनेन हेतुना अस्तित्वकल्पना करणज्ञानस्य तथा प्रत्यक्षम्। १४. समः समाधिः प्रदर्श्यते-अर्थप्रत्यक्षत्वात् अन्यथानुपपत्तेर्ज्ञानस्यापि प्रत्यक्षत्वमस्तु। १५. स्वसंविदितमन्तरेण। १६. मयि करणज्ञानमस्ति, अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेरित्यनुमानेन वेद्यत्वादप्रत्यक्षत्वमिति चेत्। १७. स्वसंविदितमन्तरेण। १८. करणज्ञानं प्रत्यक्षं भवितुमर्हति, अर्थप्रत्यक्षत्वान्यथानुपपत्तेः। करणज्ञानमस्ति, अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेरिति चेत् करणज्ञानं प्रत्यक्षमर्थ-प्रत्यक्षत्वान्यथानुपपत्तेरित्यपि भवत्विति भावः। १९. इन्द्रियस्य। २०. करणभूते चक्षुरादौ रूपादि-प्राकट्यमस्ति, प्रत्यक्षत्वं नास्ति। ततः साध्याभाववति हेतोः सद्भावाद् व्यभिचार इति। २१. करणं द्वेधा विभक्ताविभक्त-कर्तृकभेदात्। कर्तुरन्यद्विभक्तकर्तृककरणं, यथा परशुना छिनत्ति देवदत्तः। कर्तुरनन्यदविभक्तकम्। यथाऽग्निर्दहत्यौष्ण-येनेति। इह त्वविभक्तकर्तृककरणं विविक्षतं तस्माद्विभक्तकर्तृककरणेन व्यभिचारोऽपि न दोषायेति भावः। २२. हेतोः। २३. लब्धिलक्षणे भावेन्द्रिये। २४. तन्मते आत्मा प्रत्यक्षः। २५. कर्तुरभिन्नस्यापि। २६. आत्मापेक्षया।

प्रत्यक्षत्वेनाप्रत्यक्षतैकान्तविरोधात्, [१]प्रकाशात्मनोऽ[२] प्रत्यक्षत्वे[३] [४]प्रदीपप्रत्यक्षत्वविरोधवदिति।

[५]गृहीतग्राहिधारावाहि[६] ज्ञानं गृहीतार्थम्, [७]दर्शनं सौगताभिमतं निर्विकल्पकम्, तच्च[८] [९]स्वविषयानुपदर्शकत्वादप्रमाणम्, [१०]व्यवसायस्यैव [११]तज्जनितस्य तदुपदर्शकत्वात्[१२]।

अथ व्यवसायस्य[१३] प्रत्यक्षाकारेणानुरक्तत्वात्[१४] ततः प्रत्यक्षस्यैव प्रामाण्यम्, व्ययसायस्तु [१५]गृहीत-

---

एकान्त का विरोध है; जैसे प्रकाशात्मकता के अप्रत्यक्ष रहने पर प्रदीप की प्रत्यक्षता का विरोध है।

विशेषार्थ—किसी भी पदार्थ के जानने के समय कर्ता, कर्म, करण और क्रिया की प्रतीति होती है, यह बात आचार्य प्रथम समुद्देश में बतला आये हैं। इनके विषय में जो विवाद है, उसकी चर्चा भी वहीं की जा चुकी है। प्रकृत में मीमांसकों का यह कहना है कि "मैं घट को आँख से देखता हूँ" इस प्रतीति में कर्मरूप घट तो प्रत्यक्ष है, देखने रूप जो क्रिया है और जिसे कि फलज्ञान कहते हैं, वह भी प्रत्यक्ष है, किन्तु आँख जो करण है अर्थात् देखने में साधकतम कारण है, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है; क्योंकि कोई भी आँख अपने आपको नहीं देख सकती है, अतः करणज्ञान परोक्ष है। इस विषय में उत्पन्न होने वाली शंकाओं का समाधान और आक्षेपों का उत्तर देते हुए आचार्य ने अन्त में यह बतलाया है कि करण दो प्रकार के होते हैं–१ भिन्नकर्तृक और अभिन्नकर्तृक। देवदत्त फरसे से काठ काटता है, यह भिन्नकर्तृक करण का उदाहरण है और अग्नि अपनी उष्णता से काठ को जलाती है, यह अभिन्नकर्तृक करण का उदाहरण है। प्रकृत में अभिन्नकर्तृक करण विवक्षित है, इसलिए मीमांसकों ने जो व्यभिचार दोष दिया है, वह लागू नहीं होता। जैसे दीपक अपने भासुराकार प्रकाश से पदार्थों को प्रकाशित करता है, यहाँ पर करण जो भासुराकार प्रकाश है, यह परोक्ष नहीं, अपितु प्रत्यक्ष ही है। यदि उसे भी परोक्ष माना जायेगा, तो फिर दीपक की प्रत्यक्षता भी नहीं बन सकेगी, अर्थात् उसे भी परोक्ष ही मानना पड़ेगा।

गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान गृहीतार्थ प्रमाणाभास है; क्योंकि इसमें अज्ञान की निवृत्तिरूप कोई फल नहीं पाया जाता। बौद्धों के द्वारा माना गया जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण है, वह दर्शन नाम का प्रमाणाभास है, वह भी अपने विषय का उपदर्शक अर्थात् निश्चय करने वाला न होने से अप्रमाण है; किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के पश्चात् अपने विषयभूत पदार्थ से उत्पन्न हुआ व्यवसाय

---

१. प्रकाशरूपस्य। २. अप्रत्यक्षमात्मानं वदन्तं प्राभाकरं प्रतीदम्। ३. प्राभाकरमतानुसारेणोक्ते सतीदम्। ४. करणज्ञानं प्रत्यक्षं अभिन्नकर्तृके सति प्रत्यक्ष कार्यकरणत्वात् प्रदीपभासुराकारवत्। ५. गृहीतगृहीतमिति गृह्णाति। ६. तदपि न प्रमाणम्। कुतः अज्ञाननिवृत्तिलक्षणफलाभावात्। यत्प्रमाणं तत्फलवदिति वचनात्। ७. प्रत्यक्षम्। ८. दर्शनम्। ९. स्वविषयानुपदर्शकत्वात् प्रवर्तकाप्रवर्तकत्वा-दविसंवादकमिति तन्मतम्। निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य अनिश्चायकत्वादिति। १०. सविकल्पकज्ञानस्य। ११. दर्शन। १२. प्रत्यक्षविषयोपदर्शकत्वात्। १३. सविकल्पज्ञानस्य। १४. साक्षात्प्रत्यक्ष-प्रमाणत्वाभावादित्यर्थः। १५. प्रत्यक्षगृहीतविषयस्यैव ग्राहकत्वाद् व्यवसायस्येति भावः।

ग्राहित्वादप्रमाणमिति। तन्न सुभाषितम्; दर्शनस्याविकल्प[१]कस्यानुपलक्षणात्[२]। तत्सद्भावायोगात्। [३]सद्भावे वा नीलादाविव क्षणक्षयादावपि तदुपदर्शकत्वप्रसङ्गात्[४]। तत्र[५] [६]विपरीतसमारोपान्नेति चेत्तर्हि सिद्धं नीलादौ समारोपविरोधिग्रहणलक्षणो निश्चय[७] इति तदात्मकमेव[८] प्रमाणम्[९], [१०]इतरत्तदाभासमिति।

संशयादयश्च प्रसिद्धा[११] एव। तत्र संशय उभयकोटिसंस्पर्शी स्थाणुर्वा पुरुषो वेति परामर्शः[१२]। विपर्ययः पुनरतस्मिंस्तदिति विकल्पः[१३]। [१४]विशेषानवधारणमनध्यवसायः।

कथमेषामस्वसंविदितादीनां तदाभासतेत्यत्राऽऽह–

स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्[१५]॥३॥

(निश्चय) रूप जो सविकल्पक ज्ञान है, वही अपने विषय का उपदर्शक है, अतः उसी के प्रमाणता है। यहाँ पर बौद्ध कहते हैं कि व्यवसायरूप सविकल्प ज्ञान वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष के आकार से अनुरक्त है अर्थात् प्रत्यक्ष जैसा प्रतीत होता है। इसलिए निर्विकल्प प्रत्यक्ष के ही प्रमाणता है। व्यवसायरूप ज्ञान तो गृहीतग्राही होने से अप्रमाण है। आचार्य कहते हैं कि उनका यह कथन भी सुभाषित नहीं है; क्योंकि विकल्प रहित दर्शन की उपलब्धि न होने से उसका सद्भाव नहीं माना जा सकता। अथवा किसी प्रकार यदि उसका सद्भाव मान भी लिया जाये, तो नील आदि के समान क्षणक्षयादि में भी उसके उपदर्शकपने का प्रसंग आता है। यदि कहा जाये कि क्षणक्षयादि में क्षणिक से विपरीत अक्षणिक का संशयादिरूप समारोप हो जाने से वह उसका उपदर्शक नहीं हो सकता। इस पर आचार्य कहते हैं कि तब तो आपके द्वारा नीलादि में समारोप के विरोधी ग्रहण लक्षण वाला निश्चय स्वीकार कर लेने से यह सिद्ध हुआ कि तदात्मक अर्थात् पदार्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है और जो निश्चयात्मक नहीं, ऐसा निर्विकल्परूप दर्शन प्रमाणाभास है।

संशयादिक प्रमाणाभास प्रसिद्ध ही है। वह स्थाणु है, या पुरुष है; इस प्रकार उभय कोटि के स्पर्श करने वाले परामर्श को संशय कहते हैं। अन्य वस्तु में किसी अन्य वस्तु का विकल्प करना विपर्यय है। जैसे सीप को चाँदी समझ लेना। नाम, जाति आदि विशेष के निश्चय नहीं होने को अनध्यवसाय कहते हैं। ये तीनों ही प्रमाणाभास हैं; क्योंकि इनसे यथार्थ अर्थ का निश्चय नहीं होता।

इन उपर्युक्त अस्वसंविदित ज्ञानादिक के प्रमाणाभासता क्यों है; इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–क्योंकि वे अपने विषय का निश्चय नहीं कराते हैं ॥३॥

---

१. ज्ञानरूपस्य। २. अनुपलम्भात्। ३. किञ्च। ४. अक्षणिकत्वात्। ५. क्षणक्षयादौ। ६. न क्षणिकं नित्यमिति विपरीतसमारोपात्, संशयावतारात्। ७. ज्ञानम्। ८. निश्चयात्मकमेव। सविकल्पास्तित्वं निर्विकल्पकस्य नास्तित्वमिति। ९. व्यवसायात्मकं दर्शनम्। १०. निर्विकल्पात्मकम्। ११. तदाभासाः। १२. विचारः। १३. भेदः। १४. नामजातियोजनाद्यनवधारणम्। १५. प्रवृत्ति विषयोपदर्शकत्वाभावात्।

गतार्थमेतत्।

अत्र दृष्टान्तं यथाक्रममाह–

पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत्[१] ॥४॥

पुरुषान्तरञ्च पूर्वार्थश्च गच्छत्तृणस्पर्शश्च स्थाणुपुरुषादिश्च तेषां ज्ञानम्, तद्वत्।

अपरं च सन्निकर्षवादिनं प्रति दृष्टान्तमाह–

[२]**चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च**[३] ॥५॥

अयमर्थो यथा चक्षूरसयोः संयुक्तसमवायः सन्नपि न प्रमाणम्[४], तथा चक्षूरूपयोरपि[५]। तस्मादयमपि

इस सूत्र का अर्थ ऊपर ही कहा जा चुका है।

अब आचार्य ऊपर कहे हुए प्रमाणाभासों के यथाक्रम से दृष्टान्त कहते हैं–

सूत्रार्थ–अस्वसंविदित ज्ञान प्रमाण नहीं है; क्योंकि वह अपने विषय का निश्चय नहीं करता है, जैसे दूसरे पुरुष का ज्ञान। गृहीतार्थ ज्ञान प्रमाण नहीं है; क्योंकि वह भी अपने विषय-विशेष का ज्ञान नहीं कराता; जैसे पूर्व में जाने हुए पदार्थ का ज्ञान। निर्विकल्पक दर्शन प्रमाण नहीं है; क्योंकि वह भी अपने विषय का निश्चय नहीं करता; जैसे चलते हुए पुरुष के तृणस्पर्शादि का ज्ञान। और संशयादिक भी प्रमाण नहीं है; क्योंकि वे भी अपने विषय का निश्चय नहीं कराते; जैसे कि यह स्थाणु है, या पुरुष है, इत्यादिक ज्ञान ॥४॥

सूत्रोक्त पुरुषान्तर, पूर्वार्थ, गच्छत्तृणस्पर्श और स्थाणुपुरुषादि इन पदों का पहले द्वन्द्व समास करना चाहिए। पीछे ज्ञान पद के साथ उनका षष्ठी तत्पुरुष समास करना चाहिए।

अब आचार्य सन्निकर्ष को प्रमाण मानने वाले नैयायिकादि के प्रति दृष्टान्त कहते हैं–

सूत्रार्थ–द्रव्य में चक्षु और रस के संयुक्त समवाय के समान ॥५॥

सूत्र का यह अर्थ है कि जिस प्रकार द्रव्य में चक्षु और रस का संयुक्त समवाय होता हुआ भी प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वह ज्ञानरूप फल को उत्पन्न नहीं करता। उसी प्रकार द्रव्य में चक्षु और रूप का संयुक्त समवाय भी प्रमाण नहीं है; क्योंकि वह भी ज्ञानरूप फल को पैदा नहीं करता

---

१. अस्वसंविदितं ज्ञानं प्रमाणं न भवति, स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् पुरुषान्तरज्ञानवत्। गृहीतार्थज्ञानं प्रमाणं न भवति, स्वविषयोप-दर्शकत्वाभावात्, पूर्वार्थज्ञानवत्। निर्विकल्पकं ज्ञानं प्रमाणं न भवति, स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्, गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानवत्। संशयादिज्ञानं प्रमाणं न भवति, स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्, स्थाणु-पुरुषादिज्ञानवत्। २. चक्षुषा सह रूपं संयुक्तम्, संयुक्तेन रूपेण सह रसस्य समवायः। रसेन सह सन्निकर्षत्वादतिव्याप्तिः, रूपयुक्तस्य चक्षुषो लक्ष्यरूपस्य स्वरूपपरिज्ञानाभावादव्याप्तिः। ३. सन्निकर्षज्ञानं प्रमाणं भवति, स्वविषयोपदर्शकत्वा-भावात्, चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवत्। ४. सन्निकर्षः। ५. संयुक्तसमवायः प्रमाणं न भवति।

प्रमाणाभास एवेति। [१]उपलक्षणमेतत् [२]अतिव्याप्तिकथनमव्याप्तिश्च[३]; सन्निकर्षप्रत्यक्षवादिनां चक्षुषि सन्निकर्षस्याभावात्[४]।

अथ चक्षु प्राप्तार्थपरिच्छेदकम्[५], व्यवहितार्थाप्रकाशकत्वात् प्रदीपवदिति [६]तत्सिद्धिरिति मतम्, तदपि

इसलिए यह सन्निकर्ष भी प्रमाणाभास ही है। यह अतिव्याप्ति का कथन उपलक्षणरूप है, अतः इससे अव्याप्ति दोष का भी ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण कहने वाले योगों के मत से आँख में सन्निकर्ष का अभाव है।

विशेषार्थ—इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग को सन्निकर्ष कहते हैं। नैयायिक लोग सन्निकर्ष के छह भेद मानते हैं –संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त-वेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव। आँख से घड़े को जानना संयोग सन्निकर्ष है। घड़े के रूप को जानना संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष है, क्योंकि आँख के साथ घड़े का संयोग सम्बन्ध है और घड़े के साथ रूप का समवाय सम्बन्ध है। प्रकृत में इसी से प्रयोजन है। आचार्य कहते है कि जैसे घड़े और रूप का समवाय सम्बन्ध है, उसी प्रकार रस का भी समवाय सम्बन्ध है इसलिए जैसे आँख से घड़े के रूप का ज्ञान होता है, उसी प्रकार उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाले रस का भी आँख से ज्ञान होना चाहिए। परन्तु होता नहीं है। इसलिए प्रतीति के अभाव में भी लक्षण के पाये जाने से अतिव्याप्ति दोष आता है। इसी प्रकार इन्द्रिय-पदार्थ के सम्बन्धरूप सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर अव्याप्ति दोष भी आता है, क्योंकि शेष इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने पर भी आँख के साथ पदार्थ का सम्बन्ध नहीं है, फिर भी उसे प्रमाण माना गया है और आँख पदार्थ के साथ स्पृष्ट होकर अर्थात् उससे भिड़कर पदार्थ को नहीं जानती है, मन के समान उससे अस्पृष्ट रहकर ही अपने विषय को ग्रहण करती है, इसलिए चक्षुरिन्द्रिय जनित प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष लक्षण के सम्भव न होने से असम्भव दोष भी आता है। अतएव सन्निकर्ष को प्रमाण नहीं माना जा सकता, किन्तु वह प्रमाणाभास ही है।

यदि कहा जाये कि चक्षु प्राप्त अर्थ को जानने वाली है, किन्तु बीच में अन्य पदार्थ के व्यवधान आने से वह अपने विषयभूत अर्थ की अप्रकाशक रहती है। जैसे दीपक भीति आदि से

---

१. कदाचित् असम्बद्धमुपलक्षणं काकोपलक्षितगृहवत्। २. सन्निकर्षः प्रमाणमिति लक्षणे सति चक्षूरसयोः संयुक्तसमवाय-सन्निकर्षोऽस्ति, परन्तु तत्र चक्षुषा रसप्रतिपत्तिर्नास्ति। तस्मात्प्रमित्यभावेऽपि लक्षणसद्भावादतिव्याप्तिरिति। ३. चक्षुर्मनसोः प्रमित्युत्पादकत्वमस्ति, सनिकर्षत्वं नास्ति। तस्माल्लक्ष्यमात्राव्याप्तत्वाल्लक्षणस्याव्याप्तिरिति। अयमाशयः–यदा सन्निकर्षस्य प्रमाणत्वं क्रियते तदा चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायस्यापि प्रमाणत्वप्रसङ्गो भवतु, इत्यतिव्याप्तिः। लक्ष्यालक्ष्यवृत्तिरतिव्याप्तिः। चक्षुर्विना इतरेन्द्रियाणां सन्निकर्षसम्बन्धोऽस्ति, तस्मादव्याप्तिः। लक्ष्यैकदेश-वृत्तिरव्याप्तिरिति। ४. अनेनासम्भवितत्वदूषणं च दर्शितम्। अप्राप्यकारि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात्। यदि प्राप्यकारि चक्षुः, त्वगिन्द्रियवत्स्पृष्टमञ्चनं ग्रह्णीयात्। न च गृह्णाति, अतो मनोवदप्राप्यकारीत्यवसेयम्। ५. निश्चायकम्। ६. चक्षुषि सन्निकर्षादिसिद्धिः, प्राप्तार्थपरिच्छेदकत्वसिद्धिरिति।

न साधीयः, काचाभ्रपटलादिव्यवहितार्थानामपि चक्षुषा प्रतिभासनाद्धेतोरसिद्धेः। शाखाचन्द्रमसोरेककाल-दर्शनानुपपत्तिप्रसक्तेश्च। न च [1]तत्र क्रमेऽपि यौगपद्याभिमान इति वक्तव्यम्, [2]कालव्यवधानानुपलब्धेः। किञ्च–क्रमप्रतिपत्तिः प्राप्तिनिश्चये[3] सति भवति। न च क्रमप्राप्तौ प्रमाणान्तरमस्ति। [4]तैजसत्वमस्तीति चेन्न; [5]तस्यासिद्धे। अथ चक्षुस्तैजसम्; रूपादीनां[6] मध्ये [7]रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्, प्रदीपवदिति।

व्यवधान को प्राप्त पदार्थ का प्रकाशक नहीं होता। इसलिए चक्षुरिन्द्रिय के प्राप्तार्थ प्रकाशकता सिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा भी आपका मत समीचीन नहीं है, क्योंकि काँच और अभ्रकपटल आदि से व्यवधान को प्राप्त भी पदार्थों का चक्षुरिन्द्रिय से परिज्ञान होता है, इसलिए आपका हेतु असिद्ध है। यदि आँख से व्यवहित पदार्थ का ज्ञान न माना जाये, तो वृक्ष की शाखा और चन्द्रमा के एक ही समय में दर्शन नहीं होने का प्रसंग आता है। यदि कहें कि वृक्ष को शाखा और चन्द्रमा इन दोनों के दर्शन में क्रम होने पर भी पुरुष को यौगपद्य का अभिमान होता है कि मैं शाखा और चन्द्रमा को एक साथ देख रहा हूँ, सो ऐसा भी नहीं कहना चाहिए; क्योंकि शाखा और चन्द्रमा के एक साथ देखने में काल का व्यवधान नहीं पाया जाता। दूसरी बात यह है कि क्रम का ज्ञान तो क्रम की प्राप्ति का निश्चय होने पर ही हो सकता है। किन्तु क्रम की प्राप्ति में कोई अन्य प्रमाण नहीं पाया जाता है। यदि कहें कि तैजसत्व प्रमाण है, अर्थात् चक्षु क्रम से प्राप्त अर्थ की प्रकाशक है, क्योंकि उसमें तैजसपना पाया जाता है। चक्षु के तेजोद्रव्य होने से शाखा और चन्दमा की क्रमशः प्राप्ति सिद्ध है। सो आपका यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि आँख के तैजसपना असिद्ध है, अर्थात् आँख के तेजोद्रव्य के समान भासुरपना नहीं पाया जाता। यदि कहें कि चक्षु तैजस है; क्योंकि वह रूप-रसादि के मध्य में से केवल रूप की ही प्रकाशक है; जैसे दीपक घटपटादि पदार्थों में रूप-रसादि के रहने पर भी केवल रूप का ही प्रकाशक है। आचार्य कहते हैं कि आपका यह अनुमान-प्रयोग भी बिना विचारे कहा हुआ है; क्योंकि मणि और

---

१. शाखाचन्द्रमसोरेककालग्रहणे। २. शाखाचन्द्र-मसोरेककालग्रहणे कालव्यवधानो नोपलभ्यत इति भावः। ३. क्रमस्योपलब्धिनिश्चये। ४. क्रमप्राप्तिनिश्चये तैजसत्वं प्रमाणमस्ति, चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकं तैजसत्वात्। चक्षुषः तेजोद्रव्यत्वात्क्रमेणैव शाखाचन्द्रमसोः प्राप्तिरिति भावः। ५. अतैजसं चक्षुर्भासुरत्वानुपलब्धेरित्यनेन चक्षुषः तैजसत्वमसिद्धमिति। ६. आदिपदेन रसगन्धस्पर्शाश्च गृह्यन्ते। ७. चक्षुस्तैजसं रूपस्यैव प्रकाशकत्वादित्युच्यमाने येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनैव तज्जातिस्तदभावश्च गृह्यते, इति नियमाद्धेतुः स्वरूपासिद्धः स्यादतस्तद्वारणाय 'रूपादीनां मध्ये' इति विशेषणं दत्तमिति। प्रदीपस्य स्वीयस्पर्शव्यञ्जकत्वादत्र दृष्टान्तेऽतिव्याप्तिवारणाय। परकीयरसाद्यव्यञ्जकत्व इति विशेषणम् तथा घटादेः स्वीयरूपव्यञ्जकत्वाद् व्यभिचारवारणाय परकीयरूपव्यञ्जकत्वादिति विशेष्यम्, चक्षुःसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम्, तथा सति चक्षुस्तैजसं द्रव्यत्वे सति परकीयरसाद्यव्यञ्जकत्वे सति च परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवदित्यनुमानं भवति।

तदप्यपर्यालोचिताभिधानम्, मण्यञ्जनादेः पार्थिवत्वेऽपि [१]रूपप्रकाशकत्वदर्शनात्। पृथिव्यादिरूप-प्रकाशकत्वे [२]पृथिव्याद्यारब्धत्वप्रसङ्गाच्च। तस्मात्सन्निकर्षस्याव्याप[३]कत्वान्न प्रमाणत्वम्, [४]करणज्ञानेन [५]व्यवधानाच्चेति।

[६]प्रत्यक्षाभासमाह–

[७]अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्[८] [९]धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत्[१०]॥६॥

परोक्षाभासमाह–

अञ्जन आदि के पार्थिवपना होने पर भी रूप का प्रकाशकपना देखा जाता है, इसलिए आपका हेतु व्यभिचारी है। यदि तेजोद्रव्य के रूप को प्रकाशित करने से चक्षु के तैजसपना माना जाये, तो पृथ्वी आदि के रूप का प्रकाशक होने पर उसके पृथ्वी आदि से आरब्ध होने अर्थात् रचे जाने का भी प्रसंग आता है, तब चक्षु को भी पार्थिव मानना पड़ेगा। इसलिए सन्निकर्ष के अव्यापकता होने से प्रमाणता नहीं है। दूसरे, करणज्ञान से व्यवधान भी है। अर्थात् इन्द्रिय का पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होने पर भी जानने में साधकतम कारण तो इन्द्रियज्ञान ही है; सन्निकर्ष नहीं। अतः सन्निकर्ष प्रमाणाभास ही हैं।

इस प्रकार सामान्य से प्रमाणाभास का स्वरूप कहकर अब आचार्य प्रमाण के भेदों के आभास कहते हुए पहले प्रत्यक्षाभास को कहते हैं–

सूत्रार्थ–बौद्ध का अविशदरूप निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है, जैसे कि अकस्मात् धूम के देखने से उत्पन्न हुआ अग्नि का ज्ञान अनुमानाभास है; क्योंकि ये दोनों ही अपने विषयभूत पदार्थ का निश्चय नहीं कराते हैं ॥६॥

अब परोक्षाभास को कहते हैं–

---

१. मण्यञ्जनादौ तैजसत्वं नास्ति, रूपस्य प्रकाशकत्वमस्ति, तस्मात्साध्याभाववति मण्यञ्जनादौ हेतोः सद्भावाद् व्यभिचारित्वं तस्येति भावः। २. यदि चक्षुषस्तेजोरूप-प्रकाशकत्वात्तेजः कार्यत्वं द्रव्यं तर्हि पृथिव्याः समवायिरूपप्रकाशकत्वात् पृथिव्याः कार्यत्वप्रसङ्ग इत्याह–तैजसत्वं हि तेजोद्रव्यनिर्वर्त्यत्वं तस्य च तेजोद्रव्यं समवायिरूप-प्रकाशकत्वेन सिद्धौ पृथिव्यप्द्रव्यरूपव्यञ्जकत्वेन पृथिव्यप्द्रव्यनिर्वर्त्यत्वं चक्षुषः सिद्ध्येदित्यर्थः। चक्षुषस्तेजोरूपाभिव्यञ्जकत्वात्तेजः कार्यत्ववत् पृथिव्यप्कार्यत्वप्रसङ्ग इति भावः। ३. यतश्चक्षुर्मनसश्चाप्राप्तमर्थमुप-लभ्यते। ४. तथाहि–अर्थसंवेदनं भावेन्द्रियकारकं तदसन्निधाने कारकान्तर-सन्निधानेऽपि अर्थसंवेदनाभावात्। अतिशायितं साधकं प्रकृष्टं कारणं करणमित्यर्थः। ५. प्रमाणोत्पत्तौ सन्निकर्षस्य करणज्ञानेन व्यवधानमस्ति, 'साधकतमं करणं' इति नियमात्तत्र साधकतमं करणं ज्ञानमेव, न सन्निकर्ष इति भावः। ६. एतावत्पर्यन्तं प्रमाणसामान्याभासं प्रतिपाद्य विशेषप्रमाणाभासं प्रतिपादयति। ७. यथा बौद्धपरिकल्पितं निर्विकल्पप्रत्यक्षं अविशद वर्तते तथापि बौद्धः विशदं भाषते। ८. व्याप्तिस्मरणादिकं विना। ९. अकस्माद् धूमदर्शनाद् यथा वह्निविज्ञानं न भवति। १०. यथा धूमवाष्पादिविवेक-निश्चयाभावाद् व्याप्तिग्रहणाभावादकस्माद्धूमाज्जातं यद्वह्निविज्ञानं तत्तदाभासं भवति कस्मादनिश्चयात्। तथा बौद्धपरिकल्पितं यन्निर्विकल्पकप्रत्यक्षं तत्प्रत्यक्षाभासं कस्मादनिश्चयात्।

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं[1] मीमांसकस्य [2]करणज्ञानवत्॥७॥

प्राक् प्रपञ्चिमेतत्।

परोक्षभेदाभासमुपदर्शयन् प्रथमं क्रमप्राप्तं स्मरणाभासमाह–

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथा॥८॥

अतस्मिन्ननुभूत इत्यर्थः। शेषं सुगमम्।

प्रत्यभिज्ञानाभासमाह–

[3]सदृशे तदेवेदं[4] तस्मिन्नेव[5] तेन सदृशं[6] [7]यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम्॥९॥

द्विविधं प्रत्यभिज्ञानाभासमुपदर्शितम्–एकत्वनिबन्धनं सादृश्यनिबन्धनं चेति। तत्रैकत्वे सादृश्यावभासः सादृश्ये चैकत्वावभासस्तदाभासमिति[8]।

सूत्रार्थ–विशद ज्ञान को भी परोक्ष मानना परोक्षाभास है। जैसे मीमांसक करणज्ञान को परोक्ष मानते हैं। उनका ऐसा मानना परोक्षाभास है ॥७॥

करणज्ञान का पहले विस्तार से विवेचन किया जा चुका है।

अब आचार्य परोक्ष प्रमाण के भेदों के आभास बतलाते हुए पहले क्रम प्राप्त स्मरणाभास को कहते हैं।

सूत्रार्थ–जिसका पहले कभी धारणारूप से अनुभव नहीं किया; उसमें 'वह है' इस प्रकार के ज्ञान को स्मरणाभास कहते हैं। जैसे जिनदत्त में वह देवदत्त है, ऐसा स्मरण करना ॥८॥

अतस्मिन् अर्थात् पहले अनुभव नहीं किये गये पदार्थ में। शेष शब्दों का अर्थ सुगम है।

अब प्रत्यभिज्ञानाभास का स्वरूप कहते हैं–

सूत्रार्थ–सदृश पदार्थ में ''यह वही है'' ऐसा कहना, उसी पदार्थ में ''यह उसके सदृश है'' ऐसा कहना। जैसे एक साथ जन्मे हुए दो बालकों में विपरीत ज्ञान हो जाता है, इत्यादि प्रकार के अन्यथा प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यभिज्ञानाभास कहते हैं ॥९॥

सूत्र में दो प्रकार के प्रत्यभिज्ञानाभास को बतलाया गया है–पहला एकत्वनिमित्तक और दूसरा सादृशनिमित्तक। एकत्व में सादृश्य का ज्ञान होना और सादृश्य में एकत्व का ज्ञान होना ही प्रत्यभिज्ञानाभास है।

---

१. परोक्षाभासम्। २. मीमांसकमतेकरणज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यमिति। परन्तु न हि करणज्ञानेऽव्यवधानेन प्रतिभासलक्षणं वैशद्यमसिद्धं स्वार्थयोः प्रतीत्यन्तरनिरपेक्षतया तत्र प्रतिभासनादिति। ३. देवदत्तसदृशे देवदत्त एव। ४. एकत्वप्रत्यभिज्ञानाभासम्। ५. देवदत्ते देवदत्तसदृशो यमलकवद् दृश्यते। ६. सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभासम्। स्वयं स्वेन सदृशमित्यर्थः। ७. युगलोत्पन्नवत्। ८. प्रत्यभिज्ञानाभासम्।

तर्काभासमाह–

[1]असम्बद्धे तज्ज्ञानं[2] तर्काभासम्॥१०॥

यावाँस्तत्पुत्रः स श्याम इति यथा। तज्ज्ञानमिति व्याप्तिलक्षणसम्बन्धज्ञानमित्यर्थः।

इदानीमनुमानाभासमाह–

इदमनुमानाभासम्॥११॥

इदं वक्ष्यमाणमिति भावः।

तत्र तदवयवाभासोपदर्शनेन समुदायरूपानुमानाभासमुपदर्शयितुकामः प्रथमावयवाभासमाह–

[3]तत्रानिष्टादिः[4] पक्षाभासः[5]॥१२॥

इष्टमबाधितमित्यादि तल्लक्षणमुक्तम्। इदानीं तद्विपरीतं तदाभासमिति कथयति–

अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः[6] शब्दः॥१३॥

अब तर्काभास का स्वरूप कहते हैं–

सूत्रार्थ—अविनाभाव-सम्बन्ध से रहित पदार्थ में अविनाभाव-सम्बन्ध का ज्ञान करना तर्काभास है ॥१०॥

जैसे किसी पुरुषविशेष के पुत्रों की श्यामपने के साथ व्याप्ति नहीं है, फिर भी कहना कि जो भी उसका पुत्र होगा, वह श्याम होगा। सूत्रोक्त तज्ज्ञान इस पद का अर्थ व्याप्ति लक्षण वाले अविनाभाव-सम्बन्ध का ज्ञान है।

अब अनुमानाभास का स्वरूप कहते हैं–

सूत्रार्थ—यह अनुमानाभास है जो आगे कहा जा रहा है ॥११॥

इदं अर्थात् वक्ष्यमाण पक्षाभासादि अनुमानाभास के ही अन्तर्गत हैं, यह भाव समझना चाहिए।

उस अनुमानाभास के अवयवाभासों को बतलाने से ही समुदायरूप अनुमानाभास का ज्ञान हो जाता है, यह दिखलाते हुए आचार्य पहले उसके प्रथम अवयवभूत पक्षाभास को कहते हैं–

सूत्रार्थ—उनमें अनिष्ट, बाधित और सिद्ध को पक्ष कहना पक्षाभास है ॥१२॥

पहले पक्ष या साध्य का लक्षण इष्ट, अबाधित और असिद्ध कह आये हैं। उनसे विपरीत को पक्षाभास कहते हैं।

अब आचार्य उन विपरीत स्वरूप वाले तदाभासों को कहते हैं–

सूत्रार्थ—मीमांसक का ऐसा कहना कि शब्द अनित्य है अनिष्ट पक्षाभास है; क्योंकि उसके

---

१. अविनाभावरहितेऽव्याप्तौ। २. व्याप्तिज्ञानम्। ३. अनुमानाभासे। ४. वादिनोऽनभिप्रेतादिः। ५. धर्मधर्मिसमुदायः पक्षः। पक्षवचनं प्रतिज्ञा। एतल्लक्षणरहितः पक्षाभासः। ६. स हि प्रतिवादि-सभ्य-सभापतिदर्शनात् कदाचिदाकुलितबुद्धिः स्वाभिप्रेतं 'नित्यः शब्दः' इति पक्षं विस्मरन्ननभिप्रेतमपि पक्षं स्वीकरोति।

असिद्धाद्विपरीतं तदाभासमाह–

सिद्धः[१] श्रावणः शब्द[२] इति॥१४॥

अबाधिताद्विपरीतं [३]तदाभासमावेदयन् स[४] च प्रत्यक्षादिबाधित एवेति दर्शयन्नाह–

बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः॥१५॥

[५]एतेषां क्रमेणोदाहरणमाह–

तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा–अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्॥१६॥

स्पार्शनप्रत्यक्षेण ह्युष्णस्पर्शात्मकोऽग्निरनुभूयते।

अनुमानबाधितमाह–

[६]अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्॥१७॥

मतानुसार शब्द नित्य है ॥१३॥

अब असिद्ध से विपरीत सिद्ध पक्षाभास को कहते हैं–

सूत्रार्थ—शब्द श्रावण है अर्थात् श्रवणेन्द्रिय से सुना जाता है, यह सिद्धपक्षाभास है; क्योंकि जब शब्द कान से सुना ही जाता है, तब सिद्ध वस्तु को साधन करना व्यर्थ ही है ॥१४॥

अब अबाधित से विपरीत बाधिताभास को दिखलाते हुए आचार्य वह बाधिताभास प्रत्यक्ष बाधित आदि के भेद से अनेक प्रकार का है यह बतलाते हैं–

सूत्रार्थ—बाधित पक्षाभास प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचनों से बाधित होने के कारण पाँच प्रकार का है ॥१५॥

अब आचार्य इनके क्रम से उदाहरण कहते हैं–

सूत्रार्थ—उनमें से प्रत्यक्षबाधित पक्षाभास का उदाहरण–जैसे अग्नि उष्णता रहित अर्थात् शीतल है; क्योंकि वह द्रव्य है। जो द्रव्य होता है, वह शीतल होता है, जैसे जल ॥१६॥

किन्तु स्पर्शन-प्रत्यक्ष से अग्नि उष्णस्पर्श वाली ही अनुभव की जाती है; अतः यह प्रत्यक्षबाधित पक्षाभास का उदाहरण है।

अब अनुमान बाधित पक्षाभास कहते हैं–

सूत्रार्थ—शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह कृतक है। जो दूसरे के द्वारा किया जाता है, वह अपरिणामी होता है, जैसे घट ॥१७॥

---

१. पक्षाभासः। २. वादिप्रतिवादिनोः सिद्धेऽर्थेऽविप्रतिपत्तेः। ३. बाधिताभासम्। ४. बाधितपक्षाभासः। ५. प्रत्यक्षादिबाधितपक्षाभासानाम्। ६. नित्यः।

अत्र पक्षोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वादित्यनेन[1] बाध्यते।

आगमबाधितमाह–

[2]प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत्॥१८॥

आगमे हि पुरुषाश्रितत्त्वाविशेषेऽपि परलोके धर्मस्य सुखहेतुत्वमुक्तम्।

लोकबाधितमाह–

शुचि नरशिरःकपालं [3]प्राण्यङ्गत्वाच्छंखशुक्तिवत्[4]॥१९॥

लोके हि प्राण्यङ्गत्वेऽपि कस्यचिच्छुचित्वमशुचित्वं च। तत्र नरकपालादीनामशुचित्वमेवेति लोक-बाधितत्वम्।

स्ववचनबाधितमाह–

माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत्॥२०॥

यहाँ पर 'शब्द अपरिणामी है' यह पक्ष कृतक इस हेतु से बाधित है; क्योंकि कृतक हेतु से तो परिणामीपने की ही सिद्धि होती है।

अब आगमबाधित पक्षाभास का उदाहरण कहते हैं–

सूत्रार्थ–धर्म परलोक में दुःख का देने वाला है, क्योंकि वह पुरुष के आश्रित है। जो पुरुष के आश्रय से होता है, वह दुःखदायी होता है, जैसे अधर्म ॥१८॥

पुरुष का आश्रितपना समान होने पर भी आगम में धर्म को परलोक में सुख का कारण कहा गया है, अतः यह आगमबाधित पक्षाभास का उदाहरण है।

अब लोकबाधित पक्षाभास का उदाहरण कहते हैं–

सूत्रार्थ–मनुष्य के शिर का कपाल पवित्र है, क्योंकि वह प्राणी का अंग है। जो प्राणी का अंग होता है, वह पवित्र होता है जैसे शंख-सीप आदिक ॥१९॥

लोक में प्राणी का अंग समान होने पर भी किसी वस्तु को पवित्र माना गया है और किसी को अपवित्र। किन्तु नर-कपाल आदि को तो अपवित्र ही माना गया है, अतः यह लोकबाधित पक्षाभास का उदाहरण है।

अब स्ववचनबाधित पक्षाभास का उदाहरण कहते हैं–

सूत्रार्थ–मेरी माता वन्ध्या है, क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता

---

१. परिणामी शब्दोऽर्थक्रियाकारित्वात् कृतकत्वाद् घटवदित्यनुमानेनापरिणामी शब्दः इति पक्षो बाध्यते। २. परलोके। ३. यथा गोपिण्डत्वाविशेषेऽपि किञ्चिद् दुग्धादि शुद्धं न गोमांसमिति। तथा प्राण्यङ्गत्वाविशेषेऽपि नरशिरःकपालस्या-शुचित्वं शङ्ख-शुक्त्यादेः शुचित्वमिति। ४. मृगमद-मौक्तिक-रोचन-चमरीरुहशङ्ख-पिच्छ-कौशेयाः। श्लाघ्याः गुणाश्रय-त्वान्नोत्पत्तिर्गण्यते तज्ज्ञैः॥१॥

इदानीं हेत्वाभासान् क्रमापन्नानाह–

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः॥२१॥

एषां यथाक्रमं लक्षणं सोदाहरणमाह–

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः॥२२॥

सत्ता च निश्चयश्च सत्तानिश्चयौ। असन्तौ सत्तानिश्चयौ यस्य स भवत्यसत्सत्तानिश्चयः।

तत्र प्रथमभेदमाह–

[१]अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात्॥२३॥

कथमस्यासिद्धत्वमित्याह–

है। जिसके पुरुष का संयोग होने पर भी गर्भ नहीं रहता, वह बन्ध्या कहलाती है, जैसे कि प्रसिद्ध बन्ध्या स्त्री। यह स्ववचनबाधित पक्षाभास का उदाहरण है, क्योंकि उसका कथन उसी के वचनों से बाधित है॥२०॥

अब आचार्य क्रम-प्राप्त हेत्वाभासों को कहते हैं–

सूत्रार्थ–असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर ये चार हेत्वाभास के भेद हैं॥२१॥

आचार्य इन हेत्वाभासों का यथाक्रम से लक्षण उदाहरण-सहित कहते हैं–

सूत्रार्थ–जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो, अथवा निश्चय न हो, उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं॥२२॥

सत्ता और निश्चय का द्वन्द्व समास करने पर 'सत्तानिश्चयौ' यह पद बना। नहीं है सत्तानिश्चय जिसके, ऐसा बहुब्रीहि समास करने पर असत्सत्ता-निश्चय यह पद सिद्ध हुआ।

भावार्थ–असिद्ध हेत्वाभास के दो भेद हैं–स्वरूपासिद्ध और सन्दिग्धासिद्ध। जिस हेतु का स्वरूप से ही अभाव हो, उसे स्वरूपासिद्ध कहते हैं और जिस हेतु के रहने का निश्चय न हो-सन्देह हो उसे सन्दिग्धासिद्ध कहते हैं। सूत्रकार ने इस एक ही सूत्र में दोनों का स्वरूप कहा है।

अब असिद्धहेत्वाभास के प्रथम भेद स्वरूपासिद्ध को कहते हैं–

सूत्रार्थ–शब्द परिणामी है, क्योंकि वह चाक्षुष है, अर्थात् चक्षु से जाना जाता है, यह अविद्यमान सत्ता वाले स्वरूपासिद्ध-हेत्वाभास का उदाहरण है॥२३॥

उक्त हेतु के असिद्धता कैसे है? आचार्य इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

---

१. अविद्यमाना साध्येन असाध्येन (दृष्टान्तेन) उभयेन वाऽविनाभाविनी सत्ता यस्यासावसिद्धः।

[१]स्वरूपेणासत्त्वात्॥२४॥

द्वितीयासिद्धभेदमुपदर्शयति–

अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात्॥२५॥

अस्याप्यसिद्धता कथमित्यारेकायामाह–

तस्य वाष्पादिभावेन [२]भूतसंघाते सन्देहात्[३]॥२६॥

तस्येति मुग्धबुद्धिं प्रतीत्यर्थः।

सूत्रार्थ—क्योंकि शब्द के चाक्षुषपना स्वरूप से ही असिद्ध है ॥२४॥

भावार्थ—शब्द स्वरूप से श्रावण है अर्थात् कर्णेन्द्रिय से सुना जाता है, उसे चाक्षुष कहना स्वरूप से ही असिद्ध है, अतः यह स्वरूपासिद्ध का उदाहरण है।

अब आचार्य असिद्ध हेत्वाभास के दूसरे भेद को बतलाते हैं–

सूत्रार्थ—मुग्धबुद्धि पुरुष के प्रति कहना कि यहाँ अग्नि है; क्योंकि धूम है, यह अविद्यमान निश्चय वाले सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है ॥२५॥

इस हेतु के भी असिद्धता कैसे है, ऐसी शंका होने पर आचार्य उत्तर देते हैं–

सूत्रार्थ—क्योंकि उसे भूतसंघात में वाष्प आदि के रूप से सन्देह हो सकता है ॥२६॥

उसे अर्थात् मुग्ध बुद्धि पुरुष को। जिसने अग्नि और धूम के सम्बन्ध को यथावत् जाना ही नहीं है, ऐसे भोले-भाले व्यक्ति को भूतसंघात से निकलती हुई भाप को देखकर वहाँ पर भी अग्नि के होने का सन्देह हो सकता है। यहाँ भूतसंघात से अभिप्राय चूल्हे से तत्काल उतारे हुए दाल-भात आदि के पात्र से है, जिसमें कि भाप निकल रही हो।

---

१. चाक्षुषत्वस्वरूपेण। चक्षुर्ज्ञानग्राह्यत्वं हि चाक्षुषत्वम्, तच्च शब्दे स्वरूपेणैवासत्त्वात्स्वरूपासिद्धम्। ये च विशेष्यासिद्धादयोऽसिद्धप्रकाराः परैर्नैयायिकादिभिरिष्टास्तेऽसत्सत्ताकत्वलक्षणासिद्धप्रकारान्नार्थान्तरं तल्लक्षणभेदा-भावात्। तत्र विशेष्यासिद्धो यथाअनित्यः शब्दः सामान्यवत्वे सति चाक्षुषत्वात्। विशेषणासिद्धो यथा-अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वे सति सामान्यवत्त्वात्। आश्रयासिद्धो यथा-अस्ति प्रधानं विश्वपरिणामित्वात्। वस्तुतः प्रधानं नास्तीति भावः। आश्रयैकदेशासिद्धो यथा-नित्याः परमाणुप्रधानात्मेश्वराः अकृतकत्वात्। व्यर्थविशेष्यासिद्धो यथा-अनित्याः परमाणवः कृतकत्वे सति सामान्यवत्वात् व्यर्थ विशेषणासिद्धो यथा-अनित्याः परमाणवः सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात्। व्यधिकरणासिद्धो यथा-अनित्यः शब्दः परस्य कृतकत्वात्। भागासिद्धो तथा-नित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्। व्यधिकरणासिद्धत्वं च परप्रक्रिया प्रदर्शनमात्रं न वस्तुतो हेतुदोषो व्यधिकरणस्यापि 'उदेष्यति शकटं कृतिकोदयात्' इत्यादेर्गमकत्वप्रतीतेः। भागासिद्धस्यापि अविनाभावसद्भावाद् गमकत्वमेव। न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वमन्तरेण क्वापि दृश्यते, यावति शब्दे तत्प्रवर्तते तावतः शब्दस्यानित्यत्वं ततः सिद्ध्यति, अन्यस्य त्वन्यतः कृतकत्वादेः। २. पृथिव्यादिलक्षणानां भूतानां सङ्घातो धूमः, तस्मिन् धूमे। ३. मुग्धबुद्धिर्विद्यमाने धूमेऽपि वाष्पादित्वेन सन्देहं करोति, निश्चेतुं शक्याभावात्।

अपरमसिद्धभेदमाह–

सांख्यम्प्रति परिणामी[१] शब्दः कृतकत्वात्॥२७॥

अस्यासिद्धतायां कारणमाह–

तेनाज्ञातत्वात्[२]॥२८॥

तेन सांख्येनाज्ञातत्वात्। तन्मते ह्याविर्भाव[३]तिरोभावावेव प्रसिद्धौ, नोत्पत्त्यादिरिति–अस्याप्यनिश्चयादसिद्धत्वमित्यर्थः।

विरुद्धं हेत्वाभासमुपदर्शयन्नाह–

विपरीतनिश्चिताविनाभावो[४] विरुद्धोऽपरिणामी[५] शब्दः कृतकत्वात्[६]॥२९॥

आगे आचार्य असिद्ध हेत्वाभास के और भी भेद कहते हैं–

सूत्रार्थ–सांख्य के प्रति कहना कि शब्द परिणामी है; क्योंकि वह कृतक है। यह हेतु सांख्य के लिए असिद्ध है ॥२७॥

आचार्य इस हेतु की असिद्धता में कारण बतलाते हैं–

सूत्रार्थ–क्योंकि उसने कृतकपना जाना ही नहीं है ॥२८॥

उसने अर्थात् सांख्य ने। सांख्य के मत में पदार्थों का आविर्भाव और तिरोभाव ही प्रसिद्ध है, उत्पत्ति आदिक नहीं; क्योंकि वह नित्यैकान्तवादी है। इसलिए सांख्य को किसी पदार्थ के किसी के द्वारा उत्पन्न किये जाने का निश्चय ही नहीं है, उसे कृतकता सर्वथा अज्ञात है, अतः उसे हेतुरूप से उसके लिए प्रयुक्त करना भी असिद्ध हेत्वाभास है।

अब विरुद्ध हेत्वाभास को बतलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह कृतक है ॥२९॥

---

१. अनित्यः। २. सांख्यस्य मते शब्दस्य कृतकत्वमस्ति वा नवेति परिज्ञानाभावात्। किञ्च–सन्दिग्ध–विशेष्यादयोऽप्यविद्यमाननिश्चतया–लक्षणातिक्रमाभावान्नार्थान्तरम्। तत्र सन्दिग्ध–विशेष्यासिद्धो यथा अद्यापि रागादियुक्तः कपिलमुनि पुरुषत्वे सत्यप्यस्यानुत्पन्नतत्व ज्ञानत्त्वात् यथा–अद्यापि रागादियुक्तः कपिलमुनिः सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वात्। ३. सांख्यमते शब्दस्य व्यञ्जनत्वमाविर्भावः प्रकटितमिति यावत्। आच्छादनत्वं तिरोभाव इति। इति द्वावेव प्रसिद्धौ। ४. विपरीतेन सह निश्चितोऽविनाभावो यस्य। साध्यस्वरूपाद्विपरीतेन निश्चितोऽविनाभावो यस्यासौ विरुद्धः। ५. एकस्वभावी अक्षणिकलक्षणो नित्यैकलक्षणः। ६. ये चाष्टौ विरुद्धभेदाः परैरिष्टास्तेऽप्येतल्लक्षणलक्षितत्वाविशेषतोऽत्रैवान्तर्भवन्ति। सति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः। पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षावृत्तिर्यथानित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात्। विपक्षैकदेशवृत्तिः पक्षव्यापकः सपक्षावृतिश्च यथा–नित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात्। पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षावृत्तिश्च यथा–सामान्यविशेषवती अस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षे वाग्मनसी नित्यत्वात्। पक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षावृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा–नित्ये वाग्मनसे उत्पत्ति धर्मकत्वात्। तथाऽसति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः।

कृतकत्वं ह्यपरिणामविरोधिना परिणामेन व्याप्तमिति।

अनैकान्तिकं हेत्वाभासमाह–

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः[१]॥३०॥

[२]अपिशब्दान्न केवलं पक्षसपक्षयोरिति द्रष्टव्यम्। स च द्विविधो विपक्षे निश्चितवृत्तिः शङ्कितवृत्तिश्चेति। तत्राद्यं[३] दर्शयन्नाह–

इस अनुमान से कृतकत्व हेतु अपरिणाम के विरोधी परिणाम के साथ व्याप्त है, इसलिए यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

अब अनैकान्तिक हेत्वाभास को कहते हैं–

सूत्रार्थ–जिसका विपक्ष में भी रहना अविरुद्ध है अर्थात् जो हेतु पक्षसपक्ष के समान विपक्ष में भी बिना किसी विरोध के रहता है, उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं॥३०॥

सूत्र–पठित अपि शब्द से न केवल पक्ष–सपक्ष में रहने वाला हेतु लेना, किन्तु विपक्ष में भी रहने वाले हेतु का ग्रहण करना चाहिए। वह अनैकान्तिक हेत्वाभास दो प्रकार का है–एक विपक्ष में निश्चितवृत्ति वाला और दूसरा शंकितवृत्ति वाला।

भावार्थ–सन्दिग्ध साध्य वाले धर्मी को पक्ष कहते हैं। साध्य के समान धर्म वाले धर्मी को सपक्ष कहते हैं और साध्य से विरुद्ध धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते हैं। हेतु का पक्ष और सपक्ष में रहना तो गुण है, परन्तु विपक्ष में रहना दोष है। जो हेतु पक्ष–सपक्ष के समान विपक्ष में भी रहे, उसे अनैकान्तिक या व्यभिचारी हेतु कहते हैं। इसके दो भेद हैं–एक निश्चितविपक्षवृत्ति और दूसरा शंकितविपक्षवृत्ति।

पक्षविपक्षव्यापकोऽविद्यमानसपक्षो यथा–आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रमेयत्वात्। पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति–रविद्यमानसपक्षो यथा–सत्तासम्बन्धिनः षट् पदार्थाः उत्पत्तिमत्वात्। पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिरविद्यमानसपक्षो यथा आकाशविशेषगुणः शब्दो बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्। पक्षैकदेश–वृत्तिर्विपक्षव्यापकोऽ–विद्यमानसपक्षो यथा–नित्ये वाङ्मनसी कार्यत्वात्।

१. एकस्मिन् अन्ते नियतो हि ऐकान्तिकः, तद्विपरीतोऽनैकान्तिकः। पक्ष–सपक्षविपक्षवृत्तिरनैकान्तिक इत्यर्थ। पराभ्युपगतश्च पक्षत्रयव्यापकाद्यनैकान्तिकप्रपञ्च एतल्लक्षणलक्षिता–विशेषान्नातोऽर्थान्तरम्। पक्षत्रयव्यापको यथा–अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्। सपक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा–नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्। पक्षसपक्षव्यापको विपक्षैक–देशवृत्तिर्यथा–गौरयं विषाणित्वात्। पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा–अगौरयं विषाणित्वात्। पक्षत्रयैकदेश–वृत्तिर्यथाअनित्ये वाङ्मसो अमूर्तत्वात्। पक्षसपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा–द्रव्याणि दिक्कालमनांसि अमूर्तत्वात्। पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षव्यापको यथा–अद्रव्याणि दिक्कालमनांसि, अमूर्तत्वात्। सपक्षविपक्षव्यापकः पक्षैकदेशवृत्तिर्यथा–पृथ्विव्यप्तेजोवाय्वाऽऽकाशानि अनित्यानि अगन्धवत्वात्। २. पक्षसपक्षवृत्तिरनैकान्तिको न भवत्येवेत्यपिशब्देन सूचितं भवति। ३. भेदम्।

निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद्[१] घटवत्॥३१॥

कथमस्य[२] विपक्षे[३] निश्चिता वृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह–

आकाशे नित्येऽप्यस्य[४] निश्चयात्॥३२॥

शङ्कितवृत्तिमुदाहरति–

शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्॥३३॥

अस्यापि कथं विपक्षे[५] वृत्तिराशङ्क्यत इत्यत्राह–

सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात्॥३४॥

अविरोधश्च ज्ञानोत्कर्षे[६] वचनानामपक[७]र्षादर्शनादिति निरूपितप्रायम्।

इनमें से आचार्य पहले निश्चितविपक्षवृत्ति का स्वरूप दिखलाते हैं–

सूत्रार्थ–शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है, अर्थात् प्रमाण का विषय है। जो प्रमेय होता है, वह अनित्य होता है, जैसे घट। यह निश्चितविपक्षवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास का उदाहरण है ॥३१॥

इस प्रमेयत्व हेतु की विपक्ष में वृत्ति कैसे निश्चित है, ऐसी आशंका के होने पर आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–क्योंकि नित्य आकाश में भी इस प्रमेयत्व हेतु के रहने का निश्चय है ॥३२॥

भावार्थ–प्रमेयत्व हेतु पक्ष शब्द में और सपक्ष घट में रहता हुआ अनित्य के विपक्षी नित्य आकाश में भी रहता है, क्योंकि आकाश भी निश्चितरूप से प्रमाण का विषय है।

अब शंकित विपक्षवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास का उदाहरण कहते हैं–

सूत्रार्थ–सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है अर्थात् बोलने वाला है। यह शंकितविपक्षवृत्ति अनैकान्तिकहेत्वाभास का उदाहरण है ॥३३॥

इस वक्तृत्व हेतु का भी विपक्ष में रहना कैसे शंकित है, ऐसी आशंका होने पर आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–क्योंकि सर्वज्ञत्व के साथ वक्तापने का कोई विरोध नहीं है ॥३४॥

भावार्थ–किसी पुरुष विशेष में वक्तापना भी रह जाये और सर्वज्ञपना भी रह जाये, इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। इसलिए इस वक्तृत्व हेतु को शंकितविपक्षवृत्ति हेत्वाभास कहा गया है, क्योंकि सर्वज्ञ के सद्भाव रूप विपक्ष में उसके रहने की शंका है। सर्वज्ञता के साथ

---

१. ज्ञेयत्वात्। २. हेतोः। ३. नित्ये। ४. प्रमेयत्वस्य। ५. सर्वज्ञे। ६. यत्र ज्ञानस्य क्षणं क्षणं प्रत्यधिकत्वं तत्र वचनस्याप्यधिकत्वमित्यविरोध इति। ७. हानि।

[१]अकिञ्चित्करस्वरूपं निरूपयति–

सिद्धे[२] प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः[३]॥३५॥

तत्र सिद्धे साध्ये हेतुरकिञ्चित्कर इत्युदाहरति–

सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात्[४]॥३६॥

कथमस्या[५]किञ्चित्करत्वमित्याह–

किञ्चिदकरणात्॥३७॥

[६]अपरं च भेदं प्रथमस्य[७] दृष्टान्तीकरणद्वारेणोदाहरति–

यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात्॥३८॥

वक्तापने का अविरोध इसलिए है कि ज्ञान के उत्कर्ष में वचनों का अपकर्ष नहीं देखा जाता है, प्रत्युत प्रकर्षता ही देखी जाती है। यह बात प्रायः पहले निरूपण की जा चुकी है।

अब अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के स्वरूप का निरूपण करते हैं–

सूत्रार्थ–साध्य के सिद्ध होने पर और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर प्रयुक्त हेतु अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है ॥३५॥

भावार्थ–जब साध्य सिद्ध हो, या प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण से बाधित हो, तब उसकी सिद्धि के लिए जो भी हेतु दिया जाये, वह साध्य की कुछ भी सिद्धि नहीं करता है, इसलिए उसे अकिञ्चित्कर कहते हैं।

इनमें से साध्य के सिद्ध होने पर दिया गया हेतु अकिञ्चित्कर है, इसका उदाहरण देते हैं–

सूत्रार्थ–शब्द श्रावण है अर्थात् श्रवण इन्द्रिय का विषय है, क्योंकि वह शब्द है ॥३६॥

इस शब्दत्व हेतु के अकिञ्चित्करता कैसे है, आचार्य इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

सूत्रार्थ–क्योंकि इस शब्दत्व हेतु ने कुछ भी नहीं किया है ॥३७॥

भावार्थ–शब्द का कान से सुना जाना रूप साध्य तो पहले से ही सिद्ध है, फिर भी उसे सिद्ध करने के लिए जो शब्दत्व हेतु दिया गया है, वह व्यर्थ है, क्योंकि उससे साध्य की कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। अतः यह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है।

अब साध्य का दूसरा भेद जो प्रत्यक्षादिबाधित है, उसे प्रथम भेद के दृष्टान्त करने के द्वारा ही उदाहरण रूप से कहते हैं–

सूत्रार्थ–जैसे अग्नि उष्ण नहीं है, क्योंकि वह द्रव्य है, इत्यादि अनुमान में प्रयुक्त यह हेतु

---

१. प्रकरणसम–कालात्ययापदिष्टयोरत्रैवान्तर्भावः। २. प्रमाणान्तरात्साध्ये निर्णीते। ३. न किञ्चित्करोतीत्य–किञ्चित्करः। ४. न ह्यसौ स्वसाध्यं साधयति, तस्याध्यक्षादेव सिद्धेः। ५. शब्दत्वादित्यस्य हेतोः यथा द्रव्यत्वादिति हेतुरकिञ्चित्करः, तथा सोऽपीत्यर्थः। ६. प्रत्यक्षादिबाधितं च दर्शयति। ७. साध्यस्य।

अकिञ्चित्करत्वमिति शेषः।

अयं च दोषो हेतुलक्षणविचारावसर एव न वादकाल इति व्यक्तीकुर्वन्नाह–

लक्षण[१] एवासौ[२] दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य[३] पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्॥३९॥

दृष्टान्तोऽन्वयव्यतिरेकभेदाद् द्विविध इत्युक्तम्। तत्रान्वयदृष्टान्ताभास[४]माह–

साध्य की कुछ भी सिद्धि करने के लिए शक्य नहीं है ॥३८॥

अतएव यह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है, इतना पद सूत्र में शेष है।

भावार्थ–अग्नि उष्ण नहीं है, यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से ही बाधित है, फिर भी उस प्रत्यक्षबाधित साध्य को सिद्ध करने के लिए जो द्रव्यत्व हेतु दिया गया है, वह अग्नि को उष्णता-रहित सिद्ध नहीं कर सकता है, अतः उसे अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहा गया है। इसी प्रकार अनुमानादि प्रमाणबाधित साध्यों के सिद्ध करने के लिए दिये गये सभी हेतु अकिञ्चित्कर हेत्वाभास जानना चाहिए।

यह अकिञ्चित्कर दोष हेतु के लक्षण का विचार करने के समय ही है, वादकाल अर्थात् शास्त्रार्थ के समय नहीं, यह प्रकट करते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–यह अकिञ्चित्कर हेत्वाभासरूप दोष हेतु के लक्षण-व्युत्पादन काल में ही है, वादकाल में नहीं, क्योंकि व्युत्पन्न पुरुष का प्रयोग तो पक्ष के दोष से ही दूषित हो जाता है ॥३९॥

भावार्थ–शिष्यों को शास्त्र के पठन-पाठन काल में ही अकिञ्चित्कर हेत्वाभास को दोषरूप कहा गया है, शास्त्रार्थ करने के समय नहीं। इसका कारण यह है कि शास्त्रार्थ के समय विद्वान् लोगों का ही अधिकार होता है। सो भी विद्वान् लोग पहले तो ऐसा प्रयोग करते ही नहीं है। यदि कदाचित् करें भी तो वह पक्षाभास ही कहा जायेगा। अर्थात् साध्य के सिद्ध होते हुए ऐसे पक्ष का प्रयोग सिद्ध पक्षाभास कहलायेगा और बाधित साध्य के होने पर बाधित पक्षाभास कहलायेगा। यहाँ इतना और विशेष जानना चाहिए की नैयायिकादि अन्य मतवालों ने प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट नामक और भी हेत्वाभास कहे हैं, उनका इसी अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः आचार्य ने उन्हें पृथक् नहीं कहा।

इस प्रकार हेत्वाभासों का वर्णन समाप्त हुआ।

अन्वय और व्यतिरेक के भेद से दृष्टान्त दो प्रकार का है, यह पहले कहा जा चुका है। उनमें से पहले अन्वयदृष्टान्ताभास को कहते हैं–

---

१. लक्षणव्युत्पादनशास्त्रे। २. अकिञ्चित्करलक्षणो दोषः। ३. पक्षाभासलक्षणेनैव। ४. साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः। तद्विपरीतोऽन्वयदृष्टान्ताभासः।

दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः॥४०॥

साध्यं च साधनं च उभयं च साध्यसाधनोभयानि, असिद्धानि तानि येष्विति विग्रहः।

एतानेकत्रैवानुमाने दर्शयति–

अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वादिन्द्रियसुख[1]परमाणु[2]घटवत्[3]॥४१॥

इन्द्रियसुखमसिद्धसाध्यम्[4]; तस्य पौरुषेयत्वात्। परमाणुरसिद्धसाधनम्; तस्य मूर्त्तत्वात्। घटश्चा-सिद्धोभयः; पौरुषेयत्वान्मूर्त्तत्वाच्च।

साध्यव्याप्तं साधनं दर्शनीयमिति दृष्टान्तावसरे प्रतिपादितम्, तद्विपरीतदर्शनमपि तदाभासमित्याह–

[5]विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्त्तम्॥४२॥

सूत्रार्थ—अन्वयदृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं–असिद्धसाध्य, असिद्धसाधन और असिद्धोभय। इन्हें ही क्रमशः साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल कहते हैं ॥४०॥

साध्य, साधन और उभय इन तीनों पदों का पहले द्वन्द्व समास करना। पीछे, असिद्ध है साध्य, साधन और उभय जिनमें ऐसा बहुब्रीहि समास करना चाहिए।

अब आचार्य इन तीनों ही अन्वयदृष्टान्ताभासों को एक ही अनुमान में दिखलाते हैं–

सूत्रार्थ—शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि वह अमूर्त है। जैसे इन्द्रियसुख, परमाणु और घट ॥४१॥

इस अनुमान में इन्द्रियसुख यह दृष्टान्त असिद्धसाध्य या साध्यविकल दृष्टान्ताभास है, क्योंकि वह पौरुषेय है। अर्थात् इन्द्रियसुख दृष्टान्त में अपौरुषेयरूप साध्य का अभाव है। परमाणु यह दृष्टान्त असिद्ध साधन या साधनविकल दृष्टान्ताभास है, क्योंकि परमाणु मूर्त है। अर्थात् उसमें अमूर्तरूप साधन नहीं पाया जाता। घट यह दृष्टान्त असिद्धोभय या उभयविकल दृष्टान्ताभास है, क्योंकि घट पौरुषेय भी है और मूर्त भी है। अर्थात् घट दृष्टान्त में अपौरुषेयरूप साध्य और अमूर्तरूप साधन ये दोनों ही नहीं पाये जाते हैं।

साध्य से व्याप्त साधन को दिखलाना चाहिए, यह बात अन्वय दृष्टान्त के अवसर में प्रतिपादन की गई है, उससे विपरीत व्याप्ति को दिखलाना भी अन्वय दृष्टान्ताभास है, आचार्य यह बात कहते हैं–

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त अनुमान में 'जो अपौरुषेय होता है, वह अमूर्त होता है, इस प्रकार की विपरीत अन्वय व्याप्ति को दिखलाना विपरीतान्वय नाम का दृष्टान्ताभास है ॥४२॥

---

१. इन्द्रियसुखे साधनत्वमस्ति, साध्यत्वं नास्ति। तस्मात्साध्यविकलोऽयं दृष्टान्तः। २. परमाणुषु साध्यत्वमस्ति साधनत्वं नास्ति, तस्मात्साधनविकलोऽयं दृष्टान्तः। ३. घटे तूभयमपि नास्ति तस्मादुभयविकलोऽयं दृष्टान्तः। ४. साध्ये असिद्धम्। ५. विपरीतान्वयो व्याप्तिप्रदर्शनं यस्मिन्निति यथा–योऽग्निमान् स धूमवान् इति यथा।

कुतोऽ तदाभासतेत्याह–

[1]विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात्॥४३॥

तस्याप्यमूर्तताप्राप्तेरित्यर्थः।

व्यतिरेकोदाहरणाभासमाह–

व्यतिरेके[2]ऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः[3] परमाण्विन्द्रियसुखाऽऽकाशवत्॥४४॥

अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादित्यत्रैवासिद्धाः साध्यसाधनोभयव्यतिरेका [4]यत्रेति विग्रहः। तत्रासिद्धसाध्यव्यतिरेकः परमाणुस्तस्यापौरुषेयत्वात्। इन्द्रियसुखमसिद्धसाधनव्यतिरेकम्। आकाशं त्वसिद्धोभयव्यतिरेकमिति।

भावार्थ–साधन के सद्भाव में साध्य के सद्भाव के बतलाने को अन्वय व्याप्ति कहते हैं। किन्तु यहाँ पर अपौरुषेयरूप साध्य के सद्भाव में अमूर्तरूप हेतु का सद्भाव बतलाया गया है, अतः इसे विपरीतान्वय नाम का दृष्टान्ताभास कहा गया है।

इसे दृष्टान्ताभासपना कैसे है, आचार्य इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

सूत्रार्थ–क्योंकि उसमें विद्युत् आदि से अतिप्रसंग दोष आता है ॥४३॥

''जो अपौरुषेय हो, वह अमूर्त हो'' ऐसी विपरीत अन्वय व्याप्ति के मानने पर विद्युत् के भी अमूर्तता की प्राप्ति होती है, अर्थात् बिजली को भी अमूर्त मानना चाहिए। पर वह अपौरुषेय होती हुई भी अमूर्त नहीं, किन्तु मूर्त है।

अब आचार्य व्यतिरेक उदाहरणाभास को कहते हैं–

सूत्रार्थ–व्यतिरेक दृष्टान्ताभास में भी तीन भेद हैं–असिद्धसाध्य व्यतिरेक, असिद्धसाधन व्यतिरेक और असिद्धोभय व्यतिरेक। इनके उदाहरण क्रम से परमाणु, इन्द्रिय-सुख और आकाश है ॥४४॥

शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि वह अमूर्त है। इस ही अनुमान में असिद्ध है साध्य, साधन और उभय व्यतिरेक जिस दृष्टान्त में, ऐसा विग्रह करना चाहिए। उनमें असिद्धसाध्यव्यतिरेक का दृष्टान्त परमाणु है, क्योंकि उसके अपौरुषेयपना पाया जाता है। असिद्ध साधन-व्यतिरेक या साधनविकल व्यतिरेक दृष्टान्ताभास का उदाहरण इन्द्रियसुख है, क्योंकि वह मूर्त नहीं है, किन्तु अमूर्त है। आकाश असिद्धोभय व्यतिरेक या उभयविकल व्यतिरेक दृष्टान्तभास का उदाहरण है, क्योंकि उसमें अपौरुषेयपना और अमूर्तपना दोनों का ही अभाव नहीं है, प्रत्युत सद्भाव है।

भावार्थ–जो दृष्टान्त व्यतिरेक-व्याप्ति अर्थात् साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाकर दिया जाता है, उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं। उस व्यतिरेक व्याप्ति में दो वस्तुएँ होती

---

१. विद्युद्वनकुसुमादौ ह्यपौरुषेयत्वेऽप्यमूर्तत्वं नास्ति। २. असिद्धस्तेषां साध्यसाधनोभयानां व्यतिरेको येषु ते। ३. योऽपौरुषेयो न भवति सोऽमूर्तोऽपि न भवति, यथा परमाणुरिति। ४. दृष्टान्ते।

साध्याभावे साधनव्यावृत्तिरिति व्यतिरेकोदाहरणप्रघट्टके स्थापितम्, तत्र तद्विपरीतमपि तदाभास-मित्युपदर्शयति–

विपरीतव्यतिरेकश्च[1] यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयम्[2]॥४५॥

बालव्युत्पत्त्यर्थं [3]तत्त्रयोपगम इत्युक्तम्। इदानीं तान्[4] प्रत्येव कियद्धीनतायां प्रयोगाभासमाह–

बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता[5]॥४६॥

हैं। एक साध्याभाव और दूसरा साधनाभाव। जिस दृष्टान्त में साध्य का अभाव नहीं होगा वह साध्य से, जिसमें साधन का अभाव नहीं होगा, वह साधन से और जिसमें दोनों नहीं होंगे वह उभय से विकल अर्थात् रहित कहा जायेगा।

साध्य के अभाव में साधन की व्यावृत्ति को व्यतिरेक-व्याप्ति कहते हैं, यह बात व्यतिरेकोदाहरण के प्रकरण में सिद्ध की जा चुकी है। उससे विपरीत व्याप्ति, भी जहाँ बतलाई जाये, वह भी व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, यह बात आचार्य बतलाते हैं–

सूत्रार्थ–पूर्वोक्त अनुमान में जो अमूर्त नहीं है, वह अपौरुषेय नहीं है, इस प्रकार से विपरीत व्यतिरेक-व्याप्ति को दिखाना भी व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है ॥४५॥

भावार्थ–व्यतिरेक व्याप्ति में सर्वत्र साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाया जाता है। यहाँ पर वह विपरीत दिखाई गई है अर्थात् साधन के अभाव में साध्य का अभाव बतलाया गया है। अतः इसे व्यतिरेक दृष्टान्ताभास कहा गया है, क्योंकि इस प्रकार की व्याप्ति में भी विद्युत् आदि से अतिप्रसंग दोष आता है।

बाल व्युत्पत्ति के लिए उदाहरण, उपनय और निगमन इन तीन अवयवों को स्वीकार किया गया है, यह पहले कह आये हैं। अब उन ही बाल जनों के प्रति उनमें से कुछ अवयवों के कम प्रयोग करने पर वे प्रयोगाभास कहलाते हैं यह बात आचार्य बतलाते हैं–

सूत्रार्थ–अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँच अवयवों में से कितने ही कम अवयवों का प्रयोग करना बाल प्रयोगाभास है ॥४६॥

भावार्थ–अल्पज्ञानी पुरुषों को उक्त पाँच अवयवों में से तीन या चार अवयवों के प्रयोग करने पर प्रकृत वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है, अतः कम अवयवों के प्रयोग को बालप्रयोगाभास कहते हैं।

---

१. यत्र धूमवान् तत्राग्निमानिति। २. कुतोऽस्य तदाभासतेत्याह विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात्। ३. उदाहरणोप-नयनिगमनानां। त्रयस्योपगमः। ४. येषामव्युत्पन्नानां पञ्चावयवैः परिज्ञानं न भवति तान् प्रति। ५. यो ह्यव्युत्पन्नप्रज्ञोऽनुमानप्रयोगे पञ्चावयवे गृहीतसङ्केत, स उपनयनिगमनरहितस्य निगमनरहितस्य वाऽनुमान-प्रयोगस्य तदाभासतां मन्यते। सूत्रद्वयेन क्रमेण तदेव दर्शयति।

तदेवोदाहरति–

अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात् यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति॥४७॥

इत्यवयवत्रयप्रयोगे सतीत्यर्थः।

चतुरवयवप्रयोगे तदाभासत्वमाह–

धूमवांश्चायमिति वा॥४८॥

अवयवविपर्यये[१]ऽपि[२] तत्त्वमाह–

तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायम्॥४९॥

कथमवयवविपर्यये प्रयोगाभास इत्यारेकायामाह–

स्पष्टतया [३]प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात्॥५०॥

अब आचार्य इसी बालप्रयोगाभास का उदाहरण देते हैं–

सूत्रार्थ–यह प्रदेश अग्नि वाला है, क्योंकि धूम वाला है। जो धूम वाला होता है, वह अग्नि वाला भी होता है, जैसे रसोईघर ॥४७॥

यहाँ पर अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण इन तीन ही अवयवों का प्रयोग किया गया है, अतः इसे बालप्रयोगाभास कहा है।

अब चार अवयवों के प्रयोग करने पर तदाभासता बतलाते हैं–

सूत्रार्थ–अथवा उपनय का भी प्रयोग करना कि यह भी धूमवाला है ॥४८॥

भावार्थ–ऊपर कहे गये तीन अवयवों के साथ उपनय का प्रयोग करना और निगमन का प्रयोग नहीं करना भी बालप्रयोगाभास है।

अवयवों के विपरीत प्रयोग करने पर भी प्रयोगाभासपना होता है, आचार्य यह बतलाते हैं–

सूत्रार्थ–इसलिए यह अग्नि वाला है और यह भी धूम वाला है ॥४९॥

भावार्थ–उदाहरण का प्रयोग कर उपनय का प्रयोग करना चाहिए कि ''उसी के समान यह भी धूम वाला है''। तत्पश्चात् निगमन का प्रयोग करना चाहिए कि ''इसलिए यह अग्नि वाला है''। परन्तु यहाँ पर पहले निगमन का प्रयोग किया गया है। और पीछे उपनय का। अतः क्रम-भंग होने से यह बालप्रयोगाभास है।

अवयव के विपरीत प्रयोग करने पर प्रयोगाभास कैसे कहा? ऐसी आशंका होने पर आचार्य उत्तर देते हैं–

---

१. न केवलं कियद्धीनतैव बालप्रयोगाभासः, किन्तु तद्विपर्ययश्चेति प्रदर्श्यते। २. बालप्रयोगाभासत्वम्। ३. केवलं बालव्युत्पत्त्यर्थमयं प्रयोगाभासो न पुनः व्युत्पन्नप्रज्ञं प्रति। सर्वप्रकारेण वाक्यप्रयोगे व्युत्पन्नप्रज्ञस्य केनापि प्रकारेणानुमानप्रयोगस्य ग्रहणसम्भवात्।

इदानीमागमाभासमाह–

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जात[१]मागमाभासम्॥५१॥

उदाहरणमाह–

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति, धावध्वं माणवकाः॥५२॥

कश्चिन्माणवकैरा-कुलीकृतचेतास्तत्सङ्गपरिजिहीर्षया प्रतारणवाक्येन नद्या देशं तान् प्रस्थापय-तीत्याप्तोक्ते-रन्यत्वादागमाभासत्वम्।

प्रथमोदाहरणमात्रेणातुष्यन्नुदाहरणान्तरमाह–

अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च॥५३॥

अत्रापि साङ्ख्यः स्वदुरागमजनितवासनाहितचेता[२] दृष्टेष्टविरुद्धं सर्वं सर्वत्र विद्यत इति मन्यमानस्तथो-

---

सूत्रार्थ—क्योंकि विपरीत अवयव-प्रयोग करने पर स्पष्टरूप से प्रकृत पदार्थ का ज्ञान नहीं होता ॥५०॥

भावार्थ—पाँच अवयवों में से हीन प्रयोग या विपरीत प्रयोग करने पर शिष्यादिक को प्रकृत वस्तु का यथार्थ बोध नहीं हो पाता, इसलिए उन्हें बालप्रयोगाभास कहा गया है।

अब आचार्य आगमाभास का स्वरूप कहते हैं–

सूत्रार्थ—राग, द्वेष और मोह से आक्रान्त (व्याप्त) पुरुष के वचनों से उत्पन्न हुए पदार्थ के ज्ञान को आगमाभास कहते हैं ॥५१॥

अब आगमाभास का उदाहरण कहते हैं–

सूत्रार्थ—जैसे बालको दौड़ो नदी के किनारे मोदकों की राशियाँ पड़ी हुई हैं ॥५२॥

कोई पुरुष बालकों से व्याकुलित चित्त था उसने उनका संग छुड़ाने की इच्छा से छलपूर्ण वाक्य कहकर उन्हें नदी के तट-प्रदेश पर भेजा। वस्तुतः नदी के किनारे पर मोदक नहीं थे। इसलिए यह कथन आप्त अर्थात् प्रामाणिक पुरुष के कथन से विपरीत है, अतः यह आगमाभास का उदाहरण है।

केवल इस एक प्रथम उदाहरण से सन्तुष्ट नहीं होते हुए आचार्य आगमाभास का दूसरा उदाहरण देते हैं–

सूत्रार्थ—अंगुली के अग्रभाग पर हाथियों के सैकड़ों समुदाय विद्यमान हैं, यह कहना भी आगमाभास है ॥५३॥

इस उदाहरण में भी सांख्य अपने मिथ्या आगम जनित वासना से आक्रान्त चित्त होकर

---

१. अर्थज्ञानमिति यावत्। २. संस्कृतचेताः।

पदिशती[१]त्यनाप्तवचनत्वादिदमपि[२] तथेत्यर्थः।

कथमनन्तरयोर्वाक्ययोस्तदाभासत्वमित्यारेकायामाह–

विसंवादात्[३]॥५४॥

अविसंवादरूपप्रमाणलक्षणाभावान्न [४]तद्विशेषरूपमपीत्यर्थः[५]।

इदानीं संख्याभासमाह–

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम्॥५५॥

प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्वैविध्यमुक्तम्। तद्वैपरीत्येन प्रत्यक्षमेव, प्रत्यक्षानुमाने एवेत्यवधारणं सङ्ख्याभासम्।

प्रत्यक्षमेवैकमिति कथं संख्याभासमित्याह–

प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध सभी वस्तुएँ सर्वत्र विद्यमान हैं, ऐसा प्रमाण मानते हुए उक्त प्रकार से उपदेश देते हैं किन्तु उनका वह कथन भी अनाप्त पुरुष के वचनरूप होने से आगमाभास ही है।

इन ऊपर कहे गये दोनों वाक्यों के आगमाभासपना कैसे है, ऐसी आशंका होने पर आचार्य उत्तर देते हैं–

सूत्रार्थ–विसंवाद होने से उनके आगमाभासपना है ॥५४॥

प्रमाण का जो अविसंवादरूप लक्षण माना गया है उसके अभाव होने से जब उन वाक्यों में प्रमाणपना ही नहीं है, तब उन्हें आगमसूत्र प्रमाण-विशेष कैसे माना जा सकता है।

भावार्थ–जिन पुरुषों के वचनों में विसंवाद, विवाद, पूर्वापर विरोध या विपरीत अर्थ-प्रतिपादकपना पाया जाता है, उन्हें आगमरूप से प्रमाण नहीं माना जा सकता। सांख्यादि के उपर्युक्त वचन इसी प्रकार के हैं, अतः वे आगमाभास हैं।

इस प्रकार प्रमाण के स्वरूपाभासों का वर्णन हुआ।

अब प्रमाण के संख्याभास का वर्णन करते है–

सूत्रार्थ–प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, इत्यादि कहना संख्याभास है ॥५५॥

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है, यह पहले कहा जा चुका है। उससे विपरीत प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, अथवा प्रत्यक्ष और अनुमान ये ही दो प्रमाण हैं, अन्य नहीं ऐसा अवधारण (नियम या निश्चय) करना सो संख्याभास है। प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, यह कहना कैसे संख्याभास है? आचार्य इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

---

१. नद्यास्तीरे इत्यादिवत्। अङ्गुल्यग्र इत्यादिवाक्यवत्। २. आगमाभासमिति। ३. अलीकत्वात्। प्रतिपन्नार्थविचलनं हि विसंवादो विपरीतार्थोपस्थापकप्रमाणावसेयः। ४. तद्विशेषोऽपीति पाठान्तरम्। नद्यास्तीरे इत्यादिवाक्यद्वयज्ञान-मागमस्वभावान्न भवति, किन्तु आगमाभासमेवेति। ५. प्रमाणविशेषरूप-मागमत्वमित्यर्थः।

लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः [१]परलोकादिनिषेधस्य [२]परबुद्ध्यादे[३]श्चासिद्धेरतद्विषयत्वात्[४]॥५६॥

अतद्विषयत्वादप्रत्यक्षविषयत्वादित्यर्थः। शेष सुगमम्। प्रपिञ्चितमेवैतत्सङ्ख्याविप्रतिपत्तिनिराकरण इति नेह पुनरुच्यते।

[५]इतरवादिप्रमाणेयत्तावधारणमपि विघटत इति लौकायतिक[६]दृष्टान्तद्वारेण [७]तन्मतेऽपि सङ्ख्याभासमिति दर्शयति–

सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां[८]प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्य भावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत्[९]॥ ५७॥

यथा प्रत्यक्षादिभिरेकैकाधिकैर्व्याप्तिः प्रतिपत्तुं न शक्यते[१०] सौगतादिभिस्तथा प्रत्यक्षेण लौकायतिकैः परबुद्ध्यादिरपीत्यर्थः।

सूत्रार्थ—लौकायतिक अर्थात् नास्तिकमती चार्वाक का केवल एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना इसलिए संख्याभास है कि प्रत्यक्ष से परलोक आदि का निषेध और पर की बुद्धि आदि की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि वे उसके विषय नहीं हैं ॥५६॥

उसके विषय नहीं हैं अर्थात् प्रत्यक्ष के विषय नहीं है, किन्तु उससे भिन्न अनुमानादि प्रमाणों के विषय हैं, ऐसा अर्थ जानना चाहिए। शेष सूत्रार्थ सुगम है, क्योंकि इसका पहले, संख्या-विप्रतिपत्ति के निराकरण के समय विस्तार से निरूपण किया जा चुका है, इसलिए यहाँ पर पुनः नहीं कहते हैं।

इसी प्रकार बौद्धादि अन्य वादियों के द्वारा मानी गई प्रमाण की संख्या का नियम भी विघटित होता है, अतः चार्वाक के दृष्टान्त द्वारा बौद्धादि के मत में भी संख्याभासपना है, यह दिखलाते हैं–

सूत्रार्थ—जिस प्रकार सौगत, सांख्य, यौग, प्राभाकर और जैमिनीयों के प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव, इन एक-एक अधिक प्रमाणों के द्वारा व्याप्ति विषय नहीं की जाती है ॥५७॥

जैसे सौगतादि के द्वारा माने गये एक-एक अधिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से व्याप्ति नहीं जानी जा सकती है, उसी प्रकार एक प्रत्यक्ष प्रमाण के चार्वाकों के द्वारा अन्य मनुष्य की बुद्धि आदिक भी नहीं जाने जा सकते हैं, यह सूत्र का अर्थ है।

---

१. आगमस्य। २. आत्मा। ३. अनुमानस्य। ४. प्रत्यक्षाविषयत्वात्। लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्च कुतोऽसिद्धिरित्याह। ५. सौगतादि। ६. चार्वाकस्य। ७. सौगतमते। ८. मते। ९. व्याप्तिर्न सिद्ध्यति पूर्वोक्तप्रत्यक्षादि-प्रमाणाविषयत्वात्तथा प्रकृतमपि। १०. तर्कं विना।

अथ [१]परबुद्ध्या[२]दिप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षेण माभूदन्यस्माद्भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह–

अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम्॥५८॥

तच्छब्देन परबुद्ध्यादिरभिधीयते। अनुमानादेः परबुद्ध्यादिविषयत्वे प्रत्यक्षैकप्रमाणवादो हीयत इत्यर्थः। [३]अत्रोदाहरणमाह–

तर्कस्येव[४] [५]व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वमप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात्॥५९॥

सौगतादीनामिति शेषः। किञ्च–प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिना[६] प्रत्यक्षाद्येकैकाधिकप्रमाणवादिभिश्च[७]

भावार्थ–चार्वाक प्रमाण की प्रत्यक्षरूप एक ही संख्या मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो को, सांख्य प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इन तीन को; यौग प्रत्यक्ष अनुमान, आगम और उपमान इन चार को, प्राभाकर प्रत्यक्ष,अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति इन पाँच को तथा जैमिनीय उक्त पाँच सहित अभाव को अर्थात् छह को प्रमाण मानते हैं। किन्तु इन सभी के द्वारा माने गये प्रमाणों से व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव का ग्रहण नहीं होता है, अतः उसे ग्रहण करने वाले तर्क प्रमाण का मानना आवश्यक हो जाता है। और उसे प्रमाण मानने पर सभी की प्रमाण-संख्या विघटित हो जाती हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सौगतादि अन्य मतावलम्बियों के द्वारा मानी गई प्रमाण संख्या यथार्थ नहीं किन्तु अयथार्थ है अर्थात् संख्याभास है।

यहाँ पर चार्वाक का कहना है कि पराई बुद्धि आदिक का ज्ञान यदि प्रत्यक्ष से नहीं होता, तो न हो अन्य अनुमानादि से हो जायेगा? ऐसी आशंका पर आचार्य कहते हैं–

अनुमानादि के परबुद्धि आदिक का विषयपना मानने पर अन्य प्रमाणों के मानने का प्रसंग आता है ॥५८॥

सूत्रोक्त 'तत्' शब्द से पर बुद्धि आदिक कहे गये हैं। अनुमानादि को पर बुद्धि आदि का विषय करने वाला मानने पर एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है यह कथन विघटित हो जाता है, यह सूत्र का समुच्चय अर्थ है।

आचार्य इसी विषय में उदाहरण देते हैं–

सूत्रार्थ–जैसे कि तर्क को व्याप्ति का विषय करने वाला मानने पर सौगतादिक को उसे एक भिन्न प्रमाण मानना पड़ता है, क्योंकि अप्रमाणज्ञान पदार्थ की व्यवस्था नहीं कर सकता है ॥५९॥

सूत्र में 'सौगतादीनाम्' यह पद शेष है, उसे ऊपर से अध्याहार किया गया है।

यहाँ विशेष यह है कि एक प्रत्यक्ष प्रमाणवादी चार्वाक को तथा प्रत्यक्षादि एक-एक

---

१. चार्वाकस्य शङ्कां निराकरोति। २. आत्मा। ३. सौगतादिमतनिराकरणद्वारेण। ४. यथा। ५. अप्रमाणभूतस्यापि तर्कस्य व्याप्तिगोचरत्वं कुतो न भवतीत्याशङ्कायामाह–व्याप्तेः। ६. चार्वाकेण। ७. सौगतादिभिः।

स्वसंवेदनेन्द्रियप्रत्यक्षभेदोऽनुमानादिभेदश्च [1]प्रतिभासभेदेनैव वक्तव्यो गत्यन्तराभावात्। स च [2]तद्भेदो लौकायतिकं प्रति प्रत्यक्षानुमानयोरितरेषां[3] व्याप्तिज्ञानप्रत्यक्षादिप्रमाणेष्विति सर्वेषां प्रमाणसङ्ख्या विघटते। तदेव दर्शयति–

[4]प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात्[5]॥६०॥

इदानीं विषयाभासमुपदर्शयितुमाह–

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम्[6]॥६१॥

कथमेषां तदाभासतेत्याह–

अधिक प्रमाणवादी सौगतादिक को प्रत्यक्ष के स्वसंवेदन और इन्द्रियप्रत्यक्षरूप भेद तथा प्रमाणों के अनुमानादि भेद प्रतिभास के भेद से अर्थात् उनकी सामग्री और स्वरूप के भेद से कहना ही पड़ते हैं, क्योंकि उनके माने बिना और कोई गति नहीं है। वह प्रतिभास का भेद चार्वाक के प्रति प्रत्यक्ष और अनुमान में, तथा सौगतादि अन्य मतवालों के व्याप्तिज्ञान और प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अनुभवगोचर है, इसलिए उन सभी की प्रमाणसंख्या विघटित हो जाती है। आचार्य यही बात उत्तर सूत्र के द्वारा दिखलाते हैं–

सूत्रार्थ–प्रतिभास का भेद ही प्रमाणों का भेदक होता है ॥६०॥

भावार्थ–पदार्थ के स्वरूप का प्रतिभास अर्थात् विभिन्न प्रतीतिरूप ज्ञान जितने प्रकार का होगा, उतने ही प्रकार के प्रमाण मानना पड़ते हैं। यही कारण है कि अनुमान की भिन्न प्रतीति से चार्वाक की और तर्कज्ञान की भिन्न प्रतीति से सौगतादिक की प्रमाण संख्या विघटित हो जाती है।

इस प्रकार संख्याभास का वर्णन हुआ।

अब प्रमाण के विषयाभास को दिखलाने के लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं।

सूत्रार्थ–केवल सामान्य को, अथवा केवल विशेष को, अथवा स्वतन्त्र दोनों को प्रमाण का विषय मानना विषयाभास है ॥६१॥

भावार्थ–सांख्य सामान्यरूप केवल द्रव्य को ही प्रमाण का विषय मानते हैं। बौद्ध विशेषरूप केवल पर्याय को ही प्रमाण का विषय कहते हैं। नैयायिक और वैशेषिक सामान्य और विशेष को स्वतन्त्र पदार्थ मानकर उन्हें प्रमाण का विषय मानते हैं। परन्तु प्रमाण का विषय सामान्यविशेषात्मक पदार्थ है, यह पहले सिद्ध किया जा चुका है, अतः ये सब विषयाभास हैं।

इन सांख्यादिकों की मान्यताएँ विषयाभास कैसे हैं, आचार्य इस आशंका के निराकरण करने के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं–

---

१. सामग्रीस्वरूपभेदेन। २. प्रतिभासभेदश्च। ३. सौगतादीनाम्। ४. अस्तु प्रामाण्यमनुमानस्य। किन्तु तत्प्रत्यक्ष एवान्तर्भविष्यतीत्युक्ते सत्याऽऽह। ५. ततः प्रत्यक्षेऽनुमानस्यान्तर्भावाभावः। ६. अन्योन्यनिरपेक्षम्।

[१]तथाऽप्रतिभासनात्कार्याकरणाच्च॥६२॥

किञ्च–तदेकान्तात्मकं तत्त्वं स्वयं समर्थमसमर्थं वा कार्यकारि स्यात् ? प्रथमपक्षे दूषणमाह–

समर्थस्य करणे[२] सर्वदोत्पत्ति[३]रनपेक्षत्वात्[४]॥६३॥

सहकारिसान्निध्यात् [५]तत्करणान्नेति चेदत्राह[६]–

[७]परापेक्षणे [८]परिणामित्वमन्यथा[९] तदभावात्॥६४॥

[१०]वियुक्तावस्थायामकुर्वतः सहकारिसमवधानवेलायां कार्यकारिणः पूर्वोत्तराकार–परिहारावाप्तिस्थिति–लक्षणपरिणामोपपत्तेरित्यर्थः[११]। अन्यथा कार्यकरणाभावात्। [१२]प्रागभावावस्थाया[१३]मेवेत्यर्थः।

सूत्रार्थ—क्योंकि केवल सामान्य रूप से, अथवा विशेषरूप से वस्तु का प्रतिभास नहीं होता, तथा केवल सामान्य या केवल विशेषरूप पदार्थ अपना कार्य नहीं कर सकता। इसलिए वे विषयाभास हैं ॥६२॥

यदि कोई कहे कि वे एकान्तरूप पदार्थ अपना कार्य कर सकते हैं तो आचार्य उनसे पूछते हैं कि वह एकान्तात्मक तत्त्व स्वयं समर्थ होते हुए अपना कार्य करेगा अथवा असमर्थ रहते हुए करेगा? आचार्य इनमें से प्रथम पक्ष में दूषण कहते हैं–

सूत्रार्थ—यदि वह एकान्तात्मक तत्त्व समर्थ होता हुआ कार्य करेगा, तो कार्य की सर्वदा ही उत्पत्ति होनी चाहिए, क्योंकि वह किसी दूसरे की अपेक्षा ही नहीं रखता, जिससे कि सर्वदा कार्य को उत्पत्ति न हो सके ॥६३॥

यदि कहा जाये कि वह पदार्थ सहकारी कारणों के सान्निध्य से अर्थात् मिल जाने से उस कार्य को करता है, इसलिए कार्य की सर्वदा उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा कहने पर आचार्य उत्तर देते हैं–

सूत्रार्थ—दूसरे सहकारी कारणों की अपेक्षा रखने पर पदार्थ के परिणामीपना प्राप्त होता है। अन्यथा कार्य नहीं हो सकेगा ॥६४॥

सहकारी कारणों की वियुक्त अवस्था में कार्य नहीं करने वाले और सहकारी कारणों के सन्निधान के समय कार्य करने वाले पदार्थ के पूर्व आकार का परित्याग उत्तर आकार का उपादान और स्थितिलक्षण परिणाम के सम्भव होने से परिणामीपना सिद्ध होता है। यदि ऐसा न माना जाये, तो कार्य करने का अभाव रहेगा, जैसे कि प्रागभावदशा में कार्य का अभाव था।

---

१. केवलसामान्यतया केवलविशेषतया द्वयस्य स्वतन्त्रतया वा। २. कार्यस्य। ३. प्रसङ्गादिति शेषः। ४. परानपेक्षत्वात्। ५. कार्यकरणात्। ६. सर्वदोक्तलक्षणं दूषणं न भवतीत्यर्थः। ७. परिणामित्वाभावे परापेक्षणं व्यर्थं स्यात्। ८. अनपेक्षाकारपरित्यागेनापेक्षाकारेण परिणमनात्। ९. परानपेक्षे, परिणामित्वाभावे। १०. सहकारिरहितावस्थायाम्। ११. अनेन परिणामित्वं सूचितम्। १२. यथा मृत्पिण्डे प्राग् घटाभावः। कार्योत्पत्त्यभावात्सर्वे वस्तुजातं प्रागभावावस्थायामेव विद्यमानं स्यात्। १३. वियुक्तावस्थायामित्यर्थः।

अथ [१]द्वितीयपक्षे दोषमाह–

स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात्पूर्ववत्[२]॥६५॥

अथ फलाभासं प्रकाशयन्नाह–

फलाभासं प्रमाणादभिन्नं[३] **भिन्नमेव** [४]**वा॥६६॥**

कुतः पक्षद्वयेऽपि तदाभासतेत्याशङ्कायामाद्यपक्षे[५] तदाभासत्वे हेतुमाह–

[६]**अभेदे** [७]**तद्व्यवहारानुपपत्तेः॥६७॥**

फलमेव प्रमाणमेव वा भवेदिति भावः।

भावार्थ—जैसे मृत्पिण्ड की दशा में घड़े का अभाव था (इसी को प्रागभाव कहते हैं) और कुम्भकार, चक्र आदि सहकारी कारणों के मिल जाने पर वह मृत्पिण्ड घटरूप कार्य से परिणत हो गया, तब यही कहा जायेगा कि घट परिणामी है, क्योंकि उसने अपनी मृत्पिण्डरूप दशा को छोड़कर तथा घटरूप दशा को प्राप्त करके भी अपना मृत्तिकापन स्थिर रखा है और यही परिणामीपने का अर्थ है। यदि ऐसा न माने तो जैसे प्रागभावदशा में घट के जल-धारणादि कार्य करने का अभाव था, वह उत्तर अवस्था में भी रहना चाहिए। इससे सिद्ध है कि सहकारी कारणों की अपेक्षा रखने पर पदार्थ परिणामी है।

अब आचार्य असमर्थरूप दूसरे पक्ष में दोष कहते हैं–

सूत्रार्थ—स्वयं असमर्थ पदार्थ कार्य का करने वाला नहीं हो सकता। जैसे कि वह सहकारी कारणों से रहित अवस्था में अपना कार्य करने के लिए असमर्थ था, उसी प्रकार सहकारी कारणों के मिल जाने पर भी अपना कार्य करने में असमर्थ रहेगा ॥६५॥

इस प्रकार प्रमाण के विषयाभास का वर्णन हुआ। अब प्रमाण के फलाभास को प्रकाशित करते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ—प्रमाण से उसके फल को सर्वथा अभिन्न ही, अथवा भिन्न ही मानना फलाभास है ॥६६॥

इन दोनों ही पक्षों मे फलाभासता कैसे है, ऐसी आशंका होने पर पहले सर्वथा अभिन्न पक्ष में फलाभासता बतलाने के लिए आचार्य हेतु देते हैं–

सूत्रार्थ—यदि प्रमाण से फल सर्वथा अभिन्न माना जाये, तो यह प्रमाण है और यह उसका फल है तो फल ही रहेगा, ऐसा भेद व्यवहार नहीं बन सकेगा॥६७॥

कहने का भाव यह कि या तो फल ही रहेगा अथवा प्रमाण ही रहेगा? दोनों नहीं रह

---

१. असमर्थपक्षे। २. सहकारिरहितावस्थायामिति अपरिणामी असमर्थो यथा। ३.बौद्धः। ४. यौगः। ५. सर्वथाऽभेदपक्षे। ६. सर्वथा। ७. तयोः प्रमाणफलयोः।

[१]व्यावृत्त्या [२]संवृत्यपरनामधेयया [३]तत्कल्पनाऽस्त्वित्याह–

व्यावृत्यापि न [४]तत्कल्पना फलान्तराद्[५] व्यावृत्याऽफलत्वप्रसङ्गात्[६]॥६८॥

अयमर्थः–यथाऽफलाद्विजातीयात्फलस्य व्यावृत्त्या फलव्यवहारस्तथा [७]फलान्तरादपि सजातीयाद् व्यावृत्तिरप्यस्तीत्यफलत्वम्।

अत्रैवाभेदपक्षे दृष्टान्तमाह–

प्रमाणान्तराद् [८]व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य॥६९॥

[९]अत्रापि प्राक्तन्येव प्रक्रिया योजनीया।

सकेंगे। यदि प्रमाण से फल को अभिन्न मानने वाले बौद्ध कहें कि संवृति इस अपर नाम वाली व्यावृत्ति अर्थात् निवृत्ति की कल्पना से प्रमाण और फल की कल्पना कर ली जायेगी, सो भी सम्भव नहीं है, यह बतलाने के लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–अफल की व्यावृत्ति से भी फल की कल्पना नहीं की जा सकती है अन्यथा फलान्तर की व्यावृत्ति से अफलपने की कल्पना का प्रसंग आयेगा ॥६८॥

सूत्र का यह अभिप्राय है कि जैसे फल का विजातीय जो अफल उसकी व्यावृत्ति से आप बौद्ध लोग फल का व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार फलान्तर अर्थात् अन्य प्रमितिरूप जो सजातीय फल है उसकी व्यावृत्ति से अफलपने का प्रसंग आता है।

भावार्थ–बौद्ध लोग जैसे अगो की व्यावृत्ति से गोपदार्थ का ज्ञान मानते हैं, उसी प्रकार वे यहाँ पर भी कहते हैं कि हम अफल की व्यावृत्ति से फल का व्यवहार कर लेंगे। आचार्य ने उन्हें यह उत्तर दिया है कि तब तो अन्य सजातीय फल की व्यावृत्ति से अफल की कल्पना क्यों न की जाये? कहने का सारांश यह है कि अन्य की व्यावृत्ति से फल का व्यवहार नहीं हो सकता। अतः प्रमाण से फल को सर्वथा अभिन्न मानना ठीक नहीं है।

आचार्य दूसरे अभेद पक्ष में दृष्टान्त कहते हैं–

सूत्रार्थ–जैसे प्रमाणान्तर अर्थात् अन्य प्रमाण की व्यावृत्ति से अप्रमाणपने का प्रसंग आता है ॥६९॥

यहाँ पर भी पहले वाली ही प्रक्रिया लगानी चाहिए।

---

१. व्यावृतिर्निरूपा अवस्तु। २. अविद्या। ३. फल। ४. फलः। फलाद् व्यावृत्तिरफलम्, अफलाद् व्यावृत्तिः फलम्। ५. अफलाद् व्यावृत्तिः कथं यथा तथा फलान्तराद् व्यावृत्या भाव्यम्। तथा सति फलान्तराद् व्यावृत्तिः फलविशेषाद् व्यावृत्तिरित्यर्थः। ६. अफलत्वप्रसङ्गो गोव्यावृत्त्याऽगोत्वं भवति यथा। ७. प्रमित्यन्तरादपि। ८. प्रमाणमियुक्ते अप्रमाणव्यावृत्तिरिति चेत्तर्हि प्रमाणान्तराद् व्यावृत्तमप्रमाणं स्यात्। न हि भवन्मते प्रमाणं नास्ति, तथा प्रकृतम्। अप्रमाणाद् विजातीयात् प्रमाणस्य व्यावृत्त्या प्रमाणव्यवहा–रस्तथा अप्रमाणं तदपि सजातीयाद् व्यावृत्तिरस्तीत्यप्रमाणत्वं यथा तथा प्रकृतम्। ९. प्रमाणान्तराद् व्यावृत्या प्रमाणस्याप्रमाणत्वं यथा तथा प्रकृतेऽपि।

अभेदपक्षं निराकृत्य आचार्य उपसंहरति–

तस्माद्वास्तवो भेदः[१] **॥७०॥**

[२]भेदपक्षं दूषयन्नाह–

[३]**भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः**[४]**॥७१॥**

विशेषार्थ—बौद्ध लोग प्रमाण और फल में अभेद मानते हैं, उनके मतानुसार एक ही ज्ञान प्रमाण और फल दोनों रूप होता है। उनके यहाँ प्रत्येक ज्ञान अर्थाकार और बोधरूप होता है। यतः घट का ज्ञान घटाकार और घट-बोधरूप है, अतः वे अर्थाकार को व्यवस्थापन हेतु होने से प्रमाण और अर्थबोध को व्यवस्थाप्य होने से फल कहते हैं। यहाँ प्रश्न यह होता है कि एक ही ज्ञान में प्रमाण और फल इन दो बातों की व्यवस्था कैसे सम्भव है ? बौद्ध इसका उत्तर यह देते हैं कि व्यावृत्ति के द्वारा दोनों की व्यवस्था होने में कोई विरोध नहीं है। घटज्ञान में अघटाकार की व्यावृत्ति होने से प्रमाण की और अघटबोध की व्यावृत्ति होने से फल की व्यवस्था हो जाती है। यहाँ आचार्य बौद्धों की इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रमाण से फल को अभिन्न मानने पर व्यावृत्ति के द्वारा भी फल की व्यवस्था नहीं बन सकती है। जिस प्रकार आप अफल (अघट-बोध) की व्यावृत्ति से उसे फल कहते हैं, उसी प्रकार सजातीय फल (अन्य घट-बोध) की व्यावृत्ति से उसे अफल भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार आप लोग अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण की भी व्यवस्था नहीं कर सकते, क्योंकि जिस प्रकार अप्रमाण की व्यावृत्ति से उसे प्रमाण कहते हैं, उसी प्रकार प्रमाणान्तर (अन्य प्रमाण) की व्यावृत्ति से उसे अप्रमाण भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार अभेद पक्ष का निराकरण करके आचार्य अब उपर्युक्त कथन का उपसंहार करते हैं–

सूत्रार्थ—इसलिए प्रमाण और फल में वास्तविक भेद है ॥७०॥

भावार्थ—कल्पना से प्रमाण और फल का भेद नहीं मानना चाहिए, किन्तु वास्तविक भेद ही मानना चाहिए, अन्यथा प्रमाण और फलका व्यवहार नहीं बन सकता।

अब आचार्य नैयायिकों के द्वारा माने गये सर्वथा भेद पक्ष में दूषण देते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ—भेद मानने पर तो अन्य आत्मा के समान यह इस प्रमाण का फल है, ऐसा व्यवहार नहीं हो सकेगा ॥७१॥

भावार्थ—नैयायिक लोग प्रमाण से फल को सर्वथा भिन्न ही मानते हैं। आचार्य ने उनकी इस मान्यता में यह दोष दिया है कि जिस प्रकार दूसरी आत्मा के प्रमाण का फल हमारी आत्मा के

१.फलस्य परमार्थतो भेदो न तु कल्पितः। वास्तवभेदाभावे प्रमाणफलव्यवहारानुपपत्तेरिति। २.तर्हि सर्वथा भेदोऽस्त्वति शङ्कापनो-दार्थमाह। ३. अन्यत्र भेदे आत्मान्तरस्येदं। फलमिति वक्तुं न याति, तथा स्वात्मनोऽपि। ४. प्रमाणफल-व्यवहारानुपपत्तेः। इदं फलमस्येति व्यवहाराभावात् फलानुपपत्तेः।

अथ यत्रैवात्मनि प्रमाणं समवेतं[१] फलमपि तत्रैव समवेतमिति समवायलक्षणप्रत्यासत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थितिरिति, नात्मान्तरे [२]तत्प्रसङ्ग इति चेत्तदपि न सूक्तमित्याह–

समवायेऽतिप्रसङ्गः॥७२॥

समवायस्य नित्यत्वाद् [३]व्यापकत्वाच्च [४]सर्वात्मनामपि समवायसमानधर्मिकत्वान्न ततः प्रतिनियम[५] इत्यर्थः[६]।

इदानीं स्वपक्षसाधनदूषणव्यवस्थामुपदर्शयति–

प्रमाण का फल नहीं कहला सकता है, उसी प्रकार प्रमाण से फल को सर्वथा भिन्न मानने पर हमारी आत्मा के प्रमाण का फल भी हमारा नहीं कहला सकेगा। इसलिए प्रमाण से फल को सर्वथा भिन्न ही मानना ठीक नहीं है।

यहाँ पर नैयायिक कहते हैं कि जिस ही आत्मा में प्रमाण समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है, उस ही आत्मा में फल भी समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है, इसलिए समवाय स्वरूप प्रत्यासत्ति अर्थात् सम्बन्ध से इस प्रमाण का यह फल है, ऐसी व्यवस्था बन जायेगी और तब अन्य आत्मा में भी फल के मानने का प्रसंग नहीं आयेगा। आचार्य कहते हैं कि यह कहना भी ठीक नहीं हैं–

सूत्रार्थ–क्योंकि समवाय के मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है॥७२॥

समवाय के नित्य एक और व्यापक होने से वह सभी आत्माओं के भीतर समान धर्मरूप से रहेगा, तब यह फल इसी प्रमाण का है, अन्य का नहीं ऐसा प्रतिनियम नहीं बन सकेगा।

भावार्थ–आप नैयायिकों ने जब समवाय को नित्य, एक और व्यापक माना है, तब उसका सम्बन्ध सभी आत्माओं में समानरूप से होगा। ऐसी दशा में यह नियम कैसे बन सकता है कि यह फल इसी अमुक आत्मा के प्रमाण का है और अन्य आत्मा के प्रमाण का नहीं। फिर इस प्रतिनियम के अभाव में यह अव्यवस्थारूप अतिप्रसंग दोष आता है कि जिस किसी भी आत्मा के प्रमाण का फल हर जिस किसी भी आत्मा के प्रमाण का फल कहलाने लगेगा। इसलिए प्रमाण से फल को सर्वथा भिन्न ही मानना ठीक नहीं है। इस प्रकार सर्वथा भेद और अभेद पक्ष के निराकरण कर देने पर यह अर्थ फलित हुआ की प्रमाण से फल को कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न ही मानना युक्तिसंगत है।

इस प्रकार प्रमाण के फलाभास का वर्णन हुआ।

अब आचार्य वाद अर्थात् शास्त्रार्थ के समय अपने पक्ष के साधन की और पर पक्ष में दूषण देने की व्यवस्था को बतलाते हैं–

---

१. सम्बद्धम्। २. फलप्रसङ्गः। ३. एकत्वात्। ४. नित्यत्वाद् व्यापकत्वाच्च। ५. इदं फलमस्यैव नान्यस्येति प्रतिनियमाभावः। ६. एकस्मिन्नात्मनि अन्यः प्रमाणं फलयोः प्रमाणः सम्बन्ध इत्यन्यस्मिन्नपि भवति, समवायस्य समानधर्मत्वात् विशेषाभावात् कथमेतस्येदं फलमेतस्येदं न भवतीति प्रतिनियमः कथं भवन्ति?

प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च॥७३॥

वादिना प्रमाणमुपन्यस्तम्, तच्च प्रतिवादिना दुष्टतयोद्भावितम्। पुनर्वादिना परिहृतम्, तदेव तस्य[१] साधनं भवति; प्रतिवादिनश्च दूषणमिति। यदा तु वादिना प्रमाणाभासमुक्तम्, प्रतिवादिना तथैवोद्भावितम्, वादिना चापरिहृतम्; तदा तद्वादिनः साधनाभासो भवति, प्रतिवादिनश्च भूषणमिति।

अथोक्तप्रकारेणाशेषविप्रतिपत्तिनिराकरणद्वारेण प्रमाणतत्त्वं स्वप्रतिज्ञातं परीक्ष्य नयादितत्त्व-मन्यत्रोक्त[२]मिति [३]दर्शयन्नाह–

सम्भवदन्यद्[४] विचारणीयम्[५]॥७४॥

सूत्रार्थ–वादी के द्वारा प्रयुक्त प्रमाण और प्रमाणाभास प्रतिवादी के द्वारा दोषरूप से उद्भावित किये जाने पर वादी से परिहृत अपरिहृत दोष वाले रहते हैं, तो वे वादी के लिए साधन और साधनाभास हैं और प्रतिवादी के लिए दूषण और भूषण हैं ॥७३॥

इस सूत्र का यह अभिप्राय है कि वाद के समय वादी ने पहले प्रमाण को उपस्थित किया, प्रतिवादी ने दोष बतलाकर उसका उद्भावन कर दिया। पुनः वादी ने उस दोष का परिहार कर दिया तो वादी के लिए वह साधन हो जायेगा और प्रतिवादी के लिए दूषण हो जायेगा। इसी प्रकार जब वादी ने प्रमाणाभास कहा, प्रतिवादी ने दोष बतलाकर उसका उद्भावन कर दिया। तब यदि वादी ने उसका परिहार नहीं कर पाया, तो वह वादी के लिए साधनाभास हो जायेगा और प्रतिवादी के लिए भूषण हो जायेगा।

भावार्थ–शास्त्रार्थ के समय जो पहले अपने पक्ष को स्थापित करता है वह वादी कहलाता है और जो उसका प्रतिवाद करता है, वह प्रतिवादी कहलाता है। इनमें से जो अपने पक्ष पर आये हुए दूषणों का परिहार करके अपने पक्ष को सिद्ध कर देता है, शास्त्रार्थ में उसकी जीत होती है और जो वैसा नहीं कर पाता उसकी हार होती है। कहने का प्रकृत में भाव यह है कि अपने पक्ष को सिद्ध कर लेना और पर पक्ष में दूषण दे देना यही प्रमाण और प्रमाणाभास के जानने का फल है।

उपर्युक्त प्रकार से प्रमाण के स्वरूप-संख्यादि सम्बन्धी समस्त विप्रतिपत्तियों के निराकरण द्वारा अपने प्रतिज्ञात प्रमाणतत्त्व की परीक्षा करके नय, निक्षेपादि तत्त्व अन्य ग्रन्थों में कहे गये है, उन्हें वही से जान लेना चाहिए, यह बतलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

सूत्रार्थ–वस्तुतत्त्व की सिद्धि के लिए सम्भव अन्य नय-निक्षेपादि भी विचारणीय है ॥७४॥

---

१. तस्य वादिनः। २. ग्रन्थान्तरे नयचक्रादौ। ३. अध्यारोपयन्। ४. कथितात्प्रमाणतदाभासलक्षणादन्यन्नयनयाभासयो-र्लक्षणम्। ५. नयानिष्ठैः।

सम्भवद्विद्यमानमन्यत्प्रमाणतत्त्वान्नय[१]स्वरूपं शास्त्रान्तरप्रसिद्धं विचारणीयमिह[२] युक्त्या प्रतिपत्तव्यम्। तत्र मूल नयौ द्वौ[३]द्रव्यार्थिक–[४]पर्यायार्थिकभेदात्। तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रेधा–नैगमसङ्ग्रहव्यवहारभेदात्। पर्यायार्थिकश्चतुर्धा–ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतभेदात्।

[५]अन्योन्यगुण[६]–प्रधानभूतभेदाभेदप्ररूपणो नैगमः[७]। नैकं गमो नैगम इति निरुक्तेः। सर्वथा भेदवादस्तदाभासः।

प्रमाणतत्त्व से भिन्न अन्य सम्भव अर्थात् विद्यमान जो नयचक्रादि अन्य शास्त्रों में प्रसिद्ध नयों का स्वरूप है, वह भी यहाँ पर विचारणीय है, अर्थात् युक्ति से ज्ञातव्य है। वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी एक अंश के ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। अयथार्थ या मिथ्या नय को नयाभास कहते हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से मूल नय दो हैं। द्रव्य की ही प्रधानता से विवक्षा करने वाले नय को द्रव्यार्थिक और पर्याय की ही प्रधानता से विषय करने वाले नय को पर्यायार्थिक कहते हैं। उनमें नैगम, संग्रह और व्यवहार के भेद से द्रव्यार्थिक नय तीन प्रकार का है। ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत के भेद से पर्यायार्थिक नय चार प्रकार का है।

वस्तुगत धर्मों के भेद और अभेद को परस्पर गौण और प्रधान करके निरूपण करना नैगमनय है। यह नय एक ही धर्म को ग्रहण नहीं करता, किन्तु विधि–प्रतिषेधरूप अनेक धर्मों को मुख्यता और गौणता से ग्रहण करता है, अतः 'नैकं गमः नैगमः' इस प्रकार की इसकी निरूक्ति सार्थक है। सर्वथा भेदवाद को ही कहना नैगमाभास है।

विशेषार्थ—निगम नाम संकल्प का है। संकल्प को प्रधानरूप से ग्रहण करने वाले नय को नैगमनय कहते हैं। जैसे कोई पुरुष कुल्हाड़ी लेकर लकड़ी काटने के लिए वन जा रहा है। किसी

---

१. अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नय इति नयसामान्यलक्षणम्। तदुक्तम्–नयो वक्तृविवक्षा स्याद् वस्त्वंशे स हि वर्तते। द्विधाऽसौ भिद्यते मूलाद् द्रव्य–पर्यायभेदतः ॥१॥ २. अस्मिन् शास्त्रे। ३. द्रव्यमेवार्थो विषयो यस्यास्ति स द्रव्यार्थिकः। ४. पर्याय एवार्थो यस्यासौ, पर्यायार्थिकः। तदुक्तं–घट पटयोरभेदः प्रमेयत्वा–दभिधेयत्वाद्वस्तुत्वात्तयोर्भेदः–आतानवितानाकारत्वात् पृथुबुघ्नोदराकारत्वात्। नैगमः संग्रहश्चेति–व्यवहारर्जुसूत्र–कौ। शब्दः समभिरूढैवंभूतौ सप्त नयाः स्मृताः ॥२॥ नैगमः संग्रहश्चेति व्यवहारस्त्रयो नयाः। द्रव्यार्थिकस्य भेदा स्युरन्ये पर्यायभेदकाः॥३॥ ५. धर्मधर्मिणोः। ६. गौणमुख्यभावेन। ७. यथा जीवगुणः सुखमित्यत्र हि जीवस्याप्राधान्यं विशेषणत्वात्सुखस्य प्राधान्यं विशेष्यत्वात्। सुखी जीव इत्यत्र तु जीवस्य प्राधान्यं विशेष्यत्वात्, सुखस्याप्राधान्यं विशेषणत्वात्। अथवाऽनिष्पन्नार्थसङ्कल्पमात्रग्राही नैगमः। निगमो हि सङ्कल्पस्तत्र भवस्तत्प्रयोजनो वा नैगम१। यथा कश्चित्पुरुषो गृहीकुठारो गच्छन् किमर्थं भवान् गच्छतीति पृष्ठः सन्नाह–प्रस्थमानेतुमिति। न चासौ प्रस्थपर्यायः सन्निहितः, किन्तु तन्निष्पत्तये सङ्कल्पमात्रे प्रस्थव्यवहारात्। भूत–भावि–वर्तमानकालभेदान्नैगमस्त्रेधा। अतीतं साम्प्रतं कृत्वा निर्माय तदयोगिनः। एवं वदत्यभिप्रायो नैगमोऽभेदको नयः॥४॥ अनिष्पन्नं क्रियारूपं निष्पन्नं वदति स्फु टम्। नैगमो वर्तमानं स्यादोदनं भुज्यते मया ॥५॥ चित्तस्थं यदि निर्वृत्तमप्रस्थे प्रस्थकं यथा। भाविनं भूतवद् ब्रूते नैगमश्चागमो मतः॥६॥

प्रतिपक्षसव्यपेक्षः[१] सन्मात्रग्राही संग्रहः[२]। ब्रह्मवादस्तदाभासः[३]।

ने पूछा–तुम कहाँ जा रहे हो? वह कहता है–हल लेने जा रहा हूँ। यहाँ पर अभी हलरूप पर्याय नहीं है, पर लाई जाने वाली लकड़ी में हल बनाने का संकल्प होने से वह हल का व्यवहार करता है। कुछ आचार्य धर्म और धर्मी इन दोनों को गौण और प्रधान भाव से ग्रहण करना नैगमनय का कार्य कहते हैं। जैसे सुख जीव का गुण है। यहाँ पर सुख प्रधान है, क्योंकि वह विशेष्य है और जीव गौण है; क्योंकि वह विशेषण है। 'जीव सुखी है' इस प्रकार के प्रयोग में जीव प्रधान है, क्योंकि वह विशेष्य पद है और सुखी यह विशेषण है अतः वह गौण है। इस प्रकार नैगम नय न केवल धर्म को ही विषय करता है और न केवल धर्मी को। किन्तु विवक्षा के अनुसार यह दोनों को विषय करता है। इसी प्रकार अवयव–अवयवी, गुण–गुणी आदि में एक की प्रधानता से विवक्षा करने पर यह नैगमनय दूसरे को गौणरूप से ग्रहण करता है। यह नय गुण और गुणी में भेद और अभेद दोनों को ही विषय करता है। अवयव–अवयवी, गुण–गुणी आदि में सर्वथा भेद मानना नैगमनयाभास है; क्योंकि गुणी से गुण और अवयवी से अवयव अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखते। इसी प्रकार गुण या अवयव की उपेक्षा करके गुणी या अवयवी भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते है। वैशेषिक नैयायिकों का गुणी से गुण को सर्वथा भिन्न मानना और सांख्यों का ज्ञान और सुख आदि को आत्मा से भिन्न मानना नैगमाभास ही है; क्योंकि गुणी और अवयवी को छोड़कर गुण और अवयव भिन्न नहीं पाये जाते।

प्रतिपक्ष की अपेक्षा सहित सत्तामात्र सामान्य तत्त्व को ग्रहण करना संग्रहनय है। केवल ब्रह्मरूप ही तत्त्व है, ऐसा कहना संग्रहाभास है।

विशेषार्थ—संसार के समस्त पदार्थों को 'सत्' रूप से संग्रह करने वाले नय को संग्रहनय कहते हैं। जैसे सत् रूप की अपेक्षा यह चराचर विश्व या चेतनाचेतनात्मक जगत् एकरूप है; क्योंकि सत् रूप से चेतन और अचेतन में कोई भेद नहीं है। संग्रह दो प्रकार का है–सामान्य या पर संग्रह और विशेष या अपरसंग्रह। जो परस्पर के अविरोध से सबके सत्त्व को कहे वह सामान्य या परसंग्रह कहलाता है। अपर या विशेष संग्रह में एक द्रव्यरूप से समस्त द्रव्यों का, गुणरूप से समस्त गुणों का पर्यायरूप से समस्त पर्यायों का, मनुष्यत्वरूप से और समस्त मनुष्यों का संग्रह किया जाता है। नैगमनय विधि और निषेध दोनों को मुख्य और गौणता से ग्रहण करता है। किन्तु संग्रहनय केवल विधि को ही विषय करता है। केवल ब्रह्मरूप ही तत्त्व है, उसके अतिरिक्त और

१. प्रतिपक्षसापेक्षः। २. संग्रहोऽपि द्विधा–सामान्यसंग्रहो विशेषसंग्रहश्चेति। यदन्योन्याविरोधेन सत्त्वं सर्वस्य वक्ति यः। सामान्यसंग्रहः प्रोक्तश्चैकजीवो विशेषकः ॥७॥ सामान्यसंग्रहस्यार्थं जीवाजीवादिभेदतः। भिन्नेति व्यवहारोऽयं शुद्धसंग्रहभेदकः ॥८॥ ३. सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चिनेत्यादि संग्रहाभासः।

संग्रहगृहीतभेदको व्यवहारः[१]। काल्पनिको भेदस्तदाभासः[२]। [३]शुद्धपर्यायग्राही [४]प्रतिपक्षसापेक्ष ऋजुसूत्रः। [५]क्षणिकैकान्तनयस्तदाभासः[६]।

कुछ भी नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य सबका निराकरण करना संग्रहाभास है। संग्रहनय में अभेद मुख्य होने पर भी भेद का निराकरण नहीं किया जाता, किन्तु गौणरूप से उसकी विवक्षा रहती है।

संग्रहनय से गृहीत तत्त्व का भेद करने वाला व्यवहार नय है। भेद-व्यवहार काल्पनिक है, ऐसा कहना व्यवहाराभास है।

विशेषार्थ—संग्रहनय से संगृहीत अर्थ में विधिपूर्वक भेद करने वाले नय को व्यवहारनय कहते हैं। जैसे-जो सत् है, वह द्रव्यरूप है, अथवा पर्यायरूप है। जो द्रव्य है वह चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार है। चेतनद्रव्य भी संसारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार है। संसारी जीव भी त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार का है। इस प्रकार से यह नय जहाँ तक भेद सम्भव है, वहाँ तक भेद करता ही जाता है। अपेक्षा के बिना भेद-व्यवहार-को काल्पनिक कहना व्यवहाराभास है। दो स्वतंत्र द्रव्यों में वास्तविक भेद है, उनमें सादृश्य के कारण अभेद आरोपित होता है जबकि एक द्रव्य की गुण और पर्याय में वास्तविक अभेद है। उनमें भेद उस अखण्ड वस्तु का विश्लेषण कर समझने के लिए कल्पित होता है। एक द्रव्य के गुणादि का भेद वस्तुतः मिथ्या है और इसीलिए वैशेषिक की प्रतीति विरुद्ध सत्ता से द्रव्यादि भेद की कल्पना भी व्यवहाराभास ही है।

प्रतिपक्ष की अपेक्षारहित शुद्ध पर्याय को ग्रहण करने वाला ऋजुसूत्रनय है। क्षणिक एकान्तरूप तत्त्व को मानना ऋजुसूत्राभास है।

विशेषार्थ—प्रतिपक्ष की अपेक्षारहित वर्तमान क्षणवर्ती शुद्ध पर्याय को ग्रहण करना ऋजुसूत्र नय का विषय है। जैसे इस समय सुखरूप पर्याय है। इस नय की दृष्टि में चूँकि अतीत विनष्ट है और अनागत अनुत्पन्न है, अतः उसमें पर्याय का व्यवहार हों नहीं सकता। यह नय भी सूक्ष्म और स्थूल के भेद से दो प्रकार का है। एक समयवर्ती पर्याय को विषय करना सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय है और अनेक समयवर्ती स्थूल पर्याय को विषय करना स्थूल ऋजुसूत्र नय है। बौद्धों के द्वारा माना

---

१. संग्रहनयगृहीतानां विधिपूर्वको भेदको व्यवहारः। यथा सद्द्रव्यं पर्यायो वेत्यादि। विशेषसंग्रहस्यार्थं व्यवहारो भिनत्त्यलम्। संसारिमुक्तभेदेन संग्रहार्थप्रभेदकः ॥९॥ सामान्यसंग्रहभेदको व्यवहार; विशेषसंग्रहभेदको व्यवहारश्चेति व्यवहारोऽपि द्विधा। २. अपेक्षामन्तरेण सर्वथा भेदः काल्पनिको व्यवहारनयाभासः। ३. वर्तमानमात्र। ४. भूतभविष्यत्पर्याय।५. ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रमिति निरुक्तेः। यथा सुखपर्यायः सम्प्रत्यस्ति। सूक्ष्मऋजुसूत्रः स्थूलऋजुसूत्रश्चेति ऋजुसूत्रोऽपि द्विधा। एकस्मिन् समये संस्थं पर्यायं यः स पश्यति। ऋजुसूत्रो भवेत्सूक्ष्मः स्थूलः स्थूलार्थगोचरः ॥१०॥ ६. बौद्धाभिमतः सर्वथा क्षणिकवादस्तदाभासः।

काल-[1]कारक[2]लिङ्गानां[3] भेदाच्छब्दस्य कथञ्चिदर्थभेदकथनं शब्दनयः[4]। अर्थभेदं विना शब्दानामेव नानात्वैकान्तस्तदाभासः।

पर्यायभेदात्पदार्थ[5]नानात्वनिरूपकःसमभिरूढः[6]। [7]पर्यायनानात्वमन्तरेणापीन्द्रादिभेदकथनं तदाभासः।

गया सर्वथा क्षणिकवाद ऋजुसूत्राभास है। क्योंकि उसमें विभिन्न क्षणों में अनुगामी कोई द्रव्य नहीं माना गया है।

काल, कारक, लिंग आदि के भेद से शब्द के कथंचित् अर्थ-भेद का कथन करना शब्दनय है। अर्थभेद के बिना शब्दों की एकान्तरूप से विभिन्नता को कहना शब्दनयाभास है।

विशेषार्थ—यह नय एक अर्थ के वाचक अनेक शब्दों का लिंगादि के भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। जैसे पुष्य, नक्षत्र और तारा ये तीनों शब्द नक्षत्र के पर्यायवाची होते हुए भी लिंग के भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं। पुष्य शब्द पुलिंग होने से उसके पुरुषत्व को, नक्षत्र शब्द नपुंसकलिंग होने से उसके नपुंसकत्व को और तारा शब्द स्त्रीलिंग होने से उसके स्त्रीत्व को प्रगट करता है। इसी प्रकार काल के भेद से, कारक के भेद से और संख्या के भेद से भी भिन्न-भिन्न शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक होते हैं। लिंगादि का भेद होने पर भी उन शब्दों में अर्थगत भेद को नहीं मानना शब्दनयाभास है। जैसे पुष्य, नक्षत्र और तारा इन शब्दों में लिंग-भेद होने पर भी इनका वाच्य एक ही अर्थ मानना।

पर्याय के भेद से पदार्थ नानापने का निरूपण करने वाला समभिरूढ़नय है। पर्याय की विभिन्नता के बिना ही इन्द्र-शक्रादि के भेद का कथन करना समभिरूढ़नयाभास है।

विशेषार्थ—शब्दनय काल, कारक, लिंग तथा संख्या के भेद से शब्दों मे अर्थभेद स्वीकार करता है, किन्तु समभिरूढ़ नय एक कालवाचक, एक लिंग वाले और एक संख्या वाले अनेक

---

१. चित्रभानुः रात्रौ भाति, तदाऽग्निः दिवसे भाति। २. घटः घटौ घटा एकस्य बहूनामर्थभेदः। अथवा षट्कारकभेदेन च। ३. मित्रः मित्रं सूर्यसुहृदौ। लक्षणं यस्य प्रवृत्तौ च स्वस्य वादिष्टलिङ्गिनः। शब्दो लिङ्गं स्वसंख्यां च न परित्यज्य वर्तते ॥११॥ शब्दोऽथवा प्रसिद्धेन शब्देनार्थं प्रतीत्यथ। यथा मनुजपर्याये स्थितो मनुज एव सः ॥१२॥ शब्दभेदेनचार्थस्य भेदं तथ्यं करोति यः। ४. लिङ्गसंख्या-साधनकालोपग्रहकारकभेदेन भिन्नमर्थं पश्यति प्रतिपादयत्यनेनेति शब्दः। यथा पुष्यस्तारका नक्षत्रमित्यत्र लिङ्गभेदेन, सलिलमाप इत्यत्र सङ्ख्याभेदेन भिन्नार्थत्वं मन्यते। एहि मन्ये रथेन यास्यसि, यातस्ते पिता इत्यत्र साधनभेदेनार्थभेदः। विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रोऽजनि, वा भाविकृत्यमासीदित्यत्र कालभेदेनार्थान्तरत्वं मन्यसे। सन्तिष्ठते तिष्ठति, विरमति विरमते इत्यत्रोपग्रहभेदेन भिन्नार्थताभिमननम्, अनेन क्रियते, अयं करोति इत्यत्र कारकभेदेन भिन्नार्थत्वम्, मन्यते इत्यत्र लिङ्गादिभेदेऽपि यद्येकत्वं स्यात्तदा सर्वशब्दानामेकार्थत्वप्रसङ्गः स्यात्। ५. शब्दनयो हि पर्यायशब्दभेदान्नार्थभेदमभिप्रैति, कालादिभेदत एवार्थभेदा भिप्रायादिति। अत्र तु भेदः पर्यायभेदादिति यथा शक्र इन्द्रः पुरन्दरः। ६. पर्याय शब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात्। नयः समभिरूढः स्यात् पूर्ववच्चास्य निश्चयः ॥१३॥ शब्दभेदादर्थभेदकः समभिरूढः। ७. एकस्यैवाऽऽत्मनः रागादिपरिणामत्वाद् रागी द्वेषी-त्यादि।

क्रियाश्रयेण भेदप्ररूपणमित्थम्भावः[१]। क्रियानिरपेक्षत्वेन क्रियावाचकेषु[२] काल्पनिको व्यवहारस्तदाभास इति।

इति [३]नय-तदाभासलक्षणं सङ्क्षेपेणोक्तम्, विस्तरेण[४] नयचक्रात्प्रतिपत्तव्यम्।

पर्यायवाची शब्दों में भी अर्थभेद मानता है। जैसे इन्द्र शक्र और पुरन्दर ये तीनों शब्द एकलिंग (पुल्लिङ्ग) वाले हैं। इस नय की दृष्टि से इन तीनों शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न है। देवों का राजा शासन करने से शक्र, इन्दन (ऐश्वर्य-भोग) करने से इन्द्र तथा पुरों का दारण (विनाश) करने से पुरन्दर कहलाता है। समभिरूढ़नय की दृष्टिसे एक अर्थ अनेक शब्दों का वाच्य नहीं हो सकता है और एक शब्द अनेक अर्थों का वाचक भी नहीं हो सकता है। यद्यपि शब्दनय की दृष्टि से एक ही गो शब्द गाय, पृथ्वी आदि ग्यारह अर्थों का वाचक है किन्तु इस नय की दृष्टि से गाय, पृथ्वी आदि के वाचक गो शब्द भिन्न-भिन्न ही हैं। शब्दों में पर्यायभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना समभिरूढ़ाभास है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन तीनों शब्दों का वाच्य एक ही अर्थ मानना।

क्रिया के आश्रय से भेद का निरूपण करना इत्थम्भाव अर्थात् एवम्भूत नय है। क्रिया की अपेक्षा से रहित होकर क्रिया वाचक शब्दों में काल्पनिक व्यवहार मानना एवम्भूताभास है।

विशेषार्थ—समभिरूढ़नय की दृष्टि से एक ही समय में देवों के राजा के लिए इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन तीनों शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु यह नय जिस समय उस अर्थ में जो क्रिया हो रहा हो उसी क्रिया से निष्पन्न शब्द की प्रवृत्ति स्वीकार करता है। जिस समय वह शासन कर रही हो उसी समय उसे शक्र कहेंगे, दूसरे समय नहीं। इसी प्रकार जब गाय चल रही है तभी उसे गाय कहेंगे, बैठे या सोते हुए नहीं। उस क्रिया के काल में उस शब्द का प्रयोग नहीं करना अथवा अन्य क्रिया के काल में उस शब्द का प्रयोग करना एवम्भूताभास है। जैसे किसी व्यक्ति को देव-पूजन करते समय अध्यापक कहना, अथवा अध्यापन करते समय उसे पुजारी कहना।

इस प्रकार नय और नयाभास का संक्षेप से लक्षण कहा। विस्तार से नयों और नयाभासों के लक्षण नयचक्र नामक ग्रन्थ से जानना चाहिए।

---

१. यस्मिन् काले क्रियायां च वस्तुजातं प्रवर्तते। तया तन्नाम वाच्यं स्यादेवम्भूतो नयो मतः ॥१४॥ यथा शकनक्रियायां सत्यामेव शक्रः। समभिरूढनये तु तस्यां सत्यामसत्यां वा तच्छब्दव्यवहारात्तथा रूढेः सद्भावात्। एतेषु ऋजुसूत्रान्ताश्चत्वारोऽर्थप्रधानादर्थनयाः। शेषास्तु त्रयः शब्द-प्रधानाच्छब्दनयाः। २. शक्रादिशब्देषु। ३.अथ नयस्य व्युत्पत्तिः का ? प्रमाणेन गृहीतवस्तुनोंऽशग्राही नयः। श्रुतविकल्पो वा नयः। ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः। नानास्वभावेन यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तुनः प्रतिपत्ताऽस्तीति वा नयः। नयाः सप्तोक्ताः। तेषां विषयो यथा-ग्रामे वृक्षे विटपे शाखायां तत्प्रदेशके काये। कण्ठे च रौति शकुनिर्यथाक्रमो नैगमादीनाम् ॥१॥ इति नयानां विषयः। विशेषेण स्वरूपं जैनेन्द्रैः प्रतिपादितम्। नैकं गच्छतीति निगमः। निगमो विकल्पः, तत्र भवो नैगमः। यथाऽयं पुरुषः स्तम्भो वा। अभेदरूपतया वस्तुजातं संगृह्णातीति संग्रहः। संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया यस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः। ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानकालवर्त्ति वस्तु सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः। शब्दाद् व्याकरणात् प्रकृतिः प्रत्ययद्वारेण सिद्धः शब्दः शब्दनयः।

अथवा समभवद्विद्यमानमन्यद्वादलक्षणं[1] [2]पत्रलक्षणं वाऽ[3]न्यत्रोक्तमिह द्रष्टव्यम्। तथा चाहसमर्थवचनं

विशेषार्थ—नयों के विषय में इतना विशेष और ज्ञातव्य है कि ये सातों नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्प विषय वाले हैं। नैगमनय से व्यवहारनय सूक्ष्म है तथा उसका विषय भी अल्प है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए। ये ही नय अन्त से पूर्व-पूर्व में स्थूल और महा विषय वाले हैं। अर्थात् एवंभूतनय सब से सूक्ष्म है और उसका विषय भी अल्पतम है। उसकी अपेक्षा समभिरूढ़नय स्थूल और महा विषय वाला है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व नयों में स्थूलता और महाविषयता जानना चाहिए। इन सात नयों में से प्रथम चार नय अर्थग्राही होने से अर्थनय हैं और शेष तीन नय शब्द-प्रधान होने शब्दनय कहलाते हैं। नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय द्रव्य को विषय करने के कारण द्रव्यार्थिक और शेष चार नय पर्याय को विषय करने के कारण पर्यायार्थिक नय कहलाते हैं। टिप्पणकार ने इन सातों नयों को उत्तरोत्तर अल्पविषयता का प्रदर्शक एक सुन्दर उदाहरण दिया है। यथा-कहीं पर किसी पक्षी के शब्द को सुनकर नैगमनय की दृष्टि से कहा जायेगा कि गाँव में पक्षी बोल रहा है, संग्रहनय की दृष्टि से कहा जायेगा कि वृक्ष पर पक्षी बोल रहा है, व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जायेगा कि विटप (तना) पर पक्षी बोल रहा है, ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से कहा जायेगा कि शाखा पर पक्षी बोल रहा है, शब्दनय की दृष्टि से कहा जायेगा कि घौंसले में पक्षी बोल रहा है समभिरूढ़ की दृष्टि से कहा जायेगा कि वह अपने शरीर में बोल रहा है और एवंभूतनय की दृष्टि से कहा जायेगा कि वह अपने कण्ठ में बोल रहा है। जिस प्रकार यहाँ पक्षी के बोलने के प्रदेश को लेकर उत्तरोत्तर क्षेत्र-विषयक सूक्ष्मता है, उसी प्रकार सातों नयों के विषय में उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयता जानना चाहिए।

अथवा वस्तुतत्त्व के निर्णय के लिए शास्त्रार्थ में सम्भव अर्थात् विद्यमान ऐसा अन्य जो वाद

सं परस्परेण अभिरूढः समभिरूढ़ः। यथा शब्दभेदेऽर्थभेदो नास्ति। यथेन्द्रः। शक्रः पुरन्दर इत्यादि। एवं क्रियाप्रधानत्वेन भूयते एवम्भूतः। अत्र मूलनयौ द्वौ निश्चय व्यवहारभेदात्। तत्र निश्चयोऽभेदविषयः। व्यवहारो भेदविषयः। एवं जैनसिद्धान्तात् नव नयाः ज्ञातव्याः। ४. एतेषु सर्वनयेषु पूर्वः पूर्वो बहुविषयः कारणभूतश्च। परः परोऽल्पविषयः कार्यभूतश्चेति। संग्रहनयान्नैगमो बहुविषयो भावाभावविषयत्वात्। यथैव हि सति सङ्कल्पस्तथाऽसत्यपि। संग्रहनयस्तु ततोऽल्पविषयः, सन्मात्रगोचरत्वात, नैगमपूर्वकत्वश्च तत्कार्यः। संग्रहाद् व्यवहारोऽपि तत्पूर्वकः सद्विशेषाव-बोधकत्वादल्पविषय एव। कालत्रितयवृत्त्यर्थगोचराद् व्यवहाराद् ऋजुसूत्रोऽपि तत्पूर्वको वर्तमानार्थगोचरतयाऽल्पविषय एव। कारकादि-भेदेनाभिन्नार्थं प्रतिपद्यमानाद् ऋजुसूत्रस्तत्पूर्वकः शब्दनयोऽप्यल्पविषय एव, तद्विपरीतार्थगोचरत्वात्। शब्द-नयात्पर्याय-भेदेनार्थभेदं प्रतिपद्यमानात्तद्विपर्ययात्तत्पूर्वकः समभिरूढ़ोऽप्यल्पविषयी एव। समभिरूढ़तश्च क्रियाभेदेन भिन्नमर्थं प्रकटयतस्तद्विपर्ययात्तत्पूर्वक एवम्भूतोऽप्यल्पविषय एव यत्रोत्तरोत्तरो नयोऽर्थोंशे प्रवर्तते तत्र पूर्वः पूर्वो नयो वर्तत एव। सहस्रे सप्तशती, तस्यां वा पञ्चशती।

१. आचार्य-शिष्ययोः पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रहात्। अभ्यासो यः कथायाः स्यादसौ वाद उदाहृतः॥१॥ वादस्य चत्वार्यङ्गानि-सभ्य-सभापति-वादि-प्रतिवादिनः। २. पदानि त्रायन्ते गोप्यन्ते रक्ष्यन्ते परेभ्यः (प्रतिवादिभ्यः) स्वयं विजिगीषुणा यस्मिन् वाक्ये तत्पत्रमिति पत्रस्य व्युतपत्त्यर्थः। ३. पत्रपरीक्षादौ।

वाद इति।

प्रसिद्धावयवं वाक्यं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम्।
साधुगूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम्[१] ॥४२॥ इति
परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥२॥

व्यधामकृतवानस्मि। किमर्थम्? संविदे। कस्य? मादृशः। अहं च कथम्भूत इत्याह-बालो मन्दमतिः। अनौद्धत्यसूचकं वचनमेतत्। तत्त्वज्ञत्वञ्च प्रारब्धनिर्वहणादेवावसीयते। किं तत्? परीक्षामुखम्। तदेव निरूपयति आदर्शमिति। कयोः? हेयोपादेयतत्त्वयोः यथैवाऽऽदर्श आत्मनोऽलङ्कारमण्डितस्य सौरूप्यं वैरूप्यं

का लक्षण है, अथवा पत्र का लक्षण है, जो कि पत्रपरीक्षा-आदि अन्य ग्रन्थों में वर्णित है, वह भी यहाँ पर द्रष्टव्य है। समर्थ वचन को वाद कहते हैं। अर्थात् जहाँ पर वस्तुतत्त्व के निर्णय के लिए गुरु-शिष्य में, या वादी प्रतिवादी में पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप से हेतु, दृष्टान्त आदि के रूप में अबाधित समर्थ वचनों का प्रयोग किया जाता है, उसे वाद कहते हैं।

पत्र का लक्षण इस प्रकार कहा गया है-

जिसमें अनुमान के प्रसिद्ध पाँचों अवयव पाये जाएँ, जो अपने अभीष्ट अर्थ का साधक हो और जो निर्दोष गूढ रहस्य वाले पदों से प्रायः भरपूर हो, ऐसे अनाकुल अर्थात् अबाधित वाक्य को पत्र कहते हैं ॥४२॥

भावार्थ-जब शास्त्रार्थ मौखिकरूप से न होकर लिखितरूप से होता है, तब वादी-प्रतिवादी अपने मन्तव्यों को पत्र में लिखकर परस्पर भेजते हैं। उन पत्रों का कैसा स्वरूप होना चाहिए यह ऊपर के श्लोक में बतलाया गया है।

अब सूत्रकार आचार्य अपने कथन का उपसंहार करते हुए अपनी लघुता प्रदर्शित करते हैं-

हेय और उपादेय तत्त्व के ज्ञान के लिए आदर्श (दर्पण) के सदृश इस परीक्षामुख ग्रन्थ को मेरे जैसे बालक ने परीक्षा-दक्ष पुरुष के समान रचा ॥२॥

'व्यधाम्' अर्थात् किया है, रचा है। किसलिए? ज्ञान के लिए। किसके ज्ञान के लिए ? मुझ जैसे मन्दबुद्धि जनों के ज्ञान के लिए। और मैं कैसा हूँ? मन्दबुद्धि बालक हूँ। आचार्य का यह वचन अपनी अनुद्धतता का सूचक है। किन्तु उनकी तत्त्वज्ञता तो प्रारम्भ किये हुए कार्य का निर्वाह करने से ही जानी जाती है। वह प्रारम्भ कार्य क्या है? यह परीक्षामुख ग्रन्थ। उसे ही आचार्य आदर्श के समान निरूपण कर रहे हैं। किनका ? हेय और उपादेय तत्त्वों का। जिस प्रकार आदर्श अर्थात् दर्पण अलंकारों से मण्डित अपनी सुन्दरता या विरूपता को प्रतिबिम्ब दिखलाने के द्वारा

१. अबाधितम्, निर्दोषम्।

वा प्रतिबिम्बोपदर्शनद्वारेण सूचयति, तथेदमपि हेयोपादेयतत्त्वं साधनदूषणोपदर्शनद्वारेण निश्चाययतीत्यादर्शत्वेन निरूप्यते। क इव? परीक्षादक्षवत् परीक्षादक्ष इव। यथा परीक्षादक्षः स्वप्रारब्धशास्त्रं निरूढवाँस्तथाऽहम-पीत्यर्थः।

अकलङ्कशशाङ्कैर्यत्प्रकटीकृतमखिलमान[1]निभनिकरम्।
तत्सङ्क्षिप्तं सूरिभिरुरुमतिभिर्व्यक्तमेतेन॥१२॥

इति परीक्षामुखलघुवृत्तौ प्रमाणाद्याभाससमुद्देशः षष्ठः[2]।

सूचित करता है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी हेय-उपादेय तत्त्व का उनके साधन और दूषण दिखलाने के द्वार से उनका निश्चय कराता है, इसलिए उसे आदर्शरूप कहा गया है।

किसके समान? परीक्षा में दक्ष पुरुष के समान। जैसे तत्त्व की परीक्षा में निपुण विद्वान् अपने प्रारम्भ किये हुए शास्त्र को पूरा करके उसका निर्वाह करता है, उसी प्रकार मैंने भी इस शास्त्र को पूरा करके अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया है।

अकलंकदेव रूपी चन्द्रमा के द्वारा जो प्रमाण और प्रमाणाभास का समूह प्रकट किया गया, उसे विशालबुद्धि आचार्य माणिक्यनन्दी ने संक्षेप से कहा, उसे ही इस अनन्तवीर्य ने इस टीका के द्वारा व्यक्त किया है ॥१२॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में प्रमाणाभास आदि का वर्णन करने वाला यह छठा समुद्देश सम्पूर्ण हुआ।

---

१. सर्वेषां वादिनां प्रमाणसंख्या पृथक् पृथक् लिख्यते। तथाहि-प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति चार्वाकाः। प्रत्यक्षमनुमानं चेति बौद्धाः। प्रत्यक्षमनुमानं शाब्दं चेति सांख्याः। प्रत्यक्षमनुमानमुपमानं शाब्दं चेति नैयायिकाः। प्रत्यक्षमनुमानं शाब्दमुपमानं अर्थापत्तिश्चेति भाट्टाः। प्रत्यक्षमनुमानं शाब्दमुपमानं अर्थापत्तिरभावश्चेति मीमांसकाः। प्रत्यक्षं परोक्षं चेति जैनाः। जैनं मीमांसकं बौद्धं सांख्यं शैवं च नास्तिकाः। स्वस्वतर्कविभेदेन जानीयाद् दर्शनानि षट् ॥१॥ शिवदर्शने जटाधारी, सांख्यदर्शने गोश्रितः, भट्टदर्शने ब्राह्मणः, बौद्धदर्शन प्रसिद्धम्। चार्वाकदर्शने योगी। २. परीक्षामुखनामप्रकरणकर्ता माणिक्यनन्दिदेवः। अस्य बृहद्वृत्तिः प्रमेयकमलमार्तण्डः। तत्कर्ता प्रभाचन्द्रदेवः। अस्य लघुवृत्तिः पञ्जिका। तत्कर्ता अनन्तवीर्यदेवः।

टीकाकारस्य प्रशस्तिः

श्रीमान् वैजेयनामाभूदग्रणीगुणशालिनाम्
बदरीपालवंशालिव्योमद्युमणिरूर्जितः॥१॥
तदीयपत्नी भुवि विश्रुताऽऽसीन्नाणाम्बनाम्ना गुणशीलसीमा।
यां रेवतीति प्रथिताम्बिकेति प्रभावतीति प्रवदन्ति सन्तः॥२॥
तस्यामभूद्विश्वजनोनवृत्ति[१] र्दानाम्बुवाहो भुवि हीरपाख्यः।
स्वगोत्रविस्तारनभोंऽशुमाली[२] सम्यक्त्यरत्नाभरणार्चिताङ्गः॥३॥
[३]तस्योपरोधवशतो[४] [५]विशदोरुकीर्त्तेर्माणिक्यनन्दिकृतशास्त्र[६] मगाधबोधम्।
स्पष्टीकृतं [७]कतिपयैर्वचनैरुदारै[८]र्बाल[९]प्रबोधकरमेत[१०]दनन्तवीर्यैः॥४॥

इति प्रमेयरत्नमालाऽपरनामधेया परीक्षामुखलघुवृत्तिः समाप्ता।

बदरीपाल वंशावली रूप आकाश में सूर्य के समान ओजस्वी और गुणशालियों में अग्रणी श्रीमान् वैजेय नामक महापुरुष हुए॥१॥

गुण और शील की सीमावाली, नाणाम्ब इस नाम से संसार में प्रसिद्ध उस वैजेय की पत्नि हुई। जिसे सज्जन पुरुष रेवती, अम्बिका और प्रभावती इस नाम से पुकारते थे॥२॥

वैजेय की उस स्त्री के विश्व का कल्याण करने की मनोवृत्ति वाला, दान देने के लिए मेघ के सदृश, अपने गोत्र के विस्ताररूप आकाश का अंशुमाली (सूर्य) और सम्यक्त्वरूप रत्नाभरण से शोभित अंग वाला संसार में हीरप नाम से प्रसिद्ध पुत्र हुआ॥३॥

निर्मल और विशाल कीर्ति वाले उस हीरप के आग्रह के वश से इस अनन्तवीर्य ने माणिक्यनन्दि कृत अगाधबोध वाले इस शास्त्र को कुछ संक्षिप्त किन्तु उदार (गम्भीर) वचनों के द्वारा बालकों को प्रबोध करने वाले इस विवरण के रूप में स्पष्ट किया है॥४॥

इस प्रकार प्रमेयरत्नमाला है दूसरा नाम जिसका ऐसी यह परीक्षामुख की लघुवृत्तिरूप टीका समाप्त हुई।

---

१. विश्वजनेभ्यो हिता विश्वजनीना। सा वृत्तिर्यस्यासौ विश्वजनीनवृत्तिः। २. सूर्यः। ३. हीरपस्य। ४. आग्रहवशेन। ५. उज्ज्वलबृहद्यशसः। ६. परीक्षामुखं नाम। ७. संक्षेपैः। ८. गभीरैश्चोत्कटैः। ९. बालानामनादि-मिथ्यात्वेनाश्रद्धानलक्षणेन हेयोपादेयानभिज्ञानां प्रबोधं सम्यक्त्वोद्द्योतं यथार्थश्रद्धानलक्षणं हेयोपादेयपरिज्ञानरूपं करोतीति तत्। १०. एतच्छास्त्रं सुखेन ज्ञातुं शक्यमित्यर्थः।

परिशिष्टम्

परीक्षामुख-सूत्रपाठः

प्रथमः परिच्छेदः

प्रमाणादर्थसंसिद्धि - स्तदाभासाद्विपर्ययः।
इति वक्ष्ये तयो-र्लक्ष्म, सिद्धमल्पं लघीयसः ॥

१. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।
२. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।
३. तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत्।
४. अनिश्चितोऽपूर्वार्थः।
५. दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्।
६. स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः।
७. अर्थस्येव तदुन्मुखतया।
८. घटमहमात्मना वेद्मि।
९. कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः।
१०. शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्।
११. को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत्।
१२. प्रदीपवत्।
१३. तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च।

द्वितीयः परिच्छेदः

१. तद्द्वेधा।
२. प्रत्यक्षेतरभेदात्।
३. विशदं प्रत्यक्षम्।
४. प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्।
५. इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम्।
६. नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्।
७. तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्चकेशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चर-ज्ञानवच्च।
८. अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत्।
९. स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति।
१०. कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः।
११. सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम्।
१२. सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात्।

तृतीयः परिच्छेदः

१. परोक्षमितरत्।
२. प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागम भेदम्।
३. संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः।
४. स देवदत्तो यथा।
५. दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानं, तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि।
६. यथा स एवायं देवदत्तः, गोसदृशो गवयः गोविलक्षणो महिषः, इदमस्माद् दूरम्, वृक्षोऽयमित्यादि।
७. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।
८. इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येवेति च।
९. यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च।
१०. साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्।
११. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।
१२. सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः।
१३. सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः।
१४. पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः।
१५. तर्कात्तन्निर्णयः।
१६. इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्।
१७. संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम्।
१८. अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम्।
१९. न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः।
२०. प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव।
२१. साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी।
२२. पक्ष इति यावत्।
२३. प्रसिद्धो धर्मी।
२४. विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये।
२५. अस्ति सर्वज्ञो, नास्ति खरविषाणम्।
२६. प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता।
२७. अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा।
२८. व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव।
२९. अन्यथा तदघटनात्।
३०. साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम्।
३१. साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत्।
३२. को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति।

३३. एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्।
३४. न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्त हेतोरेव व्यापारात्।
३५. तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः।
३६. व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रति-पत्तावनवस्थानं स्याद् दृष्टान्तान्तरा-पेक्षणात्।
३७. नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः।
३८. तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति।
३९. कुतोऽन्यथोपनयनिगमने।
४०. न च ते तदङ्गे, साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात्।
४१. समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तु साध्ये तदुपयोगात्।
४२. बालव्युत्पत्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्रे एवासौ न वादेऽनुपयोगात्।
४३. दृष्टान्तो द्वेधा, अन्वयव्यतिरेकभेदात्।
४४. साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः।
४५. साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः।
४६. हेतोरुपसंहार उपनयः।
४७. प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्।
४८. तदनुमानं द्वेधा।
४९. स्वार्थपरार्थभेदात्।
५०. स्वार्थमुक्तलक्षणम्।
५१. परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्।
५२. तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्।
५३. स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्।
५४. उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च।
५५. अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा-व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात्।
५६. रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित् कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्ध-कारणान्तरावैकल्ये।
५७. न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः।
५८. भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रतिहेतुत्वम्।
५९. तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम्।
६०. सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च।
६१. परिणामी शब्दः कृतकत्वात्। य एवं, स एवं दृष्टो यथा घटः। कृतकश्चायं, तस्मात्परिणामीति। यस्तु न परिणामी, स न कृतको दृष्टोः यथा वन्ध्यास्तनंधयः। कृतकश्चायं, तस्मात्परिणामी।
६२. अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः।

६३. अस्त्यत्रच्छाया छत्रात्।
६४. उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्।
६५. उद्गाद् भरणिः प्राक्तत एव।
६६. अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात्।
६७. विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा।
६८. नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात्।
६९. नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात्।
७०. नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात्।
७१. नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात्।
७२. नोद्गाद् भरणिः मुहूर्त्तात्पूर्वं पुष्योदयात्।
७३. नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात्।
७४. अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारण-पूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात्।
७५. नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः।
७६. नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ।
७७. नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः।
७८. नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः।
७९. न भविष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः।
८०. नोद्गाद् भरणिः मुहूर्त्तात्प्राक् तत एव।
८१. नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः।
८२. विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा–विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धि-भेदात्।
८३. यथास्मिन्प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति; निरामयचेष्टानुपलब्धेः।
८४. अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात्।
८५. अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः।
८६. परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम्।
८७. अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात्।
८८. कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ।
८९. नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं, मृगारिसंशब्दनात्। कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा।
९०. व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा।
९१. अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा।
९२. हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते।
९३. तावता च साध्यसिद्धिः।
९४. तेन पक्षस्तदाधार सूचनायोक्तः।
९५. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।

९६. सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः।

९७. यथा मेर्वादयः सन्ति।

चतुर्थः परिच्छेदः

१. सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः।

२. अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च।

३. सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्।

४. सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।

५. परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।

६. विशेषश्च।

७. पर्यायव्यतिरेकभेदात्।

८. एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादि-वत्।

९. अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्।

पञ्चमः परिच्छेदः

१. अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।

२. प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च।

३. यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्याद‌त्ते उपेक्षते चेति प्रतीतेः।

षष्ठः परिच्छेदः

१. ततोऽन्यत्तदाभासम्।

२. अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः।

३. स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्।

४. पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत्।

५. चक्षुरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च।

६. अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं, बौद्धस्याकस्माद् धूमदर्शनाद् वह्निविज्ञानवत्।

७. वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत्।

८. अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं, जिनदत्ते स देवदत्तो यथा।

९. सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशम्, यमलकवदित्यादि प्रत्यभि-ज्ञानाभासम्।

१०. असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम्।

११. इदमनुमानाभासम्।

१२. तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः।

१३. अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः।

१४. सिद्धः श्रावणः शब्दः इति।

१५. बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः।

१६. तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा, अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्।

१७. अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत्।
१८. प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत्।
१९. शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छंखशुक्तिवत्।
२०. माता मे वन्ध्या, पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धवन्ध्यावत्।
२१. हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः।
२२. असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः।
२३. अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात्।
२४. स्वरूपेणासत्त्वात्।
२५. अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात्।
२६. तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात्।
२७. सांख्यम्प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात्।
२८. तेनाज्ञातत्वात्।
२९. विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्।
३०. विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः।
३१. निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवत्।
३२. आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात्।
३३. शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्।
३४. सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात्।
३५. सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः।
३६. सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात्।
३७. किञ्चिदकरणात्।
३८. यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात्।
३९. लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्।
४०. दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः।
४१. अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत्।
४२. विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्त्तम्।
४३. विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात्।
४४. व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः, परमाण्विन्द्रियसुखाऽऽकाशवत्।
४५. विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयम्।
४६. बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता।
४७. अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात् यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति।
४८. धूमवांश्चायम् मिति वा।
४९. तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायम्।

५०. स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात्।
५१. रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम्।
५२. यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः।
५३. अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति च।
५४. विसंवादात्।
५५. प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि सङ्ख्याभासम्।
५६. लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चा-सिद्धेरतद्विषयत्वात् ।
५७. सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत्।
५८. अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम्।
५९. तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वमप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात्।
६०. प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात्।
६१. विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम्।
६२. तथाऽप्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च।
६३. समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात्।
६४. परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ।
६५. स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात् पूर्ववत्।
६६. फलाभासं प्रमाणादभिन्न भिन्नमेव वा।
६७. अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः।
६८. व्यावृत्त्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात्।
६९. प्रमाणान्तराद् व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य।
७०. तस्माद्वास्तवो भेदः।
७१. भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः।
७२. समवायेऽतिप्रसङ्गः।
७३. प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषण-भूषणे च ।
७४. संभवदन्यद्विचारणीयम्।

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद् व्यधाम्॥२॥

१. तुलनागत संकेत सूची—

न्यायप्र०	:	न्यायप्रवेशः
न्यायवि०	:	न्यायबिन्दुः
न्यायविनि०	:	न्यायविनिश्चियः
न्यायसा०	:	न्यायसारः
न्याया०	:	न्यायावतारः
प्रमाणनय०	:	प्रमाणनयतत्त्वलोकालङ्कारः
प्रमाणप०	:	प्रमाणपरीक्षा
प्रमाणमी०	:	प्रमाणमीमांसा
प्रमाणसं०	:	प्रमाणसंग्रहः
लघी० स्ववृ०	:	लघीयस्त्रयं स्ववृत्तियुतम्

२. परीक्षामुखसूत्राणां तुलना

१/१	:	प्रमाणनय० १/२ प्रमाणमी० १/१/२
१/२	:	लघी० पृ० २१ पं० ६ प्रमाणनय०१/३
१/३	:	प्रमाणनय० १/१६
१/६, ७, ८	:	प्रमाणनय० १/१६
१/११	:	प्रमाणनय० १/१७
१/१३	:	प्रमाणनय० १/२० प्रमाणसी० १/१/८
२/१, २	:	लघी० का० ३ प्रमाणनय० २/१ प्रमाणमी० १/१/९,१०
२/३	:	न्याया० का० ४ लघी० का० ३ प्रमाणनय० २/३ प्रमाणमी० १/१/१३
२/४	:	लघी० का० ४ प्रमाणनय० २/३ प्रमाणमी० १/१/१४
२/५	:	लघी० स्ववृ० का० ६१ प्रमाणमी० १/१/२०
२/६	:	लघी० स्ववृ० का० ५५ प्रमाणमी० १/१/२५
२/७	:	लघी० का० ५५
२/११	:	न्याया० का० २७ लघी० स्ववृ० ४ प्रमाणनय० २/२४ प्रमाणमी० १/१/१५
३/१	:	न्याया० का० ३१ लघी० का० ३ प्रमाणनय० ३/१ प्रमाणमी०१/२/१
३/२	:	लघी० का० १० प्रमाणनय० ३/१ प्रमाणमी० १/२/२
३/३, ४	:	प्रमाणप० पृ० ६९ प्रमाणनय० ३/१/२ प्रमाणमी० १/२/३
३/५ - १०	:	प्रमाणप० पृ० ६९ प्रमाणनय० ३/४ प्रमाणमी० १/२/४
३/११,१२,१३	:	प्रमाणसं० का० १२ प्रमाणप० पृ० ७० प्रमाणनय० ३/५, ६ प्रमाणमी० १/२/५
३/१४	:	न्याया० का० ५ लघी० का० १२ न्यायविनि० का० १७० प्रमाणप० पृ० ७० प्रमाणमी० १/२/७
३/१५	:	न्यायविनि० का० २६९ प्रमाणसं० का० २१ प्रमाणप० पृ० ७० प्रमाणनय० ३/९
३/१६	:	प्रमाणमी० १/२/१०
३/१९	:	न्यायविनि० का० ३२९ प्रमाणमी० १/२/११
३/२०	:	न्यायप्र० पृ० १ पं० ७ न्यायवि० पृ० ७९ पं०३/१२ न्यायविनि० का० १७२ प्रमाणसं० का० २० प्रमाणनय० ३/१२ प्रमाणमी० १/२/१३
३/२१	:	प्रमाणनय० ३/१३

३/२२	:	प्रमाणनय० ३/१४, १५
३/२५	:	प्रमाणमी० १/२/१५
३/२७	:	न्यायप्र० पृ० १ पं० ६, प्रमाणनय० ३/१८ प्रमाणमी० १/२/१६
३/२८-३०	:	प्रमाणनय० ३/१९, २० प्रमाणमी० १/२/१७
३/३२	:	प्रमाणनय० ३/१६
३/३४, ३५	:	प्रमाणनय० ३/२२ प्रमाणमी० २/१/८
३/३६	:	प्रमाणनय० ३/२३
३/३७	:	न्यायवि० पृ० ११७ पं० ११ प्रमाणनय० ३/२६ प्रमाणमी०१/२/१८
३/३८	:	प्रमाणनय० ३/३१
३/३९	:	प्रमाणनय० ३/३२
३/४०	:	प्रमाणनय० ३/३३
३/४१	:	प्रमाणनय० ३/३४
३/४४	:	प्रमाणानय० ३/३७
३/४५	:	प्रमाणनय० ३/३८
३/४६	:	प्रमाणनय० ३/३९ प्रमाणमी० २/१/१०
३/४७	:	न्यायप्र० पृ० १ पं० १५, प्रमाणनय० ३/४१ प्रमाणमी० १/२/२१
३/४८	:	न्यायप्र० पृ० १ पं० १६ न्याया० का० १८ प्रमाणनय० ३/४२, ४३ प्रमाणमी० १/२/२२
३/४९	:	न्यायप्र० पृ० २ पं० २ न्याया० का० १९ प्रमाणनय० ३/४४, ४५ प्रमाणमी० १/२/२३
३/५०	:	प्रमाणनय० ३/४६, ४७ प्रमाणमी० २/१/१४
३/५१	:	प्रमाणनय० ३/४८, ४९ प्रमाणमी० २/१/१५
३/५२, ५३	:	न्यायवि० २/१,२ न्याया० का० १० न्यायसा. पृ० ५ पं० १० प्रमाणनय० ३/७ प्रमाणमी० १/२/८
३/५४	:	न्यायवि० २/३ प्रमाणनय० ३/८ प्रमाणी. १/२/९
३/५५, ५६	:	न्यायवि० ३/१,२ न्याया० का० १९, १३ प्रमाणनय० ३/२१ प्रमाणमी० २/१/१,२
३/५७	:	प्रमाणनय० ३/५१
३/५८	:	प्रमाणनय० ३/५२
३/५९	:	प्रमाणनय० ३/६४, ६५

३/६०	:	प्रमाणानय. ३/६६
३/६१	:	प्रमाणनय० ३/६७
३/६२	:	प्रमाणानय. ३/६८
३/६३	:	प्रमाणनय० ३/६९, ७०
३/६४	:	प्रमाणनय० ३/७२
३/६५	:	प्रमाणनय० ३/७३
३/६७	:	प्रमाणप पृ० ७२
३/६८	:	लघी० का० १४ प्रमाणप० पृ० ७३ प्रमाणनय० ३/७६
३/६९	:	प्रमाणप० पृ० ७३ प्रमाणनय० ३/७७
३/७०	:	प्रमाणनय० ३/७८
३/७१	:	प्रमाणनय० ३/८२
३/७२, ७३	:	न्यायवि० पृ० ४९, ५० प्रमाणप० पृ० ७३
३/७५	:	प्रमाणप० पृ० ७३ प्रमाणनय० ३/८६
३/७६	:	प्रमाणप० पृ० ७३ प्रमाणनय० ३/८७
३/७८	:	प्रमाणनय०३/९०, ९१
३/७९	:	प्रमाणनय०३/९२
३/८०	:	न्यायवि० पृ ४९ प्रमाणप० पृ० ७४ प्रमाणनय० ३/९३
३/८१	:	न्यायवि० पृ० ४८ प्रमाणनय० ३/९४
३/८३	:	न्यायवि० पृ० ५३ प्रमाणप० पृ० ७४ प्रमाणनय० ३/९६
३/८४	:	प्रमाणप० पृ० ७४ प्रमाणनय० ३/९७
३/८७	:	प्रमाणनय० ३/१०१
३/८८	:	प्रमाणनय० ३/१०२
३/८९	:	प्रमाणनय० ३/१०३
३/९४, ९५	:	न्यायवि० पृ० ६२, ६३ न्याया० का १७ प्रमाणनय० ३/२७-३० प्रमाणमी० २/१/३-६
३/९८	:	न्याया० का० १४ प्रमाणमी० २/१/७
३/९९	:	प्रमाणनय० ४/१
३/१००	:	प्रमाणनय० ४/११
३/१०१	:	प्रमाणनय० ४/३
४/१	:	न्याया० का० २९ लघी० का० ७ प्रमाणप० पृ० ७९ प्रमाणनय० ५/१

		प्रमाणमी०१/१/३०
४/२	:	प्रमाणनय० ५/२ प्रमाणमी० १/१/३३
४/३	:	प्रमाणनय० ५/३
४/४	:	प्रमाणनय० ५/४
४/५	:	प्रमाणनय० ५/५
४/८	:	प्रमाणनय० ५/८
४/९	:	लघी० स्ववृ. का० ६७
५/१	:	आप्तमीमांसा का० १०२ न्याया० का० २८ न्यायविनि० का० ४७६ प्रमाणप० पृ० ७९ प्रमाणनय० ६/३-५ प्रमाणमी० १/१/३८, ४०
५/३	:	प्रमाणनय० ६/१० प्रमाणमी० १/१/४१
६/१	:	प्रमाणनय० ६/२३
६/२	:	प्रमाणनय० ६/२४
६/३, ४	:	प्रमाणनय० ६/२५, २६
६/६	:	प्रमाणनय० ६/२७, २९
६/८	:	प्रमाणनय० ६/३१
६/ ९	:	प्रमाणनय० ३/३३, ३४
६/१०	:	प्रमाणनय० ६/३५
६/११	:	प्रमाणनय० ६/३७
६/१२	:	न्यायप्र० पृ० पं० १३ प्रमाणनय० ६/३८
६/१३	:	प्रमाणनय० ६/ ४६
६/१४	:	न्यायप्र० पृ० ३ प. ४
६/१५	:	न्यायप्र० पृ० २ न्यायवि० पृ० ८४, ८५ प्रमाणनय० ६/४० प्रमाणमी० १/२/१४
६/१६	:	न्यायप्र० पृ० २ पं० १७ न्यायवि० पृ० ८४ प्रमाणनय० ६/४१
६/१७	:	न्यायप्र० पृ० २ पं० १८ न्यायवि० पृ० ८४ प्रमाणनय० ६/४२
६/१८	:	न्यायप्र० पृ० २ पं० १९ प्रमाणनय० ६/४३
६/१९	:	न्यायप्र० पृ० २ पं० २० प्रमाणनय० ६/४४
६/२०	:	न्यायप्र० पृ० २ पं० २१ प्रमाणनय० ६/४५
६/२१	:	न्यायप्र० पृ० ३ पं० ८ न्याया० का० २२ न्यायविनि० का० ३६६ प्रमाणनय० ६/४७ प्रमाणमी० २/१/१६

६/२२ : न्याया॰ का॰ २३ प्रमाणनय॰ ६/४८ प्रमाणमी॰ २/१/१७
६/२३ : न्यायप्र॰ पृ॰ ३ पं॰ १२ न्यायवि॰ पृ॰ ८९ न्यायविनि॰ का॰ ३६५ प्रमाणनय॰ ६/५०
६/२५ : न्यायप्र॰ पृ॰ ३ पं॰ १४ न्यायवि॰ पृ॰ ९१
६/२९ : न्यायप्र॰ पृ॰ ५ पं॰ ६ न्याया॰ का॰ २३ प्रमाणनय॰ ६/५२ प्रमाणमी॰ २/१/२०
६/३० : न्यायवि॰ पृ॰ १०५ न्याया॰ का॰ २३ प्रमाणनय॰ ६/५४ प्रमाणमी॰ २/१/२१
६/३१ : प्रमाणनय॰ ६/५६
६/३३ : प्रमाणनय॰ ६/५७
६/३५ : न्यायविनि॰ का॰ ३७०
६/४० : न्यायप्र॰ पृ॰ ५ पं॰ २० न्यायवि॰ पृ॰ ११९ न्याया॰ का॰ २४ न्यायविनि॰ का॰ ३८० प्रमाणनय॰ ६/५८ प्रमाणमी॰ २/१/२२
६/ ४१ : न्यायप्र॰ पृ॰ ६ पं॰ १ न्यायवि॰ पृ॰ १२२ प्रमाणनय॰ ६/६०-६२ प्रमाणमी॰ २/१/२३
६/४२ : न्यायप्र॰ पृ॰ ६ पं॰ १२ न्यायवि पृ॰ १२४ प्रमाणनय॰ ६/६८ प्रमाणमी॰ २/१/२६
६/४४ : न्यायप्र॰ पृ॰ ६ पं॰ १४ न्यायवि॰ पृ॰ १२५ न्याया॰ का॰ २५ प्रमाणनय॰ ६/६९ प्रमाणमी॰ २/१/२४
६/४५ : न्यायप्र॰ पृ॰ ७ पं॰ ७ न्यायवि॰ पृ॰१३० प्रमाणनय॰ ६/७९ प्रमाणमी॰ २/१/२६
६/५१ : प्रमाणनय॰ ६/८३
६/५२ : प्रमाणनय॰ ६/८४
६/५५ : प्रमाणनय॰ ६/८५
६/६१ : प्रमाणनय॰ ६/८६
६/६६ : प्रमाणनय॰ ६/८७

३. परीक्षामुखसूत्रगत पारिभाषिक शब्दः सूची

शब्द	सूत्राङ्क	शब्द	सूत्राङ्क
अकिञ्चित्कर	६, ३५	परार्थ (अनुमान)	३, ५१
अनुमान	३, १०	परोक्ष	३, १
अनैकान्तिक	६, ३०	पर्याय (विशेष)	४, ८
अन्वयदृष्टान्त	३, ४४	प्रत्यक्ष	२, ३
अपूर्वार्थ	१, ४-५	प्रत्यभिज्ञान	३, ५
अविनाभाव	३, १२	प्रत्यभिज्ञानाभास	३, ९
असिद्धहेत्वाभास	६, २२	प्रमाण	१, १
आगम	३, ९५	प्रमाणाभास	६, २
आगमाभास	६, ५१	फलाभास	६, ६६
उपनय	३, ४६	बालप्रयोगाभास	६, ६१
ऊर्ध्वतासामान्य	४, ५	वैशद्य	२, ४
ऊह	३, ७	व्यतिरेक	४, ९
क्रमभाव	३, १४	व्यतिरेकदृष्टान्त	३, ४५
तदाभास (प्रमाणाभास)	६, १	सहभाव	३, १३
तदाभास (प्रत्यक्षाभास)	६, ६	साध्य	३, २०
तदाभास (परोक्षाभास)	६, ७	संख्याभास	६, ५५
तर्कभास	६, १०	सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष	२, ५
तिर्यक् (सामान्य)	४, ४	स्मरणाभास	६, ८
धर्मी	३, २३	स्मृति	३, ३
निगमन	३, ४७	स्वार्थानुमान	३, ५०
पक्षाभास	६, १२	हेतु	३, ११

४. प्रमेयरत्नमालागत गद्यावतरण-सूची

५. प्रमेयरत्नमालागत पद्यावतरण-सूची

६. प्रमेयरत्नमालाकाररचित श्लोक-सूची

७. प्रमेयरत्नमालागत पारिभाषिक शब्द-सूची

८. प्रमेयरत्नमालागत दार्शनिक नाम-सूची

९. प्रमेयरत्नमालागत ग्रन्थमाला-सूची

१०. प्रमेयरत्नमालागत विशिष्टनाम-सूची

११. टिप्पणगत श्लोक-सूची

अ

१२. टिप्पणगत पारिभाषिक शब्द-सूची

१३. टिप्पणगत दार्शनिक नामसूची

अक्षपाद
आर्हत
कापिल
चार्वाक
जयन्त
जरन्नैयायिक
जैन
जैमिनीय
निरीश्वरसांख्य
नैयायिक
परमब्रह्मवादी
प्राभाकर
पुरुषाद्वैतवादी
पौराणिक
बौद्ध
ब्रह्मवादी
ब्रह्माद्वैतवादी
भाट्ट
माध्यमिक
मीमांसक
यौग
योगाचार
लघुनैयायिक
लौकायतिक
वेदान्तिक
वेदान्ती
वैभाषिक
सदाशिव
सेश्वरसांख्य
सौगात
सौत्रान्तिक
स्याद्वादी

१४. टिप्पणगत ग्रन्थनाम-सूची

अष्टसहस्त्री
ऋग्वेद
चूलिकाप्रकरण
चैत्यपिटक
जैनेन्द्रव्याकरण
ज्ञानपिटक
परीक्षामुख
प्रमाणविनिश्चय
प्रमेयकमलमार्त्तण्ड
बृहत्त्रय
बृहत्पञ्चनमस्कारस्तोत्र
भामती
मीमांसाश्लोकवार्तिक
यजुर्वेद
लघुत्रय
वन्दनपिटक
श्लोकवार्त्तिक

१५. टिप्पणगत आचार्यनाम-सूची

अकलंकदेव
अनन्तवीर्य
गणधरदेव
दिग्नाग
धनञ्जय
पात्रकेसरी
माणिक्यनन्दि
लघ्वनन्तवीर्य
वादिराज
विद्यानन्दी

१६. टिप्पणगत नगरी-देश-नाम-सूची

कर्णाटक	९४
धारानगरी	२